

श्री उपासकदर्शांग सूत्रम्

व्याख्याकार

जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक

जैन धर्म दिवाकर ध्यानयोगी
आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज

श्री उपासकदशांग सूत्रम्

(संस्कृतच्छाया-शब्दार्थ-भावार्थोपेतं हिन्दी भाषा टीका सहितं च)

. टीकाकार-व्याख्याकार :

जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर
आचार्य समाट् श्री आत्माराम जी म०

सम्पादक :

जैन धर्म दिवाकर ध्यानयोगी
आचार्य समाट् श्री शिव मुनि जी म०

प्रकाशक :

आत्म-ज्ञान-शिव आगम प्रकाशन समिति (लुधियाना)
भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर

आगम	:	श्री उपासकदशांग सूत्रम्
व्याख्याकार	:	आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
दिशा निर्देश	:	गुरुदेव बहुश्रुत श्री ज्ञानमुनि जी महाराज
संपादक	:	आचार्य सम्राट् डॉ० श्री शिवमुनि जी महाराज
प्र.सं. सम्पादक	:	डॉ० इन्द्र चन्द्र शास्त्री, एम.ए., पी-एच.डी.
सहयोग	:	युवा मनीषी श्री शिरीष मुनि जी महाराज साधक श्री शैलेश कुमार जी
प्रकाशक	:	आत्म-ज्ञान-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना भगवान महावीर रिसर्च एण्ड मेडीटेशन सेंटर
अर्थ सौजन्य	:	१. श्री शोभन लाल जैन सुपुत्र श्री शादीलाल जी जैन (स्यालकोटी सतपुत्रिया परिवार) २. स्त्री सभा जैन-सेविका-संघ, रूपा मिस्त्री गली लुधियाना
अवतरण	:	जनवरी २००३
मूल्य	:	तीन सौ रुपए मात्र
प्राप्ति स्थान	:	१. भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर श्री आर.के. जैन, एस-ई-६२-६३, सिंघलपुर विलेज, शालिमार बाग, नई दिल्ली दूरभाष : ६८११०८३६२७, (ऑ०) २७१३८१६४ २. श्री सरस्वती विद्या केन्द्र, जैन हिल्स, मोहाड़ी रोड जलगाँव-२६००२२-२६००३३ ३. पूज्य श्री ज्ञान मुनि जैन फ्री डिस्पेंसरी डाबा रोड, नजदीक विजेन्द्र नगर, जैन कॉलोनी, लुधियाना ४. श्री चन्द्रकान्त एम. मेहता, ए-७, मोन्टवर्ट-२, सर्वे नं० १२८/२ए, पाषाण सुस रोड, पूना-४११०२१ दूरभाष : ०२०-५८६२०४५
मुद्रण व्यवस्था	:	कोमल प्रकाशन C/o दिनोद शर्मा, म.नं. २०८७/७ गली नं० २०, शिव मन्दिर के पास, प्रेम नगर, नई दिल्ली-११०००८ दूरभाष : ०११-२५८७३८४१, ६८१०७६५००३

श्री उपासकदशांग सूत्र के व्याख्याकार



जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर ज्ञान महोदधि
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

प्रकाशकीय

जैन धर्म दिवाकर, आगम महोदधि आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज अपने युग के एक धुरंधर विद्वान और आगमों के प्रकाण्ड पण्डित मुनिराज थे। उन्होंने अपने जीवन काल में कई आगमों पर बृहद् टीकाएं लिखीं और कई अन्य ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। आचार्य श्री जी की रचनाएं जैन संघ की अमूल्य धरोहर हैं। पच्चीस सौ वर्ष पूर्व भगवान महावीर द्वारा दिए गए धर्म-संदेशों को पूज्य आचार्य श्री जी ने वार्तमानिक भाषा में अनुवादित और व्याख्यायित करके वर्तमान जन-समाज पर महान उपकार किया है। उनके इस महान उपकार का जनमानस सदा-सदा ऋणी रहेगा।

पूज्य आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के ही पौत्र-शिष्य आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज ने आचार्य श्री जी के समग्र टीका साहित्य को प्रकाशित कराने का भागीरथ संकल्प लिया है। समग्र चतुर्विध श्रीसंघ उनके संकल्प का अनुगामी है। फलतः 'आत्म-ज्ञान-शिव आगम प्रकाशन समिति' का गठन किया गया। उक्त समिति के तत्वावधान में प्रकाशित होने वाला 'श्री उपासकदशांग सूत्र' प्रथम आगम है।

समिति का यह संकल्प है कि वह श्रद्धेय आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज के दिशानिर्देशन में द्रुत गति से पूज्य आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज की समस्त श्रुत-साधना को प्रकाशित करे। हम समझते हैं ऐसा करके ही हम आचार्य प्रवर के महान उपकारों के यत्किंचित् पात्र बन सकते हैं।

प्रकाशक

'आत्म-ज्ञान-शिव आगम प्रकाशन समिति' (लुधियाना)

'भगवान महावीर रिसर्च एण्ड मेडीटेशन सेंटर'

आचार्य श्री की कलम से

‘श्री उपासक दशांग सूत्र’ के प्रकाशन के पुण्य प्रसंग पर मैं हार्दिक-तोष अनुभव कर रहा हूँ। ‘आत्म-ज्ञान-शिव आगम प्रकाशन समिति’ के सत्संकल्प का यह प्रथम प्रकाशन है जो सर्वपक्षों से सुन्दर और समीचीन है।

प्रस्तुत आगम के टीकाकार हैं, मेरे बाबा गुरु श्रमण संघ के प्रथम पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज। इस सत्य से पूरा मुनि संघ और श्रावक संघ असंदिग्ध रूप से परिचित है कि पूज्य आचार्य श्री एक उच्चकोटि के धुरंधर विद्वान और आगम-महोदधि महापुरुष थे। संस्कृत, प्राकृत, पालि; अपभ्रंश आदि प्राचीन भारतीय भाषाओं के षे अधिकारी विद्वान थे। वर्तमान में उपलब्ध समग्र श्रुत साहित्य का उन्होंने गहन गंभीर अध्ययन-मनन और पारायण किया था। यह कहना कथमपि अतिशयोक्ति नहीं होगा कि श्रमण परंपरा में वे आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य हरिभद्र और आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की उज्ज्वल परम्परा के संवाहक मनीषी आचार्य थे। उन्होंने अपने जीवन के पल-प्रतिपल को श्रुत-स्वाध्याय, श्रुत-चिन्तन और श्रुताराधना में समग्रतः अर्पित-समर्पित कर दिया था। परिणामतः अनेक आगमों पर उन्होंने बृहद् टीकाएं लिखीं। आगमों पर उनके द्वारा लिखी टीकाएं आज तक की सबसे विशाल, सबसे स्पष्ट और सरल टीकाएं हैं। विद्वत्ता प्रदर्शन उनका लक्ष्य नहीं था। उनका तो यही लक्ष्य था कि आगम सर्वगम्य बन सकें, विज्ञ और अज्ञ पाठक समान रूप से उन्हें हृदयंगम कर सकें। आचार्य श्री अपने इस लक्ष्य में निश्चित रूप से पूर्ण सफल रहे हैं। अल्पज्ञ पाठक भी उनकी टीकाओं को सहज ही हृदयंगम कर लेते हैं। उनकी इस सफलता का प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने जो भी लिखा अपनी कलम से लिखा, अपने अनुभव और अपनी भाषा में लिखा। उनकी कलम से निसृत साहित्य को परिमाण की दृष्टि से देखा जाए तो बुद्धि हैरत में पड़ जाती है।

आचार्य श्री ने जो भी लिखा उसका मूल आधार आगम ही रहा। आगम-टीकाओं के अतिरिक्त उन द्वारा लिखित अन्य ग्रन्थ भी आगमों के ही आधार पर लिखे

गए हैं। इससे उनकी आगम-निष्ठा का सहज ही पता चल जाता है। प्रस्तुत संदर्भ में मैं यह भी कहना चाहूँगा कि वे केवल आगमों के व्याख्याकार ही नहीं थे, बल्कि आगमों के सत्य को अपने प्राणों और श्वासों में जीने वाले महापुरुष थे। निश्चित ही वे एक आगम-पुरुष थे। उनके शब्द-शब्द और अक्षर-अक्षर में उनकी अक्षर-साधुता ध्वनित होती है।

पूज्य आचार्य श्री का कुछ साहित्य उनके जीवन काल में भी प्रकाशित हुआ। उनके स्वर्गवास के पश्चात् भी कुछ साहित्य प्रकाशित हुआ। पंजाब-प्रवर्तक उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द जी महाराज, पंडित रत्न श्री हेमचन्द्र जी महाराज, गुरुदेव श्री ज्ञान मुनि जी महाराज, संयम प्राण श्री रत्नमुनि जी महाराज, प्रवर्तक भंडारी श्री पद्मचन्द जी महाराज, श्री अमर मुनि जी महाराज आदि विद्वद्वरेण्य पूज्य मुनीश्वरों ने आचार्य श्री के श्रुत-साहित्य को सम्पादित, संकलित करके समय-समय पर प्रकाशित कराके श्रुतसेवा के महनीय अनुष्ठान किए हैं। ये सभी कार्य स्तुत्य और अनुकरणीय हुए हैं। पर यह खेद का विषय है कि आचार्य श्री जी के देवलोक गमन के लगभग तीन दशकों के पश्चात् भी उनका पूरा साहित्य प्रकाशित नहीं हो पाया है। आचार्य श्री जी का समग्र साहित्य संघ और समाज के समक्ष आए ऐसा मेरा संकल्प है। इसके लिए समय शक्ति, संकल्प और निष्ठा की अपेक्षा है। समाज के कुछ अग्रगण्य श्रावकों ने इस दिशा में अपने संकल्प और समर्पण को प्रस्तुत किया है और 'आत्म-ज्ञान-शिव आगम प्रकाशन समिति' का गठन करके आचार्य श्री के अप्राप्त और अप्रकाशित साहित्य के प्रकाशन का बीड़ा उठाया है। संघ की शक्ति अपरिमित होती है। निश्चित ही हम संघशक्ति के बल पर आचार्य श्री के समग्र साहित्य को संघ सेवा में क्रम से प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त करेंगे।

'श्री उपासकदशांग सूत्र' में भगवान महावीर कालीन दस श्रावकों के जीवनो का वर्णन है। गृहस्थ जीवन में रहते हुए उन श्रावकों ने अपने जीवन को कैसे साधा था और कैसे उत्कट आत्मसाधना से अध्यात्म के शिखरों पर आरोहण किया था यही वर्णन प्रस्तुत आगम में अंकित है। श्रावकों के लिए यह आगम आवश्यक रूप से पठनीय और मननीय है। इसके पठन से श्रावकों को गृहस्थ जीवन में रहते हुए श्रेष्ठ जीवन जीने की विधि ज्ञात होगी।

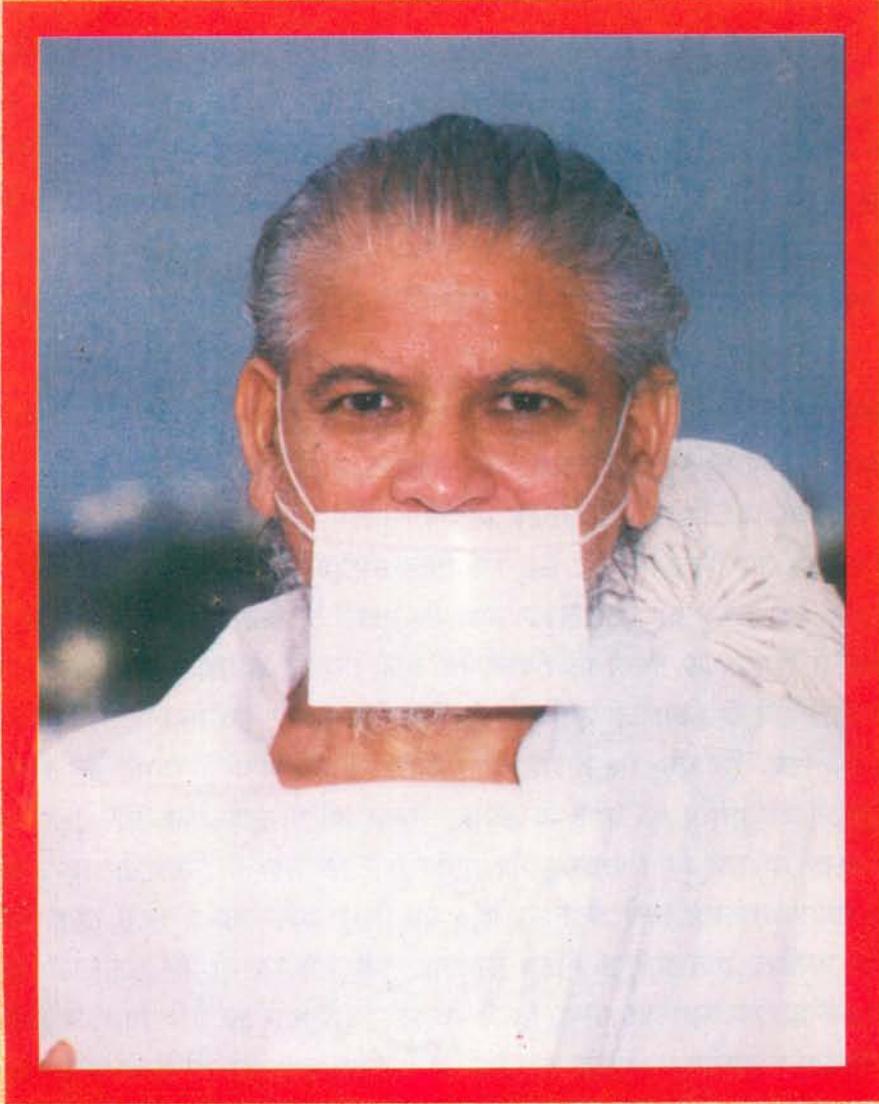
प्रस्तुत संस्करण

प्रस्तुत संस्करण में न कुछ नया जोड़ा गया है और न ही कुछ न्यून किया गया है। इसका स्पष्ट कारण है कि प्रस्तुत टीका अपने आप में सम्पूर्ण, सर्वांगीण और समीचीन है। अपने आपमें यह सम्पूर्ण है। इतना अवश्य किया है कि कुछ प्रामाणिक प्रकाशनों से प्रस्तुत आगम के मूल पाठ को मिलाया गया है। प्रयास किया गया है कि मूलपाठ में जिन प्रयोगों को आचार्य श्री जी ने स्वयं प्रामाणिक माना है और जो शुद्ध हैं उन्हें अक्षरशः रख लिया गया है। पूर्व प्रकाशित ग्रन्थों में प्रेस सम्बन्धित त्रुटियों को भी दूर करने का प्रयास किया गया है। स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रकाशन में संयोजन भर मेरा है। शेष जो है वह पूज्य आचार्य श्री जी का ही है।

प्रस्तुत प्रकाशन के इस पुण्यमयी अभियान पर मुझे अनेक मुनियों और श्रावकों का मंगलमय सहयोग प्राप्त हुआ है। विशेष रूप से मेरे अंतेवासी मुनिरत्न श्री शिरीष मुनि जी म. एवं साधक श्री शैलेश जी के सतत सहयोग ने मेरे कार्य को सरल और सुगम बना दिया। उन्हें मेरे साधुवाद। इसके अतिरिक्त जैन दर्शन के मर्मज्ञ पण्डित ज.प. त्रिपाठी से प्रूफ संशोधन में पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। श्री विनोद शर्मा ने प्रूफ पठन के साथ-साथ मुद्रण दायित्व को सफलता पूर्वक संवहन कर अपने समर्पित श्रम का परिचय दिया है। उनके लिए भी साधुवाद !

—आचार्य शिव मुनि

श्री उपासकदशांग सूत्र के सम्पादक



जैन धर्म दिवाकर ध्यान योगी
आचार्य सम्राट् डा० श्री शिवमुनि जी महाराज

निर्भीक आत्मार्थी एवं पंचाचार की प्रतिमूर्ति : आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म.

व्यक्ति यह समझता है कि मेरी जाति का बल, धन बल, मित्र बल यही मेरा बल है। वह यह भूल जाता है कि यह वास्तविक बल नहीं है, वास्तव में तो आत्मबल ही मेरा बल है। लेकिन भ्रांति के कारण वह उन सारे बलों को बढ़ाने के लिए अनेक पाप-कर्मों का उपार्जन करता है, अनंत अशुभ कर्म-वर्गणाओं को एकत्रित करता है, जिससे कि उसका वास्तविक आत्मबल क्षीण होता है। जाति, मित्र, शरीर, धन इन सभी बलों को बढ़ा करके भी वह चिंतित और भयभीत रहता है कि कहीं मेरा यह बढ़ाया हुआ बल क्षीण न हो जाए, उसका यह डर इस बात का सूचक है कि जिस बल को उसने बढ़ाया है वह उसका वास्तविक बल नहीं है।

सर्वश्रेष्ठ बल—वास्तविक बल तो अपने साथ अभय लेकर आता है। आत्मबल जितना बढ़ता है उतना ही अभय का विकास होता है। अन्य सारे बल भय बढ़ाते हैं। व्यक्ति जितना भयभीत होता है उतना ही वह सुरक्षा चाहता है। बाहर का बल जितना ही बढ़ता है उतना ही भय भी बढ़ता है और भय के पीछे सुरक्षा की आवश्यकता भी उसे महसूस होती है। इस प्रकार जितना वह बाह्य-रूप से बलवान बनता है उतना ही भयभीत और उतनी ही सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव करता है। भगवान अभय में जीवन को जीए, उन्होंने आत्मबल की साधना की। वह चाहते तो किसी का सहारा ले सकते थे लेकिन उन्होंने किसी का सहारा, किसी की सुरक्षा क्यों नहीं ली, क्योंकि वे जानते थे कि बाह्य बल बढ़ाने से आत्मबल के ज्ञान का जागरण नहीं होता। इसलिए वे सारे सहारे छोड़कर आत्मबल-आश्रित और आत्मनिर्भर बन गए। जैसे कहा जाता है कि श्रमण स्वावलम्बी होता है, अर्थात् वह किसी दूसरे के बल पर, व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के बल पर नहीं खड़ा अपितु स्वयं अपने बल पर खड़ा हुआ है। जो दूसरे के बल पर खड़ा हुआ है वह सदैव दूसरों को खुश रखने के लिए प्रयत्नरत रहता है। जिस हेतु पापकर्म या माया का सेवन भी वह कर लेता है। आत्मबल बढ़ाने के लिए सत्य, अहिंसा और साधना का मार्ग है। 'भगवान का मार्ग वीरों का मार्ग है।' वीर वह है जो अपने आत्मबल पर आश्रित रहता है। यह भ्रान्ति अधिकांश लोगों की है कि बाह्यबल बढ़ने से ही मेरा बल बढ़ेगा। इसलिए अनेक बार साधुजन भी ऐसा कहते हैं कि मेरा श्रावक बल बढ़ेगा तो मेरा बल बढ़ेगा, मेरे प्रति मान, सम्मान एवं भक्ति रखने वालों की वृद्धि होगी तो मेरा बल बढ़ेगा। फिर इस हेतु से अनेक प्रपंच भी बढ़ेंगे। यही अज्ञान है। वास्तविकता यह है कि बाह्य बल बढ़ाने से, उस पर आश्रित रहने से आत्मबल नहीं बढ़ता अपितु क्षीण होता है। लेकिन आत्मबल का विकास करने से सारे बल अपने आप बढ़ते हैं।

साधु कौन?—साधु वही है जो बाह्यबल का आश्रय छोड़कर आत्मबल पर ही आश्रित रहता है। अतः आत्मबल का विकास करो। उसके लिए भगवान के मार्ग पर चलो। चित्त में जितनी स्थिरता और

समाधि होगी उतना ही आत्मबल का विकास होगा और उसी से समाज-श्रावक इत्यादि बल आपके साथ चलेंगे। बिना आत्मबल के दूसरा कोई बल साथ नहीं देगा।

असंयम किसे कहते हैं?—इन्द्रियों के विषयों के प्रति जितनी आसक्ति होगी उतनी ही उन विषयों की पूर्ति करने वाले साधनों के प्रति (धन, स्त्री, पद, प्रतिष्ठा आदि) आसक्ति होगी। साधनों के प्रति रही हुई इस आसक्ति के कारण वह निरन्तर उसी और पुरुषार्थ करता है, उनको पाने के लिए पुरुषार्थ करता है, इस पुरुषार्थ का नाम ही असंयम है।

संयम क्या है?—इन्द्रिय निग्रह के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है वह संयम है और विषयों को जुटाने के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है वह असंयम है।

साधु पद में गरिमायुक्त आचार्य पद—साधुजन स्वयं की साधना करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर सहयोग भी करते हैं। लेकिन आचार्य स्वयं की साधना करने के साथ-साथ (अपने लिए उपयुक्त साधना ढूँढ़ने के साथ-साथ) यह भी जानते हैं और सोचते हैं कि संघ के अन्य सदस्यों को कौन-सी और कैसी साधना उपयुक्त होगी। उनके लिए साधना का कौन-सा और कैसा मार्ग उपयुक्त है, जैसे मां स्वयं ही खाना नहीं खाती अपितु किसी को क्या अच्छा लगता है, किसके लिए क्या योग्य है यह जान-देखकर वह सबके लिए खाना बनाती भी है। इसी प्रकार आचार्यदेव जानते हैं कि शुभ आलम्बन में एकाग्रता के लिए किसके लिए क्या योग्य है और उससे वैसी ही साधना करवाते हैं। इस प्रकार आचार्य पद की एक विशेष गरिमा है।

पंचाचार की प्रतिमूर्ति—हमारे आराध्य स्वरूप पूज्य गुरुदेव श्री शिवमुनि जी म. दीक्षा लेने के प्रथम क्षण से ही तप-जप एवं ध्यान योग की साधना में अनुरक्त रहे हैं। आपकी श्रेष्ठता, ज्येष्ठता और सुपात्रता को देखकर ही हमारे पूर्वाचार्यों ने आपको श्रमण संघ के पाट पर आसीन कर जिन-शासन की महती प्रभावना करने का संकल्प किया। जिनशासन की महती कृपा आप पर हुई।

यह संक्रमण काल है, जब जिनशासन में सकारात्मक परिवर्तन हो रहे हैं। भगवान महावीर के २६००वें जन्म कल्याणक महोत्सव पर हम सभी को एकता, संगठन एवं आत्मीयता-पूर्ण वातावरण में आत्मार्थ की ओर अग्रसर होना है। आचार्य संघ का पिता होता है। आचार्य जो स्वयं करता है वही चतुर्विध संघ करता है। वह स्वयं पंचाचार का पालक होता है तथा संघ को उस पथ पर ले जाने में कुशल भी होता है। आचार्य पूरे संघ को एक दृष्टि देते हैं जो प्रत्येक साधक के लिए निर्माण एवं आत्मशुद्धि का पथ खोल देती है। हमारे आचार्य देव पंचाचार की प्रतिमूर्ति हैं। पंचाचार का संक्षिप्त विवरण निम्नोक्त है—

ज्ञानाचार—आज संसार में जितना भी दुख है उसका मूल कारण अज्ञान है। अज्ञान के परिहार हेतु जिनवाणी का अनुभवगम्य ज्ञान अति आवश्यक है। आज ज्ञान का सामान्य अर्थ कुछ पढ़ लेना, सुन लेना एवं उस पर चर्चा कर लेना या किसी और को उपदेश देना मात्र समझ लिया गया है। लेकिन जिनशासन में ज्ञान के साथ सम्यक् शब्द जुड़ा है। सम्यक् ज्ञान अर्थात् जिनवाणी के सार को अपने अनुभव से

जानकर, जन-जन को अनुभव हेतु प्रेरित करना। द्रव्य श्रुत के साथ भावश्रुत को आत्मसात् करना। हमारे आराध्यदेव ने वर्षों तक बहुश्रुत गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी म.सा., उपाध्याय प्रवर्तक श्री फूलचंद जी म.सा. 'श्रमण' एवं अनेक उच्चकोटि के संतों से द्रव्य श्रुत का ज्ञान ग्रहण कर अध्यात्म साधना के द्वारा भाव श्रुत में परिणत किया एवं उसका सार रूप ज्ञान चतुर्विध संघ को प्रतिपादित कर रहे हैं एवं अनेक आगमों के रहस्य जो बिना गुरुकृपा से प्राप्त नहीं हो सकते थे, वे आपको जिनशासनदेवों एवं प्रथम आचार्य भगवंत श्री आत्माराम जी म. की कृपा से प्राप्त हुए हैं। वही अब आप चतुर्विध संघ को प्रदान कर रहे हैं। आपने भाषाज्ञान की दृष्टि से गृहस्थ में ही डबल एम.ए. किया एवं सभी धर्मों में मोक्ष के मार्ग की खोज हेतु शोध ग्रन्थ लिखा और जैन धर्म से विशेष तुलना कर जैन धर्म के राजमार्ग का परिचय दिया। आज आपके शोध ग्रन्थ, साहित्य एवं प्रवचनों द्वारा ज्ञानाचार का प्रसार हो रहा है। आप नियमित सामुहिक स्वाध्याय करते हैं एवं सभी को प्रेरणा देते हैं। अतः प्रत्येक साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका ज्ञानाचारी बनकर ही आचार्यश्री की सेवा कर सकते हैं।

दर्शनाचार—दर्शन अर्थात् श्रद्धा, निष्ठा एवं दृष्टि। आचार्य स्वयं सत्य के प्रति निष्ठावान होते हुए पूरे समाज को सत्य की दृष्टि देते हैं। जैन दर्शन में सम्यक् दृष्टि के पांच लक्षण बताए हैं—१. सम अर्थात् जो समभाव में रहता है। २. संवेग—अर्थात् जिसके भीतर मोक्ष की रुचि है उसी ओर जो पुरुषार्थ करता है, जो उद्वेग में नहीं जाता। ३. निर्वेद—जो समाज-संघ में रहते हुए भी विरक्त है, किसी में आसक्त नहीं है। ४. आस्था—जिसकी देव, गुरु, धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा है, जो स्व में खोज करता है, परं में सुख की खोज नहीं करता है तथा जिसकी आत्मदृष्टि है, पर्यायदृष्टि नहीं है। पर्याय-दृष्टि राग एवं द्वेष उत्पन्न करती है। आत्म-दृष्टि सदैव शुद्धात्मा के प्रति जागरूक करती है। ऐसे दर्शनाचार से संपन्न हैं हमारे आचार्य प्रवर। चतुर्विध संघ उस दृष्टि को प्राप्त करने के लिए ऐसे आत्मार्थी सद्गुरु की शरण में पहुंचे और जीवन का दिव्य आनन्द अनुभव करे।

चारित्राचार—आचार्य भगवन् श्री आत्माराम जी म. चारित्र की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि चयन किए हुए कर्मों को जो रिक्त कर दे उसे चारित्र कहते हैं। जो सदैव समता एवं समाधि की ओर हमें अग्रसर करे वह चारित्र है। चारित्र से जीवन रूपान्तरण होता है। जीवन की जितनी भी समस्याएं हैं सभी चारित्र से समाप्त हो जाती हैं। इसीलिए कहा है 'एकान्त सुही मुणी वियरागी'। वीतरागी मुनि एकान्त रूप से सुखी हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष रूपी शत्रुओं को दूर करने के लिए आप वर्षों से साधनारत हैं। आप अनुभव गम्य, साधना जन्य ज्ञान देने हेतु ध्यान शिविरों द्वारा द्रव्य एवं भाव चारित्र की ओर समग्र समाज को एक नयी दिशा दे रहे हैं। आप सत्य के उत्कृष्ट साधक हैं एवं प्राणी मात्र के प्रति मंगल भावना रखते हैं एवं प्रकृति से भद्र एवं ऋजु हैं। इसलिए प्रत्येक वर्ग आपके प्रति समर्पित है।

तपाचार—गौतम स्वामी गुप्त तपस्या करते थे एवं गुप्त ब्रह्मचारी थे। इसी प्रकार हमारे आचार्य प्रवर भी गुप्त तपस्वी हैं। वे कभी अपने मुख से अपने तप एवं साधना की चर्चा नहीं करते हैं। वर्षों से एकान्त तप उपवास के साथ एवं आभ्यंतर तप के रूप में सतत स्वाध्याय एवं ध्यान तप कर रहे हैं। इसी ओर पूरे चतुर्विध संघ को प्रेरणा दे रहे हैं। संघ में गुणात्मक परिवर्तन हो, अवगुण की चर्चा नहीं हो,

इसी संकल्प को लेकर चल रहे हैं। ऐसे उत्कृष्ट तपस्वी आचार्य देव को पाकर जिनशासन गौरव का अनुभव कर रहा है।

वीर्याचार—सतत अप्रमत्त होकर पुरुषार्थ करना वीर्याचार है। आत्मशुद्धि एवं संयम में स्वयं पुरुषार्थ करना एवं करवाना वीर्याचार है।

ऐसे पंचाचार की प्रतिमूर्ति हैं हमारे श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म.। इनके निर्देशन में सम्पूर्ण जैन समाज को एक दृष्टि की प्राप्ति होगी। अतः हृदय की विशालता के साथ, समान विचारों के साथ, एक धरातल पर, एक ही संकल्प के साथ हम आगे बढ़ें और शासन प्रभावना करें।

निर्भीक आचार्य—हमारे आचार्य भगवन् आत्मबल के आधार पर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ रहे हैं। संघ का संचालन करते हुए अनेक अवसर ऐसे आये जहां पर आपको कठिन परीक्षण के दौर से गुजरना पड़ा। किन्तु आप निर्भीक होकर धैर्य से आगे बढ़ते गए। आपश्री जी श्रमण संघ के द्वारा पूरे देश को एक दृष्टि देना चाहते हैं। आपके पास अनेक कार्यक्रम हैं। आप चतुर्विध संघ में प्रत्येक वर्ग के विकास हेतु योजनाबद्ध रूप से कार्य कर रहे हैं।

पूज्य आचार्य भगवन् ने प्रत्येक वर्ग के विकास हेतु निम्न योजनाएं समाज के समक्ष रखी हैं—

१. बाल संस्कार एवं धार्मिक प्रशिक्षण के लिए गुरुकुल पद्धति के विकास हेतु प्रेरणा।
२. साधु-साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं के जीवन के प्रत्येक क्षण में आनन्द पूर्ण वातावरण हो, इस हेतु सेवा का विशेष प्रशिक्षण एवं सेवा केन्द्रों की प्रेरणा।
३. देश-विदेश में जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु स्वाध्याय एवं ध्यान साधना के प्रशिक्षक वर्ग को विशेष प्रशिक्षण।
४. व्यसन-मुक्त जीवन जीने एवं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आनंद एवं सुखी होकर जीने हेतु शुद्ध धर्म-ध्यान एवं स्वाध्याय शिविरों का आयोजन।

इन सभी कार्यों को रचनात्मक रूप देने हेतु आपश्री जी के आशीर्वाद से नासिक में 'श्री सरस्वती विद्या केन्द्र' एवं दिल्ली में 'भगवान महावीर मेडीटेशन एंड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट' की स्थापना की गई है। इस केन्द्रीय संस्था के दिशा निर्देशन में देश भर में त्रिदिवसीय ध्यान योग साधना शिविर लगाए जाते हैं। उक्त शिविरों के माध्यम से हजारों-हजार व्यक्तियों ने स्वस्थ जीवन जीने की कला सीखी है। अनेक लोगों को असाध्य रोगों से मुक्ति मिली है। मैत्री, प्रेम, क्षमा और सच्चे सुख को जीवन में विकसित करने के ये शिविर अमोघ उपाय सिद्ध हो रहे हैं।

इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में ऐसे महान विद्वान और ध्यान-योगी आचार्यश्री को प्राप्त कर जैन संघ गौरवान्वित हुआ है।

—श्रीराम मुनि

प्रशस्तिः

जिनेशं श्रीवीरं कृतशबलशोभं चरणयोः, विचित्रज्योतिर्भिः विविधमणिरागैः सुरुचिभिः ।
स्पृहावद्भिः स्प्रष्टुञ्चरणकमले मौलिलग्नैः, मणीनां रोचिर्भिः सुरनृपकिरीटैः समणिभिः ॥
भजन्नेको युक्तोऽखिल गृहिगुणैर्धर्मसहितैः, शुचिः सुव्यापारे यतिचरणसेवी सुकुलवान् ।
अवांत्सीत् सिंहान्तोऽमर इति सुनामामृतसरे, महार्घद्रव्याणां पणनधृतबुद्धिर्गृहपतिः ॥
अथैकस्मिन्काले प्रवचनमतेदत्तमतिना, इदं तेन ध्यातं विरतरतिना लोकगतिषु ।
प्रवृत्तिः संसारे सुखशतहतौ हेतुरुदिता, निवृत्तिस्तस्माद्वै शमसुखकरी तेन गदिता ॥
सपर्या सद्योगैः सयमसुधियां क्षेमकरणी, तपश्चर्या घोरा सकलभवकर्मापहरणी ।
श्रुतस्याभ्यासेशं विपुलमतिशोभं शुभकर-मधीता या विद्या स्मरणचरणे सा तु सुफला ॥
भविष्यामि त्यागी गुरुचरणवर्ती यतिरहम्, रतोज्ञाने ध्याने विजितविषयः शान्तमदनः ।
निमग्नः सेवायां सुविपुलतपोलग्नवपुषा, स्वधीष्ये शास्त्राणि स्मृति-धृतिनिदिध्यासकरणैः ॥
गृहीत्वा प्रव्रज्यां समधिगतगुप्तिः सुसमितिः, मुनिःसज्जातः स स्थविरमुनिषु प्रौढमतिलः ।
प्रवृत्तः शास्त्राणां पठनमनने धैर्य-चरणः, सुसेवी पादानां गुरुचरणवर्ती विमलधीः ॥
समुद्रं शास्त्राणां स्थिरमनतिकौलेन कृतवान्, ततः स्वे-सिद्धान्ते विपुलगहने धीरगतिमान् ।
अवाप्तं नैपुण्यं परसमयशास्त्रेष्वपि परम्, व्युपेतः संपद्भिः श्रमणगणशास्तुः सुवदनः ॥
दधानश्चातुर्यं प्रवचन-कथायां बहुमतः, सुशिष्यैर्धीमद्भिः परिवृतशरीरो विचरति ।
गुणैस्तैराकृष्टैर्मुनिगृहिभिरादेयवचनः, मिलित्वा सर्वैस्तैर्मुनिगणविधीशः प्रकटितः ॥
प्रभुञ्जैनाचार्यं मुनिममरसिंहाख्यमतुलं, स्वशास्तारं लब्ध्वा यतिगृहिगणा मोदमगमन् ।
चिरं शास्ता संघं जिनवचनवृत्तिं सुचरितं, स्वधर्मं शैथिल्यं सुयतिगृहिणा दूरमकरोत् ॥
प्रदेशे पञ्जाबे परिविहरमाणेन गणिना, चिराख्यं मिथ्यात्वं परिहृतमशेषं कुमतिजम् ।
प्रचार्यैवं धर्मं परम-पददं जैनमभितः, प्रसार्यैवं सङ्गाञ्जगति महतीं ख्यातिमगमत् ॥

श्रीरामवक्षं निजशिष्यवर्यं, नियुक्तवान्, स्वीयपदेऽन्तकाले ।
प्रदाय चाचार्यपदं, सुरक्षाभरान्वितं पापमुदं सुतोषः ॥
सङ्गाग्रणीर्वररुचिरवरधीर्मुनीशः, रक्षापरः सततसंघशुभानुदर्शी ।
विद्वत्प्रकाण्डमुचितेन परिश्रमेण, स्वग्रे नयन्मुनिगणं त्रिदिवंगतः सः ॥

अतो मोतीरामं निजगणगणेशं विहितवान्, वराचार्यः सत्सु प्रयुतगणिसम्पत्तिरमदः ।
मनोजं रूपेण प्रगुरुममराणां मतिधनै रधः कुर्वन्नासीन्मुनिगणसुरक्षा सततधीः ॥
अवच्छेदात्पूर्वं गण इति क इत्यन्तिमपदं, यदास्यात्सम्मेलः सुवरपदवीभूषणमणिः ।
गुणी वीरो धीरो मुनिपतिसुशिष्यो घनयमः, सुधीः शान्तो दान्तो गणपति सुनामामुनिवरः ॥

सुशिष्यं तस्यापि शुभद जयरामाख्यमनघं, विदुर्लोकाधीरं यमिवरमदोषं गुणगृहम् ।
 तदीयान्तेवासी वरगुणगणालंकृतशमः, मुनिश्शालिग्रामः सुगुरुचिसङ्केतनिपुणः ॥
 सुनाम्नात्मारामः क्रमगतसुशिष्यो वरगुरो-र्ब्रतीह्याबालाघः समुपचिततेजा वरयमी ।
 सुगीतो विद्वद्भिः परिविदितशास्त्रस्ततमतिः, कुले जातः क्षात्रे परमकुलदीपो दिनमणिः ॥
 माता शीलवती पतिव्रतपरा सेवारता प्रेमभाक्, नाम्ना सा परमेश्वरी पतिकुलं वृद्धिं नयन्ती मुदा ।
 पुण्यं सूनूमिमं सुलक्षणयुतं तेजस्विनं सुन्दरम्, सार्द्धं प्रादुरभावयत्सुयशसा पुञ्जीकृतश्रेयसम् ॥
 वरेण्यस्तेजस्वी सुधनि-मनसारामतनुजः, सुकान्तः सौम्याभो लघुवयसि सम्प्राप्तविरतिः ।
 प्रशस्तः कोशज्ञैर्धृतविधिधशब्दो निजमतौ, पुरीं राहो नाम्नीमवतरणपूतां विहितवान् ॥
 सदाभ्यासे लग्नो मननरुचिरासीदविवरः सुपाठाञ्छास्त्राणामचिरपठितान्कण्ठमकरोत् ।
 अखिन्नः कालज्ञो पवनगतिराप्तः सगयवित्, परेषां शास्त्राणि स्मृतिपथमशेषान्यगमयत् ॥
 महान्तो नेतारः परमतुलविद्धांसमविदुः, महात्मा वीरात्मा प्रकृतिसरलः, पूजितपदः ।
 सदा भक्तौ लीनः परिविजितकामो वरधृतिः, मनीषी विख्यातः समलभत कीर्तिं सुकृतिकृत ॥

पुरातनी भारतराजधानी दिल्लीतिनाम्ना प्रथिता पृथिव्याम्।

निवासिनः श्रावकभावुका-जना, रता जिनेशस्य पदाब्जभवतौ ॥

एष वाग्मी तथा सम्यक् पण्डितः सर्वपूजितः, तपस्वी मोहतमसंशुद्धेतायं मुनिसत्तमः ।
 सूर्यवज्जैनसूत्राणां सम्यगर्थप्रकाशक इति ज्ञात्वा जनैः प्रोक्तो जैन-धर्मदिवाकरः ॥
 उपाध्यायः पूर्व चिरमभवदध्यापितमुनिः, मुनीनामाचार्यस्तदनु यमिभिर्निश्चितकृतः ।
 सुवेत्ता तत्त्वानां गणिगणसुसम्मानितपदः, प्रधानाचार्यश्च श्रमणगणशास्तातदनु वै ॥
 श्रद्धावन्तो विपुलधनिनो यूथबद्धा गृहस्थाः, रूपं कान्तं रूचिरममलं भातिरस्कुर्वदकम् ।
 दृष्ट्वा पुण्यं मुदितमनसो वंदमाना विनीताः, शान्तेर्लाभं स्तुतिपठनजं प्राप्नुवन्तिस्म कामम् ॥
 एषा व्याख्या सरलसुगमा बोधयन्ती पदार्थान्, साद्योपान्ता सुविवृतियुता मोदहेतुः सुवर्णा ।
 प्राचार्यैर्दे रूचिरलिखिता तेन धीरात्मना सा, मिथ्यात्वान्धं निखिलमपहर्तुं समर्था सुकल्या ॥
 लभन्तां कल्याणं भवजलधिपारं जनगणाः अहं वन्दे भूयश्चरणयुगलं पद्मरूचिरम् ।
 तपस्वी पुण्यात्मा सुविमलयशस्वी महगणी, मनस्वी योगीशः किरतु सततं मङ्गलमहो ॥
 प्रशस्यो यशस्वी तपस्वी मनीषी,, समस्तागमानां परं पारदृश्वा ।
 जनानां शुभस्योपदेष्टा मुनिर्यो, सदा तं गुरुं श्रीसमेतं नमामि ॥

आचार्यचरणकमलचञ्चरीकः

प्रशिष्यो मुनिविक्रमः

प्रस्तावना

(लेखक : डॉ० इंद्रचन्द्र शास्त्री)

आगमों का संक्षिप्त परिचय

किसी ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखते समय हमारे सामने उसके दो रूप आते हैं—बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग। बहिरङ्ग रूप का अर्थ है उस ग्रन्थ के रचनाकाल, कर्ता, भाषा, एवं बाह्य आकार से सम्बन्ध रखने वाली अन्य बातों का निरूपण। उपासकदशाङ्ग सूत्र सातवां अङ्ग है और सभी अङ्ग श्री सुधर्मा स्वामी की रचना माने जाते हैं। उनका निरूपण प्रस्तावना के पहले खण्ड में किया जाएगा।

ग्रन्थ का दूसरा रूप अन्तरङ्ग है। इसका अर्थ है उसमें प्रतिपादित विषयों का निरूपण। उपासकदशाङ्ग में दस आदर्श गृहस्थों का वर्णन है, जिन्हें श्रावक कहा जाता है। जैन धर्म में श्रावक का पद जीवन की उस भूमिका को प्रकट करता है जहां त्याग और भोग, स्वार्थ और परमार्थ, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर समन्वय है, अतः समाज रचना की दृष्टि से इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

उपासकदशाङ्ग में ई. पू. ६०० का सांस्कृतिक चित्र है। आनन्द का जीवन तत्कालीन वाणिज्य-व्यवसाय पर प्रकाश डालता है। राजा, ईश्वर, तलवर आदि नाम राज्याधिकारियों के परिचायक हैं। गोशालक का निर्देश धार्मिक स्थिति की ओर संकेत करता है। चम्पा, राजगृह आदि नगरियों तथा राजाओं के नाम भगध तथा आस-पास के जनपदों का भौगोलिक परिचय देते हैं। इन सबका निरूपण विविध परिशिष्टों में किया गया है।

आदिकाल

महावीर से पहले का साहित्य—

जैन-साहित्य का प्राचीनतम रूप चौदह पूर्व माने जाते हैं। उनका परिचय आगे दिया जाएगा। यद्यपि इस समय कोई पूर्व उपलब्ध नहीं है, फिर भी उस साहित्य में से उद्धृत या उस आधार पर रचे गए ग्रन्थ विपुल मात्रा में आज भी विद्यमान हैं।

पूर्वों की रचना का काल निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। 'पूर्व' शब्द इस बात को सूचित करता है कि वे भगवान महावीर से पहले विद्यमान थे।

भगवती सूत्र में जहां भगवान की परम्परा के साधुओं का वर्णन आता है, वहां उनके ग्यारह एवं बारह अङ्ग पढ़ने का उल्लेख है और जहां उनसे पूर्ववर्ती परम्परा वाले साधुओं का वर्णन आता है वहां ग्यारह अङ्ग तथा पूर्वों के अध्ययन का निर्देश है। जिनभद्र ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि साधारण बुद्धि के लोगों के लिए चौदह पूर्वों में से निकालकर अङ्गों की रचना की गई। इन सब प्रमाणों से यह

स्पष्ट हो जाता है कि महावीर से पहले का श्रुत-साहित्य ग्यारह अङ्ग तथा पूर्वों के रूप में था। महावीर के पश्चात् कुछ समय तक बारह अङ्ग और चौदह पूर्व दोनों प्रकार का साहित्य चलता रहा। क्रमशः पूर्व साहित्य लुप्त हो गया और अङ्ग-साहित्य पठन-पाठन में चलता रहा। भगवान् पार्श्वनाथ ईसा से ८५० वर्ष पहले हुए। उनमें यदि ईसा के बाद की बीस शताब्दियां मिला दी जाएं, तो कहा जा सकता है कि लगभग ३००० वर्ष पहले जैन परम्परा में 'पूर्व' नाम का विपुल साहित्य विद्यमान था। उसका आदिकाल इतिहास की पहुंच से पहले का है। उसका माप वर्षों की संख्या द्वारा नहीं, किन्तु कालचक्र के युगों द्वारा ही किया जा सकता है।

भगवान् महावीर के बाद का श्रुत-साहित्य अङ्ग, उपांग, मूलसूत्र, छेदसूत्र, प्रकीर्णक आदि में विभक्त है। उसकी संख्या के विषय में विभिन्न परम्पराएं हैं, जिनका परिचय आगे दिया जाएगा। उससे पहले यह जानने की आवश्यकता है कि जैन परम्परा में शास्त्रीय ज्ञान का क्या स्थान है।

जैन दर्शन में ज्ञान के पांच भेद किए गए हैं। शास्त्र या व्यक्ति द्वारा सीखी गई बातों को दूसरे भेद में गिना गया है। इसका शास्त्रीय नाम है श्रुत-ज्ञान। इसका अर्थ है, सुना हुआ ज्ञान। ब्राह्मण परम्परा में जो महत्त्व श्रुति या वेद का है, जैन-परंपरा में वही महत्त्व श्रुतज्ञान को दिया गया है। किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में भेद है।

मीमांसादर्शन वेद को अनादि मानता है। उसका कहना है कि वेद किसी का बनाया हुआ नहीं है। वह गुरु और शिष्य की परंपरा में अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। उसकी परम्परा न कभी प्रारम्भ हुई और न कभी समाप्त होगी।

अन्य वैदिक-दर्शन वेद को अनादि नहीं मानते। वे उसे ईश्वर की रचना मानते हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ऋषियों को वेदों का सन्देश देता है। तत्पश्चात् ऋषि उनका प्रचार करते हैं। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में इसी प्रकार वेद रचे जाते हैं।

जैन धर्म अपने आगमों को न अनादि मानता है और न ईश्वर की रचना। वह उन्हें ज्ञानी तथा चारित्र-सम्पन्न महापुरुषों की रचना मानता है। तीर्थंकर उनका आशय अपने व्याख्यानों में प्रकट करते हैं। शाब्दिक रचना गणधर करते हैं। वैदिक दर्शन वेदों की रचना के साथ जिस आधिदैविक तत्त्व को जोड़ते हैं, जैन दर्शन उसे नहीं मानता। वैदिक दर्शन परम्परा को इतना ऊंचा स्थान देते हैं कि वह मानव बुद्धि के लिए अगम्य हो जाती है। जैन दर्शन परम्परा को मानव बुद्धि की देन मानता है।

वैदिक परम्परा के अनुसार वेदों में परिवर्तन करने का अधिकार किसी को नहीं है। किन्तु जैन परम्परा में मानव का अधिकार छीना नहीं गया है। भगवान् पार्श्वनाथ के समय आगमिक साहित्य चौदह पूर्वों में विभक्त था। भगवान् महावीर के समय उसे अङ्ग और उपांगों में बांटा गया। पार्श्वनाथ का चतुर्थांश धर्म था, महावीर ने पंचयाम की स्थापना की। वस्त्र, प्रतिक्रमण तथा कई दूसरे विषयों में संशोधन किया गया। उत्तराध्ययन के केशी-गौतम संवाद में उन बातों का वर्णन मिलता है। इससे

सिद्ध होता है कि जैन आगमों में अपरिवर्तनीयता की कोई भावना नहीं रही। इतना ही नहीं, जीतकल्प के नाम से भिन्न-भिन्न समय में आचार्यों द्वारा बनाई गई मर्यादाओं को भी आगमों में स्थान मिलता रहा है।

श्रुतज्ञान के विषय में दूसरा प्रश्न है उसके प्रामाण्य का। मीमांसा व वेदान्तदर्शन वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं। उनमें कही हुई बातें इसलिए प्रमाण नहीं हैं कि उनका कहने वाला कोई निर्दोष विद्वान है बल्कि इसलिए प्रमाण हैं कि वे वेद की बातें हैं। जैन दर्शन भी आगमों को प्रमाण मानता है, किन्तु वह इसलिए कि उनका कहने वाला निर्दोष है। वह जैसा जानता है वैसा कहता है। साथ ही उसका ज्ञान भी ठीक है, क्योंकि अभी तक उसकी कोई बात झूठी नहीं उतरी। इस प्रकार जैनदर्शन और वैदिकदर्शनों के दृष्टिकोण में मौलिक भेद है। दोनों परम्परा का सम्मान करते हैं, किन्तु एक उसे सर्वोपरि सत्य मानता है और दूसरा उसे विशिष्ट ज्ञानी का अनुभव बताता है। दोनों के अनुसार उसमें अक्षर या मात्रा का भी परिवर्तन नहीं हो सकता। यहां तक कि उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरों में भी परिवर्तन करने पर पाप माना गया है।

जैन दर्शन में एक और विशेषता है। वहां अर्धमागधी भाषा में लिखे गए मूल ग्रन्थों को ही आगम नहीं माना गया, मूल के साथ अर्थ को भी आगम माना गया है। आचारांग आदि आगमों के अनुवाद भी आगम ही हैं। प्रतिक्रमण में, जहां ज्ञान सम्बन्धी अतिचारों की चर्चा है, वहां तीन प्रकार का आगम बताया गया है—सूत्रागम, अर्थागम तथा तदुभयागम।

यहां यह प्रश्न होता है कि यदि जैन आगमों में परिवर्तन की गुंजाइश है तो “हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, विणयहीणं, जोगहीणं, घोसहीणं” आदि में अक्षरों की न्यूनाधिकता तथा घोष परिवर्तन को दोष क्यों माना गया? इसका उत्तर स्पष्ट है, परिवर्तन की योग्यता होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति को बिना जाने-बूझे यह अधिकार नहीं है। शुद्ध उच्चारण न करना या बिना समझे-बूझे मूल या अर्थ में परिवर्तन कर देना तो दोष ही है। साधारण बातचीत में भी उच्चारण, प्रासंगिकता, दबाव आदि का ध्यान रखा जाता है। इसकी उपेक्षा करने पर वाणी का प्रभाव कम हो जाता है। इसी दृष्टि से यदि आगमों में भी इन बातों को दोष बताया गया है तो यह उचित ही है। विचारों का परिमार्जन और भाषा का सौष्ठव तो प्रत्येक बात के लिए आवश्यक है।

श्रुतज्ञान का व्यापक अर्थ है, साहित्य। वैदिक परम्परा में वेदों को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए विविध प्रयत्न किए गए। पदपाठ, घनपाठ, जटापाठ आदि के द्वारा वेदों के पाठ तथा उच्चारण को अब तक जो अक्षुण्ण रखा गया है, वह एक महान् आश्चर्य है। हजारों वर्षों से चली आ रही चीज को इस प्रकार स्थिर रखने का उदाहरण संसार में दूसरी जगह नहीं मिलता। किन्तु जैन परंपरा ने इस विषय में जिस विशाल हृदयता का परिचय दिया है, वह वैदिक परम्परा में नहीं है। अध्ययन की दृष्टि से देखा जाए तो जैन आचार्यों ने वैदिकदर्शन तथा अन्य साहित्य में जो रुचि दिखाई है वह तो वैदिक

परम्परा में नहीं दिखाई देती। जब हम शंकराचार्य तथा वाचस्पति मिश्र सरीखे विद्वानों द्वारा किए गए जैनदर्शन के खण्डन को देखते हैं तो हंसी आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जैनदर्शन का कोई ग्रन्थ उठाकर देखने का प्रयत्न ही नहीं किया। कुछ जैन आचार्यों ने भी वैदिकदर्शनों को बिना समझे ही उनका खण्डन कर दिया है, किन्तु सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक, विद्यानन्द, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र तथा यशोविजय उपाध्याय आदि अनेक विद्वान ऐसे हैं जिनके विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। उन्होंने वैदिकदर्शनों को विधिपूर्वक पढ़ा है और पूर्वपक्ष के रूप में अच्छी तरह लिखा है। वैदिकदर्शनों में ऐसा एक भी आचार्य नहीं मिलता। ब्राह्मण पण्डितों में अब भी यह धारणा बद्धमूल है कि नास्तिक ग्रन्थों को नहीं पढ़ना चाहिए।

जैन परम्परा में दूसरी बात ग्रन्थ-भण्डारों की है। जैसलमेर, पाटण आदि के ग्रन्थ-भण्डार भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं। वहां केवल जैन ही नहीं, बौद्ध तथा वैदिक ग्रन्थों का भी इतना अच्छा संग्रह मिलता है जिनके आधार पर ही उन ग्रन्थों का संरक्षण किया जा सका है। वैदिक परम्परा में इस प्रकार के भण्डार सुनने में नहीं आए। कुछ भण्डार राज्याश्रित हैं किन्तु उनमें भी प्राचीन साहित्य कम है और मध्यकालीन अधिक।

जैन भण्डार और साहित्य ने भारतीय इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया है। विण्टरनिज के शब्दों में वहां उन्हें इतिहास की प्रमाणिक सामग्री उपलब्ध हुई है।

किन्तु उन के संरक्षकों द्वारा ग्रन्थ संरक्षण की यह परम्परा आगे जाकर ग्रन्थगोपन के रूप में परिणत हो गई। ग्रन्थों का पठन-पाठन कम हो गया और उन्हें छिपा कर रखा जाने लगा। उन्हें अपरिचित व्यक्ति को दिखाते हुए भी संकोच होने लगा। सम्भव है मुस्लिम शासन में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई हो, जिससे बाध्य होकर ऐसा करना पड़ा।

किन्तु यह प्रवृत्ति अंग्रेजों के शासन में भी चलती रही। परिणामस्वरूप जैन ग्रन्थों का प्रचार बहुत कम हो पाया।

पूर्वों का परिचय

महावीर के बाद का आगम-साहित्य अंगप्रविष्ट तथा अनंगप्रविष्ट के रूप में विभक्त हुआ। अङ्गों में बारहवां दृष्टिवाद है। उसके विविध अध्यायों में १४ पूर्व भी आ जाते हैं। इस प्रकार एक ओर अङ्ग साहित्य की उत्पत्ति पूर्वों से बताई जाती है, दूसरी ओर बारहवें अङ्ग में सभी पूर्वों का समावेश किया जाता है। इस विरोधाभास का निराकरण इस प्रकार होता है—भगवान महावीर के बाद पूर्वों के आधार पर अङ्गों की रचना हुई। किन्तु पार्श्वनाथ के साधुओं में पूर्वों की परम्परा लुप्त हो गई थी, सिर्फ ११ अङ्ग सूत्र ही रह गए थे, जब वे महावीर के शासन में सम्मिलित हो गए तो उनके साहित्य को भी अङ्गों में सम्मिलित कर लिया गया।

यहां एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि चौदह पूर्वों के ज्ञाता को श्रुत केवली कहा गया है।

अर्थात् चौदह पूर्व जान लेने के बाद शास्त्रीय ज्ञान पूर्ण हो जाता है। फिर अन्य अङ्ग साहित्य को पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ११ अङ्गों में प्रतिपादित ज्ञान पूर्वा से ही शब्दतः या अर्थतः उद्धृत किया गया।

शीलाकाचार्य ने आचारांग की टीका में पूर्वों को सिद्धसेन कृत सन्मति तर्क के समान द्रव्यानुयोग में गिना है। इसका अर्थ यह है कि पूर्वों का मुख्य विषय जैन मान्यताओं का दार्शनिक पद्धति से प्रतिपादन रहा होगा। प्रत्येक पूर्व के अन्त में प्रवाद शब्द और उनका दृष्टिवाद में समावेश भी इसी बात को प्रकट करता है। पूर्वों के परिमाण के विषय में पौराणिक मान्यता है कि अम्बारी सहित खड़े हाथी को ढकने में जितनी स्याही लगती है उतनी स्याही से एक पूर्व लिखा जाएगा। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि शास्त्रार्थ में जिन युक्तियों का प्रयोग किया जाता था उनका परिमाण विशाल था। दृष्टिवाद तथा पूर्वों का संस्कृतभाषा में होना भी इसी बात की पुष्टि करता है कि उनका प्रयोग विद्वत्सभा में होता होगा।

भगवान महावीर को भी कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् कुछ समय तक विद्वानों से शास्त्रार्थ करना पड़ा। उनकी तत्कालीन वाणी भी पूर्व साहित्य में सम्मिलित कर ली गई होगी।

किन्तु महावीर को विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ की यह प्रणाली पसन्द नहीं आई, उन्होंने इसे व्यर्थ का वाग्जाल समझा। परिणामस्वरूप सर्वसाधारण में उपदेश देना प्रारम्भ किया और उसके लिए जनता की बोली अधर्मागधी को अपनाया। अब भगवान का उपदेश पंडितों को पराजित करने के लिए नहीं होता था। उनका ध्येय था, जन-साधारण को धर्म के तत्त्व से अवगत कराना। जैन परम्परा में यह दृष्टिकोण अब तक विद्यमान है। उस समय उन्होंने जो उपदेश दिए वे अङ्ग-साहित्य में उपनिबद्ध हुए। उनमें दार्शनिक भूमिका होने पर भी शैली पूर्णतया जनपदीय थी। इसलिए जिनभद्र ने विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि स्त्री तथा सर्वसाधारण के लिए पूर्वों के आधार पर द्वादशांगी की रचना हुई।

अब हम दृष्टिवाद में पूर्व साहित्य के सन्निविष्ट होने के प्रश्न को लेते हैं। नन्दी सूत्र में जहां दृष्टिवाद के उपकरणों का उल्लेख है वहां 'पूर्वगत' शब्द आया है। इसका अर्थ यह है कि दृष्टिवाद का वह प्रकरण पूर्व साहित्य के आधार पर रचा गया या उसका सार रहा होगा। पूर्व में जिन विषयों तथा मत-मतान्तरों को लेकर विस्तृत चर्चा रही होगी, इसमें इन्हीं का संक्षिप्त परिचय रहा होगा।

अब हमारे सामने प्रश्न आता है पूर्व साहित्य तथा दृष्टिवाद के लोप का। यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर स्वामी के बाद एक हजार वर्ष तक जैन परम्परा का मुख्य लक्ष्य आत्मसाधना, चारित्र-विकास तथा साधारण जनता में प्रचार रहा है। मतमतान्तरों के खण्डन-मण्डन तथा विद्वानों में प्रयुक्त संस्कृत भाषा की ओर जैन मुनियों ने विशेष ध्यान नहीं दिया। खंडन-मंडन को कोरा वाग्जाल समझकर जन मानस तक पहुंचने के लिए स्थानीय बोलियों को अपनाया, तत्कालीन जैन साहित्य में शास्त्रार्थ पद्धति तथा हेतुविद्या सम्बन्धी उल्लेख आते हैं, इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि जैन

आचार्य उनसे अनभिज्ञ थे, किन्तु उनकी स्वाभाविक रुचि दूसरी ओर थी। अतः पूर्वो तथा दृष्टिवाद के अध्ययन-अध्यापन का क्रम टूट गया, तथा काल की गति के अनुसार धारणाशक्ति भी धीरे-धीरे क्षीण होती चली गई, जिससे समग्र पूर्व साहित्य और दृष्टिवाद का व्यवच्छेद हो गया। इस बात को प्रमाणित करने के लिए भगवती सूत्र में आया हुआ भगवान् महावीर और गौतम का संवाद पर्याप्त स्पष्टीकरण करता है। गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने स्वयं प्रतिपादन किया है कि मेरे प्रवचन सम्बन्धी पूर्वो का ज्ञान एक हजार वर्ष तक विद्यमान रहेगा।

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर परम्पराओं के अनुसार अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी थे। भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर-निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ। उन्हीं के साथ चतुर्दश पूर्वधर या श्रुतकेवली का लोप हो गया। दिगम्बर मान्यतानुसार यह लोप वीरनिर्वाण के १६२ वर्ष बाद माना जाता है। इस प्रकार दोनों में ८ वर्ष का अन्तर है।

आचार्य भद्रबाहु के बाद दस पूर्वधरों की परम्परा चली। उसका अन्त आर्यवज्र स्वामी के साथ हुआ। उनकी मृत्यु वीर-निर्वाण के ५८४ वर्ष पश्चात् अर्थात् ११४ वि. में हुई। दिगम्बर मान्यतानुसार अन्तिम दश पूर्वधर धरसेन हुए और उनकी मृत्यु वीरनिर्वाण के २४५ वर्ष पश्चात् हुई। श्रुतकेवली के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यताओं में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों की मन्यताओं में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। उस समय में भी केवल ८ वर्ष का अन्तर है। इसका अर्थ यह है कि उस समय तक दोनों परंपराएं प्रायः एक थीं। किन्तु दसपूर्वधर के विषय में नाम का भेद है और समय में भी २३६ वर्ष का भेद है। दिगम्बर परम्परानुसार भद्रबाहु के बाद दस पूर्वधरों की परम्परा केवल १८३ वर्ष रही। श्वेताम्बरों के अनुसार यह परम्परा ४१४ वर्ष तक चलती रही।

आर्यवज्र के पश्चात् आर्यरक्षित हुए। वे ६ पूर्व सम्पूर्ण और दसवें पूर्व के २४ यविक जानते थे। ज्ञान का उत्तरोत्तर हास होता गया। आर्यरक्षित के शिष्यों में केवल दुर्बलिका पुष्पमित्र नौ पूर्व सीख सके किन्तु वे भी अनाभ्यास के कारण नवम पूर्व को भूल गए। वीर-निर्वाण के एक हजार वर्ष पश्चात् पूर्वो का ज्ञान सर्वथा लुप्त हो गया। दिगम्बर मान्यतानुसार यह स्थिति वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् हो गई।

पूर्वाश्रित साहित्य—

पूर्वो के लुप्त हो जाने पर भी उनके आधार पर बना हुआ या उनमें से उद्धृत साहित्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। इस प्रकार के साहित्य को निर्यूहित (प्रा. गिज्जूहिय) कहा गया है। इस प्रकार के ग्रन्थों के कुछ नाम निम्नलिखित हैं—

ग्रन्थ का नाम	पूर्व का नाम
१. उवसग्गहरथोत्त	अज्ञात
२. ओहणिज्जुत्ति	पच्चक्खाणप्पवाय

३.	कम्मपयडी	कम्मप्पवाय
४.	प्रतिष्ठाकल्प	विज्जप्पवाय
५.	स्थापनाकल्प	
६.	सिद्धप्राभृत	अग्गाणीय
७.	पज्जोयाकप्प	
८.	धम्मपण्णात्ति	आयप्पवाय
९.	वक्कसुद्धि	सच्चप्पवाय
१०.	दशवैकालिक के दूसरे अध्ययन	पच्चक्खाणप्पवाय
११.	परिसहज्जयण	कम्मप्पवाय
१२.	पंचकप्प	अज्ञात
१३.	दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार	पच्चक्खाणप्पवाय
१४.	महाकप्प	अज्ञात
१५.	निशीथ	पच्चक्खाणप्पवाय
१६.	नयचक्र	नाणप्पवाय
१७.	सयग	अज्ञात
१८.	पंचसंग्रह	अज्ञात
१९.	सत्तरिया (कर्मग्रन्थ)	कम्मप्पवाय
२०.	महाकर्मप्रवृत्ति प्राभृत	कम्मप्पवाय
२१.	कषायप्राभृत	अग्गाणीय
२२.	जीवसमास	अज्ञात

दिगम्बरों में आगम रूप से माने जाने वाले षट्खण्डागम और कषायप्राभृत भी पूर्वों से उद्धृत कहे जाते हैं।

चौदह पूर्वों के नाम तथा विषय—

१. उत्पाद—द्रव्य तथा पर्यायों की उत्पत्ति।

२. अग्रायणीय—सब द्रव्यों तथा जीवों के पर्यायों का परिमाण। अग्र का अर्थ है परिमाण और अयन का अर्थ है परिच्छेद।

३. वीर्यप्रवाद—सकर्म एवं अकर्म जीव तथा पुद्गलों की शक्ति।

४. अस्तिनास्तिप्रवाद—धर्मास्तिकाय आदि वस्तुएं स्वरूप से हैं और पररूप से नहीं हैं, इस प्रकार स्याद्वाद का वर्णन।

५. ज्ञान प्रवाद—मति आदि पांच ज्ञानों का स्वरूप एवं भेद-प्रभेद ।
 ६. सत्य प्रवाद—सत्य, संयम अथवा सत्य वचन और उसके प्रतिपक्ष असत्य का निरूपण ।
 ७. आत्म प्रवाद—जीवन का स्वरूप विविध नयों की अपेक्षा से ।
 ८. कर्म प्रवाद या समय प्रवाद—कर्मों का स्वरूप भेद-प्रभेद आदि ।
 ९. प्रत्याख्यान प्रवाद—व्रत-नियमों का स्वरूप ।
 १०. विद्यानुप्रवाद—विविध प्रकार की आध्यात्मिक सिद्धियां और उनके साधन ।
 ११. अवन्ध्य—ज्ञान, तप, संयम आदि का शुभ एवं पाप कर्मों का अशुभ फल । इसे कल्याणपूर्व भी कहा जाता है ।

१२. प्राणायु—इन्द्रियां, श्वासोच्छ्वास, मन आदि प्राण तथा आयुष्य ।

१३. क्रिया विशाल—कायिक, वाचिक आदि विविध प्रकार की शुभाशुभ क्रियाएं ।

१४. बिन्दुसार—लोक-बिन्दुसार लब्धि का स्वरूप एवं विस्तार ।

पूर्व साहित्य इस बात का द्योतक है कि जैन परम्परा महावीर से पहले भी विद्यमान थी और उस समय उसके पास विशाल साहित्य था ।

वर्तमान-आगम

जैन परम्परा के अनुसार श्रुत-साहित्य का प्रारम्भ त्रिपदी से होता है । तीर्थंकर भगवान तीन पदों का उच्चारण करते हैं और गणधर उसी बीज को लेकर विशाल श्रुत-साहित्य की रचना करते हैं । वह त्रिपदी निम्नलिखित है—

“उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा ।”

अर्थात् प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर रहती है । उत्पत्ति, स्थिति और विनाश वस्तु का लक्षण है । इसी सूत्र का विस्तार विशाल जैन-दर्शन है ।

भगवान महावीर की परम्परा में उपरोक्त त्रिपदी का विस्तार करके सुधर्मा स्वामी ने बारह अङ्गों की रचना की ।

- | | |
|-------------------------------|--------------------|
| १. आचाराङ्ग | २. सूत्रकृताङ्ग |
| ३. स्थानाङ्ग | ४. समवायाङ्ग |
| ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) | ६. ज्ञाताधर्म कथा |
| ७. उपासकदशाङ्ग | ८. अन्तकृद्दशा |
| ९. अनुत्तरोपपातिक | १०. प्रश्न व्याकरण |
| ११. विपाक | १२. दृष्टिवाद |

कालक्रम से बारहवें अंग दृष्टिवाद का लोप हो गया। शेष अङ्ग भी अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी ये महावीर की भौतिक परम्परा के प्रतीक हैं। दिगम्बर परम्परा में यह माना जाता है कि मूल आगम सर्वथा लुप्त हो गए और इस समय जो उपलब्ध हैं वे भगवान महावीर के ६८० वर्ष पश्चात् देवर्द्धिगणी के संकलित किए हुए हैं।

गणधरों के बाद चौदह पूर्वों का ज्ञान रखने वाले मुनिवरों ने जो कुछ लिखा वह आगमों में सम्मिलित कर लिया गया। जैन परम्परा में चौदह पूर्वधारी को श्रुतकेवली कहा जाता है अर्थात् वह सम्पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान का धारक होता है।

इसके बाद सम्पूर्ण दस पूर्वों का ज्ञान रखने वाले मुनियों ने जो कुछ लिखा उसे भी आगमों में स्थान दे दिया गया। कहा जाता है—दस पूर्वों का ज्ञान सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त कर सकता है। मिथ्यादृष्टि दसवें पूर्व को पूरी तरह नहीं जान सकता। दस पूर्वधारी का सम्यग्दृष्टि होना अनिवार्य है, इसलिए उसके द्वारा रचा गया साहित्य भी आगम कोटि में आ गया।

पूर्वों का ज्ञान लुप्त होने के बाद जो साहित्य रचा गया, उसे भी आगमों में स्थान मिला। इस प्रकार हम देखते हैं कि वीर-निर्वाण के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक नए प्रकरण रचे गए और उन्हें आगमों में स्थान भी मिलता गया। यह कार्य नीचे लिखी तीन वाचनाओं में हुआ।

तीन वाचनाएं

पाटलिपुत्र परिषद् (वी. नि. १६०)—

भगवान् महावीर के १६० वर्ष पश्चात् मगध में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। साधुओं को आहार-पानी मिलना कठिन हो गया। वे इधर-उधर बिखर गए। उनके साथ आगमों का ज्ञान भी छिन्न-भिन्न हो गया।

दुर्भिक्ष का अन्त होने पर समस्त संघ एकत्रित हुआ और आगमों को सुरक्षित रखने पर विचार हुआ। जिस मुनि को जितना स्मरण था, उसने कह सुनाया। इस प्रकार ११ अङ्ग तो सुरक्षित हो गए किन्तु बारहवां दृष्टिवाद किसी को याद न निकला। उस समय आर्य भद्रबाहु ही चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे और वे योग साधना के लिए नेपाल गए हुए थे। संघ ने श्रुत-रक्षा के लिए स्थूलभद्र तथा अन्य पांच सौ साधुओं को उनके पास भेजा। भद्रबाहु महाप्राण नामक ध्यान में लगे हुए थे। इसलिए अध्यापन के लिए समय कम मिलता था। ऊबकर दूसरे साधु तो वापिस चले आए किन्तु स्थूलभद्र वहां रह गए। उन्होंने सेवा एवं परिश्रम द्वारा दस पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। किन्तु शेष चार पूर्वों को केवल मूलमात्र सीख सके। उसके लिए भी दूसरों को सिखाने की मनाही थी। इस प्रकार भगवान महावीर के दो सौ वर्ष पश्चात् श्रुतज्ञान का हास प्रारम्भ हो गया। वी.नि. १६१ में आर्यसुहस्ति के समय भी राजा सम्प्रति के राज्य में दुर्भिक्ष पड़ा। ऐसे संकटों के समय श्रुतज्ञान का हास स्वाभाविक था।

पाटलिपुत्र वाचना का विस्तृत वर्णन तित्थोगाली पइण्णय, आवश्यकचूर्णि और हेमचन्द्र के

परिशिष्ट और आदि-पूर्वों में मिलता है। तित्योगालीय का सारांश निम्नलिखित है—

भगवान महावीर के बाद सातवें पुरुष चौदह पूर्वधारी भद्रबाहु हुए, जिन्होंने बारह वर्ष तक योगमार्ग का अवलम्बन किया और सूत्रार्थ की निबन्धों के रूप में रचना की। उस समय मध्यप्रदेश में प्रबल अनावृष्टि हुई। इस कारण साधु दूर देशों में चले गए। कोई वेताद्वय पर्वत की गुफाओं में, कोई नदियों के तट पर और कोई समुद्र के तट पर जाकर संयमी जीवन बिताने लगे। संयम में दोष लगने से डरने वाले कुछ साधुओं ने अन्न-जल का परित्याग करके अन्तिम संलेखना व्रत ले लिया।

बहुत वर्षों बाद जब दुर्भिक्ष समाप्त हुआ तो बचे हुए साधु फिर मगध देश में आ पहुंचे और चिरकाल के पश्चात् एक दूसरे को देखकर अपना नया जन्म मानने लगे।

इसके बाद साधुओं ने परस्पर पूछ-ताछकर ग्यारह अङ्ग संकलित किए, पर दृष्टिवाद का जानने वाला कोई न मिला। वे कहने लगे—पूर्वश्रुत के बिना हम जिन-प्रवचन का सार कैसे समझ सकेंगे? हां, चौदह पूर्वों के ज्ञाता आर्य भद्रबाहु इस समय भी विद्यमान हैं। उनके पास से इस समय भी पूर्वश्रुत प्राप्त हो सकता है। परन्तु उन्होंने बारह वर्ष के लिए योग धारण कर रखा है, इसलिए वाचना देंगे या नहीं, यह संदेहास्पद है। इसके बाद श्रमण-संघ ने अपने दो प्रतिनिधि भेजे और भद्रबाहु से प्रार्थना की—“पूज्य क्षमाश्रमण! वर्तमान समय में आप जिन-तुल्य हैं। पाटलिपुत्र में “महावीर का संघ” आपसे प्रार्थना करता है कि आप श्रमण-संघ को पूर्वश्रुत की वाचना दें।”

प्रार्थना का उत्तर देते हुए भद्रबाहु ने कहा—“श्रमणो ! मैं इस समय वाचना देने में असमर्थ हूँ। आध्यात्मिक साधना में व्यस्त होने के कारण मुझे वाचना से कोई प्रयोजन भी नहीं है।”

भद्रबाहु के उत्तर से नाराज होकर स्थविरों ने कहा—“क्षमाश्रमण! इस प्रकार प्रयोजन का अभाव बताकर आप संघ की अवज्ञा कर रहे हैं। इस पर आपको क्या दण्ड मिलेगा, यह विचार कीजिए।”

भद्रबाहु ने कहा—“मैं जानता हूँ, इस प्रकार बोलने वाले का संघ बहिष्कार कर सकता है।”

स्थविर बोले—“आप जानते हुए भी संघ की प्रार्थना का अनादर करते हैं? आप ही बताइए, हम आपको संघ के अन्दर कैसे रख सकते हैं? क्षमाश्रमण! हमने आपसे प्रार्थना की, किन्तु आप वाचना देने के लिए तैयार नहीं हुए। इसलिए आज से आप संघ से पृथक् कर दिए गए। बारह में से किसी प्रकार का व्यवहार आपके साथ नहीं रखा जाएगा।”

भद्रबाहु यशस्वी पुरुष थे। अपयश से डरते थे। जल्दी सम्भल गए और बोले—“श्रमणो ! मैं एक शर्त पर वाचना दे सकता हूँ। वह यह है कि वाचना लेने वाले मुझे न बुलावें और मैं उनको न बुलाऊँ। यदि यह स्वीकार है तो कायोत्सर्ग का ध्यान पूरा होने के बाद, यथा-अवकाश मैं वाचना दे सकूँगा।”

भद्रबाहु की शर्त को स्वीकार करते हुए स्थविरों ने कहा—“क्षमाश्रमण! जैसा आप कहेंगे और जैसी आपकी इच्छा है हम मानने को तैयार हैं।”

इसके बाद ग्रहण और धारण में समर्थ बुद्धिशाली ५०० साधु विद्यार्थी के रूप में और प्रत्येक की सेवा-सुश्रूषा के लिए दो-दो साधु इस प्रकार १५०० साधु भद्रबाहु स्वामी के पास पहुंचे।

वाचना की इच्छा से इतने साधु वहां पहुंच तो गए किन्तु कठिनाई में पड़ गए। भद्रबाहु ने वाचना का जो क्रम रखा उससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे वे विदा होने लगे और अन्त में केवल स्थूलभद्र रह गए। एक पद, आधा पद जो कुछ भी मिलता वे नम्रतापूर्वक सीख लेते, किन्तु हताश होकर छोड़ने को तैयार नहीं हुए। इस प्रकार रहते-रहते आठ वर्षों में स्थूलभद्र ने आठ पूर्वों का अध्ययन कर लिया। इसके बाद भद्रबाहु की योग साधना पूरी हो गई और उन्होंने सर्वप्रथम स्थूलभद्र से सम्भाषण करते हुए पूछा—“भद्र! तुम्हें भिक्षा और स्वाध्याय योग में किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं है?”

स्थूलभद्र ने कहा—“मुझे कोई कष्ट नहीं है। मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूं। अब तक मैंने कितना सीख लिया और अभी कितना शेष है?”

भद्रबाहु ने कहा—“अभी तक तुमने सरसों के दाने जितना सीखा है, और मेरु जितना शेष है।”

स्थूलभद्र तनिक भी विचलित या हतोत्साह नहीं हुए। फिर बोले—“भगवन्! मैं अध्ययन से थका नहीं हूं। मन में एक ही विचार आता है कि अपने इस अल्प जीवन में उस मेरु तुल्य श्रुतज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकूंगा?”

स्थूलभद्र का विचार सुनकर स्थविर भद्रबाहु ने कहा—“स्थूलभद्र! अब तुम इस विषय की चिन्ता मत करो। मेरा ध्यान पूर्ण हो गया है और तुम बुद्धिमान हो। मैं दिन-रात वाचना देता रहूंगा, इससे दृष्टिवाद पूर्ण हो जाएगा।”

स्थूलभद्र प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करने लगे और उन्होंने दस पूर्व सांगोपांग सीख लिए।

एक दिन स्थूलभद्र एकान्त में बैठकर ग्यारहवां पूर्व याद कर रहे थे। उस समय उनकी सात बहनें भद्रबाहु के पास वन्दनार्थ आईं और स्थूलभद्र के विषय में पूछने लगीं। भद्रबाहु ने स्थान बता दिया। उधर स्थूलभद्र पूर्वों में प्रतिपादित यन्त्र-विद्या का परीक्षण कर रहे थे। इसलिए वे सिंह का रूप बनाकर बैठ गए। साध्वियां सिंह को देखकर डर गईं, वापिस लौट आईं और भद्रबाहु से कहने लगीं—“क्षमाश्रमण! आपने जो स्थान बताया वहां स्थूलभद्र नहीं हैं। उनके स्थान पर विकराल सिंह बैठा हुआ है। न जाने स्थूलभद्र का क्या हुआ!”

भद्रबाहु ने कहा—“आर्यिकाओ, वह सिंह तुम्हारा भाई स्थूलभद्र ही है।”

आचार्य के वचन सुनकर साध्वियां फिर वहां गईं तो स्थूलभद्र को बैठा पाया।

बहनों को विदा करके स्थूलभद्र भद्रबाहु के पास वाचना लेने गए। भद्रबाहु ने कहा—“अनगार!

जो तुमने पढ़ा है वही बहुत है। तुम्हें आगे पढ़ने की आवश्यकता नहीं है।” गुरु के वचन से स्थूलभद्र को अपनी भूल का ख्याल आया। वे पश्चात्ताप करने लगे और गुरु के चरणों में गिरकर अपराध के लिए क्षमा मांगने लगे। गच्छ के दूसरे साधुओं ने भी स्थूलभद्र की इस भूल को क्षमा करके आगे की वाचना देने के लिए प्रार्थना की।

स्थूलभद्र और श्रमण-संघ की प्रार्थना का उत्तर देते हुए भद्रबाहु ने कहा—“श्रमणो ! इस विषय में अधिक आग्रह मत करो। मैं वाचना क्यों नहीं देना चाहता, इसका विशेष कारण है। मैं स्थूलभद्र के दोष के कारण नहीं, किन्तु भविष्य का विचार करके शेष पूर्वों का अध्ययन बन्द करना चाहता हूँ। जब स्थूलभद्र सरीखा त्यागी भी श्रुतज्ञान का दुरुपयोग करने के लिए तैयार हो गया तो दूसरों की बात ही क्या है? श्रमणो ! उत्तरोत्तर विषम समय आ रहा है। मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का ह्रास हो रहा है। मनुष्य की क्षमता एवं गंभीरता नष्ट हो रही है। ऐसी स्थिति में शेष पूर्वों का प्रचार करना कुशलदायी नहीं है।”

आचार्य का यह उत्तर सुनकर स्थूलभद्र दीनता पूर्वक बोले—“भगवन्! अब कभी दुरुपयोग नहीं करूंगा। आप जैसा कहेंगे सभी नियमों का पालन करूंगा। कृपया मुझे तो शेष चार पूर्व बता ही दीजिए।”

अति आग्रह के वश होकर भद्रबाहु ने कहा—“स्थूलभद्र! विशेष आग्रह है तो मैं शेष पूर्व तुम्हें बता दूंगा। पर उन्हें दूसरों को पढ़ाने की अनुज्ञा नहीं दूंगा। तुम्हें यह अनुज्ञा केवल दस पूर्वों के लिए मिलेगी। शेष चार पूर्व तुम्हारे साथ ही समाप्त हो जाएंगे।” इस प्रकार अंतिम चार पूर्व विच्छिन्न हो गए।

भद्रबाहु और स्थूलभद्र की उपरोक्त घटनाएं कई महत्वपूर्ण बातों को प्रकट करती हैं। इनसे प्रतीत होता है कि—१. उस समय संघ का संगठन इतना दृढ़ था कि भद्रबाहु सरीखे समर्थ महापुरुष भी उसकी अवहेलना नहीं कर सकते थे। संघ का कार्य आत्म-साधना से भी बढ़कर माना जाता था।

२. ग्यारह अंगों के होते हुए भी पूर्वों को विशेष महत्व दिया जाता था। इसका कारण उनका सूक्ष्म विचार रहा होगा।

३. साधु के लिए लौकिक विद्याओं का उपयोग वर्जित था।

४. ज्ञान-दान करते समय योग्यायोग्य पात्र का पर्याप्त ध्यान रखा जाता था।

माथुरी वाचना (वी. नि. ८२७-८४०)

जैन आगमों का संकलन करने के लिए दूसरी वाचना वीर-निर्वाण के बाद ८२७ और ८४० के बीच मथुरा में हुई। इसीलिए यह माथुरी वाचना कही जाती है। इसके संयोजक आचार्य स्कन्दिल थे। वे पादलिप्त सूरि के कुल में विद्याधर गच्छ के आचार्य थे। आर्यसुहस्ति के शिष्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध हुए। उनके चार शिष्यों ने चार गच्छ चलाए। द्वितीय शिष्य विद्याधरगोपाल ने विद्याधर गच्छ

की स्थापना की। उस परम्परा में खपटाचार्य और पादलिप्त सूरि भी हुए। युगप्रधान पट्टावली में इनका युग इस प्रकार बताया गया है—वज्र (वर्ष) आर्यरक्षित (१३ वर्ष) पुष्पमित्र (२० वर्ष) वज्रसेन (३ वर्ष) नागहस्ती (६६ वर्ष) रेवती मित्र (५६ वर्ष) ब्रह्मदीपकसिंह (७८ वर्ष) स्कन्दिल (१३ वर्ष)।

जिस प्रकार भद्रबाहु के समय दुर्भिक्ष के कारण श्रुत परम्परा छिन्न-भिन्न हो गई थी, उसी तरह आचार्य स्कन्दिल के समय भी दुष्काल के कारण आगमों का ज्ञान अस्तव्यस्त हो गया। बहुत से श्रुतधर स्थविर परलोकवासी हो गए। अवशिष्ट श्रमणों में भी पठन-पाठन की प्रवृत्ति बन्द हो गई। आचार्य स्कन्दिल ही एक श्रुतधर बचे थे। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर उनकी अध्यक्षता में मथुरा में श्वेताम्बर श्रमण-संघ एकत्रित हुआ और आगमों को व्यवस्थित करने में लग गया। उनको जितना पाठ याद था, उतना लिख लिया गया। इस प्रकार सारा पाठ लिख लेने के बाद आर्य स्कन्दिल ने साधुओं को उसकी वाचना दी। इसको स्कन्दिली-वाचना भी कहा जाता है।

माथुरी वाचना का वर्णन आचार्य मलयगिरि की नन्दी-टीका, ज्योतिषकरण्ड की टीका, भद्रेश्वर की कथावली और हेमचन्द्र के योगशास्त्र में मिलता है। कहा जाता है कि उस समय कालिक-श्रुत और अवशिष्ट पूर्व-श्रुत को संगठित किया गया। माथुरी वाचना से नीचे लिखी महत्वपूर्ण बातें मालूम पड़ती हैं—

१. उन दिनों जैनधर्म का केन्द्र मगध से हटकर मध्यप्रदेश में आ गया था। सम्भवतया दुर्भिक्षों के कारण ऐसी स्थिति आई हो और मगध के दुर्भिक्ष के कारण बहुत से साधु इधर चले आए हों और वहीं विचरने लगे हों।

२. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल की मान्यता है कि मथुरा ई. पू. द्वितीय शताब्दी से लेकर ईसा के बाद ग्यारहवीं शताब्दी तक लगभग १३०० वर्ष जैन धर्म का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। (देखो श्रमण अगस्त १९५३) कंकाली टीले में जैन-स्तूप या स्थापत्य के जो अन्य अवशेष मिले हैं वे तो ई. पू. छठी शताब्दी अर्थात् भगवान महावीर के समकालीन हैं। किन्तु शिलालेख प्रायः ई. पू. द्वितीय शताब्दी से पश्चाद्वर्ती हैं। इससे जैन परम्परा की यह बात पुष्ट होती है कि भगवान महावीर के समय जैन धर्म बहुत अधिक फैला हुआ था।

३. वीर-निर्वाण के ३०० वर्ष बाद मौर्य राजा बृहद्रथ को मारकर उसका सेनानी पुष्यमित्र मगध के सिंहासन पर बैठ गया। वह केवल वैदिक धर्म का अनुयायी ही नहीं था, अन्य धर्मों से द्वेष भी करता था। नन्द और मौर्य राजाओं ने अपने-अपने धर्म में निष्ठा के साथ अन्य धर्मों का उचित सत्कार किया। अशोक और सम्प्रति ने तो बौद्ध और जैन धर्म के विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य किए। पुष्यमित्र ने उनके द्वारा बनाए हुए संघाराम और उपाश्रयों को नष्ट करके जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं को भगाना आरम्भ किया। उसने साधुओं पर कर लगाया और उनके कपड़े उतरवा लिए। सम्भवतया उसी समय मगध जैन एवं बौद्ध श्रमणों से शून्य हो गया।

वल्लभी वाचना (वी. नि. ८३० के लगभग)

जिस समय मथुरा में आर्य स्कन्दिल ने आगमोद्धार करके उनकी वाचना शुरू की उसी समय नागार्जुन सूरी ने वल्लभी नगरी (सौराष्ट्र) में श्रमण-संघ एकत्रित किया। और दुर्भिक्ष के बाद बचे हुए आगमों का उद्धार किया। वाचक नागार्जुन एवं अन्य श्रमणों को जो जो आगम अथवा प्रकरण ग्रन्थ याद थे वे सब लिख लिए गए। विस्मृत स्थलों का पूर्वापर सम्बन्ध देखकर सन्दर्भ मिलाया गया और फिर वाचना दी गई। इस वाचना में आचार्य नागार्जुन प्रमुख थे, इसलिए इसे नागार्जुनी वाचना भी कहा जाता है।

माथुरी और वल्लभी दोनों स्थानों की वाचनाएं प्रायः एक ही समय में हुईं। इसलिए यह कहना अनावश्यक है कि आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन एक ही समय में विद्यमान थे। किन्तु वाचनाओं के बाद उनका परस्पर मिलना नहीं हुआ। इसलिए दोनों वाचनाओं में परस्पर कुछ पाठ-भेद रह गया, उसका उल्लेख टीकाओं में अब तक पाया जाता है। नागार्जुन की वाचनाओं में मेल वाले अंश को टीकाकार “नागार्जुनीयास्तु” कहकर बता देते हैं। वल्लभी वाचना का वैशिष्ट्य यह है कि उसमें प्रकरण ग्रन्थों को भी श्रुत-ज्ञान में स्थान मिल गया।

देवर्द्धिगणी (वी. नि. ६८०)

उपरोक्त वाचनाओं के लगभग १५० वर्ष पश्चात् वल्लभी नगर (सौराष्ट्र) में श्रमण संघ फिर सम्मिलित हुआ। उस सम्मेलन के अध्यक्ष देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण थे। उसमें उपरोक्त वाचनाओं में सम्मिलित साहित्य के अतिरिक्त जो ग्रन्थ या प्रकरण आदि थे, उन्हें सुरक्षित करने का प्रयत्न किया गया।

इस श्रमण सम्मेलन में दोनों वाचनाओं के पाठों का परस्पर समन्वय किया गया और जहां तक हो सका उन्हें एक रूप दे दिया गया। जो महत्वपूर्ण भेद थे, उन्हें पाठान्तर के रूप में चूर्णियों में संगृहीत किया। कुछ प्रकीर्ण ग्रन्थ जो एक ही वाचना में थे वे ज्यों के त्यों प्रमाण मान लिए गए।

उपर्युक्त व्यवस्था के बाद सभी आगम एवं प्रकरण-ग्रन्थ स्कन्दिल की माथुरी वाचना के अनुसार लिखे गए। नागार्जुनी वाचना का पाठ भेद टीका में लिख दिया गया। जिन पाठान्तरों को नागार्जुन की परम्परा वाले छोड़ने को तैयार नहीं थे, उनका मूलसूत्र में भी (वाचनान्तरे पुनः) वाचनान्तरे पुण (देखो कल्पसूत्र-वाचनान्तरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ दीसइ) शब्दों द्वारा उल्लेख किया गया।

देवर्द्धिगणी की अध्यक्षता में जो वाचना हुई उसमें नीचे लिखी बातें महत्वपूर्ण हैं—

१. माथुरी और नागार्जुनी वाचनाओं का समन्वय किया गया। जैन परम्परा के लिए यह अत्यन्त महत्व की बात है।

२. शास्त्रों के लेखन की परिपाटी आरंभ की गई। यद्यपि लेखन आर्य स्कन्दिल के समय ही

प्रारम्भ हो गया था किन्तु इसे प्रोत्साहन देवर्द्धिगणी के बाद ही मिला ।

३. जैन आगमों का अन्तिम रूप स्थिर कर दिया गया । इसके बाद जो ग्रन्थ रचे गए उन्हें आगमों में नहीं लिया गया ।

नन्दी-सूत्र के अनुसार आगमों का ग्रन्थ विभाजन—

आगमों की संख्या के विषय में कई मान्यताएं हैं । एक परंपरा चौरासी आगम मानती है । दूसरी परम्परा के अनुसार उनकी संख्या पैंतालीस है । स्थानकवासी सम्प्रदाय केवल बत्तीस आगमों को प्रमाण मानती है । आधुनिक प्रचलित मान्यताओं की चर्चा में न जाकर नन्दी-सूत्र द्वारा किए गए विभाजन को प्रस्तुत करते हैं । संक्षेप में आगम दो प्रकार के हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ।

अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं—आयार, सूयगड, ठाण, समवाअ, विवाहपन्नत्ती, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइं, विवागसुअं, दिड्ढिवाअ ।

अंगबाह्य के दो भेद हैं—आवश्यक तथा आवश्यक व्यतिरिक्त ।

आवश्यक के छः भेद हैं—सामाइय, चउवीसत्थव, वंदणय, पडिक्कमण, काउसग्ग तथा पच्चक्खाण ।

आवश्यक व्यतिरिक्त के दो भेद हैं—कालिय तथा उक्कालिय ।

कालिक के अनेक भेद हैं—उत्तराज्जयण, दसा, कप्प, ववहार, निसीह, महानिसीह, इसिभासिय, जंबूदीवपन्नत्ती, दीवसागरपन्नत्ती, चंदपन्नत्ती, खुड्डियाविमाणविभत्ती, महल्लियाविमाणविभत्ती, अंगचूलिया, वग्गचूलिया, विवाहचूलिया, अरुणोववाअ, वरुणोववाअ, गरुलोववाअ, धरणोववाअ, वेसमणोववाअ, वेलंधरोववाअ, देविंदोववाअ, उट्टाणसुअ, नागपरियावणिआ, निरयावलिया, कप्पिआ, कप्पवडंसिआ, पुप्फिआ, पुप्फचूलिआ, वण्हीदसा इत्यादि । इनके अतिरिक्त प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के चौरासी हजार प्रकीर्णक । दूसरे से लेकर तेइसवें तीर्थंकर तक संख्यात प्रकीर्णक । अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के चौदह हजार प्रकीर्णक । उक्कालिक-श्रुत भी अनेक प्रकार के हैं—दशवैकालिक, कप्पिआकप्पिअ, चुल्लकप्पसुअं, महाकप्पसुअं, उववाइअं, रायपसेणिअं, जीवाभिगम, पण्णवणा, महापण्णवणा, पमायप्पमायं, नंदी, अणुओगदाराइं, देविंदत्थओ, तंदुलवेआलियं, चंदविज्जयं, सूरपण्णत्ती, पोरिसीमंडल, मंडलपवेस, विज्जाचरणविणिच्छय, गणिविज्जा, ज्ञाणविभत्ती, मरणविभत्ती, आयविसोही, वीयरायसुअं, संलेहणासुअं, विहारकप्प, चरणविही, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण इत्यादि ।

उपरोक्त विभाजन में बहुत से ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं । आवश्यक के वन्दना आदि छः भेद स्वतन्त्र आगम न होकर एक ही आगम के विभिन्न प्रकरण हैं । अंगों में बारहवें दृष्टिवाद का लोप हो चुका है । आज कल नीचे लिखे अनुसार विभाजन किया जाता है—

१. ग्यारह अंग, दृष्टिवाद को छोड़कर ।

२. बारह उपांग—उववाइय, रायप्पसेणिय, जीवाभिगम, पण्णवणा, सूरपण्णत्ती जंबूदीवपण्णत्ती, चंदपण्णत्ती, कप्पिया, कप्पवडंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया और वण्णीदसा ।

३. चार मूल—आवस्सय, दसवेआलिय, उत्तरज्झयण और पिंडनिज्जुत्ति ।

४. छेद—निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, पंचकप्प, महानिसीह ।

५. दस पइण्णा—चउसरण, आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा, संथारओ, तंदुलवेयालिय, चन्दवेज्जओ, देविंदत्थव, गणिविज्जा, महापच्चक्खाण, वीरत्थव ।

आगमों का विषय विभाजन—

आर्यरक्षित ने आगमों को विषय की दृष्टि से चार अनुयोगों में विभक्त किया है ।

चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग, द्रव्यानुयोग ।

आचार का प्रतिपादन करने वाले आचारांग, दशवैकालिक, आवश्यक आदि सूत्रों को प्रथम अनुयोग में गिना जाता है । धार्मिक दृष्टान्त, कथा एवं चरित्रों का वर्णन करने वाले ज्ञाताधर्मकथा, उत्तराध्ययन आदि दूसरे अनुयोग में आते हैं । गणित का प्रतिपादन करने वाले सूरपण्णत्ती, चंदपण्णत्ती आदि गणितानुयोग में आते हैं । दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाले दृष्टिवाद आदि द्रव्यानुयोग में आते हैं ।

उपरोक्त चार अनुयोगों में विषय की दृष्टि से आगमों का विभाजन होने पर भी भेद-रेखा स्पष्ट रूप से नहीं खींची जा सकती । उत्तराध्ययन में धर्मकथाओं के साथ-साथ दार्शनिक तत्त्वों का भी पर्याप्त निरूपण है । भगवती तो सभी विषयों का समुद्र है । आचारांग में भी यत्र-तत्र दार्शनिक तत्त्व मिल जाते हैं । इसी प्रकार कुछ को छोड़कर अन्य सभी आगमों में चार अनुयोगों का सम्मिश्रण है । इसलिए उपरोक्त विभाजन को मुख्य विषय की दृष्टि से स्थूल विभाजन ही मानना चाहिए ।

श्रीमद्राजचन्द्र इन चारों अनुयोगों का आध्यात्मिक उपयोग बताते हुए लिखते हैं—

यदि मन शंकाशील हो गया हो तो द्रव्यानुयोग का चिंतन करना चाहिए । प्रमाद में पड़ गया हो तो चरणकरणानुयोग का, कषाय से अभिभूत हो गया हो तो धर्मकथानुयोग का और जड़ता प्राप्त कर रहा हो गणितानुयोग का ।

सांख्यदर्शन की दृष्टि से देखा जाए तो शंका और कषाय रजोगुण के परिणाम हैं और प्रमाद एवं अज्ञान (जड़ता) तमोगुण के । उन दोनों प्रभावों को दूर करके सत्व गुण की वृद्धि के लिए उपरोक्त अनुयोगों का चिन्तन लाभदायक है । इनमें दूसरे अनुयोगों का चिन्तन करणानुयोग के लिए है । द्रव्यानुयोग से दर्शन अर्थात् दृष्टि की शुद्धि होती है और दृष्टि की शुद्धि से सम्यक् चारित्र्य की प्राप्ति होती है । इसलिए चरणकरणानुयोग ही प्रधान है ।

भगवद्गीता या हिन्दु साधना के साथ तुलना की जाए तो कहा जा सकता है कि द्रव्यानुयोग का सम्बन्ध ज्ञानयोग से है। गणितानुयोग मन को एकाग्र करने की एक प्रणाली है अतः यह राजयोग से सम्बन्ध रखता है।

भारतीय संस्कृति के दो स्रोत

भारत का सांस्कृतिक इतिहास दो परम्पराओं के संघर्ष का परिणाम है। एक ओर धर्म को जीवन निर्वाह का साधन मानकर चलने वाली ब्राह्मण परम्परा है, दूसरी ओर जीवन को धर्म साधना का उपकरण मानने वाली श्रमण परम्परा। एक ने धर्म को व्यवसाय के रूप में अपनाया, दूसरी ने आध्यात्मिक साधना के रूप में। एक ने भौतिक सुख को मुख्य रखकर धर्म को उसकी साधना माना, दूसरी ने भौतिक एषणाओं से ऊपर उठकर आत्मसाक्षात्कार को लक्ष्य बनाया। एक ने प्रेम की उपासना की, दूसरी ने श्रेय की। एक ने चाहा “हम सौ साल तक जीएं, हमारा शरीर तथा इन्द्रियां स्वस्थ रहें, गौएं दूध देनी वाली हों, समय पर वृष्टि हो, शत्रुओं का नाश हो।” दूसरी ने कहा “आत्मसाधना के पथ पर आगे बढ़ते जाओ, जीने या मरने की चिन्ता मत करो, इस शरीर, इन इन्द्रियों को, धन सम्पत्ति तथा सर्वस्व को आत्मसाधना के पथ पर स्वाहा कर दो।” एक ने सुख सम्पत्ति के लिए देवताओं की खुशामद की, उनसे भीख मांगी। दूसरी ने कहा “संयम और तप के मार्ग पर चलो, देवता तुम्हारे चरण चूमेंगे।” एक ने शरीर को प्रधानता दी, दूसरी ने आत्मा को। एक ने बाह्य क्रिया-कांड को महत्व दिया, दूसरी ने मनोभावों को। एक ने मनुष्य को किसी दिव्य-शक्ति के हाथ में कठपुतली समझा, दूसरी ने कहा तुम स्वयं उस दिव्य शक्ति के केन्द्र हो।

वैदिक काल से लेकर आज तक का समस्त साहित्य इन दो धाराओं के संघर्ष को प्रकट करता है। जहाँ मन्त्र और ब्राह्मणों में पहली परंपरा का विकास है, उपनिषदों में उसकी प्रतिक्रिया है। एक ओर यज्ञों के अनुष्ठान में सारा जीवन लगा देने को कहा गया है, दूसरी ओर यज्ञ रूपी नौका को अदृढ़ बनाया गया है। एक ओर वैदिक क्रिया-कांड को सर्वोत्कृष्ट माना गया है, दूसरी ओर उसे अपराविद्या कहकर आत्मविद्या की उपेक्षा होना बतलाया है। सूत्रकाल में गृह्यसूत्र फिर उसी क्रियाकांड में समाज को बांधने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरी ओर जैन, बौद्ध, आजीविक आदि के रूप में स्वतंत्र विचारधाराएं उसका विरोध करती हैं। महाभारत तथा पुराणों में सभी प्रकार के विचारों का संकलन है। मध्यकाल में श्रमण परम्परा के दो रूप हो गए हैं। पहला रूप जैन और बौद्ध धर्म के रूप में पल्लवित हुआ, जिसने वैदिक परम्परा का सर्वथा त्याग कर के स्वतंत्र विकास किया। दूसरा वेदान्त, सांख्ययोग, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों के रूप में प्रस्फुटित हुआ। जिन्होंने वेद, पुराण को मानते हुए भी आत्मसाधना को मुख्य लक्ष्य बनाया। जिन्होंने वैदिक क्रिया-कांड की या तो सर्वथा उपेक्षा कर दी या उसे चित्तशुद्धि मानकर आध्यात्मिक साधना का अङ्ग बना दिया। शंकराचार्य ने वेद-प्रामाण्य की रक्षा करते हुए जिस प्रकार अद्वैत का प्रतिपादन किया है, वह इसी मनोवृत्ति का सुन्दर निर्देशन है।

पन्द्रहवीं शताब्दी के पश्चात् सत् परंपरा के रूप में बाह्य क्रियाकांड का जो विरोध हुआ उसमें भी संघर्ष झलकता है। वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने फिर उसकी प्राण प्रतिष्ठा की।

जैन धर्म इसी श्रमण परंपरा की एक धारा है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि इसका जन्म वैदिक युग की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। वैदिक साहित्य में अर्हत् निर्ग्रन्थ, यति, मुनि आदि अनेक ऐसी परम्पराओं का निर्देश है जो त्याग प्रधान होते हुए भी वेदों से पहले विद्यमान थीं। संहिता साहित्य में इन्द्र को मुनियों का मित्र तथा यतियों का शत्रु बताया गया है। तैत्तिरीय संहिता में लिखा है—'इन्द्र ने यतियों को कुत्तों की भेंट कर दिया।' ऐतरेय ब्राह्मण में भी उसी प्रकार का उल्लेख है। यति और मुनियों का आचार प्रायः एक सरीखा था। किन्तु यतियों का सम्बन्ध भारत के मूल निवासियों से था और मुनियों का आर्यो से। यह उद्धरण दो सम्प्रदायों के साधुओं और भक्तों में प्रचलित पारस्परिक कलह को प्रकट करता है। जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का नाम वैदिक साहित्य में आता है।

स्वयं ऋषभदेव को विष्णु का अवतार तथा अहिंसा और संयम का उपदेष्टा बताया गया है। उनकी अपनी तपस्या तथा कैवल्य का भी विस्तृत वर्णन है। ये सब प्रमाण जैन परम्परा की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं। यह निश्चित है कि भारत में वैदिक प्रभाव फैलने से पहले इसका अस्तित्व था। ऋषभदेव के प्रभावशाली व्यक्तित्व को देखकर ही वैदिक परम्परा ने उन्हें स्वीकार किया होगा।

वास्तव में देखा जाए तो इस समय हिन्दु धर्म के नाम से जो परम्परा प्रचलित है और जिसका मूल वेदों में बताया जाता है उस पर अवैदिक तत्त्व इतने छा गए हैं कि मूल स्रोत छिप सा गया है। शिव, दुर्गा, राम, कृष्ण, लक्ष्मी आदि जिन देवों की पूजा इस समय हिन्दुओं में प्रचलित है उसमें से एक भी वैदिक नहीं है। इन्द्र, वरुण, रुद्र, यम आदि वैदिक देवता अब केवल साहित्य में ही मिलते हैं। हिन्दु संस्कारों में अग्नि की साक्षी अवश्य एक ऐसा रिवाज है जो वैदिक यज्ञों की सूचना देता है। इसके अतिरिक्त राजसूय, पुत्रेष्टि, दर्श-पूर्णमास आदि यज्ञ भी प्रायः समाप्त हो चुके हैं। आश्रम व्यवस्था तो संभवतया कभी रही ही नहीं, वर्ण व्यवस्था भी टूट चुकी है। दार्शनिक क्षेत्र में तो वैदिक मान्यताओं को कोई स्थान नहीं है। उपनिषदों को आधार रूप माना जाता है किन्तु उनकी व्याख्या अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार की जाती है। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के रूप में एक ही प्रस्थान होने पर भी अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टताद्वैत, शुद्धद्वैत, द्वैत आदि परस्पर विरोधी मतों का आविर्भाव इसका ज्वलन्त उदाहरण है। यहां यह प्रश्न होता है कि वैदिक परम्परा में ऋषभदेव का सम्मानित स्थान होने पर भी उनके द्वारा संचालित धार्मिक परम्परा को वैदिक परम्परा में क्यों नहीं स्थान मिला? वैदिक दर्शन अर्थात् मीमांसा के साथ सांख्य और वेदान्त का जितना भेद है, उतना जैन दर्शन का नहीं है। फिर भी जैन दर्शन को वेद-बाह्य परंपरा में रखे जाने का एक मात्र कारण यही है कि उसने वेदों को प्रमाण नहीं माना।

जैन धर्म

प्रसिद्ध इतिहासकार टायन बी. के शब्दों में विश्व की सबसे बड़ी समस्या है मनुष्य का 'स्वकेन्द्रित होना'। प्रत्येक मनुष्य अपने को केन्द्र में रखकर सोचता है, अपने ही सुख-दुख का ध्यान रखता है तथा अपने ही विचारों को सर्वोपरि मानता है। धर्म का लक्ष्य है उसे 'स्व' परिधि से निकाल कर 'सर्व' की ओर उन्मुख करना। 'स्व' से सर्व की ओर अग्रसर होने के दो प्रेरक तत्व रहे हैं—(१) स्वार्थ और (२) परमार्थ। अपने भौतिक अस्तित्व के संरक्षण, धन-सम्पत्ति तथा अन्य लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए भी मनुष्य अपने 'स्व' को निजी व्यक्तित्व से बढ़ाकर कुल, परिवार, जाति, प्रांत या राष्ट्र तक विस्तृत कर देता है। विभिन्न परिधियों से सीमित परस्पर सहयोग एवं सहानुभूति की इस भावना को कुल-धर्म, जाति-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि शब्दों से कहा जाता है। प्राचीन समय में ऐसा कोई लौकिक स्वार्थ नहीं रहा जो मनुष्य को राष्ट्र की सीमा से आगे ले जा सके। परिणामस्वरूप बहुत से धर्म राष्ट्र या जाति तक सीमित रह गए। उदाहरण के रूप में ब्राह्मण धर्म राष्ट्र तक सीमित रहा। और यहूदी एवं पारसी धर्म जाति विशेष तक। इन सब धर्मों को लौकिक धर्म कहा गया।

इसके विपरीत कुछ धर्मों ने मानवता की समस्याओं को सुलझाने के लिए आध्यात्मिकता का आश्रय लिया। उन्होंने दार्शनिक चिन्तन द्वारा यह प्राप्त किया कि भौतिक अस्तित्व तथा बाह्य वस्तुओं के प्रति ममत्व ही सब समस्याओं का बीज है। ऐसे धर्मों के सामने जाति या भूगोल सम्बन्धी कोई परिधि न थी। वे लोकोत्तर धर्म कहे गए।

भारत की लोकोत्तर-धर्म परम्पराओं में तीन दृष्टिकोण मिलते हैं। पहला दृष्टिकोण अद्वैतवादी परम्पराओं का है। उनकी मान्यता है कि 'स्व' को इतना व्यापक बना दो, जिसमें सब कुछ समा जाए। 'पर' कुछ न रहे। जब तक 'दूसरा' है, भय बना रहेगा (द्वितीयाद्यै भयम् भवति) जब सब एक ही हो गए तो कौन किससे डरेगा, कौन किस की हिंसा करेगा? दूसरा दृष्टिकोण शून्यवादी परम्पराओं का है। उनका कथन है कि परमार्थ सत्य कुछ भी नहीं है। विचार करने पर कोई पदार्थ सत्य सिद्ध नहीं होता (यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा) बौद्ध परम्परा ने मुख्यतया इस बात पर बल दिया है। जब वास्तव में सब शून्य है तो अहंता या ममता कैसी?

उपरोक्त दोनों मान्यताओं का मुख्य आधार तर्क है। लौकिक प्रत्यक्ष उनका समर्थन नहीं करता। लौकिक दृष्टि से बाह्य और आभ्यन्तर प्रतीत होने वाली सभी वस्तुएं सत्य हैं। उनमें रहने वाली अनेकता एवं विषमता भी सत्य है। इनका अपलाप नहीं किया जा सकता। फिर भी विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि समानता स्वाभाविक है और विषमता परापेक्ष। घट और पट के परमाणुओं में समानता होने पर भी रचना आदि में भेद होने के कारण विषमता हो गई। इसी प्रकार सभी जीवों या आत्माओं में मौलिक समानता होने पर भी विविध प्रकार की विकृतियों के कारण

विषमता आ गई। प्राणियों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व बुरा नहीं है। बुराई या दुखों का कारण परस्पर वैषम्य-भावना है। इस वैषम्य बुद्धि को दूर करके प्राणी मात्र के प्रति समता की बुद्धि स्थापित करना जैन धर्म का लक्ष्य बिन्दु है। उसकी मान्यता है कि 'स्व' बुरा नहीं है, किन्तु दूसरों के प्रति वैषम्य बुद्धि ही बुरी है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में सन्ध्योपासना तथा मुसलमानों में नमाज नित्यकर्म के रूप में विहित है, इसी प्रकार जैन गृहस्थों के लिए सामायिक है। उसका अर्थ है—समता की आराधना या उसे जीवन में उतारने का अभ्यास। सामायिक जैन साधु का तो जीवन-व्रत है, महाव्रत, तप आदि अन्य सभी बातें उसी के सहायक तत्त्व हैं। क्षेत्र की दृष्टि से समता की इस आराधना के दो विभाग हैं, आचार में समता और विचार में समता। आचार में समता का अर्थ है, अहिंसा। यह जैन आचार-शास्त्र का केन्द्र बिन्दु है। विचार में समता का अर्थ है, स्याद्वाद, यह जैन दर्शनशास्त्र का केन्द्र बिन्दु है।

अहिंसा की व्याख्या करते हुए जैन परम्परा में बताया गया है कि स्वार्थ बुद्धि या कषाय से प्रेरित होकर दूसरे के प्राणों को कष्ट पहुंचाना हिंसा है। प्राण दस हैं—पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन, वचन, शरीर, श्वासोच्छ्वास तथा आयु। इसका अर्थ प्राण ले लेना या शारीरिक कष्ट पहुंचाना ही हिंसा नहीं है। किन्तु दूसरे की ज्ञानेन्द्रियों पर प्रतिबन्ध लगाना अर्थात् उन्हें स्वतन्त्र होकर देखने, सुनने आदि से रोकना, स्वतन्त्र चिन्तन एवं भाषण पर प्रतिबन्ध लगाना एवं स्वतन्त्र विचरण में रुकावट डालना भी हिंसा है।

स्याद्वाद का अर्थ है, दूसरे के दृष्टिकोण को उतना ही महत्व देना जितना अपने दृष्टिकोण को दिया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई ज्ञान सर्वथा मिथ्या नहीं है और न सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी का ज्ञान पूर्ण सत्य है। सभी प्रतीतियां सापेक्ष सत्य हैं, अर्थात् एक ही वस्तु को भिन्न अपेक्षाओं से अनेक रूपों में प्रकट किया जा सकता है। वे रूप आपाततः परस्पर विरोधी होने पर भी मिथ्या नहीं हैं। अपनी-अपनी अपेक्षा से प्रत्येक दृष्टिकोण सत्य है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। व्यक्ति अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से किसी एक धर्म को मुख्यता देता है। यदि वह अन्य धर्मों को गौण समझता है तो उसका ज्ञान सत्य है। यदि उनका अपलाप करता है, तो मिथ्या है।

आचार और विचार की इस समता को जीवन में उतारने के लिए आचाराङ्ग सूत्र में एक उपाय बताया है कि व्यक्ति दूसरे के साथ व्यवहार करते समय, उसके स्थान पर अपने को रख कर देखे। जिस व्यवहार को वह अपने लिए बुरा मानता है, उसे दूसरे के साथ न करे।

वेदान्त के अनुसार व्यक्ति के स्व-केन्द्रित होने का कारण अविद्या अर्थात् अनात्मा में आत्मबुद्धि है। बौद्ध धर्म के अनुसार इसका कारण तृष्णा है। जैन धर्म के अनुसार विषमता का कारण मोह है। इसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। जीवन में जैसे-जैसे इनकी उत्कटता घटती जाती है, आत्मा की निर्मलता बढ़ती जाती है और उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। इस दृष्टि से आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं को चार श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—जिस जीव में मोह

की उत्कृष्ट मात्रा है वह मिथ्यात्वी है। अर्थात् वह आत्म-विकास के मार्ग पर आया ही नहीं। वह दृष्टि एवं चारित्र्य दोनों दृष्टियों से अविकसित है। दूसरी श्रेणी अपेक्षाकृत मन्द कषाय वाले उन व्यक्तियों की है जो आत्म-विकास के मार्ग को अच्छा तो मानते हैं किन्तु उस पर चलने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। वे सम्यग् दृष्टि हैं अर्थात् दृष्टि की अपेक्षा ठीक मार्ग पर होने पर भी चारित्र्य की दृष्टि से अविकसित हैं। तीसरी श्रेणी मन्दतर कषाय वाले गृहस्थों की है जो चारित्र्य को आंशिक रूप से अपनाते हैं। चौथी श्रेणी मन्दतम कषाय मुनियों की है जो चारित्र्य को पूर्णतया अपनाते हैं। कषाय के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर व्यक्ति कैवल्य या आत्म-विकास की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

उपरोक्त श्रेणी विभाजन का आधार कर्म सिद्धान्त है और यह माना गया है कि प्राणियों में विषमता का कारण कर्म बन्धन है। व्यक्ति के भले-बुरे आचार एवं विचारों के अनुसार आत्मा के साथ कर्म परमाणु बंध जाते हैं और वे ही सुख-दुख आदि का कारण बनते हैं। वे जैसे-जैसे दूर होते जाते हैं आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता जाता है। पूर्णतया शुद्ध आत्मा ही परमात्मा कहा जाता है। जितने आत्मा इस प्रकार शुद्ध हो गए हैं सभी परमात्मा बन गए हैं। उनके अतिरिक्त जगत का रचयिता या नियन्ता कोई व्यक्ति विशेष नहीं है।

व्यवहारिक क्षेत्र में विषमता का कारण ममत्व या परिग्रह है। वह दो प्रकार का है—बाह्य वस्तुओं का परिग्रह और विचारों का परिग्रह। वस्तुओं का परिग्रह आचार में हिंसा को जन्म देता है और विचारों का परिग्रह विचार सम्बन्धी हिंसा को।

जैन साधुओं के लिए पांच महाव्रतों का विधान है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। वास्तव में देखा जाए तो ये अहिंसा या अपरिग्रह का ही विस्तार हैं। अपरिग्रह के बिना अहिंसा की साधना नहीं हो सकती। ये पांचों महाव्रत जैन साधना के मूल तत्त्व हैं।

जैन धर्म, दर्शन एवं परम्परा को विहंगम दृष्टि से देखा जाए तो प्रतीत होता है कि सब का केन्द्र-बिन्दु एक मात्र समता है। वही समता नीचे चार क्षेत्रों में बंट गई है—

१. आचार में समता—अहिंसा जैन आचार का मूल तत्त्व।
२. विचार में समता—स्याद्वाद जैन-दर्शन का मूल तत्त्व।
३. प्रयत्न और फल में समता—कर्म सिद्धान्त जैन नीतिशास्त्र का मूल तत्त्व।
४. सामाजिक समता—व्यक्ति पूजा के स्थान पर गुण पूजा जैन संघ व्यवस्था का मूल आधार।

प्रथम तीन समताओं के विषय में संक्षिप्त बताया जा चुका है। चौथी के विषय में कुछ लिखने की आवश्यकता है।

जो व्यक्ति जैन धर्म स्वीकार करता है उसे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को छोड़कर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में विश्वास प्रकट करना होता है। देव आदर्श का कार्य करते हैं, गुरु उस आदर्श पर

पहुंचने के लिए पथ-प्रदर्शक का और धर्म वह पथ है। देव या गुरु के स्थान पर किसी लौकिक या लोकोत्तर व्यक्ति विशेष को नहीं रखा गया, न ही किसी वर्ण विशेष को महत्व दिया गया है। किन्तु आध्यात्मिक विकास के द्वारा प्राप्त पदों को महत्व दिया गया है। जो विकास की सर्वोच्च भूमिका पर पहुंच गए हैं वे देव हैं और जो साधक होने पर भी अपेक्षाकृत विकसित हैं, वे गुरु हैं।

जैन परम्परा में नमस्कार मंत्र तथा मंगल पाठ का बहुत महत्व है। प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में उसका उच्चारण किया जाता है। नमस्कार मन्त्र में पांच पदों को नमस्कार है। अर्हन्त अर्थात् जीवन-मुक्त, सिद्ध अथवा पूर्ण-मुक्त। ये दोनों देव तत्त्व के रूप में माने जाते हैं। शेष तीन हैं—आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये तीनों गुरुतत्त्व में आते हैं।

मंगल-पाठ में अर्हन्त, सिद्ध, साधु एवं धर्म इन चार को मंगल, लोकोत्तम तथा शरण बताया गया है।

जैन अनुष्ठानों में सामायिक के बाद प्रतिक्रमण का स्थान है। इसका अर्थ है—प्रत्यालोचना। व्यक्ति जानकर या अनजान में किये गए कार्यों का पर्यवेक्षण करता है और अङ्गीकार किए हुए व्रतों में किसी प्रकार की खलना के लिए पश्चात्ताप प्रकट करता है। यह प्रतिक्रमण रात्रि के लिए प्रातः सूर्योदय से पहले तथा दिन के लिए सायं सूर्यास्त होने पर किया जाता है। साधु के लिए दोनों समय वाला प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। पन्द्रह दिन के लिए किया जाने वाला पाक्षिक, चार मास के पश्चात् किया जाने वाला चातुर्मासिक तथा वर्ष के अन्त में किया जाने साम्बत्सरिक प्रतिक्रमण कहलाता है। जिस दिन यह प्रतिक्रमण किया जाता है उसे संवत्सरी वा पर्युषण कहते हैं। यह जैन धर्म का सबसे बड़ा पर्व है। जो व्यक्ति उस दिन प्रतिक्रमण करके पश्चात्ताप एवं प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि नहीं करता, उसे अपने को जैन कहने का अधिकार नहीं है।

प्रतिक्रमण के अन्त में संसार के समस्त जीवों से क्षमा प्रार्थना द्वारा मैत्री की घोषणा की जाती है। यह घोषणा प्रतिक्रमण का निष्कर्ष है। वह इस प्रकार है—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे ।

मिन्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केणई ॥

अर्थात् मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। सब प्राणियों से मेरी मित्रता है, किसी से वैर नहीं है।

जैन धर्म का लक्ष्य बिन्दु

संक्षेप में जैन धर्म का लक्ष्य बिन्दु नीचे लिखे सिद्धान्तों में प्रकट किया जा सकता है—

१. प्राणी मात्र के प्रति समता की आराधना ही जैन साधना का लक्ष्य है।

२. विषमता का कारण मोह है। विचारों का मोह एकान्त या दृष्टि दोष है। व्यवहार में मोह,

चरित्र दोष है। इन दोनों को दूर करके ही आत्मा परम-आत्मा बन सकता है।

३. मनुष्य के सुख दुख पर किसी बाह्य शक्ति का नियंत्रण नहीं है, व्यक्ति स्वयं ही उनका कर्ता तथा भोक्ता है।

४. मनुष्य सर्वोपरि है, चारित्र सम्पन्न होने पर वह देवों का भी पूज्य बन जाता है।

५. मनुष्यों में परस्पर जन्मकृत कोई भेद नहीं है। ब्राह्मण या शूद्र सभी साधना के द्वारा परम-पूज्य अर्थात् देवाधिदेव बन सकते हैं।

जैन धर्म और व्यक्ति

व्यक्तिगत निर्माण की दृष्टि से देखा जाए तो जैन धर्म में वे सभी तत्त्व मिलते हैं जो पूर्णतया विकसित एवं शक्तिशाली व्यक्तित्व के लिए आवश्यक हैं।

हमारा व्यक्तित्व कितना दुर्बल या सबल है इसकी कसौटी प्रतिकूल परिस्थिति है। जो मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियों में घबरा जाता है उसका व्यक्तित्व उतना ही दुर्बल समझना चाहिए। प्रतिकूल परिस्थिति को हम नीचे लिखे तीन भागों में बांट सकते हैं—

१. **प्रतिकूल व्यक्ति**—जो व्यक्ति हमारा शत्रु है, हमें हानि पहुंचाने वाला है या हमारी रुचि के अनुकूल नहीं है, उसके संपर्क में आने पर यदि हम घबरा जाते हैं या मन ही मन कष्ट का अनुभव करते हैं तो यह व्यक्तित्व की पहली दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा हमने अहिंसा को जीवन में नहीं उतारा और सर्वमैत्री का पाठ नहीं सीखा।

२. **प्रतिकूल विचार**—अपने जमे हुए विश्वासों के विपरीत विचार उपस्थित होने पर यदि हम घृणा का अनुभव करते हैं, उन विचारों को नहीं सुनना चाहते या उन पर सहानुभूति के साथ मनन नहीं कर सकते तो यह दूसरी दुर्बलता है। जैन दृष्टि के अनुसार इसका अर्थ होगा कि हमने स्याद्वाद को जीवन में नहीं उतारा।

३. **प्रतिकूल वातावरण**—इसके तीन भेद हैं—

(क) **इष्ट की अप्राप्ति**—अर्थात् धन-सम्पत्ति, सुख-सुविधाएं, परिजन आदि जिन वस्तुओं को हम चाहते हैं उनका न मिलना।

(ख) **अनिष्ट की प्राप्ति**—अर्थात् रोग, प्रियजन का वियोग, सम्पत्ति-नाश आदि जिन बातों को हम नहीं चाहते उनका उपस्थित होना।

(ग) **विघ्न-बाधाएं**—अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि में विविध प्रकार की अड़चनें आना। इन तीनों परिस्थितियों में घबरा जाना व्यक्तित्व की तीसरी दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा हमें कर्म सिद्धान्त पर विश्वास नहीं है। दूसरे शब्दों में व्याकुलता, घबराहट एवं उत्साहहीनता के दो कारण हैं। या तो हम परावलम्बी हैं अर्थात् हम मानते हैं की सुख की प्राप्ति आत्मा को छोड़कर अन्य तत्त्वों पर

अवलम्बित है अथवा ये मानते हैं कि आत्मा दुर्बल होने के कारण प्रतिकूल परिस्थिति एवं विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। जैन धर्म में आत्मा को अनन्त चतुष्टयात्मक माना गया है। अर्थात् यह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य स्वरूप है। सुख को बाहर ढूँढ़ने का अर्थ है हमें आत्मा के अनन्त सुख में विश्वास नहीं है, इसी प्रकार विघ्न बाधाओं के सामने हार मानने का अर्थ है हमें आत्मा के अनन्त वीर्य में विश्वास नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म व्यक्तित्व विकास के सभी आवश्यक तत्त्वों को उपस्थित करता है।

जैन धर्म और समाज

समाज शास्त्र का अर्थ है—“स्व” और “पर” के सम्बन्धों की चर्चा। इसकी दो भूमिकाएँ हैं, लौकिक तथा लोकोत्तर। दार्शनिक या आध्यात्मिक भूमिका को लोकोत्तर भूमिका कहा जाएगा और भौतिक अस्तित्व के लिए जो परस्पर व्यवहार आवश्यक है उसे लौकिक भूमिका। लोकोत्तर भूमिका की दृष्टि से वेदान्त का कथन है कि “स्व” को इतना व्यापक बना दो कि “पर” कुछ न रहे। “तत्त्वमसि” का संदेश संकुचित परिधि वाले जीव को प्रेरणा देता है कि वह अपने को ब्रह्म समझे, जिसमें जड़ और चेतन, सारा विश्व समाया हुआ है। जिससे भिन्न कुछ नहीं है। दूसरी ओर बौद्ध दर्शन का संदेश है, कि “स्व” को इतना सूक्ष्म बनाते जाओ कि वह कुछ न रहे। सब कुछ “पर” हो जाए। तुम्हारा रहन-सहन, जीवन यहां तक कि आध्यात्मिक साधना भी “पर” के लिए बन जाए। महायान इसी का प्रतिपादन करता है। जैन धर्म का कथन है कि “स्व” और “पर” दोनों का अस्तित्व वास्तविक है, वह अब तक रहा है और भविष्य में रहेगा, उसे मिटाया नहीं जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि “स्व” का जीवन ऐसा बन जाए जिससे “पर” का लेशमात्र भी शोषण न हो। इसी प्रकार वह इतना स्वावलम्बी हो जाए कि “पर” उसका शोषण न कर सके। जब तक भौतिक अस्तित्व है यह अवस्था नहीं प्राप्त हो सकती। अतः भौतिक अस्तित्व के साधना-काल में इन दोनों वृत्तियों का अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यास के पूर्ण होने पर मानव समस्त भौतिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसी का नाम मोक्ष, परमात्मावस्था या परमपद है।

लौकिक दृष्टि से मनुष्य की वृत्तियों को तीन भूमिकाओं में बांटा जा सकता है। (१) स्वार्थ, (२) परार्थ और (३) परमार्थ।

(१) स्वार्थ भूमिका में मनुष्य अपने भौतिक अस्तित्व तथा सांसारिक कामनाओं की पूर्ति को सर्वोपरि मानता है। इसके लिए दूसरों की हिंसा या शोषण करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करता। यह भूमिका धर्म शास्त्र की दृष्टि में संसार या पाप की भूमिका समझी जाती है। वेदान्त में इसे अविद्या कहा गया है। बौद्ध दर्शन में मोह या मिथ्यात्व। योगदर्शन में चित्तवृत्ति के दो प्रवाह बताए गए हैं—संसार प्राग्भारा और कैवल्यप्राग्भारा। उपरोक्त अवस्था का सम्बन्ध प्रथम प्रवाह से है।

(२) परार्थवृत्ति में मनुष्य 'स्व' के क्षेत्र का कुटुम्ब, परिवार, जाति तथा राष्ट्र से बढ़ता हुआ समस्त विश्व तक फैला देता है। उसके हित को अपना हित तथा अहित को अपना अहित मानने लगता है। क्षेत्र जितना संकुचित होगा व्यक्ति उतना ही स्वार्थी कहा जाएगा। तथा क्षेत्र जितना विकसित होगा उतना ही परार्थी। जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय आदि की उन्नति के लिए जो कार्य किये जाते हैं वे सभी इस कोटि में आते हैं।

(३) परार्थ की तरतमता को जानने के चार तत्त्व हैं—(१) क्षेत्र की व्यापकता (२) त्याग की उत्कटता (३) उद्देश्य की पवित्रता और (४) परिणाम का मंगलमय होना। क्षेत्र की व्यापकता का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है, क्या क्षेत्र विशेष तक सीमित परार्थ वृत्ति धर्म का अङ्ग बन सकती है? एक व्यक्ति अपनी जाति अथवा राष्ट्र की सीमा में प्रत्येक सदस्य का कल्याण एवं विकास चाहता है और इसके लिए उस क्षेत्र के बाहर हिंसा तथा अत्याचार करने में भी नहीं हिचकता। हिटलर, मुसोलिनी, स्टालिन आदि के उदाहरण हमारे सामने हैं। उन्होंने जिस वर्ग या क्षेत्र को ऊंचा उठाया वह उन्हें देवता या ईश्वर मानता रहा किन्तु बाह्य क्षेत्र के लिए वे दानव सिद्ध हुए। दूसरी श्रेणी उन लोगों की है जो अपने क्षेत्र में परस्पर रचनात्मक परार्थवृत्ति का अनुसरण करते हैं। किन्तु उसके बाहर तटस्थ हैं। तीसरे वे हैं जिनका लक्ष्य व्यापक है, किन्तु कार्यक्षेत्र की दृष्टि से अपनी शक्ति तथा मर्यादा के अनुसार आगे बढ़ते हैं अर्थात् वे समस्त विश्व का कल्याण चाहते हैं। किन्तु रचनात्मक कार्य करने के लिए सुबिधानुसार क्षेत्र चुन लेते हैं। उपरोक्त दोनों वर्ग धर्म की कोटि में आते हैं।

यहां एक प्रश्न और उपस्थित होता है, परार्थ के लिए रचनात्मक कार्य का रूप क्या होगा? क्या कोई ऐसा कार्य है जिससे किसी को कष्ट न पहुंचे? एक व्यापारी अपने जाति-बन्धु को ऊंचा उठाने के लिए व्यापार में लगा देता है और कुछ ही दिनों में उसे लखपति बना देता है। क्या यह उपकार धर्म कहा जाएगा? इसके उत्तर में कई अपेक्षाएं हैं, व्यापारी ने यदि उसकी सहायता किसी लौकिक स्वार्थ से की है, तो वह कार्य सामाजिक दृष्टि से उचित होने पर भी धर्म कोटि में नहीं आता। किन्तु यदि ऐसा कोई स्थूल स्वार्थ नहीं है तो स्वार्थ-त्याग की दृष्टि से वह धर्म है। साथ ही उसका परिणाम दरिद्र जनता का शोषण है तो वह आदि में मंगल होने पर भी परिणाम में मंगल नहीं है। परिणाम में मंगल तभी हो सकता है जब व्यक्ति अपने आध्यात्मिक गुणों का विकास करता हुआ ऊंचा उठे और किसी के लिए अमंगल न बने। भौतिक दृष्टि से की गई सहायताओं में धर्म का यह शुद्ध रूप नहीं आता। वह त्यागी जीवन में ही आ सकता है। अतः जिस प्रकार परम मंगल की पराकाष्ठा भौतिक अस्तित्व की समाप्ति में होती है इसी प्रकार परम-मंगल की शुद्ध साधना मुनि जीवन में ही हो सकती है। सामाजिकता और शुद्ध धर्म का मेल सम्भव नहीं।

फिर भी व्यक्ति जब तक उस स्तर पर नहीं पहुंचता तब तक स्वार्थवृत्ति से ऊपर उठकर धीरे-धीरे सामाजिकता का विकास उपादेय ही है। परार्थ परमार्थ पर पहुंचने की साधना है। स्वार्थ के

लिए सब कुछ करना, किन्तु परार्थ के समय हिंसा अहिंसा आदि की चर्चा करना दम्भ या मिथ्याचार है।

जैन धर्म में व्यक्ति का लक्ष्य परमार्थ माना गया है किन्तु उसको साधना के लिए परार्थ या समाज-हित को भी उपादेय बताया गया है। इस भूमिका को श्रावक की भूमिका कहा गया है। जहां व्यक्ति पर-शोषण की वृत्ति को उत्तरोत्तर घटाता जाता है, और उसके लिए विधि तथा निषेध दोनों मार्गों को अपनाता है। विधि के रूप में वह पर-पोषण अर्थात् पर-हित या परोपकार के कार्यों को अपनाता है। और निषेध के रूप में पर-शोषण के क्षेत्र को संकुचित करता जाता है।

आध्यात्मिक या कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से यह बताया जा चुका है कि जैन धर्म मोहनाश पर बल देता है। इसके मुख्य चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।

मनुष्य का आध्यात्मिक विकास इन्हीं की उत्तरोत्तर न्यूनता पर अवलम्बित है। यह न्यूनता दो प्रकार से सम्पादित होती है, निरोध द्वारा तथा मंगली-करण द्वारा। मन में क्रोध उठने पर उसके बुरे परिणामों को सोचना, मैत्रीभावना द्वारा द्वेष वृत्ति को शान्त करना, चित्त को आत्मचिन्तन में लगा देना आदि निरोध के मार्ग हैं। किन्तु क्रोध को किसी उपयोगी प्रवृत्ति में बदल देना उसका मंगलीकरण है। क्रोध का उदय तब होता है जब व्यक्ति की स्वतन्त्र वृत्ति में बाधा खड़ी हो जाती है। वह बोलना चाहता है किन्तु किसी कारण नहीं बोल पाता, करना चाहता है किन्तु नहीं कर पाता। इसी प्रकार खाने-पीने, उठने-बैठने, देखने-सुनने आदि के विषय में इच्छा का व्याघात होने पर मनुष्य क्रोध करने लगता है। वास्तव में देखा जाए तो यह उत्साह का व्याघात है। इसकी संहारक प्रतिक्रिया क्रोध है और रचनात्मक प्रतिक्रिया शुभकार्य में द्विगुणित उत्साह है। व्यक्ति जब दूसरे का हित करता है तो छिपे रूप में अस्मिता का पोषण होता है, और उसे सात्विक आनन्द प्राप्त होता है, उत्साह की वृद्धि होती है और क्रोध वृत्ति अपने आप घट जाती है। यह क्रोध के मंगलीकरण की प्रतिक्रिया है।

दूसरी कषाय 'मान' है। यह अहंकार, अभिमान, दर्प आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। इसमें मनुष्य अपने को दूसरों की अपेक्षा बड़ा समझता है और दूसरों से आदर-सत्कार की अपेक्षा रखता है। यह आकांक्षा वेश-विन्यास, आडम्बर, धन-वैभव का प्रदर्शन या अन्य बाह्य तत्त्वों के आधार पर पूरी की जाती है तो वह हेय है किन्तु यदि उसी आकांक्षा को दूसरों की सहायता, उदारता तथा आन्तरिक गुणों के विकास द्वारा पूरा किया जाए तो व्यक्ति समाज-हित के साथ-साथ आत्मशुद्धि की ओर अग्रसर होता है।

तीसरी कषाय 'माया' है। दूसरे की निन्दा, कपट, कुटिलता आदि इसी में आते हैं। जब इसका प्रयोग किसी के प्रति ईर्ष्या या बुरी भावना से प्रेरित होकर किया जाता है तो हेय है, परन्तु यदि इसका प्रयोग दूसरों के हित साधन या रचनात्मक कार्यों में किया जाए तो उसी का नाम कार्य कुशलता हो जाता है जो समाज के लिए उपयोगी तत्त्व है।

चौथी कषाय 'लोभ' है। व्यक्ति जब धन सम्पत्ति या अन्य किसी बाह्य वस्तु में इतना आसक्त हो जाता है कि भले बुरे का विवेक नहीं रहता, उस वस्तु की प्राप्ति के लिए सब कुछ करने को तैयार हो जाता है तो वह लोभ है, और वह हेय है। किन्तु यदि मूर्च्छा अथवा आसक्ति को कम करते हुए लगन या निष्ठा को कायम रखा जाए तो वही वृत्ति उपयोगी तत्त्व बन जाती है।

राग, द्वेष आदि अन्य पाप वृत्तियों को भी इसी प्रकार परिष्कृत और मंगलमय बनाया जा सकता है। श्रावक की चर्या में इसी मंगलीकरण की मुख्यता है। वह सामाजिकता के द्वारा चित्त का परिष्कार करता है और इस प्रकार आत्मशुद्धि की ओर बढ़ता है।

जहां समाज संगठन का लक्ष्य 'स्व' वर्ग तक सीमित है और उसके सामने विश्वकल्याण या आत्मशुद्धि सरीखा कोई पारमार्थिक लक्ष्य नहीं है, वहां सामाजिकता या राष्ट्रीयता घातक बन जाती है। हिटलर कालीन जर्मनी तथा दूसरों के उत्पीड़न द्वारा अपने भौतिक विकास की इच्छा करने वाले अनेक संगठनों के उदाहरण हमारे सामने हैं। उन्हें स्वस्थ समाज नहीं कहा जा सकता। रचनात्मक कार्य की दृष्टि से सामाजिकता किसी क्षेत्र तक सीमित रह सकती है किन्तु उसका लक्ष्य सर्वोदय या आत्मकल्याण ही होना चाहिए, तभी उसे स्वस्थ सामाजिकता कहा जा सकता है। प्रत्येक श्रावक प्रतिदिन घोषणा करता है कि 'मेरी सब प्राणियों से मित्रता है।' 'किसी से वैर नहीं है।' सैद्धान्तिक दृष्टि से व्यापक होने पर भी मित्रता का विध्यात्मक रूप असीम नहीं हो सकता, अतः उसके साथ यह भी लगा हुआ है कि मेरा किसी से वैर नहीं है। अर्थात् क्षेत्र विशेष में मित्रता का पोषण दूसरों के शोषण द्वारा नहीं होना चाहिए। यह आदर्श स्वस्थ समाज रचना के लिए अनिवार्य है।

द्वितीय खण्ड

उपासकदशांग-अन्तरंग परिचय

जैन साधना या विकास का मार्ग—

जैन धर्म के अनुसार साधना द्वारा किसी बाह्य वस्तु की प्राप्ति नहीं की जाती, किन्तु अपना ही स्वरूप जो बाह्य प्रभाव के कारण छिप गया है, प्रकट किया जाता है। जब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तो वही परमात्मा बन जाता है। परमात्मपद की प्राप्ति ही जैन साधना का लक्ष्य है। इस पद की प्राप्ति के लिए जीव अपने विकारों को दूर करता हुआ क्रमशः आगे बढ़ता है। विकास की इन अवस्थाओं को गुण-श्रेणी कहा जाता है। इनका विभाजन आचार्यों ने कई प्रकार से किया है। पूज्यपाद ने अपने समाधि-तन्त्र में नीचे लिखी तीन श्रेणियां बताई हैं—

१. बहिरात्मा—मिथ्यात्व से युक्त आत्मा, जो बाह्य प्रवृत्तियों में फंसा हुआ और आत्मोन्मुख नहीं हुआ।

२. अंतरात्मा—सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् और पूर्ण विकास से पहले, साधक आत्मा ।

३. परमात्मा—पूर्ण विकास कर लेने के पश्चात् ।

गुणस्थानों की दृष्टि से उन्हीं को चौदह श्रेणियों में बांटा गया है। कर्म सिद्धान्त की अपेक्षा से उन्हें चार श्रेणियों में बांटा गया है।

आत्मा में जो चार अनन्त बताए गए हैं उनको दबाने वाले चार कर्म हैं। ज्ञानावणीय कर्म अनन्त ज्ञान को ढांपता है, दर्शनावणीय दर्शन को, अन्तराय वीर्य को और मोहनीय आध्यात्मिक सुख को। इनमें से पहले तीन कर्मों का नाश विकास की अन्तिम अवस्था में होता है। बीच की अवस्था में जो विकास होता है वह मोहनीय कर्म के क्रमिक हटने से सम्बन्ध रखता है। ज्यों-ज्यों मोहनीय का प्रभाव कम होता जाता है, त्यों-त्यों जीव ऊंची श्रेणियों पर चढ़ता जाता है, और अन्त में उसका सर्वनाश करके कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। बौद्ध दर्शन में जो स्थान तृष्णा का है, वही स्थान जैन दर्शन में मोह का है। जिसे कर्म सिद्धान्त में मोहनीय कर्म कहा जाता है। इसके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शन का अर्थ है श्रद्धा। दर्शनमोहनीय मिथ्यात्व या विपरीत श्रद्धा को उत्पन्न करता है। उसका प्रभाव हटने पर ही जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। इसलिए आध्यात्मिक विकास-क्रम में पहला कदम सम्यक्त्व है।

चारित्रमोहनीय चारित्र का बाधक है। उसके कारण जीव क्रोध, मान, माया तथा लोभ में फंसा रहता है। उपरोक्त कषायों की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर प्रत्येक के चार भेद किए गए हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानानवरणी, प्रत्याख्यानानवरणी और संज्वलन। इनमें अनन्तानुबन्धी तीव्रतम है। उसके रहते जीव सम्यक्त्व को भी नहीं प्राप्त कर सकता। उसे तथा दर्शन मोहनीय को दूर करके ही जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। दूसरी शक्ति अप्रत्याख्यानानवरणी को दूर करके वह श्रावक बनता है, तीसरी को दूर करके साधु और चौथी को दूर करके परमात्मा। उसी आधार पर विकास मार्ग का भी नीचे लिखी चार श्रेणियों में विभाजन किया जाएगा—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, साधु और केवली।

सम्यग्दृष्टि—

आत्म शुद्धि के मार्ग पर चलने की पहली सीढ़ी सम्यक्त्व है। इसी को सम्यग्दर्शन या सम्यग्दृष्टि भी कहा जाता है। सम्यक्त्व का अर्थ है ठीक रास्ते को प्राप्त करना। जब जीव इधर-उधर भटकना छोड़कर आत्म विकास के ठीक रास्ते को प्राप्त कर लेता है, तो उसे सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्व वाला कहा जाता है। ठीक मार्ग को प्राप्त करने का अर्थ है, मन में पूरी श्रद्धा होना कि यही मार्ग कल्याण की ओर ले जाने वाला है। उस मार्ग पर चलने की रुचि जागृत होना और विपरीत मार्गों का परित्याग करना।

शास्त्रों में सम्यक्त्व के दो रूप मिलते हैं—पहला बाह्य रूप है। इसका अर्थ है देव, गुरु और धर्म

में श्रद्धा। दूसरा आभ्यन्तररूप है, इसका अर्थ है आत्मा की वह निर्मलता जिससे सत्य को जानने की स्वाभाविक अभिरुचि जागृत हो जाए। नीचे इन दोनों रूपों का वर्णन किया जाएगा।

सम्यक्त्व का बाह्य रूप—

जब कोई व्यक्ति जैन धर्म स्वीकार करता है, तो नीचे लिखी प्रतिज्ञा करता है—

अरिहंतो मह देवो, जाव जीवाए सुसाहुणो गुरुणो ।

जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥

अर्थात्—समस्त जीवन के लिए अरिहन्त मेरे देव हैं। साधु गुरु हैं और जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादन किया हुआ तत्त्व ही धर्म है। इस प्रकार मैं सम्यक्त्व को ग्रहण करता हूँ।

देव—

सम्यक्त्व की व्यवस्था में सबसे पहले देव-तत्त्व आता है। भारतीय परम्परा में उसकी कल्पना के दो रूप हैं। पहला रूप वैदिक परम्परा में मिलता है। उसमें देव की कल्पना वर-दाता के रूप में की गई है। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं की स्तुति करने से वे इच्छापूर्ति करते थे। उसके बाद जब अनेक देवताओं का स्थान एक देवता ने ले लिया तो वह भी भक्तों को सुख देने वाला बना रहा। जिन धर्मों का मुख्य ध्येय सांसारिक सुखों की प्राप्ति है, उन्होंने देवतत्त्व को प्रायः इसी रूप में माना है।

जैन धर्म अपने देवता से किसी वरदान की आशा नहीं रखता। वह उसे आदर्श के रूप में स्वीकार करता है। वास्तव में देखा जाए तो आत्मशुद्धि के मार्ग में वरदान का कोई स्थान नहीं है। इस मार्ग में आगे बढ़ने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं परिश्रम करना होता है। कदम-कदम बढ़ाकर आगे चलना होता है। कोई किसी को उठाकर आगे नहीं रख सकता। यहां कोई दूसरा यदि उपयोगी हो सकता है तो इतना ही कि मार्ग बताने के लिए आदर्श उपस्थित कर दे, जिससे साधक उस लक्ष्य को सामने रखकर चलता रहे। जैन धर्म का देवतत्त्व उसी आदर्श का प्रतीक है। वह बताता है कि हमें कहां पहुंचना है। वह हमारी यात्रा का चरम लक्ष्य है।

अरिहन्त और ईश्वर—

पातञ्जलयोगदर्शन में भी ईश्वर की कल्पना आदर्श के रूप में की गई है। उसमें बताया गया है कि जो पुरुष विशेष सांसारिक क्लेश, कर्म विपाक तथा उनके फल से सदा अछूता रहा है, वही ईश्वर है। उसी का ध्यान करने से चित्त स्थिर होता है, और साधक उत्तरोत्तर विशुद्धि तथा ऊंची समाधि को प्राप्त करता है। जैन धर्म में भी अरिहन्त का ध्यान उसी उद्देश्य से किया जाता है। किन्तु अरिहन्त और योगदर्शन के ईश्वर में भी एक भेद है। योगदर्शन का ईश्वर कभी कर्मों से लिप्त नहीं हुआ। वह सदा से अलिप्त है। इसके विपरीत अरिहन्त हमारे सरीखी साधारण अवस्था से उठकर परम अवस्था को पहुंचे हैं। वे जीवात्मा से परमात्मा बने हैं। योगदर्शन का ईश्वर सदा से सिद्ध है। जैन धर्म के

अरिहन्त साधना द्वारा सिद्ध हुए हैं। योगदर्शन के ईश्वर आदर्श थे और आदर्श रहेंगे। जीव उस अवस्था को कभी नहीं पहुंच सकता। अरिहन्त भी आदर्श हैं, किन्तु साधना करता हुआ प्रत्येक जीव उनके बराबर हो सकता है। योगदर्शन का ईश्वर समुद्र में चलने वाले जहाजों के लिए ध्रुव के समान है जिसे देखकर सभी चलते हैं किन्तु वहां पहुंचता कोई नहीं। अरिहन्त परले किनारे पर पहुंचे हुए जहाज के प्रकाश स्तम्भ के समान हैं जहां पहुंचने पर प्रत्येक जहाज स्वयं प्रकाशस्तम्भ बन जाएगा।

अरिहन्त शब्द की व्याख्या—

अरिहन्त शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। पहली व्याख्या के अनुसार अरिहन्त शब्द का अर्थ है—शत्रुओं का नाश करने वाला। जिस साधक ने क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि आत्म-शत्रुओं का नाश कर दिया है, वही अरिहन्त है। जैन साधक अपने आदर्श के रूप में ऐसे व्यक्तित्व को रखता है जिसने आत्मा की सभी दुर्बलताओं का अन्त कर दिया है। 'अरिहन्त' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति 'अर्हत्' के रूप में की जाती है। इसका अर्थ है योग्य। जो जीव आत्मविकास करते हुए पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, मुक्त होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, वह अर्हत् है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा में अनन्त ज्ञान है, अनन्त दर्शन है, अनन्त सुख है और अनन्त वीर्य है। कर्मों के आवरण के कारण आत्मा की ये शक्तियां दबी हुई हैं। अर्हत् अवस्था में वे पूर्णतया प्रकट हो जाती हैं। इस शब्द की तीसरी व्युत्पत्ति संस्कृत की 'अर्ह पूजायां' धातु से की जाती है, अर्थात् जो व्यक्ति पूजा के योग्य है वह अर्हत् है।

यहां एक बात उल्लेखनीय है। जैन धर्म, देवतत्त्व के रूप में किसी व्यक्ति-विशेष को स्वीकार नहीं करता। जिस आत्मा ने पूर्ण विकास कर लिया वह चाहे कोई हो, अरिहन्त है और देव के रूप में वन्दनीय है।

यद्यपि जैन परम्परा इतिहास के रूप में चौबीस तीर्थकरों तथा दूसरे महापुरुषों को मानती है। उन्हें वन्दना भी करती है किन्तु इसलिए कि उन्होंने आत्मा का पूर्ण विकास कर लिया है। उसमें गुणों का महत्व है, व्यक्ति का नहीं। प्रत्येक नए काल के साथ नए तीर्थकर उत्पन्न होते हैं, नए युगप्रवर्तक होते हैं, नए वन्दनीय होते हैं। पुराने मोक्ष चले जाते हैं, फिर वापिस नहीं लौटते। धीरे-धीरे उनकी स्मृति भी काल के गर्भ में विलीन हो जाती है। नए युग की जनता नए तीर्थकरों की वन्दना करती है। पुरानों को भूल जाती है। अरिहन्त न तो ईश्वर के अवतार हैं, न ईश्वर के भेजे हुए दूत हैं, न ईश्वर के अंश हैं। वे वह आत्माएं हैं जिन्होंने अपने आप में सोए हुए ईश्वरत्व को प्रकट कर लिया है। जो अपनी तपस्या तथा परिश्रम के द्वारा जीवात्मा से परमात्मा बने हैं। जैन धर्म उन्हीं को देव के रूप में मानता है।

गुरु—

देवतत्त्व के बाद दूसरा क्रम गुरुतत्त्व का आता है। प्रत्येक जैन यह प्रतिज्ञा करता है कि साधु मेरे गुरु हैं। साधु का अर्थ है, पांच महाव्रतों की साधना करने वाला। वे महाव्रत निम्नलिखित हैं—

- (१) पाण्डवाओ वेरमणं—प्राणातिपात अर्थात् हिंसा का परित्याग ।
- (२) मुसावांयाओ वेरमणं—मृषावाद अर्थात् असत्य भाषण का परित्याग ।
- (३) अदिन्नादाणाओ वेरमणं—अदत्तादान अर्थात् चोरी का परित्याग ।
- (४) मेहुणाओ वेरमणं—मैथुन का परित्याग ।
- (५) परिग्गहाओ वेरमणं—परिग्रह का त्याग ।

इन महाव्रतों की रक्षा के लिए साधु पांच सभितियों तथा तीन गुणियों का पालन करता है। वाइस परीषहों को जीतता है। भिक्षाचरी, निवास, विहार, भोजन आदि प्रत्येक चर्या में सावधान रहता है। संयम के लिए आवश्यक उपकरणों को छोड़कर अपने पास कोई परिग्रह नहीं रखता। रुपया, पैसा तथा धातु से बनी हुई वस्तुएं रखना भी जैन साधु के लिए वर्जित हैं। वस्त्र-पात्र भी इतने ही रखते हैं जिन्हें स्वयं उठा सकें। विहार में किसी सवारी को काम में नहीं लाते। सदा पैदल चलते हैं। अपना सारा सामान अपने ही कंधों पर उठाते हैं, नौकर या कुली नहीं रखते। स्वावलम्बन उनकी चर्या का मुख्य अङ्ग है।

प्राकृत भाषा में जैन साधुओं के लिए समण शब्द का प्रयोग होता है। उसके संस्कृत में तीन रूप होते हैं—श्रमण, शमन और समन। इन तीन रूपों में जैन साधु की चर्या का निचोड़ आ जाता है। सबसे पहले जैन साधु श्रमण होता है। वह आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक सभी बातों में अपने ही श्रम पर निर्भर रहता है। आध्यात्मिक विकास के लिए तपस्या तथा संयम द्वारा स्वयं श्रम करता है। भौतिक निर्वाह के लिए भी दूसरे पर निर्भर नहीं रहता। अपने सारे काम स्वयं करता है। भिक्षा के लिए भी कई घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेकर अपना निर्वाह करता है। किसी पर बोझ नहीं बनता। जैन साधु शमन भी होता है। वह क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों तथा इन्द्रिय-वृत्तियों का शमन करता है। अपनी आवश्यकताओं तथा इच्छाओं को सीमा में रखता है। अन्तिम किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि साधु समता का आराधक होता है। वह सभी प्राणियों पर समदृष्टि रखता है। न किसी को शत्रु समझता है, और न किसी को मित्र। सुख और दुख में समान रहता है। अनुकूलता और प्रतिकूलता में समान रहता है। निन्दा और स्तुति में समान रहता है। स्व और पर के प्रति समान रहता है। इस प्रकार वह समस्त विश्व को समान दृष्टि से देखता है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है, “समयाए समणो होइ।”

देवतत्त्व साधना के आदर्श को उपस्थित करता है तो गुरुतत्त्व साधना का मार्ग बताता है। साधक को इधर-उधर विचलित होने से रोकता है। शिथिलता आने पर प्रोत्साहन देता है। गर्व आने पर शान्त करता है।

धर्म तत्त्व—

सम्यक्त्व में तीसरी बात धर्म तत्त्व अर्थात् दार्शनिक सिद्धान्तों की है। इसके लिए जैन कहता है

कि 'जिन' ने जो कुछ कहा है वही मेरे लिए तत्त्व है। जैन शब्द भी इसी आधार पर बना है। जिनों के द्वारा बताए हुए रास्ते पर चलने वाला जैन है।

'जिन' का अर्थ है जिसने राग, द्वेष को जीत लिया है। शास्त्रों में 'जिन' की परिभाषा देते हुए दो बातें बताई जाती हैं। पहली—जिसने राग, द्वेष को जीत लिया है। दूसरी जिसने पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लिया है। कोई व्यक्ति जब गलत बात कहता है तो उसके दो ही कारण हो सकते हैं। या तो कहने वाला उस बात को पूरी तरह जानता ही नहीं या जानते हुए भी किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर अन्यथा कहता है। जिसमें ये दोनों दोष नहीं हैं, वे पूर्णज्ञानी भी हैं और स्वार्थों से ऊपर भी हैं। इसलिए उनके द्वारा कही हुई बात मिथ्या नहीं हो सकती।

यहां बुद्धि-वादियों की ओर से यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति प्रत्येक बात को अपनी बुद्धि से जांच कर क्यों न स्वीकार करे। किन्तु यह शर्त ठीक नहीं है। मनुष्य की बुद्धि इतनी क्षुद्र है कि सभी बातों का परीक्षण वह स्वयं नहीं कर सकती। विज्ञान के क्षेत्र में भी हमें प्राचीन अन्वेषणों को मानकर चलना होता है। यदि नया युग पुराने अनुभवों से लाभ न उठाए और प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्वेषण नए सिरे से प्रारम्भ करे तो प्रगति असम्भव है। हम जहां थे, वहां ही रह जाएंगे। इसलिए पुराने अनुभवों पर विश्वास करते हुए आगे बढ़ना होता है। कुछ दिनों बाद व्यक्ति स्वयं उन अनुभवों को साक्षात्कार कर लेता है। उस समय दूसरे के अनुभव पर विश्वास के स्थान पर सारा अनुभव अपना ही बन जाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में इसी को कैवल्य अवस्था कहते हैं। उस दशा को प्राप्त करने से पहले दूसरे के अनुभवों पर विश्वास करना आवश्यक है।

बुद्धि में एक दोष और भी है। वह प्रायः हमारे मन में जमे हुए अनुराग के संस्कारों का समर्थन करती है। यदि हम किसी को अच्छा मानते हैं तो बुद्धि उसी का समर्थन करती हुई दो गुण बता देगी। यदि किसी को बुरा मानते हैं तो बुद्धि उसके दोष निकाल लेगी। बुद्धि के आधार पर सत्य को तभी जाना जा सकता है जब चित्त शुद्ध हो। वह अनुराग और घृणा से ऊंचा उठा हुआ हो। चित्त-शुद्धि के लिए साधना आवश्यक है और श्रद्धा उसका पहला पाया है। हां, श्रद्धेय में जिन गुणों की आवश्यकता है उसे जिन शब्द द्वारा स्पष्ट बता दिया गया है। जो व्यक्ति राग, द्वेष से रहित तथा पूर्ण ज्ञान वाला है, वह चाहे कोई भी हो उसकी वाणी में विश्वास करने से कोई हानि नहीं है।

इसी बात को ऐतिहासिक दृष्टि से लिया जाता है तो श्रुतज्ञान या जैन आगमों की चर्चा की जाती है। जो ज्ञान दूसरों के अनुभव सुनकर प्राप्त किया जाए उसे श्रुत-ज्ञान कहा जाता है। जैन परम्परा में जो ज्ञानवान् महापुरुष हुए हैं उनका अनुभव आगमों में मिलता है, इसीलिए आगमों में श्रद्धा रखने का प्रतिपादन किया जाता है।

सम्यक्त्व का आभ्यन्तर रूप—

देव, गुरु और धर्म में विश्वास के रूप में सम्यक्त्व का जो स्वरूप बताया गया है, वह बाह्य

कारणों की अपेक्षा रखता है, इसलिए बाह्य है। सम्यक्त्व का आभ्यन्तर रूप आत्मा की शुद्धि पर निर्भर है। वास्तव में देखा जाए तो बाह्य रूप आभ्यन्तर रूप की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। जब आत्मा में विशेष प्रकार की शुद्धि आती है तो जीव में सत्य को जानने की स्वाभाविक रुचि प्रकट होती है। उस शुद्धि से पहले जीव सांसारिक सुखों में फंसा रहता है।

अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि जीव में पहले-पहल उस प्रकार की शुद्धि कैसे आती है। इसके लिए संक्षेप में आत्मा का स्वरूप और उसके संसार में भटकने के कारणों को जानना आवश्यक है। जैन धर्म के अनुसार आत्मा अनादि तथा अनन्त है। न तो यह कभी उत्पन्न हुआ और न कभी नष्ट होगा। चार अनन्त इसके स्वभाव हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य। अर्थात् आत्मा अनन्त वस्तुओं को जान सकता है। वह अनन्त सुख तथा अनन्त शक्ति का भंडार है।

आत्मा के ये गुण कर्मबन्ध के कारण दबे हुए हैं। कर्मों के कारण वह अल्पज्ञ, अल्पद्रष्टा, अल्पसुखी तथा अल्पशक्ति बना हुआ है। कर्मों का बन्धन दूर होते ही उसके स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाएंगे और वह अनन्तज्ञानी, अनन्तद्रष्टा, अनन्तसुखी तथा अनन्तशक्ति वाला बन जाएगा। आध्यात्मिक साधना का अर्थ है कर्मबन्धन से छुटकारा पाने का प्रयत्न। कर्मों का आवरण जैसे-जैसे पतला और अल्प होता जाता है आत्मा के गुण अपने आप प्रकट होते जाते हैं।

कर्म दो प्रकार के हैं—द्रव्य कर्म और भावकर्म। पुद्गल द्रव्य के वे परमाणु जो आत्मा के साथ मिलकर उसकी विविध शक्तियों को कुण्ठित कर डालते हैं वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के वे संस्कार जो आत्मा को बहिर्मुखी बनाए रखते हैं, उसे अपने स्वरूप का भान नहीं होने देते वे भावकर्म हैं। इन कर्मों के कारण जीव अनादिकाल से संसार में भटकता रहा है और तब तक भटकता रहेगा जब तक उनसे छुटकारा नहीं पा लेता।

सम्यक्त्व के पांच चिन्ह—

सम्यग्दृष्टि के जीवन में स्वाभाविक निर्मलता आ जाती है। उसका चित्त शान्त हो जाता है। दृष्टि दूसरे के गुणों पर जाती है, दोषों पर नहीं। दुखी को देखकर उसके मन में स्वाभाविक करुणा उत्पन्न होती है। बिना किसी स्वार्थ के दूसरे की सेवा करके उसके मन में प्रसन्नता होती है। शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के पांच चिन्ह बताए गए हैं—

१. शम—सम्यग्दृष्टि व्यर्थ के झगड़े तथा कदाग्रहों से दूर रहता है, उसकी वृत्तियां शान्त होती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय मन्द होते हैं। राग और द्वेष में उत्कटता नहीं होती। इसी का नाम शम है।

२. संवेग—सम्यग्दृष्टि का मन सांसारिक सुखों की ओर आकृष्ट नहीं होता। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी उसका मन त्याग की ओर झुका रहता है। शास्त्रों में इसकी उपमा तप्त-लोह पदन्यास से

दी है। जिस प्रकार किसी मनुष्य को तपे हुए लोहे पर चलने के लिए कहा जाए तो वह डरते-डरते पैर रखता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सांसारिक प्रपंचों में डरते-डरते घुसता है।

३. निर्वेद—सांसारिक भोगों के प्रति स्वाभाविक उदासीनता।
४. अनुकम्पा—संसार के सभी प्राणियों का दुख दूर करने की इच्छा।
५. आस्तिक्य—आत्मा आदि तत्त्वों के अस्तित्व में दृढ़ विश्वास।

सम्यक्त्व के भेद—

कारक, रोचक तथा दीपक—

यह बताया जा चुका है कि देव, गुरु और धर्म में दृढ़ श्रद्धा ही सम्यक्त्व है। विश्वास कई प्रकार का होता है। असली विश्वास वह है जो कार्य करने की प्रेरणा दे। हमें यदि विश्वास हो जाए कि जिस कमरे में हम बैठे हैं उसमें सांप है तो कभी निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सकते। बार-बार चारों ओर दृष्टि दौड़ाते रहेंगे और पूरी तरह सावधान रहेंगे। कोशिश यह करेंगे कि जल्दी-से-जल्दी उस कमरे से बाहर निकल जाएं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति में यह विश्वास जम गया कि सांसारिक काम-भोग दुर्गति में ले जाने वाले हैं तो वह कभी निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सकता। वह कभी धन, सम्पत्ति, सन्तान आदि के मोह में नहीं फंस सकता। कर्तव्य बुद्धि से जब तक गृहस्थ अवस्था में रहेगा, निर्लेप होकर रहेगा। हमेशा यह भावना रखेगा कि इस प्रपंच से छुटकारा कब मिले। इस प्रकार की चित्तवृत्ति को सम्यक्त्व कहा जाता है। वह मनुष्य को कुछ करने के लिए प्रेरित करता है। वहां सोचना और करना एक साथ चलते हैं। यही सम्यक्त्व मनुष्य को आगे बढ़ाता है।

रोचक सम्यक्त्व—

कुछ लोगों का विश्वास रुचि उत्पन्न करके रह जाता है। ऐसे विश्वास वाला व्यक्ति धर्म में श्रद्धा करता है, धर्म की बातें सुनना उसे अच्छा लगता है। धार्मिक पुरुषों के दर्शन व धर्मचर्चा में आनन्द आता है, किन्तु वह कुछ करने के लिए तैयार नहीं होता। ऐसे सम्यक्त्व को रोचक सम्यक्त्व कहते हैं।

दीपक सम्यक्त्व—

कुछ लोग श्रद्धावान् न होने पर भी दूसरों में श्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। ऐसा सम्यक्त्व दीपक सम्यक्त्व कहलाता है। वास्तव में देखा जाए तो यह मिथ्यात्व ही है। फिर भी दूसरों में सम्यक्त्व का उत्पादक होने से सम्यक्त्व कहा जाता है।

सम्यक्त्व के पांच अतिचार—

ऊपर बताया जा चुका है कि अंगीकृत मार्ग में दृढ़ विश्वास साधना की प्रथम भूमिका है।

डावांडोल मन ब्राला साधक आगे नहीं बढ़ सकता। उसे सदा सावधान रहना चाहिए कि मन में किसी प्रकार की अस्थिरता या चंचलता तो नहीं आ रही है। जैन शास्त्रों में इसके निम्नलिखित पांच दोष बताए गए हैं—

१. शंका—शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित तात्त्विक बातों में सन्देह होना। जिस व्यक्ति की आत्मा उसके ज्ञान, दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों तथा उनको आच्छन्न करने वाले कर्मों को उनसे छुटकारा प्राप्त करने के लिए प्रतिपादित मार्ग में विश्वास नहीं है वह आगे नहीं बढ़ सकता। अतः सिद्धान्तों में अविचल विश्वास होना आवश्यक है। उनमें शंका या सन्देह होना सम्यक्त्व का पहला दोष है।

२. कांक्षा—अपने मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग की ओर झुकाव। प्रायः देखा गया है कि व्यक्ति जिन बातों से अधिक परिचित हो जाता है उनके प्रति आकर्षण कम हो जाता है और नई बातें अच्छी लगती हैं। अंगीकृत मार्ग में भी ऐसी कठिनाइयां आने लगती हैं, लेकिन यह हृदय की दुर्बलता है। साधना का मार्ग कठोर है और कठोर रहेगा। उससे बचने के लिए इधर-उधर भागना एक प्रकार का विघ्न है। आजकल धार्मिक उदारता के नाम पर इस दोष को प्रश्रय दिया जा रहा है और एक निष्ठा को साम्प्रदायिकता या संकुचित मनोवृत्ति कहकर बदनाम किया जा रहा है। इन दोनों का अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिए, यदि धार्मिक कट्टरता दूसरों से द्वेष या घृणा के लिए प्रेरित करती है तो यह वास्तव में बुरा है। धर्म किसी से द्वेष करने के लिए नहीं कहता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी मार्गों को एक सरीखा कहकर किसी पर चलने का प्रयत्न न किया जाए। एक ही लक्ष्य पर अनेक मार्ग पहुंच सकते हैं किन्तु चलना एक ही पर होगा। जैन शास्त्रों में सिद्धों के जो पन्द्रह भेद बताए गए हैं उनमें स्वलिग सिद्ध के समान परलिग सिद्ध को भी स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ है कि साधक साधु के वेश में हो या अन्य किसी वेश में, जैन परम्परा का अनुयायी हो या अन्य का, चारित्र-शुद्धि द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। फिर भी किसी एक मार्ग को पकड़कर उस पर दृढ़तापूर्वक चलना आवश्यक है। सर्व-धर्म समभाव का यह अर्थ नहीं है कि किसी पर न चला जाए। जो व्यक्ति आन्दोलन द्वारा लोकप्रिय बनना चाहता है वह कैसी ही बातें करे किन्तु किसी दूसरे मार्ग को बुरा न मानते हुए भी चलना किसी एक पर ही होगा, साधक का कल्याण इसी में है। एक लक्ष्य और एक निष्ठा साधना के अनिवार्य तत्त्व हैं। प्रथम दोष लक्ष्य से सम्बन्ध रखता है और द्वितीय निष्ठा से।

३. विचिकित्सा—फल के प्रति सन्देहशील होना। धार्मिक साधना का अन्तिम फल मोक्ष या निर्वाण है। अवान्तर फल आत्म शुद्धि है जो निरन्तर दीर्घकालीन अभ्यास के पश्चात् प्राप्त होती है। तब तक साधक को धैर्य रखना चाहिए और अपने अनुष्ठानों में लगे रहना चाहिए। लक्ष्य सिद्धि के प्रति सन्देहशील होना साधना का तीसरा दोष है।

४. पर-पाषंड प्रशंसा—इसका अर्थ है अन्य मतावलम्बी की प्रशंसा करना। यहां 'पर' शब्द के

दो अर्थ हो सकते हैं। पहला अर्थ है स्वयं जिस मत को स्वीकार किया है उससे भिन्न मत की प्रशंसा। उदाहरण के रूप में बताया गया है कि व्यक्ति पुरुषार्थ तथा पराक्रम द्वारा अपने भविष्य को बदल सकता है। उसे बनाना या बिगाड़ना उसके हाथ में है। इसके अतिरिक्त गोशालक नियतिवाद को मानता है उसका कथन है कि पुरुषार्थ व्यर्थ है जो कुछ होना है अवश्य होगा। उसमें परिवर्तन लाना सम्भव नहीं है। तीसरी परम्परा ईश्वरवादियों की है जिनका कथन है कि हमारा भविष्य किसी अतीन्द्रिय शक्ति के हाथ में है, हमें अपने उद्धार के लिए उसी से प्रार्थना करनी चाहिए। इन मान्यताओं के सत्यासत्य की चर्चा में न जाकर यहां इतना कहना ही पर्याप्त है कि साधक इनकी प्रशंसा करता है या इन के प्रति सहानुभूति रखता है तो उसकी निष्ठा में शिथिलता आ जाएगी, अतः इससे बचे रहने की आवश्यकता है। 'पर' शब्द का दूसरा अर्थ अन्य मतावलम्बी है। शिष्टाचार के नाते सभी को आदर देना साधक का कर्तव्य है। किन्तु प्रशंसा का अर्थ है उसकी विशेषताओं का अभिनन्दन। यह तभी हो सकता है जब साधक या तो उन्हें अच्छा मानता है या हृदय में बुरा मानता हुआ भी ऊपर से प्रशंसा करता है। पहली बात शिथिलता है जो कि साधना का विघ्न है, दूसरी बात कपटाचार की है जो चारित्र्य शुद्धि के विपरीत है।

५. पर-पाषंड संस्तव—इसका अर्थ है भिन्न मत या उसके अनुयायी के साथ परिचय या मेल-मिलाप रखना। यह भी एक-निष्ठा का बाधक है। पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में चित्त-विक्षेप के रूप में साधना के नौ विघ्न बताए हैं—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व। इनमें संशय उपरोक्त शंका के समान है और भ्रान्तिदर्शन विचिकित्सा के समान। बौद्ध धर्म में इन्हीं के समान पांच नीवरण बताए गए हैं।

श्रावक-धर्म

जैन साधक की दूसरी श्रेणी श्रावक-धर्म है। इसे संयमासंयम, देशविरति, गृहस्थ-धर्म आदि नामों द्वारा प्रकट किया जाता है।

यह पहले बताया जा चुका है कि श्रमण परम्परा में त्याग पर अधिक बल दिया गया है। वहां विकास का अर्थ आन्तरिक समृद्धि है और यदि बाह्य सुख सामग्री उसमें बाधक है तो उसे भी हेय बताया गया है। फिर भी जैन परम्परा ने आध्यात्मिक विकास की मध्यम श्रेणी के रूप में एक ऐसी भूमिका को स्वीकार किया है जहां त्याग और भोग का सुन्दर समन्वय है। बौद्ध संघ में केवल भिक्षु ही सम्मिलित हैं। जहां तक मुनि की चर्या का प्रश्न है जैन परम्परा ने उसे अत्यन्त कठोर तथा उच्चस्तर पर रखा है। बौद्ध भिक्षु अपनी चर्या में रहता हुआ भी अनेक प्रवृत्तियों में भाग ले सकता है किन्तु जैन मुनि ऐसा नहीं कर सकता। परिणामस्वरूप जहां तप और त्याग की आध्यात्मिक ज्योति को प्रज्वलित रखना साधु संस्था का कार्य है, संघ के भरण-पोषण एवं बाह्य सुविधाओं का ध्यान रखना श्रावक संस्था का कार्य है।

जैन साहित्य में श्रावक शब्द के दो अर्थ मिलते हैं। पहला, 'श्रू' धातु से बना है, जिसका अर्थ है सुनना। जो सूत्रों का श्रवण करता है और तदनुसार चलने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है वह श्रावक है। श्रावक शब्द से साधारणतया यही अर्थ ग्रहण किया जाता है। प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में श्रावकों द्वारा स्वयं शास्त्राध्ययन की परिपाटी नहीं रही। यत्र-तत्र साधुओं के अध्ययन और उन्हें पढ़ाने वाले वाचनाचार्य का वर्णन मिलता है। अध्ययन करने वाले साधुओं की योग्यता तथा आवश्यक तपोऽनुष्ठान का विधान भी किया गया है। इसका दूसरा अर्थ 'श्रा-पाके' धातु के आधार पर किया जाता है। इस धातु से संस्कृत रूप 'श्रापक' बनता है जिसका प्राकृत में 'सावय' हो सकता है। किन्तु संस्कृत में 'श्रावक' शब्द के साथ इसकी संगति नहीं बैठती। इस शब्द का आशय है वह व्यक्ति, जो भोजन पकाता है।

श्रावक के लिए बारह व्रतों का विधान है। उनमें से प्रथम पांच अणु-व्रत या शील-व्रत कहे जाते हैं। अणु-व्रत का अर्थ है छोटे व्रत। साधु हिंसा आदि का पूर्ण परित्याग करता है अतः उसके व्रत महाव्रत कहे जाते हैं। श्रावक उनका पालन मर्यादित रूप में करता है अतः उसके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं। शील का अर्थ है आचार। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच चारित्र या आचार की आधार शिला हैं। इसीलिए इनको शील कहा जाता है। बौद्ध साहित्य में भी इनके लिए यही नाम मिलते हैं। योग-दर्शन में इन्हें यम कहा गया है और अष्टांग योग की आधारशिला माना गया है और कहा गया है कि ये ऐसे व्रत हैं जो सार्वभौम हैं। व्यक्ति, देश, काल तथा परिस्थिति की मर्यादा से परे हैं अर्थात् धर्मधर्म या कर्तव्याकर्तव्य का निरूपण करते समय अन्य नियमों की जांच अहिंसा आदि के आधार पर करनी चाहिए। किन्तु इन्हें किसी दूसरे के लिए गौण नहीं बनाया जा सकता। हिंसा प्रत्येक अवस्था में पाप है उसके लिए कोई अपवाद नहीं है। कोई व्यक्ति हो या कैसी ही परिस्थिति हो हिंसा पाप है और अहिंसा धर्म है, सत्य आदि के लिए भी यही बात है। किन्तु इनका पूर्णतया पालन वहीं हो सकता है जहां सब प्रवृत्तियां बन्द हो जाती हैं। हमारी प्रत्येक हलचल में सूक्ष्म या स्थूल हिंसा होती रहती है, अतः साधक के लिए विधान है कि उस लक्ष्य पर दृष्टि रखकर यथाशक्ति आगे बढ़ता चला जाए। साधु और श्रावक इसी प्रगति की दो कक्षाएं हैं। श्रावक के शेष सात व्रतों को शिक्षा-व्रत कहा गया है। वे जीवन में अनुशासन लाते हैं। इनमें से प्रथम तीन बाह्य अनुशासन के लिए हैं और हमारी व्यावसायिक हल-चल, दैनन्दिन रहन-सहन एवं शरीर संचालन पर नियंत्रण करते हैं और शेष चार आंतरिक शुद्धि के लिए हैं। इन दोनों श्रेणियों में विभाजन करने के लिए प्रथम तीन को गुणव्रत और शेष चार को शिक्षाव्रत भी कहा जाता है।

इन बारह व्रतों के अतिरिक्त पूर्व भूमिका के रूप में सम्यक्त्व-व्रत है। जहां साधक की दृष्टि अन्तर्मुखी बन जाती है और वह आन्तरिक विकास को अधिक महत्व देने लगता है, इसका निरूपण पहले किया जा चुका है। बारह व्रतों का अनुष्ठान करता हुआ श्रावक आध्यात्मिक शक्ति का संचय करता जाता है। उत्साह बढ़ने पर वह घर का भार पुत्र को सौंपकर धर्म-स्थान में पहुंच जाता है और

सारा समय तपस्या और आत्म-चिन्तन में बिताने लगता है। उस समय वह ग्यारह प्रतिमाएं स्वीकार करता है और उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ अपनी चर्या को मुनि के समान बना लेता है। जब वह यह देखता है कि मन में उत्साह होने पर भी शरीर कृश हो गया है और बल क्षीण होता जा रहा है तो नहीं चाहता कि शारीरिक दुर्बलता मन को प्रभावित करे और आत्मचिन्तन के स्थान पर शारीरिक चिन्ताएं होने लगे। इस विचार के साथ वह शरीर का ममत्व छोड़ देता है। आहार का परित्याग करके निरन्तर आत्म-चिन्तन में लीन रहता है। जहां वह जीवन की इच्छा का परित्याग कर देता है, वहां यह भी नहीं चाहता कि मृत्यु शीघ्र आ जाए। जीवन और मृत्यु, सुख और दुख सबके प्रति समभाव रखता हुआ समय आने पर शान्त चित्त से स्थूल शरीर को छोड़ देता है। श्रावक की इस दिनचर्या का वर्णन उपासकदशाङ्ग सूत्र के प्रथम आनन्द नामक अध्ययन में है।

अब हम संक्षेप में इन व्रतों का निरूपण करेंगे। प्रत्येक व्रत का प्रतिपादन दो भागों में विभक्त है। पहला भाग विधान के रूप में है। जहां साधक अपनी व्यवहार मर्यादा का निश्चय करता है उस मर्यादा को संकुचित करना उसकी अपनी इच्छा एवं उत्साह पर निर्भर है किन्तु मर्यादा से आगे बढ़ने पर व्रत टूट जाता है। दूसरे भाग में उन दोषों का प्रतिपादन किया गया है जिनकी सम्भावना बनी रहती है और कहा गया है कि श्रावक को उन्हें जानना चाहिए किन्तु आचरण न करना चाहिए। श्रावक के लिए दिनचर्या के रूप में प्रतिक्रमण का विधान है। उसमें वह प्रतिदिन इन व्रतों एवं सम्भावित दोषों को स्मरण करता है, किसी प्रकार का दोष ध्यान में आने पर प्रायश्चित्त करता है और भविष्य में उनके निर्दोष पालन की घोषणा करता है। इन सम्भावित दोषों को अतिचार कहा गया है।

जैन शास्त्रों में व्रत के अतिक्रमण की चार कोटियां बताई गई हैं—

१. अतिक्रम—व्रत का उल्लंघन करने का मन में ज्ञात या अज्ञात रूप से विचार आना।
२. व्यतिक्रम—उल्लंघन करने के लिए प्रवृत्ति।
३. अतिचार—व्रत का आंशिक रूप में उल्लंघन।
४. अनाचार—व्रत का पूर्णतया टूट जाना।

अतिचार की सीमा वहां तक है जब कोई दोष अनजान में लग जाता है, जानबूझकर व्रत भंग करने पर अनाचार हो जाता है।

अहिंसा व्रत—

अहिंसा जैन परम्परा का मूल है। जैन धर्म और दर्शन का समस्त विकास इसी मूल तत्त्व को लेकर हुआ है। आचारांग सूत्र में भगवान महावीर ने घोषणा की है कि जो अरिहन्त भूतकाल में हो चुके हैं, जो वर्तमान में हैं तथा जो भविष्य में होंगे उन सबका एक ही कथन है, एक ही उपदेश है, एक ही प्रतिपादन है तथा एक ही उद्घोष या स्वर है कि विश्व में जितने प्राणी, भूत, जीव या सत्व हैं,

किसी को नहीं मारना चाहिए। किसी को नहीं सताना चाहिए। किसी को कष्ट या पीड़ा नहीं देनी चाहिए। जीवन के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन समता के आधार पर करते हुए उन्होंने कहा, जब तुम किसी को मारना, सताना या पीड़ा देना चाहते हो तो उसके स्थान पर अपने को रखकर सोचो, जिस प्रकार यदि कोई तुम्हें मारे या कष्ट देवे तो अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार दूसरे को भी अच्छा नहीं लगता। उसी सूत्र में भगवान् ने फिर कहा है—अरे मानव ! अपने आपसे युद्ध कर, बाह्य युद्धों से कोई लाभ नहीं।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अहिंसा के दो रूप उपस्थित किए। एक बाह्य रूप जिसका अर्थ है किसी प्राणी को कष्ट न देना। दूसरा आभ्यन्तर रूप है जिसका अर्थ है किसी के प्रति दुर्भावना न रखना, किसी का बुरा न सोचना।

दशवैकालिक सूत्र में धर्म को उत्कृष्ट मंगल बताया है। इसका अर्थ है जो आदि, मध्य तथा अन्त में तीनों अवस्थाओं में मंगल रूप है वह धर्म है। साथ ही उसके तीन अंग बताए गए हैं—१. अहिंसा, २. संयम, ३. तप। वास्तव में देखा जाए तो संयम और तप अहिंसा के ही दो पहलू हैं। संयम का सम्बन्ध बाह्य प्रवृत्तियों के साथ है और तप का आन्तरिक मलिनताओं या कुसंस्कारों के साथ। श्रावक के अणुव्रतों तथा शिक्षाव्रतों का विभाजन इन्हीं दो रूपों को सामने रखकर किया गया है। संयम और तप की पूर्णता के रूप में ही मुनियों के लिए एक ओर महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि उनकी सहायक क्रियाओं का विधान है और दूसरी ओर बाह्य आभ्यन्तर अनेक प्रकार की तपस्याओं का विधान है। पांच महाव्रतों में भी वस्तुतः देखा जाए तो सत्य और अस्तेय, बाह्य अहिंसा अर्थात् व्यवहार के साथ सम्बन्ध रखते हैं, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आन्तरिक अहिंसा अर्थात् विचार के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

व्यास ने पातञ्जल योग के भाष्य में कहा है—“अहिंसा भूतानामनभिद्रोहः।” द्रोह का अर्थ है ईर्ष्या या द्वेष बुद्धि। उसमें मुख्यतया विचार पक्ष को सामने रखा गया है, जैन दर्शन विचार और व्यवहार दोनों पर बल देता है।

जैन दर्शन का सर्वस्व स्याद्वाद है, वह विचारों की अहिंसा है। इसका अर्थ है व्यक्ति अपने विचारों को जितना महत्व देता है दूसरों के विचारों को भी उतना दे, असत्य सिद्ध होने पर अपने विचारों को छोड़ने पर तैयार रहे और सत्य सिद्ध होने पर दूसरे के विचारों का भी स्वागत करे। जैन दर्शन का कथन है कि व्यक्ति अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोणों को भी उपस्थित करते हैं। वे दृष्टिकोण मिथ्या नहीं होते किन्तु सापेक्ष होते हैं। परिस्थिति तथा समय के अनुसार उनमें से किसी एक का चुनाव किया जाता है। इस चुनाव को द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है।

उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थसूत्र' में हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा है—“प्रभक्तयोगात्

प्राणव्यपरोपणं हिंसा।” इस व्याख्या के दो भाग हैं, पहला भाग है—“ प्रमत्तयोगात्।” योग का अर्थ है मन, वचन और काया की प्रवृत्ति। प्रमत्त का अर्थ है—प्रमाद से युक्त। प्रमाद पांच हैं—

१. मद्य—अर्थात् ऐसी वस्तुएं जिनसे मनुष्य की विवेक शक्ति कुण्ठित हो जाती है।
२. विषय—रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रियों के विषय, जिनके आकर्षण में पड़कर मनुष्य अपने हिताहित को भूल जाता है।
३. कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ आदि मनोवेग जो मनुष्य को पागल बना देते हैं।
४. निद्रा—आलस्य या अकर्मण्यता।
५. विकथा—स्त्रियों के सौन्दर्य, देश-विदेश की घटनाएं, भोजन सम्बन्धी स्वाद तथा राजकीय उथल-पुथल आदि के सम्बन्ध में व्यर्थ की चर्चाएं करते रहना। प्रमाद की अवस्था में मन, वचन और शरीर की ऐसी प्रवृत्ति करना जिससे दूसरे के प्राणों पर आघात पहुंचे यह हिंसा है। इसका अर्थ है यदि गृहस्थ हित बुद्धि से प्रेरित होकर कोई कार्य करता है और उससे दूसरे को कष्ट पहुंचता है तो वह हिंसा नहीं है।

उपरोक्त व्याख्या में ‘प्राण’ शब्द अत्यन्त व्यापक है। जैन शास्त्रों में प्राण के दस भेद हैं, पांच इन्द्रियों के पांच प्राण हैं, मन, वचन, काया के तीन, श्वासोच्छ्वास और आयु। इनका व्यपरोपण दो प्रकार से होता है, आघात द्वारा तथा प्रतिबन्ध द्वारा। दूसरे को ऐसी चोट पहुंचाना जिससे देखना या सुनना बन्द हो जाए आघात है। उसकी स्वतंत्र प्रवृत्तियों में बाधा डालना प्रतिबन्ध है। दूसरे के स्वतंत्र चिन्तन, भाषण अथवा यातायात में रुकावट डालना भी प्रतिबन्ध के अन्तर्गत है और हिंसा है। दूसरे की खुली हवा को रोकना, उसे दूषित करना, श्वासोच्छ्वास पर प्रतिबन्ध है।

यहां यह प्रश्न होता है कि जहां एक नागरिक अपनी स्वतंत्र प्रवृत्तियों के कारण दूसरे नागरिक के रहन-सहन एवं सुख-सुविधा में बाधा डालता है, उसके वैयक्तिक जीवन में हस्तक्षेप करता है, चोरी, डकैती तथा अन्य अपराधों द्वारा शान्ति भंग करता है क्या उस पर नियंत्रण करना आवश्यक है? यहीं साधु और श्रावक की चर्या में अन्तर हो जाता है। साधु किसी पर हिंसात्मक नियंत्रण नहीं करता, वह अपराधी को भी उसके कल्याण की बुद्धि से उपदेश द्वारा समझाता है, उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहता। इसके विपरीत श्रावक को इस बात की छूट रहती है कि वह अपराधी को दण्ड दे सकता है। नागरिक जीवन में बाधा डालने वाले पर यथोचित नियन्त्रण रख सकता है।

साधु और श्रावक की अहिंसा में एक बात का अन्तर और है। जैन धर्म के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियों में भी जीव हैं और उन्हें स्थावर कहा गया है। दूसरी ओर, चलने वाले जीवों को त्रस कहा गया है।

साधु अपने लिए भोजन बनाना, पकाना, मकान बनाना, आदि कोई प्रवृत्ति नहीं करता, वह भिक्षा पर निर्वाह करता है। इसके विपरीत श्रावक अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए मर्यादित रूप में

प्रवृत्तियां करता है और उनमें पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि स्थावर जीवों की हिंसा होती ही रहती है। उस सूक्ष्म हिंसा का उसे त्याग नहीं होता। वह केवल स्थूल अर्थात् ब्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता है। इस प्रकार श्रावक की चर्या में दो छूटें हैं। पहली अपराधी को दंड देने की और दूसरी सूक्ष्म हिंसा की। इसी आधार पर श्रावक के व्रतों को सागारी अर्थात् छूट वाले कहा जाता है, इसके विपरीत साधु को अनगार कहा जाता है।

अहिंसा का विध्यात्मक रूप—

अहिंसा को जीवन में उतारने के लिए मैत्री भावना का विधान किया गया है। श्रावक प्रतिदिन यह घोषणा करता है—मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें, मेरी सब से मित्रता है, किसी से वैर नहीं है। इस घोषणा में श्रावक सर्वप्रथम स्वयं क्षमा प्रदान करता है और कहता है कि मुझसे किसी को डरने की आवश्यकता नहीं है, मैं सबको अभय प्रदान करता हूँ। दूसरे वाक्य द्वारा वह अन्य प्राणियों से क्षमा-याचना करता है और स्वयं निर्भय होना चाहता है। वह ऐसे जीवन की कामना करता है जहां वह शोषक न बने और न शोषित, न भयोत्पादक बने और न भयभीत और न त्रासक बने और न ब्रस्त, न उत्पीड़क बने और न पीड़ित। तीसरे चरण में मैं वह सबसे मित्रता की घोषणा करता है। अर्थात् सबको समता की दृष्टि से देखता है। मित्रता का मूल आधार है प्रतिदान की आशा न रखते हुए दूसरे को अधिक-से-अधिक प्रदान करने की भावना। एक मित्र को दूसरे मित्र की सुख-सुविधा, आवश्यकता का जितना ध्यान रहता है, उतना अपना नहीं रहता। इसके विपरीत जब अपनी सुख-सुविधा के लिए दूसरे का हक छीनने की भावना आ जाती है तभी शत्रुता का मिश्रण होने लगता है। मित्रता की घोषणा द्वारा श्रावक अन्य सब प्राणियों का हितैषी एवं रक्षक बनने की प्रतिज्ञा करता है। चौथा चरण है, मेरा किसी से वैर नहीं है। वह कहता है—ईर्ष्या, द्वेष, मनोमालिन्य आदि शत्रुता के जितने कारण हैं, मैं उन सबको धो चुका हूँ और शुद्ध एवं पवित्र हृदय लेकर विश्व के सामने उपस्थित होता हूँ। जो व्यक्ति कम-से-कम वर्ष में एक बार इस प्रकार घोषणा नहीं करता, उसे अपने आपको जैन कहने का अधिकार नहीं है। यदि प्रत्येक व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र इस घोषणा को अपना ले तो विश्व की अनेक समस्याएं सुलझ जाएं।

अहिंसा और कायरता—

अहिंसा पर प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि यह कायरता है। शत्रु के सामने आने पर जो व्यक्ति संघर्ष की हिम्मत नहीं रखता, वही अहिंसा को अपनाता है, किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। कायर वह होता है जो मन में प्रतिकार की भावना होने पर भी डरकर प्रत्याक्रमण नहीं करता है, ऐसे व्यक्ति का आक्रमण न करना या शत्रु के सामने झुक जाना अहिंसा नहीं है, वह तो आक्रमण से भी बड़ी हिंसा है। महात्मा गांधी का कथन है कि आक्रामक या क्रूर व्यक्ति विचारों में परिवर्तन होने पर अहिंसक बन सकता है किन्तु कायर के लिए अहिंसक बनना असम्भव है। अहिंसा की पहली शर्त

शत्रु के प्रति मित्रता या प्रेम भावना है। छोटा बालक बहुत सी वस्तुएं तोड़-फोड़ डालता है, माता को उससे परेशानी होती है, किन्तु वह मुस्कराकर टाल देती है। बालक के भोलेपन पर उसका प्रेम और भी बढ़ जाता है। मित्रता या प्रेम की यह पहली शर्त है कि दूसरे द्वारा हानि पहुंचाने पर क्रोध नहीं आता प्रत्युत उपस्थित किए गए कष्टों, झंझटों तथा हानियों से संघर्ष करने में अधिकाधिक आनन्द आता है। अहिंसक शत्रु से डरकर क्षमा नहीं करता, किन्तु उसकी भूल को दुर्बलता समझकर क्षमा करता है।

अहिंसा की इस भूमि पर विरले ही पहुंचते हैं। जो व्यक्ति पूर्णतया अपरिग्रही हैं, अर्थात् जिन्हें धन-सम्पत्ति, मान-अपमान तथा अपने शरीर में भी ममत्व नहीं है, जो समस्त स्वार्थों को त्याग चुके हैं वे ही ऐसा कर सकते हैं। दूसरों के लिए अहिंसा ही दूसरी कोटि है कि निरपराध को दण्ड न दिया जाए किन्तु अपराधी का दमन करने के लिए हिंसा का प्रयोग किया जा सकता है। उसमें भी अपराधी को सुधारने या उसके कल्याण की भावना रहनी चाहिए, उसे नष्ट करने की नहीं। द्वेष-बुद्धि जितनी कम होगी व्यक्ति उतना ही अहिंसा की ओर अग्रसर कहा जाएगा।

भारतीय इतिहास में अनेक जैन राजा, मन्त्री, सेनापति तथा बड़े-बड़े व्यापारी हो चुके हैं। समस्त प्रवृत्तियां करते हुए भी वे जैन बने रहे। उनके उदाहरण इस बात को सिद्ध करते हैं कि प्रवृत्तिमय जीवन में भी अहिंसा का पालन किया जा सकता है।

श्रावक अपने प्रथम अणुव्रत में यह निश्चय करता है कि मैं निरपराध त्रस जीवों की हिंसा नहीं करूंगा अर्थात् उन्हें जान-बूझकर नहीं मारूंगा। इस व्रत के पांच अतिचार हैं जिनकी तत्कालीन श्रावक के जीवन में सम्भावना बनी रहती थी। वह इस प्रकार हैं—

१. बन्ध—पशु तथा नौकर-चाकर आदि आश्रित जनों को कष्टदायी बन्धन में रखना। यह बन्धन शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि अनेक प्रकार का हो सकता है।
२. वध—उन्हें बुरी तरह पीटना।
३. अविच्छेद—उनके हाथ, पांव आदि अंगों को काटना।
४. अतिभार—उन पर अधिक बोझ लादना। नौकरों से अधिक काम लेना भी अतिभार है।
५. भक्तपानविच्छेद—उन्हें समय पर भोजन, पानी न देना। नौकर को समय पर वेतन न देना जिससे उसे तथा उसके घरवालों को कष्ट पहुंचे।

इन पांच अतिचारों से ज्ञात होता है कि श्रावक संस्था का विकास मुख्यता वैश्य वर्ग में हुआ था। कृषि, गोपालन तथा वाणिज्य उनका मुख्य धन्धा था। आनन्द के अध्ययन में इन तीनों का विस्तृत वर्णन है। भगवान् महावीर के गृहस्थ अनुयायियों में राजा, सेनापति तथा अन्य आयुध-जीवी भी सम्मिलित थे। किन्तु महावीर का मुख्य लक्ष्य मध्यवर्ग था। उनके मतानुसार स्वस्थ समाज की रचना ऐसा वर्ग ही कर सकता है जो न स्वयं दूसरे का शोषण करता है और न दूसरे के शोषण का

लक्ष्य बनता है। तत्कालीन समाज में ब्राह्मण और क्षत्रिय शोषक थे। एक बुद्धि द्वारा शोषण करता था दूसरा शस्त्र-द्वारा। दोनों परस्पर मिलकर समाज पर आधिपत्य जमाए हुए थे। दूसरी ओर शूद्रों का शोषितवर्ग था, उन्हें सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं था। दूसरों की सेवा करना और दूसरों द्वारा दिए गए बचे-खुचे भोजन तथा फटे-पुराने वस्त्रों पर निर्वाह करना ही एकमात्र धर्म था। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा शूद्र महावीर के श्रमण संघ में सम्मिलित होकर एक सरीखे हो गए, उनका परस्पर भेद समाप्त हो गया और सर्व-साधारण के वन्दनीय बन गए। किन्तु जहां तक गृहस्थ जीवन का प्रश्न है, महावीर ने वैश्य-समाज को सामने रखा और वह परम्परा अब तक चली आ रही है।

सत्य व्रत—

श्रावक का दूसरा व्रत मृषावाद-विरमण अर्थात् असत्य भाषण का परित्याग है। उमास्वाति ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'असदभिधानमनृतम्'। असद् के तीन अर्थ हैं—(१) असत् अर्थात् जो बात नहीं है उसका कहना। (२) बात जैसी है उसे वैसी न कहकर दूसरे रूप में कहना, एक ही तथ्य को ऐसे रूप में भी उपस्थित किया जा सकता है जिससे सामने वाला नाराज हो जाए। सत्यवादी का कर्तव्य है कि दूसरे के सामने वस्तु को वास्तविक रूप में रखे, उसे बनाने या बिगाड़ने का प्रयत्न न करे। (३) इसका अर्थ है असत्-बुराई या दुर्भावना को लेकर किसी से कहना। यह दुर्भावना दो प्रकार की है (१) स्वार्थ सिद्धि मूलक—अर्थात् अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दूसरे को गलत बात बताना। (२) द्वेषमूलक—दूसरे को हानि पहुंचाने की भावना।

इस व्रत का मुख्य सम्बन्ध भाषण के साथ है। किन्तु दुर्भावना से प्रेरित मानसिक चिन्तन तथा कायिक व्यापार भी इसमें आ जाते हैं।

सत्य की श्रेष्ठता के विषय में दो वाक्य मिलते हैं। पहला उपनिषदों में है—'सत्यमेव जयते नानृतं' अर्थात् सत्य की जीत होती है, झूठ की नहीं। दूसरा वाक्य जैन-शास्त्रों में मिलता है 'सच्चं लोगमि सारभूयं' अर्थात् सत्य ही लोक में सारभूत है। इन दोनों में भेद बताते हुए काका कालेलकर ने लिखा है कि प्रथम वाक्य में हिंसा मिली हुई है, जीत में हारने वाले की हिंसा छिपी हुई है, अहिंसक मार्ग तो वह है जहां शत्रु और मित्र दोनों की जीत होती है। हार किसी की नहीं होती। दूसरा वाक्य यह बताता है कि सत्य ही विश्व का सार है, उसी पर दुनिया टिकी हुई है। जिस प्रकार गन्ने का मूल्य उसके सार अर्थात् रस पर आश्रित है, इसी प्रकार जीवन का मूल्य सत्य पर आधारित है, यहां जीत और हार का प्रश्न नहीं है।

उपनिषदों में सत्य को ईश्वर का रूप बताया गया है और उसे लक्ष्य में रखकर अभय अर्थात् अहिंसा का उपदेश दिया गया है। जैन धर्म आचार प्रधान है अतः अहिंसा को सामने रखकर उस पर सत्य की प्रतिष्ठा करता है।

श्रावक अपने सत्य व्रत में स्थूल-मृषावाद का त्याग करता है। उन दिनों स्थूल मृषावाद के जो रूप थे यहां उनकी गणना की गई है। वे इस प्रकार हैं—

१. कन्यालीक—वैवाहिक सम्बन्ध के समय कन्या के विषय में झूठी बातें कहना। उसकी आयु, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि के विषय में दूसरे को धोखा देना। इस असत्य के परिणामस्वरूप वर तथा कन्यापक्ष में ऐसी कटुता आ जाती है कि कन्या का जीवन दूभर हो जाता है।

२. गवालीक—गाय, भैंस आदि पशुओं का लेन-देन करते समय झूठ बोलना। वर्तमान समय को लक्ष्य में रखकर कहा जाए तो क्रय-विक्रय सम्बन्धी सारा झूठ उसमें आ जाता है।

३. भूम्यलीक—भूमि के सम्बन्ध में झूठ बोलना।

४. स्थापनामृषा—किसी की धरोहर या गिरवी रखी हुई वस्तु के लिए झूठ बोलना।

५. कूटसाक्षी—लोभ में आकर झूठी साक्षी देना। उपरोक्त पांचों बातें व्यवहार शुद्धि से सम्बन्ध रखती हैं और स्वस्थ समाज के लिए इनका परिहार आवश्यक है। इस व्रत के पांच अतिचार निम्नलिखित हैं—

(१) सहसाभ्याख्यान—बिना विचारे किसी पर झूठा आरोप लगाना।

(२) रहस्याभ्याख्यान—आपस में प्रीति टूट जाए, इस ख्याल से एक-दूसरे की चुगली खाना, या किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना।

(३) स्वदार-मन्त्रभेद—पति द्वारा पत्नी की और पत्नी द्वारा पति की गुप्त बातों को प्रकट करना।

(४) मिथ्योपदेश—सच्चा-झूठा समझाकर किसी को उल्टे रास्ते डालना।

(५) कूट-लेखक्रिया—मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढ़ी करना तथा खोटा सिक्का चलाना आदि।

तत्त्वार्थ सूत्र में सहसाभ्याख्यान के स्थान पर न्यासापहार है, इसका अर्थ है किसी की धरोहर रखकर इन्कार कर जाना।

अचौर्य व्रत—

श्रावक का तीसरा व्रत अचौर्य है। वह स्थूल चोरी का त्याग करता है। इसके नीचे लिखे रूप हैं—

दूसरे के घर में सेंध लगाना, ताला तोड़ना या अपनी चाबी लगाकर खोलना, बिना पूछे दूसरे की गांठ खोलकर चीज निकालना, यात्रियों को लूटना अथवा डाके मारना।

इस व्रत के पांच अतिचार नीचे लिखे अनुसार हैं—

१. स्तेनाहृत—चोर के द्वारा लाई गई चोरी की वस्तु खरीदना या घर में रखना।

२. तस्कर-प्रयोग—आदमी रखकर चोरी, डकैती, ठगी आदि कराना।

३. विरुद्धराज्यातिक्रम—भिन्न-भिन्न राज्य वस्तुओं के आयात-निर्यात पर कुछ प्रतिबन्ध लगा

देते हैं अथवा उन पर कर आदि की व्यवस्था कर देते हैं, ऐसे राज्य के नियमों का उल्लंघन करना विरुद्धराज्यातिक्रम-है।

४. कूटतुला-कूटमान—नाप तथा तोल में बेईमानी।

५. तत्परिरूपक-व्यवहार—वस्तु में मिलावट या अच्छी वस्तु दिखाकर बुरी वस्तु देना।

सत्य तथा अचौर्य व्रत के अतिचारों का व्यापार तथा व्यवहार में कितना महत्वपूर्ण स्थान है यह बताने की आवश्यकता नहीं।

स्वदार-सन्तोष व्रत—

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है। इसमें वह परायी स्त्री के साथ सहवास का परित्याग करता है और अपनी स्त्री के साथ उसकी मर्यादा स्थिर करता है। यह व्रत सामाजिक सदाचार का मूल है, और वैयक्तिक विकास के लिए भी अत्यावश्यक है। इसके पांच अतिचार निम्न हैं—

१. इत्वारिक परिगृहीतागमन—ऐसी स्त्री के साथ सहवास करना जो कुछ समय के लिए ग्रहण की गई हो। भारतीय संस्कृति में विवाह-सम्बन्ध समस्त जीवन के लिए होता है, ऐसी स्त्री भोग और त्याग दोनों में सहयोग देती है, जैसा कि आनन्दादि श्रावकों की पत्नियों के जीवन से सिद्ध होता है। इसके विपरीत जो स्त्री कुछ समय के लिए अपनाई जाती है वह भोग के लिए होती है, जीवन के उत्थान में सहायक नहीं हो सकती। श्रावक को ऐसी स्त्री के पास गमन नहीं करना चाहिए।

२. अपरिगृहीतागमन—वेश्या आदि के साथ सहवास।

३. अनंगक्रीडा—अप्राकृतिक मैथुन अर्थात् सहवास के प्राकृतिक अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से सहवास करना।

४. परविवाहकरण—दूसरों का परस्पर सम्बन्ध कराना।

५. कामभोग-तीव्राभिलाष—विषय-भोग तथा काम-वासना में तीव्र आसक्ति।

परविवाहकरण अतिचार होने पर भी श्रावक के लिए उसकी मर्यादा निश्चित है, अपनी सन्तान तथा आश्रित-जनों का विवाह करना उसका उत्तरदायित्व है। इसी प्रकार पशु-धन रखने वाले को गाय, भैंस आदि पशुओं का सम्बन्ध भी कराना पड़ता है, श्रावक को इसकी छूट है।

परिग्रह-परिमाण व्रत—

इसका अर्थ है श्रावक को धन-सम्पत्ति की मर्यादा निश्चित करनी चाहिए और उससे अधिक सम्पत्ति नहीं रखनी चाहिए। सम्पत्ति हमारे जीवन निर्वाह का एक साधन है। साधन वहीं तक उपादेय होता है जहां तक वह अपने साध्य की पूर्ति करता है, यदि सम्पत्ति सुख के स्थान पर दुखों का कारण बन जाती है और आत्मविकास को रोकती है तो हेय हो जाती है। इसीलिए साधु सम्पत्ति का सर्वथा त्याग करता है और भिक्षा पर जीवन निर्वाह करता है। वहां साधु वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों के साथ

ही अपने शरीर के प्रति भी ममत्व नहीं करता। श्रावक भी उसी लक्ष्य को आदर्श मानता है किन्तु लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मर्यादित सम्पत्ति रखता है।

वर्तमान मानव भौतिक विकास को अपना लक्ष्य मान रहा है। वह 'स्व' के लिए सम्पत्ति के स्थान पर सम्पत्ति के लिए 'स्व' को मानने लगा है। भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए समस्त आध्यात्मिक गुणों को तिलांजलि दे रहा है। परिणाम-स्वरूप तथाकथित विकास विभीषिका बन गया है। परिग्रह-परिमाण-व्रत इस बात की ओर संकेत करता है कि जीवन का लक्ष्य बाह्य सम्पत्ति नहीं है।

इस व्रत का महत्व एक अन्य दृष्टि से भी है। संसार में सोना, चांदी, भूमि, अन्न, वस्त्रादि सम्पत्ति कितनी भी हो, पर वह अपरिमित नहीं है। यदि एक व्यक्ति उसका अधिक संचय करता है तो दूसरे के साथ संघर्ष होना अनिवार्य है। इसी आधार पर राजाओं और पूंजीपतियों में परस्पर चिरकाल से संघर्ष चले आ रहे हैं, जिनका भयंकर परिणाम साधारण जनता भोगती आ रही है। वर्तमान युग में राजाओं और व्यापारियों ने अपने-अपने संगठन बना लिए हैं और उन संगठनों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती है। यह सब अनर्गल लालसा और सम्पत्ति पर किसी प्रकार की मर्यादा न रखने का परिणाम है। इसी असन्तोष की प्रतिक्रिया के रूप में रूस ने राज्य-क्रान्ति की और सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार को समाप्त कर दिया। दूसरी ओर भूपतियों की सत्ता लालसा और उसके परिणाम-स्वरूप होने वाले भयंकर युद्धों को रोकने वाले लोकतन्त्री शासन-पद्धति प्रयोग में लाई गई फिर भी समस्याएं नहीं सुलझीं। जब तक व्यक्ति नहीं सुधरता संगठनों से अपेक्षित लाभ नहीं मिल सकता। क्योंकि संगठन व्यक्तियों के समूह का ही नाम है। परिग्रह-परिमाण व्रत वैयक्तिक जीवन पर अंकुश रखने के लिए कहता है। इसमें नीचे लिखे नौ प्रकार के परिग्रह की मर्यादा का विधान है—

१. क्षेत्र—(खेत) अर्थात् उपजाऊ भूमि की मर्यादा।
२. वस्तु—मकान आदि।
३. हिरण्य—चांदी।
४. सुवर्ण—सोना।
५. द्विपद—दास, दासी।
६. चतुष्पद—गाय, भैंस, घोड़े आदि, पशु-धन।
७. धन—रुपये जैसे आदि सिक्के या नोट।
८. धान्य—अन्न, गेहूं, चावल आदि खाद्य-सामग्री।
९. कुप्य या गोप्य—तांबा, पीतल आदि अन्य धातुएं।

कहीं-कहीं हिरण्य में सुवर्ण के अतिरिक्त शेष सब धातुएं ग्रहण की गई हैं और कुप्य या गोप्य धन का अर्थ किया है—हीरे, माणिक्य, मोती आदि रत्न।

इस व्रत के अतिचारों में प्रथम आठ को दो दो की जोड़ी में इकट्ठा कर दिया गया है और नवें को अलग लिया गया है, इस प्रकार नीचे लिखे पांच अतिचार बताए गए हैं—

१. क्षेत्रवस्तु परिमाणातिक्रम २. हिरण्यमुवर्ण परिमाणातिक्रम ३. द्विपदचतुष्पद परिमाणातिक्रम
४. धन-धान्य परिमाणातिक्रम ५. कुप्य परिमाणातिक्रम।

दिशा-परिमाण व्रत—

पांचवें व्रत में सम्पत्ति की मर्यादा स्थिर की गई है। छठे दिशा-परिमाण व्रत में प्रवृत्तियों का क्षेत्र सीमित किया जाता है। श्रावक यह निश्चय करता है कि ऊपर, नीचे एवं चारों दिशाओं में निश्चित सीमा से आगे बढ़कर मैं कोई स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नहीं करूंगा। साधु के लिए क्षेत्र की मर्यादा का विधान नहीं है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति हिंसात्मक या स्वार्थमूलक नहीं होती। वह किसी को कष्ट नहीं पहुंचाता प्रत्युत् धर्म-प्रचारार्थ ही घूमता है। विहार अर्थात् धर्म-प्रचार के लिए घूमते रहना उसकी साधना का आवश्यक अंग है, किन्तु श्रावक की प्रवृत्तियां हिंसात्मक भी होती हैं अतः उनकी मर्यादा स्थिर करना आवश्यक है।

विभिन्न राज्यों में होने वाले संघर्षों को सामने रखकर विचार किया जाए तो इस व्रत का महत्व ध्यान में आ जाता है और यह प्रतीत होने लगता है कि वर्तमान युग में भी इसका कितना महत्व है। यदि विभिन्न राज्य अपनी-अपनी राजनीतिक एवं आर्थिक सीमाएं निश्चित कर लें तो बहुत से संघर्ष रुक जाएं। श्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रों में परस्पर व्यवहार के लिए पंचशील के रूप में जो आचार-संहिता बनाई है उसमें इस सिद्धान्त को प्रमुख स्थान दिया है कि कोई राज्य दूसरे के राज्य में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

इस व्रत के पांच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१. ऊर्ध्वदिशा में मर्यादा का अतिक्रमण।
२. अधोदिशा में मर्यादा का अतिक्रमण।
३. तिरछीदिशा—अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में मर्यादा का अतिक्रमण।
४. क्षेत्रवृद्धि—अर्थात् असावधानी या भूल में मर्यादा के क्षेत्र को बढ़ा लेना।
५. स्मृति अन्तर्धान—मर्यादा का स्मरण न रखना।

उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत—

सातवें व्रत में वैयक्तिक आवश्यकताओं पर नियंत्रण किया गया है। उपभोग का अर्थ है, भोजन-पानी आदि वस्तुएं जो एक बार ही काम में आती हैं। परिभोग का अर्थ है, वस्त्र, पात्र, शय्या आदि वस्तुएं जो अनेक बार काम में लाई जा सकती हैं। उपभोग और परिभोग शब्दों का उपरोक्त अर्थ भगवतीसूत्र शतक ७ उद्देशाक २ में तथा हरिभद्रीयावश्यक अध्ययन ६ सूत्र ७ में किया गया है।

उपासकदशांगसूत्र की अभयदेवीय टीका में उपरोक्त अर्थ के साथ विपरीत अर्थ भी दिया गया है अर्थात् एक बार काम में आने वाली वस्तु को उपभोग बताया गया है।

इस व्रत में दो दृष्टियां रखी गई हैं, भोग और कर्म। भोग की दृष्टि को लक्ष्य में रखकर २६ बातें गिनाई गई हैं जिनकी मर्यादा स्थिर करना श्रावक के लिए आवश्यक है, उनमें भोजन, स्नान, विलेपन, दन्तधावन, वस्त्र आदि समस्त वस्तुएं आ गई हैं। इनसे ज्ञात होता है कि श्रावक के जीवन में किस प्रकार का अनुशासन था, किस प्रकार वह अपने कार्य में जागरूक है। उनमें स्नान तथा दन्त-धावन आदि का स्पष्ट उल्लेख है। अतः जैनियों के गन्दे रहने का जो आरोप लगाया जाता है वह मिथ्या है। अपने आलस्य या अविवेक के कारण कोई भी गन्दा रह सकता है, वह जैन हो या अजैन, उसके लिए धर्म को दोष देना उचित नहीं है। दूसरी दृष्टि कर्म की अपेक्षा से है। श्रावक को ऐसे कर्म नहीं करने चाहिए जिनमें अधिक हिंसा हो, जैसे—कोयले बनाना, जंगल साफ करना, बैल आदि को नथना या खस्ती करना आदि। उसको ऐसे धन्धे भी नहीं करने चाहिए जिनसे अपराध या दुराचार की वृद्धि हो, जैसे—दुराचारिणी स्त्रियों की नियुक्ति करके वेश्यावृत्ति कराना, चोर, डाकुओं को सहायता देना आदि। इसके लिए १५ कर्मादान गिनाए गए हैं। उपरोक्त २६ बातों तथा १५ कर्मादानों के लिए प्रथम आनन्द नाम का अध्ययन देखना चाहिए।

अनर्थदण्ड-विरमण व्रत—

पांचवें व्रत में सम्पत्ति की मर्यादा की गई और छठे में सम्पत्ति या स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों की, सातवें में प्रतिदिन व्यवहार में आने वाली भोग्यसामग्री पर नियंत्रण किया गया, आठवें में हलचल या शारीरिक चेष्टाओं का अनुशासन है। श्रावक के लिए व्यर्थ की बातें करना, शेखी मारना, निष्प्रयोजन हाथ-पैर हिलाना वर्जित है। इसी प्रकार उन्हें अपनी धरेलू वस्तुएं व्यवस्थित रखनी चाहिए। ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे लाभ कुछ भी न हो और दूसरे को कष्ट पहुंचे। अनर्थ दण्ड अर्थात् निष्प्रयोजन हिंसा के चार रूप बताए गए हैं—

१. अपध्यानाचरित—चिंता या क्रूर विचारों के कारण होने वाली हिंसा। धन सम्पत्ति का नाश, पुत्र-स्त्री आदि प्रियजन का वियोग आदि कारणों से मनुष्य को चिन्ताएं होती रहती हैं किन्तु उनसे लाभ कुछ भी नहीं होता, किन्तु अपनी ही आत्मा निर्बल होती है। इसी प्रकार क्रूर या द्वेषपूर्ण विचार रखने पर भी कोई लाभ नहीं होता, ऐसे विचारों को अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड कहा गया है।

२. प्रमादाचरित—आलस्य या असावधानी के कारण होने वाली हिंसा। घी, तेल तथा पानी वाली खाद्य वस्तुओं को बिना ढके रखना तथा अन्य प्रकार की असावधानी इस श्रेणी में आ जाती है। यदि कोई व्यक्ति सड़क पर चलते समय, यात्रा करते समय या अन्य व्यवहार में दूसरे का ध्यान नहीं रखता और ऐसी चेष्टाएं करता है जिससे दूसरे को कष्ट पहुंचे ये सब प्रमादाचरित हैं।

३. हिंस्रप्रदान—दूसरे व्यक्ति को शिकार खेलने आदि के लिए शस्त्रास्त्र देना जिससे व्यर्थ ही

हिंसा के प्रति निमित्त बनना पड़े। हिंसात्मक कार्यों के लिए आर्थिक या अन्य प्रकार की सभी सहायता इसमें आ जाती है।

४. **पापकर्मोपदेश**—किसी मनुष्य या पशु को मारने, पीटने या तंग करने के लिए दूसरों को उभारना। बहुधा देखा गया है कि बालक बिना किसी द्वेष बुद्धि के किसी भिखमंगे या घायल-पशु को तंग करने लगते हैं, पास में खड़े दूसरे मनुष्य तमाशा देखने के लिए उन्हें उकसाते हैं, यह सब पापकर्मोपदेश है। इसी प्रकार चोरी, डकैती, वेश्यावृत्ति आदि के लिए दूसरों को प्रेरित करना और ऐसी सलाह देना इसी के अन्तर्गत है।

इस व्रत के पांच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१. **कंदर्प**—कामोत्तेजक चेष्टाएं या बातें करना।

२. **कौत्कुच्य**—भांडों के समान हाथ, पैर मटकाना, नाक, मुंह, आंख आदि से विकृत चेष्टाएं करना।

३. **मौखरिता**—मुखर अर्थात् वाचाल बनना। बढ़-बढ़कर बातें करना और अपनी शेखी मारना।

४. **संयुक्ताधिकरण**—हथियारों एवं हिंसक साधनों को आवश्यकता के बिना ही जोड़कर रखना।

५. **उपभोगपरिभोगातिरेक**—भोग्य-सामग्री को आवश्यकता से अधिक बढ़ाना।

वैभव प्रदर्शन के लिए मकान, कपड़े, फर्नीचर आदि का आवश्यकता से अधिक संग्रह करना इस अतिचार के अन्तर्गत है। इससे दूसरों में ईर्ष्या-वृत्ति उत्पन्न होती है और अपना जीवन उन्हीं की व्यवस्था में उलझ जाता है।

सामायिक व्रत—

छठे, सातवें और आठवें व्रत में व्यक्ति का बाह्य चेष्टाओं पर नियन्त्रण बताया गया। नवें से लेकर बारहवें तक चार व्रत आन्तरिक अनुशासन या शुद्धि के लिए हैं। इनका अनुष्ठान साधना के रूप में अल्प समय के लिए किया जाता है।

जिस प्रकार वैदिक परम्परा में संध्या वंदन तथा मुसलमानों में नमाज दैनिक कृत्य के रूप में विहित हैं उसी प्रकार जैन परम्परा में सामायिक और प्रतिक्रमण हैं। सामायिक का अर्थ है जीवन में समता को उतारने का अभ्यास। साधु का सारा जीवन सामायिक रूप होता है अर्थात् उसका प्रत्येक कार्य समता का अनुष्ठान है। श्रावक प्रतिदिन कुछ समय के लिए उसका अनुष्ठान करता है। समता का अर्थ है 'स्व' और 'पर' में समानता। जैन धर्म का कथन है, जिस प्रकार हम सुख चाहते हैं और दुख से घबराते हैं उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी चाहता है। हमें दूसरे के साथ व्यवहार करते समय उसके स्थान पर अपने को रखकर सोचना चाहिए, उसके कष्टों को अपना कष्ट, उसके सुख को अपना सुख मानना चाहिए। समता के इस सिद्धान्त पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति किसी की हिंसा नहीं करेगा। किसी को कठोर शब्द नहीं कहेगा और न किसी का बुरा सोचेगा। पहले बताया जा चुका है कि

व्यवहार में समता का अर्थ है अहिंसा, जो कि जैन आचार शास्त्र का प्राण है। विचार में समता का अर्थ है स्याद्वाद जो कि जैन दर्शन की आधार शिला है।

प्रतिक्रमण का अर्थ है वापिस लौटना। साधक अपने पिछले कृत्यों की ओर लौटता है, उनके भले-बुरे पर विचार करता है, भूलों के लिए पश्चात्ताप करता है और भविष्य में उनसे बचे रहने का निश्चय करता है। श्रावक और साधु दोनों के लिए प्रतिक्रमण का विधान है। इसका दूसरा नाम आवश्यक है अर्थात् यह एक आवश्यक दैनिक कर्तव्य है।

श्रावक के व्रतों में सामायिक का नवां स्थान है, किन्तु आत्म शुद्धि के लिए विधान किए गए चार व्रतों में इसका पहला स्थान है। इसके पांच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१. मनोदुष्प्रणिधान—मन में बुरे विचार लाना।
२. वचन दुष्प्रणिधान—वचन का दुरुपयोग, कठोर या असत्य भाषण।
३. काय दुष्प्रणिधान—शरीर की कुप्रवृत्ति।
४. स्मृत्यकरण—सामायिक को भूल जाना अर्थात् समय आने पर न करना।
५. अनवस्थितता—सामायिक को अस्थिर होकर या शीघ्रता में करना।

देशावकाशिक व्रत—

इस व्रत में श्रावक यथाशक्ति दिन-रात या अल्प समय के लिए साधु के समान चर्या का पालन करता है। सामायिक प्रायः दो घड़ी के लिए की जाती है और उसमें सारा समय धार्मिक अनुष्ठान में लगाया जाता है। उसमें खाना, पीना, नींद लेना आदि वर्जित हैं। इस व्रत में भोजन आदि वर्जित नहीं हैं, किन्तु उसमें अहिंसा का पालन आवश्यक है।

इस व्रत को देशावकाश कहा जाता है। अर्थात् इसमें साधक निश्चित काल के लिए देश या क्षेत्र की मर्यादा करता है, उसके बाहर किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता।

श्रावक के लिए चौदह नियमों का विधान है, अर्थात् उसे प्रतिदिन अपने भोजन, पान तथा अन्य प्रवृत्तियों के विषय में मर्यादा निश्चित करनी चाहिए, इससे जीवन में अनुशासन तथा दृढ़ता आती है। इस व्रत के निम्नलिखित पांच अतिचार हैं—

१. आनयनप्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मंगाने के लिए किसी को भेजना।
२. प्रेष्यप्रयोग—नौकर, चाकर आदि को भेजना।
३. शब्दानुपात—शाब्दिक संकेत द्वारा बाहर की वस्तु मंगाना।
४. रूपानुपात—हाथ आदि का इशारा करना।
५. पुद्गलप्रक्षेप—कंकर, पत्थर आदि फैककर किसी को संबोधित करना।

पौषधोपवास व्रत—

‘पौषध’ शब्द संस्कृत के उपवसथ शब्द से बना है। इसका अर्थ है धर्माचार्य के समीप या धर्म स्थान में रहना। आजकल इसी को उपाश्रय या पौषधशाला कहा जाता है। उपवसथ अर्थात् धर्म स्थान में निवास करते हुए उपवास करना पौषधोपवास व्रत है। यह दिन-रात अर्थात् आठ प्रहरों का होता है और अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों पर किया जाता है।

इस व्रत में नीचे लिखी वस्तुओं और बातों का त्याग किया जाता है—

१. भोजन, पानी आदि चारों प्रकार के आहारों का त्याग।
२. अंब्रह्मचर्य का त्याग।
३. आभूषणों का त्याग।
४. माला, तेल आदि सुगंधित द्रव्यों का त्याग।
५. समस्त सावद्य अर्थात् दोषपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग।

इसके पांच अतिचार निवास-स्थान की देख-रेख के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

अतिथि संविभाग व्रत—

संविभाग का अर्थ है अपनी सम्पत्ति या अपनी भोग्य वस्तुओं में विभाजन करना अर्थात् दूसरे को देना। अतिथि के लिए किया जाने वाला विभाजन अतिथि संविभाग है। वैदिक परम्परा में भी अतिथि सेवा गृहस्थ के प्रधान कर्तव्यों में गिनी गई है, किन्तु जैन परम्परा में अतिथि शब्द का अर्थ कुछ भिन्न है। यहां निर्दोष जीवन व्यतीत करने वाले विशिष्ट व्यक्तियों को ही अतिथि माना गया है। उन्हें भोजन, पानी, वस्त्र आदि देना अतिथि संविभाग व्रत है। इसके नीचे लिखे पांच अतिचार हैं—

१. सचित्त-निक्षेपण—साधु के ग्रहण करने योग्य निर्दोष आहार में कोई सचित्त वस्तु मिला देना जिससे वह ग्रहण न कर सके।

२. सचित्तपिधान—देने योग्य वस्तु को सचित्त वस्तु से ढक देना।

३. कालातिक्रम—भोजन का समय व्यतीत होने पर निमंत्रित करना।

४. परव्यपदेश—न देने की भावना से अपनी वस्तु को परायी बताना।

५. मात्सर्य—मन में ईर्ष्या या दुर्भावना रख कर दान देना।

जैन धर्म में अनुकम्पादान और सुपात्र दान का विशेष महत्व है। अनुकम्पा सम्यक्त्व का अंग है। इसका अर्थ प्रत्येक दुखी या अभावग्रस्त को देखकर उसके प्रति करुणा या सहानुभूति प्रगट करना और उसके दुख को दूर करने के लिए यथाशक्ति यथोचित सहायता देना अनुकम्पा में सम्मिलित है। इससे आत्मा में उदारता, मैत्री आदि सद्गुणों की वृद्धि होती है। साधु-संघ के आहार पानी तथा शारीरिक आवश्यकताओं का ध्यान रखना श्रावक का धर्म है। अतिथि-संविभाग व्रत उसी को प्रकट करता है।

ग्यारह प्रतिमाएं—

लम्बे समय तक व्रतों का पालन करता हुआ श्रावक पूर्ण त्याग की ओर अग्रसर होता है। उल्साह बढ़ने पर एक दिन कुटुम्ब का उत्तरदायित्व सन्तान को सौंप देता है और पौषधशाला में जाकर सारा समय धर्मानुष्ठान में बिताने लगता है। उस समय वह उत्तरोत्तर साधुता की ओर बढ़ता है। कुछ दिनों तक अपने घर से भोजन मंगाता है और फिर उसका भी त्याग करके भिक्षा पर निर्वाह करने लगता है। इन व्रतों को ग्यारह प्रतिमाओं के रूप में प्रकट किया गया है। प्रतिमा शब्द का अर्थ है सादृश्य। जब श्रावक साधु के सदृश्य होने के लिए प्रयत्नशील होता है तो उसे प्रतिमा कहा जाता है। इसकी विस्तृत चर्चा के लिए आनन्द नामक प्रथम अध्ययन देखना चाहिए।

संलेखना व्रत—

श्रमण परम्परा जीवन को अपने आप में लक्ष्य नहीं मानती। उसका कथन है कि साधना का लक्ष्य आत्मा का विकास है और जीवन उसका साधन मात्र है। जिस दिन यह प्रतीत होने लगे कि शरीर शिथिल हो गया है, वह सहायक होने के स्थान पर विघ्न-बाधाएं उपस्थित करने लगा है तो उस समय यह उचित है कि उसका परित्याग कर दे। इसी परित्याग को अंतिम संलेखना व्रत कहा है। इसमें श्रावक या साधु आहार का परित्याग करके धर्म-चिन्तन में लीन हो जाता है, न जीवन की आकांक्षा करता है न मृत्यु की, न यश की, न ऐहिक या पारलौकिक सुख की। धन, सम्पत्ति, परिवार, शरीर आदि सबसे अनासक्त हो जाता है। इस प्रकार आयुष्य पूरा होने पर शान्ति तथा स्थिरता के साथ देह का परित्याग करता है।

इस व्रत को आत्महत्या कहना भूल है। व्यक्ति आत्महत्या तब करता है जब किसी कामना को पूरी नहीं कर पाता और वह इतनी बलवती हो जाती है कि उसकी पूर्ति के बिना जीवन बोझ जान पड़ता है और उस बोझ को उतारे बिना शान्ति असम्भव प्रतीत होती है। आत्म-हत्या का दूसरा कारण उत्कट वेदना या मार्मिक आघात होता है। दोनों परिस्थितियां व्यक्ति की निर्बलता को प्रकट करती हैं। इसके विपरीत संलेखना त्याग की उत्कटता तथा हृदय की परम दृढ़ता को प्रकट करती है। जहां व्यक्ति बिना किसी कामना के शान्तिपूर्वक अपने आप जीवन का उत्सर्ग करता है। आत्महत्या निराशा तथा विवशता की पराकाष्ठा है, संलेखना वीरता का वह उदात्त रूप है जहां एक सिपाही हंसते-हंसते प्राणों का उत्सर्ग कर देता है। सिपाही में आवेश रहता है किन्तु संलेखना में वह भी नहीं होता।

इस व्रत के पांच अतिचार निम्नलिखित हैं—

१. धन, परिवार आदि इस लोक सम्बन्धी किसी वस्तु की आकांक्षा करना।
२. स्वर्ग के सुख आदि परलोक से संबंध रखने वाली किसी बात की आकांक्षा करना।
३. जीवन की आकांक्षा करना।
४. कष्टों से घबराकर शीघ्र मरने की आकांक्षा करना।
५. अतृप्त कामनाओं की पूर्ति के रूप में काम भोगों की आकांक्षा करना।

उपसंहार—

सम्यक्त्व से लेकर संलेखना तक जिन व्रतों का प्रतिपादन किया गया है वे एक आदर्श गृहस्थ की चर्या को प्रकट करते हैं। उपासकदशाङ्ग सूत्र के प्रथम अध्ययन में इन सबका वर्णन है। इस अध्ययन का कथा-नायक आनन्द है, जो आदर्श जैन श्रावक माना जाता है। शेष श्रावकों के लिए भी इन्हीं व्रतों का विधान किया गया है।

जैन धर्म आश्रम व्यवस्था को नहीं मानता, उसकी दृष्टि में यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति वृद्ध होने पर ही त्याग की ओर प्रवृत्त हो। फिर भी श्रावकों के जीवन में उस व्यवस्था की झांकी मिलती है। बारह व्रत गृहस्थ आश्रम को प्रकट करते हैं, प्रतिमाएं वानप्रस्थ आश्रम को और मुनि धर्म संन्यास को।

□□

आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी म० की श्रुत साधना

मानव का जीवन एक सतत प्रवाहशील सरिता के समान है। यह विराट विश्व उस प्रवाह की आधार भूमि है। विश्व के इस आधार तल में ही जीवन की सरिता का प्रवाह प्रवहमान रहता है। जीवन और जगत दर्शन-शास्त्र के मुख्य विषय हैं। जीवन क्या है, जगत क्या है, और उन दोनों में क्या सम्बन्ध है, दर्शन-शास्त्र का यही प्रतिपाद्य विषय रहा है। जीवन चिन्तन का पूर्वगामी धर्म है और जगत जीवन का आवश्यक आधार है। प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के अनुसार दार्शनिक सम्पूर्ण जगत का द्रष्टा है। यदि जीवन के भौतिक धर्मों के परिपालन की विवशता को दार्शनिक-जीवन की सीमा कहा जाए, तो उक्त धर्मों का पालन करते हुए भी विचार और चिन्तन द्वारा उनका संस्कार और उस संस्कार के द्वारा मानवी संस्कृति का विकास करने का प्रयास दार्शनिक की विशेषता है।

आचार्य सम्राट् श्रद्धेय श्री आत्मारामजी महाराज अपने युग के एक गंभीर दार्शनिक विद्वान थे। वे समाज और राष्ट्र के केवल द्रष्टा ही नहीं रहे, बल्कि प्रेरक भी रहे हैं। जीवन और जगत की समस्याओं का गम्भीर अध्ययन करके उन्होंने उनमें सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न भी किया था। जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों में समन्वय साधने का प्रयास उन्होंने किया था। अपने युग के प्रसुप्त मानव को झकझोर कर उन्होंने जागृत किया था और कहा था—*Stand up, be hold and be strong.* उठो, वीर बनो और सुदृढ़ होकर जीवन के समर में खड़े हो जाओ। इस संसार में विजेता वही बनता है, जो अपने व्यतीत अतीत पर आंसू नहीं बहाता। हम बहुत विलाप कर चुके हैं। अब रोना बन्द करो और अपने पैरों पर खड़े होकर सच्चा इन्सान बनने का प्रयत्न करो—*We have wept long enough, no more weeping, but stand on your feet and be men.*

आचार्य श्री जी अपने युग के एक महान् विद्वान और आगमों के व्याख्याकार थे। आगमों पर

सुन्दर, सरल और सरस भाषा में व्याख्या करके उन्होंने जनता का महान् उपकार किया है। स्वाध्याय प्रेमी जनों के लिए उन्होंने आगम के रहस्य को समझने के लिए एक सरल मार्ग बना दिया है। जो कुछ भी और जितना भी ज्ञान उन्होंने अपने गुरु से प्राप्त किया था, उसे अपने स्वयं के श्रम से पल्लवित करके जन-जन के जीवन की भूमि में उन्होंने उसे मुक्त हस्त बिखेर दिया था। कोई भी ज्ञान पिपासु उनके द्वार पर आकर प्यासा नहीं लौटता था। अतः आचार्य श्री जी अपने युग के एक प्रकाश स्तम्भ थे। उनका जीवन एक ज्योतिर्मय जीवन था, जिससे हजारों-हजार लोगों ने प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्राप्त की थी—*In him was a life and the life was the light of men.*

आचार्य श्री जी क्या थे? ज्ञान के सागर और शान्ति के अग्रदूत। वे अपने शान्ति के पथ पर निरंतर आगे ही बढ़ते रहे। संघ-हित में वे सदा अभय होकर अग्रसर होते रहे। संघ को वे व्यक्ति से अधिक पूज्य एवं श्रेष्ठ मानते थे। यही कारण है कि संघ सेवा में उन्होंने कभी प्रमाद नहीं किया।

आचार्य श्री जी का जीवन बाल्य काल से ही ज्ञान-साधना में संलग्न रहा। उन्होंने अपनी सहज एवं तीव्र बुद्धि से अल्प काल में ही संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश जैसी कठिन प्राचीन भाषाओं को सहज ही सीख लिया। प्राकृत भाषा पर तो आपका असाधारण अधिकार था। प्राकृत भाषा में आप निबन्ध भी लिखते रहते थे। स्थानकवासी समाज में प्राकृत, संस्कृत के अध्ययन की ओर सबसे पहले आपने ही ध्यान खींचा था। आगमों का गम्भीर और सर्वांगीण अध्ययन कर आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना के अतिरिक्त आपने अनेक आगमों की हिन्दी भाषा में व्याख्या कर स्वाध्याय प्रेमियों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। आज भी आपके सभी व्याख्या ग्रन्थ समाज में बड़े आदर के साथ पढ़े जाते हैं। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगम ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हो चुके हैं। आपकी व्याख्या शैली अत्यन्त सुन्दर, सरल और सरस होती है, जिससे साधारण पाठक भी लाभ उठा सकता है।

अब उपासकदशाङ्ग सूत्र का प्रकाशन हो रहा है। प्रस्तुत आगम में भगवान महावीर के दश प्रमुख श्रावकों के जीवन का सुन्दर वर्णन किया है। आनन्द श्रावक के जीवन में श्रावक के द्वादश व्रतों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। आशा है कि अन्य आगमों की भांति इसका प्रकाशन भी बहुत सुन्दर होगा। आचार्य श्री जी के अन्य आगम भी यथासम्भव शीघ्र ही प्रकाशित होने चाहिए। क्या ही अच्छा हो यदि आचार्य श्री जी के समस्त ग्रन्थों का नवीन शैली में सुन्दर प्रकाशन हो सके। इससे पाठकों का बड़ा हित होगा।

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने केवल श्रुत सेवा ही नहीं की, बल्कि समाज सेवा भी की है। पंजाब सम्प्रदाय के पहले वे उपाध्याय थे, फिर पंजाब संघ के आचार्य बने। सादड़ी सम्मेलन में सबने मिलकर उनको आचार्य पद पर आसीन किया था। श्रमण संघ के आचार्य पद पर रहकर आपने

जो संघ-सेवा की, वह सर्व विदित है। संघ को आपने एक सूत्र में बांधकर रखने का पूरा प्रयत्न किया। आप की संघ सेवा भी आपकी श्रुत-सेवा के समान सदा अजर-अमर रहेगी।

मेरे-स्नेही स्वामी श्री रत्न मुनि जी आचार्य श्री जी के ग्रन्थों का प्रकाशन कर रहे हैं। उनकी यह श्रुत-भक्ति आचार्य श्री जी की सच्ची सेवा होगी। श्री रत्नमुनि जी ने अपने तन से और अपने मन से आचार्य श्री जी की सेवा, भक्ति और उपासना की है, वह उनके जीवन की एक महान् विशेषता है। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वे अपने इस सेवा पथ पर अग्रसर होते रहेंगे और आचार्य श्री जी के अमूल्य ग्रन्थों का प्रकाशन कराकर समाज में से ज्ञान की अमर ज्योति को बुझने न देंगे।

विजय मुनि शास्त्री

जैन भवन,
लोहा मण्डी, आगरा

श्री उपासकदशाङ्ग सूत्र-संकेतिका

		पृष्ठ संख्या
१.	प्रस्तावना	१३
२.	आनन्द उपासक	प्रथम अध्ययन ७१
३.	कामदेव उपासक	द्वितीय अध्ययन १६७
४.	चुलनीपिता उपासक	तृतीय अध्ययन २३५
५.	सुरादेव उपासक	चतुर्थ अध्ययन २५४
६.	चुल्लशतक उपासक	पञ्चम अध्ययन २६१
७.	कुण्डकौलिक उपासक	षष्ठम अध्ययन २६७
८.	सद्दालपुत्र उपासक	सप्तम अध्ययन २८२
९.	महाशतक उपासक	अष्टम अध्ययन ३३१
१०.	नन्दिनीपिया उपासक	नवम अध्ययन ३५७
११.	सालिहीपिया उपासक	दशम अध्ययन ३६०
१२.	संग्रह गाथाएं	३६४
१३.	परिशिष्ट	३६६

उपासकदशांग-सूत्रम्

(उवासगदसाओ)

प्रथम अध्ययन

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं णयरी होत्था। वण्णओ। पुण्णभद्दे चेइए। वण्णओ ॥ १ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये चम्पा नाम नगरी आसीत्। वर्णकम्। पूर्णभद्रचैत्यम्। वर्णकम् ॥

शब्दार्थ—तेणं कालेणं—उस काल। तेणं समएणं—उस समय अर्थात् अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरे के अन्तिम समय में। चम्पा नामं णयरी—चंपा नाम की नगरी थी। वण्णओ—नगरी का वर्णन अन्यत्र वर्णित नगरी के समान समझ लेना चाहिए। पुण्णभद्दे चेइए—नगरी के बाहर पूर्णभद्र यक्ष का चैत्य था। वण्णओ—यक्ष चैत्य का वर्णन भी अन्य चैत्यों के समान ही है।

भावार्थ—उस समय अर्थात् प्रस्तुत अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरे के अन्त में चम्पा नाम की प्रसिद्ध नगरी थी। उसका वर्णन अन्य नगरियों के समान समझ लेना चाहिए। नगरी के बाहर पूर्णभद्र यक्ष का चैत्य था।

टीका—इस सूत्र में धर्मकथानुयोग का वर्णन है। अर्थ के रूप में आगम का प्रतिपादन तीर्थकर करते हैं। उसका सूत्र के रूप में गुम्फन गणधर करते हैं। समस्त आगम साहित्य चार अनुयोगों में विभक्त है। (१) चरणकरणानुयोग (२) धर्मकथानुयोग (३) गणितानुयोग तथा (४) द्रव्यानुयोग। प्रथम अनुयोग में ५ महाव्रत, १० श्रमणधर्म, १७ प्रकार के संयम, १० वैयावृत्य, ६ ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ, ज्ञानादि तीन रत्न, १२ प्रकार का तप तथा चार कषायों के निग्रह आदि का वर्णन है। ४ पिण्डविशुद्धियाँ, ५ समितियाँ, १२ भावनाएँ, १२ प्रतिमाएँ, ५ इन्द्रियों का निग्रह, २५ प्रकार की प्रतिलेखना, ३ गुप्तियाँ, ४ प्रकार के अभिग्रह भी चरणकरणानुयोग में आते हैं। आचाराङ्ग, आदि सूत्र इसी अनुयोग का प्रतिपादन करते हैं। धर्मकथानुयोग में ज्ञाताधर्मकथाङ्ग (नायाधम्मकहाओ), उपासकदशाङ्ग (उवासगदसाओ), अन्तकृद्दशांग (अन्तगडदसाओ), अनुत्तरोपपातिक (अणुत्तरोववाई), विपाक (विवाग), औपपातिक (उववाई), राजप्रश्नीय (रायप्पसेणीय), पांच निरयावलिकादि

(निरयावलिआओ) तथा उत्तराध्ययनादि आते हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जम्बूद्वीवपण्णत्ति), चन्द्रप्रज्ञप्ति (चंद्रपण्णत्ति) तथा सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरपण्णत्ति), गणितानुयोग विषयक हैं। सूत्रकृताङ्ग (सूयगडाङ्ग) स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग), (समवायाङ्ग), भगवती (विवाहपण्णत्ति), (जीवाभिगम), प्रज्ञापना (पण्णवणा), नन्दी तथा अनुयोगद्वार द्रव्यानुयोग का प्रतिपादन करते हैं। प्रस्तुत सूत्र में धर्म-कथानुयोग का वर्णन है। अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरक के अन्तिम भाग में चम्पा नाम की नगरी थी। उसके बाहर ईशान कोण में पूर्णभद्र नाम का चैत्य था। इन दोनों का वर्णन औपपातिक सूत्र के समान समझ लेना चाहिए। काल वह द्रव्य है जिसके कारण दिन, पक्ष, मास, वर्ष आदि का व्यवहार होता है अथवा समयों के समूह का नाम काल है और समय काल के अविभाज्य अंश को कहते हैं। पूर्णभद्र यक्ष के आयतन के कारण उक्त उद्यान का नाम पूर्णभद्र प्रसिद्ध हो गया।

जम्बू स्वामी का प्रश्न और प्रस्तुत सूत्र का निर्देश—

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्ज सुहम्मे समोसरिए, जाव जम्बू पज्जुवासमाणे एवं वयासी—“जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं छट्ठस्स अंगस्स नायाधम्मकहाणं अयमट्ठे पण्णत्ते, सत्तमस्स णं भंते ! अंगस्स उवासगदसाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ?”

एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव सम्पत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता। तं जहा—आणंदे १, कामदेवे २, गाहावइचुलणीपिया ३, सुरादेवे ४, चुल्लसयए ५, गाहावइकुंडकोलिए ६, सद्दालपुत्ते ७, महासयए ८, नन्दिणीपिया ९, सालिहीपिया १०।

जइ णं, भंते ! समणेणं जाव सम्पत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, पढमस्स णं भंते ! समणेणं जाव सम्पत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? ॥ २ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये आर्यसुधर्मा समवसृतः। यावत् जम्बूः पर्युपासीनः एवमवादीत्—यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन भगवता महावीरेण यावत् सम्प्राप्तेन षष्ठस्य अंगस्य ज्ञाताधर्मकथानाम् अयमर्थः प्रज्ञप्तः सप्तमस्य खलु भदन्त ! अंगस्य उपासकदशानां श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ? एवं खलु जम्बू ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन सप्तमस्य अंगस्य उपासकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा—आनन्दः, कामदेवश्च, गाथापतिश्चुलिनीपिता, सुरादेवः, चुल्लशतकः, गाथापति कुण्डकौलिकः, सद्दालपुत्रः, महाशतकः, नन्दिनीपिता, शालिहीपिता च।

यदि खलु भदन्त ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन सप्तमस्य अंगस्य उपासकदशानां दश अध्ययनानि प्रज्ञप्तानि, प्रथमस्य खलु भदन्त ! श्रमणेन यावत् सम्प्राप्तेन कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ?

शब्दार्थ—तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय, अज्ज सुहम्मे—आर्य सुधर्मा स्वामी, समोसरिए—चम्पा नगरी में आये, जाव—यावत्, जम्बू पज्जुवासमाणे—जम्बू स्वामी ने उनकी उपासना करते हुए, एवं वयासी—यह कहा—जइ णं भन्ते !—हे भदन्त ! यदि, समणेणं भगवया महावीरेणं जाव सम्पत्तेणं—श्रमण भगवान् महावीर ने यावत् जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, छट्ठस्स अंगस्स नायाधम्मकहाणं—ज्ञाताधर्मकथा नामक छठे अङ्ग का, अयमट्ठे पण्णत्ते—यह अर्थ कहा है तो, सत्तमस्स णं भन्ते ! अंगस्स उवासगदसाणं—हे भगवन् ! उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग का, समणेणं जाव संपत्तेणं—मोक्ष स्थित श्रमण भगवान् महावीर ने, के अट्ठे पण्णत्ते—क्या अर्थ बताया है ? एवं खलु जम्बू ! हे जम्बू ! इस प्रकार, समणेणं जाव सम्पत्तेणं—मोक्षस्थित श्रमण भगवान् महावीर ने, सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं—उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग के, दस अज्जयणा पण्णत्ता—दश अध्ययन कहे हैं, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—आणंदे—आनन्द, कामदेवे य—और कामदेव, गाहावइचुलिणीपिया—गाथापति चुलिनीपिता, सुरादेवे—सुरादेव, चुल्लसयए—चुल्लशतक, गाहावइकुण्डकोलिए—गाथापति कुण्डकौलिक, सद्दालपुत्ते—सद्दालपुत्र, महासयए—महाशतक, नन्दिणीपिया—नन्दिणीपिता, सालिहीपिया—और सालिहीपिता ।

जइ णं भन्ते !—जम्बू स्वामी ने पूछा—हे भगवन् ! यदि, समणेणं जाव सम्पत्तेणं—मोक्ष प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने, सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं—सप्तम अंग उपासकदशा के, दस अज्जयणा पण्णत्ता—दस अध्ययन प्रतिपादन किये हैं, पढमस्स णं भन्ते !—तो हे भगवन् ! प्रथम अध्ययन का, समणेणं जाव सम्पत्तेणं—मोक्ष स्थित श्रमण भगवान् महावीर ने, के अट्ठे पण्णत्ते—क्या अर्थ प्रतिपादन किया है ?

भावार्थ—उस काल तथा उस समय आर्य सुधर्मा स्वामी चम्पा नगरी में आये । जम्बू स्वामी ने उनकी उपासना करते हुए पूछा—हे भगवन् ! मोक्ष प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने छठे अङ्ग ज्ञाताधर्मकथा का जो भाव बताया है उसे मैं सुन चुका हूँ । हे भगवन् ! मोक्ष स्थित श्रमण भगवान् महावीर ने सातवें अंग उपासकदशा का क्या भाव बताया है ? आर्य सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! मुक्ति प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने सातवें अङ्ग उपासकदशा के दस अध्ययन प्रतिपादित किये हैं । वे इस प्रकार हैं—१. आनन्द, २. कामदेव, ३. गाथापति चुलिनीपिता, ४. सुरादेव, ५. चुल्लकशतक, ६. गाथापति कुण्डकौलिक, ७. सद्दालपुत्र, ८. महाशतक, ९. नन्दिनीपिता और १०. सालिहीपिता ।

जम्बू स्वामी ने फिर पूछा—हे भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने सप्तम अङ्ग उपासकदशा

के दस अध्ययन निरूपित किये हैं तो प्रथम अध्ययन का क्या भाव बताया है ?

टीका—उन दिनों आर्य सुधर्मा स्वामी पूर्णभद्र नामक उद्यान में आये, उनके सुशिष्य आर्य जम्बू स्वामी ने उपासना करते हुए पूछा हे भगवन् ! श्रमण भगवान् ने ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र का जो वर्णन किया है वह मैंने सुन लिया, अब मुझे बताइये कि भगवान् ने सातवें अङ्ग उपासकदशाङ्ग का क्या अर्थ बताया है ? इस प्रश्न के उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने कहा—हे जम्बू ! भगवान् ने उपासकदशाङ्ग सूत्र में १० अध्ययनों का वर्णन किया है। आनन्द, कामदेव, गाथापति चुलिनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, गाथापति कुण्डकौलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता तथा शालिहीपिता।

सुधर्मा के साथ अज्ज (आर्य अथवा अर्य) विशेषण है उसका भाव निम्नलिखित है—“ ‘अज्ज’ इति अर्यते-प्राप्यते यथाभिलषित तत्त्वजिज्ञासुभिरित्यर्थः, आर्यो वा स्वामीत्यर्थः, समस्तेभ्यो हेयधर्मेभ्य आरात्-पृथक् यायते-प्राप्यते अर्थाद् गुणैरिति, अथवा विषयकाष्ठ कर्तकत्वेनारा सादृश्यादारा—रत्नत्रयम्, तद् याति—प्राप्नोति इति निरुक्तवृत्त्याऽऽकारलोपे कृते—आर्यः, सर्वथा सकलकल्मषराशिकलुषितवृत्तिरहित इत्यर्थः”, तथा चोक्तम्—

अज्जइ भविहिं आरा जाइज्जइ हेय धम्मओ जो वा ।

रयणत्तरुवं वा, आरं जाइत्ति अज्ज इय वुतो ॥

‘अज्ज’ शब्द की संस्कृत छाया अर्य और आर्य दोनों प्रकार की होती है। तत्त्व के जिज्ञासुओं द्वारा जो प्राप्त किया जाता है उसे अर्य कहते हैं और आर्य का अर्थ स्वामी है। अथवा जो त्यागने योग्य समस्त धर्मों से भिन्न गुणों के कारण प्राप्तव्य हो उसे आर्य कहते हैं। अथवा रत्नत्रय १. सम्यग् दर्शन २. सम्यग् ज्ञान और ३. सम्यग् चरित्र—आरा के समान हैं, क्योंकि वे पाँच इन्द्रियों के विषय रूपी काष्ठ को काटते हैं, उस रत्नत्रय की जिन्हें प्राप्ति हो गई है, उन्हें आर्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिन की वृत्ति पूर्ण रूप से निर्दोष है, वे आर्य हैं।

‘सत्तमस्स अंगस्स’ जैन परम्परा में श्रुतज्ञान को पुरुष का रूप दिया गया है और आचाराङ्गादि आगमों को अङ्ग बताया है। इस क्रम में उपासकदशाङ्ग नामक आगम का सातवां स्थान है, अतः इसे सत्तम अंग कहा गया है। श्रुत पुरुष के १२ अङ्ग हैं, वह रूपक इस प्रकार है—

“यथा पुरुषस्य द्वौ चरणौ, द्वे जंघे, द्वावूरु, द्वौ गात्राद्धौ, द्वौ बाहू, ग्रीवा शिरश्चेत्येतैर्द्वादशभिरंगैरभिव्यक्ति दीप्तिरुपलब्धिश्च भवति, तथात्र श्रुतरूपस्य परमपुरुषस्य सन्त्याचारादीनि द्वादशांगानि ।”

* अर्यते भविभिः आरात् यायते, हेयधर्मतो यो वा ।

रत्नत्रयरूपं वाऽऽरं यातीति आर्य इत्युक्तः ॥

तत्र १. दक्षिणचरणस्थानीयमाचाराङ्गम्, २. वामचरणस्थानीयं सूत्रकृताङ्गम्, ३. दक्षिणजङ्घास्थानीयं स्थानाङ्गम्, ४. वामजङ्घा स्थानीयं समवायाङ्गम्, ५. दक्षिणोरुस्थानीयं भगवतीसूत्रम्, ६. वामोरुस्थानीयं ज्ञाताधर्मकथाङ्गम्, ७. दक्षिणपार्श्वस्थानीयं उपासकदशाङ्गम्, ८. वामपार्श्वस्थानीयमन्तकृद्दशाङ्गम्, ९. दक्षिणबाहुस्थानीयमनुत्तरौपपातिकम्, १०. वामबाहुस्थानीयं विपाकसूत्रम्, ११. प्रश्नव्याकरणम् ग्रीवास्थानीयम्, १२. मस्तक स्थानीयं दृष्टिवाद नामाङ्गम् ।”

जैसे पुरुष के दो पैर, दो पिण्डलियां, दो जघन, दो पसवाड़े (गात्रार्ध), दो भुजायें, एक ग्रीवा (गर्दन) और एक सिर होता है, इन बारह अंगों द्वारा उसकी अभिव्यक्ति प्रकटीकरण (दीप्ति प्रकाश) और उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, इसी प्रकार श्रुत रूपी महापुरुष के आचारादि १२ अंग हैं—पहला आचाराङ्ग दायें पैर के समान, दूसरा सूत्रकृताङ्ग बायें पैर के समान, तीसरा स्थानाङ्ग दक्षिण जंघा के समान, चौथा समवायाङ्ग वाम जङ्घा के समान, पाँचवां भगवती दक्षिण जघन के समान, छठा ज्ञाताधर्म-कथाङ्ग वाम जघन के समान, सातवां उपासकदशाङ्ग दक्षिण पार्श्व के समान, आठवाँ अन्तकृद्दशाङ्ग वाम पार्श्व के समान, नौवाँ औपपातिक दक्षिण भुजा के समान, दसवाँ प्रश्नव्याकरण वाम भुजा के समान, ग्यारहवाँ विपाकसूत्र ग्रीवा के समान और बारहवाँ दृष्टिवाद सिर के समान है।

‘एवं खलु जम्बू’ इस पद से यह प्रकट होता है कि वर्तमान अङ्गसाहित्य सुधर्मा स्वामी की वाचना है। जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से-जो जो प्रश्न किये, सुधर्मा स्वामी ने उनका स्पष्टीकरण किया है। भगवान् महावीर स्वामी के ११ गणधर थे और ६ वाचनाएँ मानी जाती हैं। प्रस्तुत वाचना सुधर्मा स्वामी की है।

वाणिज्य ग्राम और आनन्द—

मूलम्—एवं खलु जम्बू ! तेषां कालेण तेषां समएणं वाणियगामे नामं नयरे होत्था । वण्णओ । तस्स णं वाणियगामस्स नयरस्स बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसी-भाए दूइपलासए नाम चेइए होत्था । तत्थ णं वाणियगामे नयरे जियसत्तू नाम राया होत्था । वण्णओ । तत्थ णं वाणियगामे नयरे आणंदे नामं गाहावई परिवसइ अइडे जाव अपरिभूए ॥ ३ ॥

छाया—एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वाणिज्यग्रामो नाम नगरमासीत् । वर्णकम् । तस्माद् वाणिज्यग्रामाद् नगराद् बहिरुत्तर पौरस्त्ये दिग्विभागे दूतीपलाशो नाम चैत्यम् आसीत् । तत्र खलु वाणिज्यग्रामे नगरे जितशत्रु राजा आसीत्, वर्णकम् । तत्र खलु वाणिज्यग्रामे नगरे आनन्दो नाम गाथापतिः परिवसति । आद्वयो यावत् अपरिभूतः ।

शब्दार्थ—जम्बू स्वामी के प्रश्न के उत्तर में आर्य सुधर्मा स्वामी ने कहा—एवं खलु जम्बू !—इस प्रकार है जम्बू !, तेषां कालेणं तेषां समएणं—उस काल उस समय जबकि भगवान् महावीर विद्यमान थे, वाणियगामे नामं नयरे होत्था—वाणिज्यग्राम नाम का नगर था, वण्णओ—नगर के वर्णन अन्य नगरों के समान जान लेना चाहिए, तस्स णं वाणियगामस्स नयरस्स बहिया—उस वाणिज्य ग्राम नगर के बाहर, उत्तर पुरत्थिमे दिसि भाए—उत्तरपूर्व दिशा—ईशानकोण में, दूइपलासए नाम चेइए होत्था—दूतीपलाश नामक चैत्य था। तत्थ णं—वहां, वाणियगामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर में, जियसत्तु नामं राया होत्था—जितशत्रु राजा था। वण्णओ—राजा का वर्णन कूणिक की तरह है, तत्थ णं—वहां, वाणियगामे नयरे—वाणिज्यग्राम नामक नगर में, आणंदे नामं गाहावई परिवसइ—आनन्द नामक गाथापति रहता था। अह्णे जाव अपरिभूए—वह धनाढ्य यावत् अपरिभूत था।

भावार्थ—सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! उस काल और उस समय में वाणिज्यग्राम नामक नगर था, अन्य नगरों के समान उसका वर्णन जान लेना चाहिए। उस वाणिज्यग्राम नगर के बाहर उत्तरपूर्व अर्थात् ईशान कोण में दूतीपलाश नामक चैत्य था। वाणिज्यग्राम नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था। वह भी वर्णनीय था। उस नगर में आनन्द नामक गाथापति रहता था। वह धनाढ्य यावत् अपरिभूत था।

टीका—इस सूत्र में वाणिज्यग्राम नगर का वर्णन किया गया है। सुधर्मा स्वामी कहते हैं, हे जम्बू ! उस काल उस समय में वाणिज्यग्राम नाम का एक नगर था और उसके बाहर ईशान कोण में दूतीपलाश नाम का चैत्य था। वहां जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसी नगर में आनन्द नामक गाथापति रहता था, वह धनी और सब प्रकार से समर्थ था।

इस सूत्र में 'वण्णओ' शब्द दो बार आया है। पहली बार वाणिज्य ग्राम के लिए और दूसरी बार जितशत्रु राजा के लिए। इसका यह आशय है कि नगर और राजा का वर्णन औपपातिक सूत्र के समान समझ लेना चाहिए। नगर का नाम वाणिज्य ग्राम है। प्रतीत होता है कि वह वाणिज्य अर्थात् व्यापार का केन्द्र रहा होगा।

जिस प्रकार चम्पा नगरी का विस्तृत वर्णन औपपातिक सूत्र में किया गया है, उसी प्रकार इस नगर का वर्णन भी जान लेना चाहिए। उसके ईशान कोण में दूतीपलाश नाम का चैत्य था। उसका वर्णन पूर्णभद्र चैत्य के समान जानना चाहिए। जिस प्रकार औपपातिक सूत्र में कौणिक राजा का वर्णन किया गया है, उसी के समान जितशत्रु राजा का भी वर्णन जान लेना चाहिए। उसी नगर में आनन्द नामक गाथापति रहता था।

गाथापति का अर्थ है—“गीयते-स्तूयते लोकैर्धनधान्यादि समृद्धि युक्ततयेति यद्वा गाथ्यते

धनधान्य-पशुवंश समुन्नत्यादिना । अहो ! धन्यमिदं सकलसमृद्धिसम्पन्न गृहमित्येवं प्रशंसितत्वात् प्रतिष्ठिता भवतीति गाथा प्रशस्ततमं गृहं तस्याः पतिः अध्यक्षः स तथा क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-पशु-दास-पौरुष समलङ्कृतः सद्गृहस्थ इत्यर्थः, परिवसति । नित्यं सर्वतोभावेन वा वसति स्मेति शेषः । ”

धन, धान्य और समृद्धि के कारण होने वाली प्रशंसा को गाथा कहते हैं और उसके स्वामी को गाथापति कहा जाता है। अथवा गाथा शब्द का अर्थ है वह सम्पन्न घर जिसकी धन-धान्य, पशुवंश आदि के रूप में होने वाली सर्वतोमुखी समृद्धि को देखकर सर्वत्र प्रशंसा होती है।

‘यावत्’ शब्द से अनेक अन्य बातें प्रकट की गई हैं। इसका अर्थ है कि आनन्द गाथापति के पास भवन, शयन, रथ, शकट तथा अन्य वाहनों की विशाल संख्या थी। सोना, चाँदी बहुमूल्य धातुओं का पर्याप्त संग्रह और पशु-धन भी विपुल परिमाण में था। दास-दासियों की विशाल संख्या थी। प्रतिदिन भोजनोपरान्त पर्याप्त खाद्य सामग्री बच जाती थी और उससे अनेक अनाथों एवं भिक्षुओं का पोषण होता था। ऐसे घर के स्वामी को गाथापति कहा जाता है।

आनन्द की धन-सम्पत्ति का वर्णन—

मूलम्—तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स चत्तारि हिरण्ण कोडीओ निहाणपउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ, चत्तारि हिरण्णकोडीओ पवित्थर पउत्ताओ, चत्तारि वया, दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था ॥ ४ ॥

छाया—तस्य खलु आनन्दस्य गाथापतेश्चतस्रो हिरण्यकोटयः निधानप्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्यकोटयो वृद्धि प्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्यकोटयः प्रविस्तर प्रयुक्ताः, चत्वारो व्रजाः, दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन अभवन् ।

शब्दार्थ—तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स—उस आनन्द गाथापति के, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ—चार करोड़ सुवर्ण, निहाणपउत्ताओ—कोष में थीं, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ—चार करोड़ वृद्धि के लिए व्यापार में लगे हुए थे। चत्तारि हिरण्ण कोडीओ—चार करोड़ सुवर्ण, पवित्थर पउत्ताओ—प्रविस्तर गृह तथा तत्सम्बन्धी सामान में लगे हुए थे। चत्तारि वया-दस गोसाहस्रिकेण वएणं होत्था—प्रत्येक में दस हजार गायों वाले चार व्रज थे।

भावार्थ—आनन्द गाथापति के चार करोड़ सुवर्ण निधान अर्थात् कोष में सञ्चित थे। चार करोड़ व्यापार में लगे हुए थे और चार करोड़ घर तथा तत्सम्बन्धी सामान में लगे हुए थे। इस प्रकार उसके पास १२ करोड़ सुवर्ण (दीनार) थे। इसके अतिरिक्त उसके पास चार व्रज थे। प्रत्येक व्रज में दस हजार गायें थीं।

टीका—प्रस्तुत पाठ में धन का परिमाण हिरण्य-कोटि के रूप में बताया गया है। साधारणतया इसका अर्थ सुवर्ण किया जाता है। प्रतीत होता है, उस समय हिरण्य नाम की मुद्रा प्रचलित होगी। यह शुद्ध सोने की हुआ करती थी, इसका तोल ३२ रत्ती होता था। उत्तरवर्ती काल में शकों के आने पर इसी को दीनार के रूप में प्रचलित किया गया।

आनन्द के पास चार व्रज थे और प्रत्येक व्रज में दस हजार गायें थीं। यहाँ गाय शब्द समस्त पशुधन का बोधक है।

संस्कृत टीका में आनन्द को प्रदीप्त कहा गया है अर्थात् वह दीपक के समान प्रकाशमान था। जिस प्रकार दीपक में तेल, बत्ती और शिखा होते हैं तथा वायुरहित स्थान में वह स्थिर होकर प्रकाश देता है उसी प्रकार आनन्द भी स्थिर होकर सबको प्रकाश दे रहा था। उसकी सम्पत्ति एवं वैभव की तुलना तेल तथा बत्ती से की गई है। उदारता, तेजस्विता आदि गुणों की शिखा से और संयमी जीवन एवं मर्यादा पालन की वायु रहित स्थान से। मूल सूत्र में उसके जीवन को दो शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है अर्थात् वह आद्य था और अपरिभूत था। आद्य शब्द भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक सम्पत्ति को प्रकट करता है, और अपरिभूत शब्द उसके प्रभाव को। इसका अर्थ है, आनन्द को कहीं भी अपमानित या निराश नहीं होना पड़ता था। वह कहीं भी असफल नहीं होता था। ये दोनों गुण शक्तिशाली व्यक्तित्व के आवश्यक अङ्ग हैं।

आनन्द का समाज में स्थान—

मूलम्—से णं आणंदे गाहावई बहूणं राईसर जाव सत्थवाहाणं बहूसु कज्जेसु य कारणेसु य मंतेसु य कुडुम्बेसु य गुज्जेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे, सयस्सवि य णं कुडुम्बस्स मेढी, पमाणं, आहारे, आलंबणं, चक्खू मेढीभूए जाव सव्व कज्जवड्ढावए यावि होत्था ॥ ५ ॥

छाया—स खलु आनन्दो गाथापतिः बहूनां राजेश्वराणां यावत् सार्थवाहानां बहुषु कार्येषु च कारणेषु च मन्त्रेषु च कुटुम्बेषु च गुह्येषु च रहस्येषु च निश्चयेषु च व्यवहारेषु च आप्रच्छनीयः परिप्रच्छनीयः स्वकस्यापि च खलु कुटुम्बस्य मेधिः, प्रमाणम्, आधारः, आलम्बनम्, चक्षुर्मेधिभूतो यावत् सर्वकार्यवर्धकश्चापि आसीत्।

शब्दार्थ—से णं आणंदे गाहावई—वह आनन्द गाथापति, बहूणं राईसर जाव सत्थवाहाणं—बहुत से राजा-ईश्वर यावत् सार्थवाहों का, बहूसु—अनेक, कज्जेसु य—कार्यों में, कारणेसु य—कारणों में, मंतेसु य—विचार विमर्शों में, कुडुम्बेसु य—कौटुम्बिक समस्याओं में, गुज्जेसु य—गुह्य बातों में, रहस्सेसु य—रहस्यों में, निच्छएसु य—निश्चयों में, ववहारेसु य—और व्यवहारों में,

आपुच्छणिज्जे—परामर्श का, पडिपुच्छणिज्जे—और बार-बार पूछने का विषय था। सयस्सवि य णं कुटुम्बस्स—तथा वह अपने परिवार का भी, मेढी—मेढी अर्थात् काष्ठदण्ड के समान, पमाणं—प्रमाण, आहारे—आधार, आलंबणं—आलम्बन, चक्खू—चक्षु स्वरूप, मेढीभूए—केन्द्र भूत काष्ठ दण्ड था, जाव—यावत्, सव्व कज्ज वट्ठावए यावि होत्था—सब कार्यों में प्रेरक था।

भावार्थ—नगर के राजा, सेनापति, सार्थवाह आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति आनन्द से प्रत्येक बात में परामर्श लिया करते थे। विविध कार्यों, योजनाओं, मन्त्रणाओं, कौटुम्बिक प्रश्नों, कलङ्क या दोष आदि गोपनीय बातों, अनेक प्रकार के रहस्यों, निश्चयों, निर्णयों तथा लेन-देन आदि से सम्बन्ध रखने वाले व्यवहारों में, उससे पूछते रहते थे और उसकी सम्मति को महत्वपूर्ण मानते थे। वह अपने कुटुम्ब का भी स्तम्भ के समान आधारभूत था, उसका आलम्बन अर्थात् सहारा था और चक्षु अर्थात् पथ-प्रदर्शक 'मेढी' अर्थात् केन्द्र स्तम्भ था। इतना ही नहीं, वह समस्त अनुष्ठानों का प्रेरक था।

टीका—इस सूत्र में यह बताया गया है कि आनन्द का समाज में क्या स्थान था। नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति प्रत्येक बात में उससे परामर्श करते थे। उसकी सम्मति को बहुमूल्य मानते थे। स्वजन-सम्बन्धियों का तो वह एकमात्र आधार, सहारा और पथप्रदर्शक था।

मेढी उस काष्ठदण्ड को कहते हैं जो खलियान के बीच गाड़ दिया जाता है और गेहूँ आदि धान्य निकालने के लिए बैल जिसके चारों ओर घूमते हैं। आनन्द को भी मेढी बताया गया है अर्थात् वह समस्त कार्यों के लिए केन्द्रभूत था, उसी को मध्य में रखकर अनेक प्रकार के लौकिक अनुष्ठान किये जाते थे। मेधिः-ब्रीहि-यव-गोधू-मादिमर्दनार्थं खले स्थापितो दावादिमयः पशुबन्धनस्तम्भः। यत्र पंक्तिशो बद्धा बलीवर्दादयो ब्रीह्यादिमर्दनाय परितो भ्राम्यन्ति तत्सादृश्यादयमपि मेधिः। गाथापति आनन्द अपने कुटुम्ब के मेधि के समान थे अर्थात् कुटुम्ब उन्हीं के सहारे था, वे ही उसके व्यवस्थापक थे।

मूल पाठ में 'वि' अपि—शब्द है उसका तात्पर्य यह है कि वे केवल कुटुम्ब के ही आश्रय न थे वरन् समस्त लोगों के भी आश्रय थे, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। आगे भी जहाँ-जहाँ 'वि' अपि—आया है वहाँ सर्वत्र यही तात्पर्य समझना चाहिए।

सूत्र में आनन्द को चक्षु बताया है। इसका यह भाव है—जिस प्रकार चक्षु पदार्थों का प्रकाशक है, उसी प्रकार आनन्द भी सकल पदार्थों का प्रदर्शक था। मेधि, प्रमाण, आधार, आलम्बन और चक्षु इन शब्दों के साथ भूत शब्द लगाने से वे सब उपमावाची बन जाते हैं।

आनन्द को 'सव्वकज्ज वट्ठावए' अर्थात् सब कार्यों का प्रेरक या बढ़ाने वाला बताया गया है। जो व्यक्ति अन्य लोगों के काम आता है वह माननीय हो जाता है।

आनन्द की पत्नी शिवानन्दा का वर्णन—

मूलम्—तस्स णं आणंदस्स गहावइस्स सिवन्दा (शिवानन्दा) नामं भारिया होत्था, अहीण जाव सुरूवा । आणंदस्स गहावइस्स इट्ठा, आणंदेणं गहावइणा सद्धिं अणुरत्ता, अविरत्ता इट्ठे सहं जाव पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुभवमाणी विहरइ ॥ ६ ॥

छाया—तस्य खलु आनन्दस्य गाथापतेः शिवानन्दा नाम भार्या आसीत्, अहीना यावत् सुरूपा । आनन्दस्य गाथापतेरिष्टा । आनन्देन गाथापतिना सार्द्धमनुरक्ता, अविरक्ता, इष्टान् शब्दान् यावत् पञ्चविधान् मानुष्यान् कामभोगान् प्रत्यनुभवन्ती विहरति ।

शब्दार्थ—तस्स ण आणंदस्स गहावइस्स—उस आनन्द गाथापति की, सिवन्दा नामं भारिया होत्था—शिवानन्दा नामक भार्या थी । अहीण जाव सुरूवा—अहीन अर्थात् पूर्ण अङ्गोपाङ्ग वाली तथा रूपवती थी । आणंदस्स गहावइस्स—आनन्द गाथापति को, इट्ठा—प्रिय थी, आणंदेणं गहावइणा सद्धिं अणुरत्ता—आनन्द गाथापति के प्रति अनुरक्त थी, अविरत्ता—अविरक्त थी, इट्ठे—मनोनुकूल, सहं जाव पच्चविहे—शब्दादि पांच प्रकार के, माणुस्सए—मानवीय, कामभोए—कामभोगों का, पच्चणुभवमाणी विहरइ—आनन्द लेती हुई जीवन यापन कर रही थी ।

भावार्थ—आनन्द गाथापति की शिवानन्दा नामक पत्नी थी । वह सर्वाङ्ग परिपूर्ण एवं सुन्दरी थी । आनन्द को अत्यन्त प्रिय थी । उसके प्रति अनुरक्त एवं अविरक्त थी । और उसके साथ इच्छानुकूल शब्द, रूप आदि पांच प्रकार के मनुष्य-जन्म सम्बन्धी कामभोगों का उपभोग करती हुई जीवन-यापन कर रही थी ।

टीका—इस सूत्र में आनन्द गाथापति की भार्या का वर्णन है । वह सर्वांग सुन्दर तथा स्वस्थ थी । रूप-लावण्य तथा सुलक्षणों से सम्पन्न थी । वह आनन्द गाथापति को प्रिय थी और आनन्द उसे प्रिय था । दोनों शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श सम्बन्धी इन्द्रिय सुखों का आनन्द लेते हुए जीवन यापन कर रहे थे । सूत्रकार ने स्त्री की योग्यता के विषय में दो पद दिये हैं—अनुरक्ता और अविरक्ता । अनुरक्ता की व्याख्या निम्नलिखित है—

“घर कम्म वावडा जा, सव्वसिणेहप्पवइढ्ढणी दक्खा ।

छाया विव भत्तणुगा, अणुरत्ता, सा समक्खाया ॥”

१ गृहकर्म व्यापृता या सर्वस्नेहप्रवर्द्धनी दक्षा ।
छायेव भर्त्रनुगा अनुरक्ता, सा समाख्याता ॥

जो स्त्री घर के काम-काज में लगी रहती है, सबका स्नेह बढ़ाने वाली तथा चतुर होती है एवं परछाई की तरह-पति की अनुगामिनी होती है, उसे शास्त्रों में अनुरक्ता कहा गया है। अविरक्ता की व्याख्या इस प्रकार है—

पडिऊले वि य भर्त्तरि किंचिवि रुट्ठा ण जा हवइ ।
जा उ मिउ भासिणी य णिच्चं सा अविरत्तति णिद्धिट्ठा ॥^१

पति के प्रतिकूल होने पर भी जो स्त्री तनिक रोष नहीं करती, सदा मधुर वाणी बोलती है, वह अविरक्ता कही जाती है। इस कथन द्वारा सूत्रकर्ता ने पतिव्रता स्त्री के दो पदों में समस्त लक्षण बता दिये हैं। शिवानन्दा भार्या इन्द्रिय और मन को प्रसन्न करने वाले मनुष्य सम्बन्धी पाँच प्रकार के कामभोगों का उपभोग कर रही थी।

कामभोग—शब्द, रूप आदि जिन विषयों का आनन्द एक साथ अनेक व्यक्ति ले सकते हैं, वे काम कहे जाते हैं तथा भोजन, पान, शय्या आदि को भोग कहते हैं, जहाँ भोग्य वस्तु भिन्न-भिन्न रहती हैं।

कोल्लाक सन्निवेश का वर्णन—

मूलम्—तस्स णं वाणियगामस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ णं कोल्लाए नामं सन्निवेशे होत्था । रिद्ध-त्थिमिय जाव पासादीए; दरिसणिज्जे, अभिरूवे, पडिरूवे ॥ ७ ॥

छाया—तस्मात् खलु वाणिज्य ग्रामाद् बहिरुत्तर पौरस्त्ये दिग्विभागेऽत्र खलु कोल्लाको नाम सन्निवेश आसीत् । ऋद्धः स्तिमितो यावत् प्रासादीयः, दर्शनीयः, अभिरूपः, प्रतिरूपः ।

शब्दार्थ—तस्स णं—उस, वाणियगामस्स—वाणिज्यग्राम के, बहिया—बाहर, उत्तरपुरत्थिमे—उत्तर पूर्व, दिसी भाए—दिशा में, एत्थ णं—यहाँ, कोल्लाए नामं सन्निवेशे—कोल्लाक नामक सन्निवेश, होत्था—था। वह, रिद्ध-त्थिमिय-जाव पासादीए—ऋद्ध अर्थात् सम्पन्न, स्तिमित अर्थात् सुरक्षित यावत्, पासादीए—प्रासादों से सुशोभित, दरिसणिज्जे—दर्शनीय था। अभिरूवे—अभिरूप अर्थात् सुन्दर और पडिरूवे—प्रतिरूप अर्थात् जैसा होना चाहिए वैसा था।

भावार्थ—वाणिज्यग्राम के बाहर ईशान कोण में कोल्लाक नामक सन्निवेश अर्थात् उपनगर था। वह, ऋद्ध—धन-धान्य आदि से सम्पन्न, स्तिमित—तस्कर आदि के उपद्रवों से रहित, प्रासादीय—मनोहर, दर्शनीय—देखने योग्य, अभिरूप—शोभापूर्ण तथा प्रतिरूप—अलौकिक छवि वाला था।

^१ प्रतिकूलेऽपि च भर्त्तरि, किञ्चिदपि रुष्टा न या भवति ।

या तु मृदुभाषिणी च नित्यं सा अविरक्तेति निर्दिष्टा ॥

टीका—सूत्रकार ने 'रिद्ध, स्थिमिय, समिद्ध' ये तीन पद दिये हैं, इनके द्वारा नगर का समस्त वर्णन कर दिया है। विशाल भवनों से नगर की शोभा बढ़ती है। किन्तु वही नगर वृद्धिशाली हो सकता है, जो निर्भय हो अर्थात् जहाँ राजा, तस्कर आदि किसी प्रकार का भय न हो। शास्त्रों में भय के अनेक प्रकार बताये हैं—राजभय, तस्करभय, जलभय, अग्निभय, वनचरभय तथा जनता के असन्तोष का भय। जब नगर निर्भय होता है, तभी उन्नति के शिखर पर पहुंचता है। परिणाम-स्वरूप धन-धान्य आदि की वृद्धि होती है और वह व्यापार का केन्द्र बन जाता है, कोल्लाक नामक सन्निवेश उक्त गुणों से युक्त था। सन्निवेश उसे कहते हैं—“सन्निविशन्ति जना यस्मिन् स ग्रामविशेषः” अर्थात् जिसमें जन निवेश करते हैं, उसी का नाम सन्निवेश (पड़ाव) है। कोल्लाक सन्निवेश वाणिज्यग्राम के समीप एक पड़ाव या बस्ती थी, जो व्यक्त तथा सुधर्मा गणधरों का जन्म स्थान मानी जाती है। भगवान् महावीर को यहाँ रहने वाले बहुत ब्राह्मण के घर से प्रथम भिक्षा प्राप्त हुई थी।

आनन्द के स्वजन सम्बन्धियों का वर्णन—

मूलम्—तत्थ णं कोल्लाए सन्निवेशे आणंदस्स गाहावइस्स बहुए मित्तणाइ-णियग-सयण-संबंधि-परिजणे परिवसइ, अड्ढे जाव अपरिभूए ॥ ८ ॥

छाया—तत्र खलु कोल्लाक सन्निवेशे आनन्दस्य गाथापतेर्बहुको मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-सम्बन्धि-परिजनः परिवसति, आद्यो यावदपरिभूतः।

शब्दार्थ—तत्थ णं—उस, कोल्लाए सन्निवेशे—कोल्लाक सन्निवेश में, आणंदस्स गाहावइस्स—आनन्द गाथापति के, बहुए—बहुत से, मित्तणाइणियगसयण संबंधि परिजणे—मित्र, ज्ञाति, आत्मीय, स्वजन-सम्बन्धी और परिजन रहा करते थे। अड्ढे जाव अपरिभूए—वे भी आद्य यावत् अपरिभूत थे।

भावार्थ—उस कोल्लाक सन्निवेश में आनन्द गाथापति के बहुत से मित्र, जातिबन्धु, आत्मीय, स्वजन, सम्बन्धी तथा परिजन निवास करते थे। वे भी सम्पन्न तथा अपरिभूत थे।

टीका—इस सूत्र में आनन्द गाथापति के स्वजनों का वर्णन किया गया है। मित्रादि के लक्षण निम्नलिखित दो गाथाओं में वर्णित हैं—

“मित्तं सयेगरूवं, हियमुवदिसइ, पियं च वितणोइ।

तुल्लायाार वियारी, सज्जाइ वग्गो य सम्मया णाई ॥”

^१ मित्रं सदैकरूपं हितमुपदिशति प्रियं च वितनोति।

तुल्याचारविचारी, स्वजाति वर्गश्च सम्मता ज्ञातिः ॥

“माया पिउ पुत्ताई, णियणो, सयणो, पिउव्व भायाई ।

संबन्धी ससुराई, दासाई परिजणो णेओ ॥”

मित्र वह है जो सदा हित की बात बताता है और सदा हित ही करता है। समान आचार-विचार वाले स्वजाति वर्ग को ज्ञाति, माता-पिता पुत्र आदि को निजक, भाई आदि को स्वजन, श्वसुर आदि को सम्बन्धी और दास आदि को परिजन कहते हैं।

भगवान महावीर का समवसरण—

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव समोसरिए ।
परिसा निग्गया । कूणिए राया जहा, तहा जियसत्तू निग्गच्छइ । निग्गच्छित्ता जाव
पज्जुवासइ ॥ ६ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरो यावत् समवसृतः । परिषन्निर्गता ।
कूणिको राजा यथा, तथा जितशत्रुर्निर्गच्छति । निर्गत्य यावत् पर्युपास्ते ।

शब्दार्थ—तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय, समणे भगवं महावीरे जाव
समोसरिए—श्रमण भगवान् महावीर यावत् वाणिज्यग्राम में आये, कूणिए राया जहा, तहा जियसत्तू
निग्गच्छइ—कूणिक राजा के समान जितशत्रु राजा भी निकला, निग्गच्छित्ता—निकलकर, जाव—यावत्
पज्जुवासइ—भगवान के पास आया और उसने भगवान् महावीर की वन्दना तथा चरणसेवा की ।

भावार्थ—उस समय भगवान् महावीर स्वामी ग्रामानुग्राम धर्मोपदेश देते हुए वाणिज्यग्राम नगर के
बाहर दूतिपलाश चैत्य में पधारे । परिषद् वन्दन करने को निकली । कूणिक के समान जितशत्रु राजा
भी वैभव के साथ निकला और भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुआ ।

टीका—सूत्र में परिषद् (परिसा) शब्द दिया हुआ है उसका यह भाव है—परिसर्वतोभावेन
सीदन्ति— उपविशन्ति-गच्छन्ति वा जना यस्यां सा परिषत्—सभा । अर्थात् जिस स्थान पर लोग
विचार-विनिमय करने के लिए बैठते हैं, उसका नाम परिषद् है । यह तीन प्रकार की होती है—

१. ज्ञा परिषद्—निपुण, बुद्धि सम्पन्न, विचारशील, गुण-दोष को जानने वाली, दीर्घदर्शी एवं
औचित्यानुचित्य का विवेक करने वाली ‘ज्ञा’ परिषद् होती है ।

२. अज्ञा परिषद्—अज्ञानी किन्तु विनयशील तथा शिक्षा मानने में तत्पर जिज्ञासुओं की सभा,
‘अज्ञा’ परिषद् होती है ।

^१ माता-पितृ-पुत्रादिर्निजकः, स्वजनः पितृव्यभ्रात्रादिः ।
सम्बन्धी श्वशुरादिर्दासादिः परिजनो ज्ञेयः ॥

३. दुर्विदग्धा परिषद्—मिथ्या अहंकार से युक्त, तत्त्व बोध से रहित एवं दुराग्रही व्यक्तियों की सभा 'दुर्विदग्धा' परिषद् कही जाती है।

आनन्द का भगवान के दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—तए णं से आणंदे गाहावई इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे “एवं खलु समणे जाव विहरइ, तं महप्फलं, जाव गच्छामि णं। जाव पज्जुवासामि” एवं संपेहेइ, संपेहिता ण्हाए, सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवरपरिहिए, अप्पमहग्घाभरणालंकिय सरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता सकोरेण्ट मल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं मणुस्स वग्गुरा परिक्खित्ते पायविहारचारेणं वाणियग्गामं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणामेव दूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ नमंसइ जाव पज्जुवासइ ॥ १० ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दो गाथापतिरस्यां कथायां लब्धार्थः सन्, “एवं खलु श्रमणो यावद् विहरति, तन्महत् फलम्, यावद् गच्छामि खलु यावत् पर्युपासे” एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य स्नातः, शुद्धप्रवेश्यानि माङ्गल्याणि वस्त्राणि प्रवरपरिहितः, अल्पमहर्घाभरणालंकृतशरीरः स्वकात् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य सकुरण्टमाल्यदान्ना छत्रेण ध्रियमाणेन मनुष्यवागुरा परिक्षिप्तः पादविहारचारेण वाणिज्यग्रामं नगरं मध्यं मध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य यत्रैव दूतिपलाशचैत्यम्, यत्रैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तत्रैवोपागच्छति, उपागत्य त्रिकृत्वः आदक्षिणं प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वन्दते नमस्यति, यावत् पर्युपास्ते।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से—वह, आणंदे गाहावई—आनन्द गाथापति, इमीसे कहाए—इस कथा में, लद्धट्ठे समाणे—लब्धार्थ हुआ—अर्थात् आनन्द को भी यह ज्ञात हुआ कि, एवं खलु समणे जाव विहरइ—चम्पा के बाहर दूतीपलाश उद्यान में श्रमण भगवान महावीर पधारे हैं, तं महप्फलं—महान फल होगा यदि मैं, जाव गच्छामि णं—यावत् भगवान् के दर्शन करने जाऊं, जाव—यावत्, पज्जुवासामि—और उपासना करूँ, एवं संपेहेइ—आनन्द ने इस भाँति विचार किया, संपेहिता—विचार करके, ण्हाए—स्नान किया, सुद्धप्पा-वेसाइं मंगलाइं वत्थाइं—और शुद्ध तथा सभा में प्रवेश करने योग्य माङ्गलिक वस्त्र, पवर परिहिए—भलीभाँति पहने, अप्पमहग्घाभरणा-लंकियसरीरे—और अल्प किन्तु बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया। सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ—इस प्रकार सज्जित होकर वह अपने घर से निकला। पडिनिक्खमित्ता—निकलकर, सकोरेण्टमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं—कुरण्ट पुष्पों की माला से युक्त छत्र धारण किये, मणुस्स

वग्गुरा परिविख्रते—मनुष्य समूह से घिरा हुआ, पायविहारचारेण—पैदल ही चलता हुआ, वाणियग्गामं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ—वाणिज्य ग्राम नगर के बीच होता हुआ निकला, निग्गच्छिता—निकल कर, जेणाभेव दूइपलासे चेइए—जहाँ दूतिपलाश चैत्य था, जेणेव समणे भगवं महावीरे—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजते थे। तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आया, उवागच्छिता—आकर, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ—तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, करेत्ता—प्रदक्षिणा करके बंदइ नमंसइ—वन्दना की और नमस्कार किया। जाव—यावत्, पज्जुवासइ—पर्युपासना की।

भावार्थ—राजा आदि नगर के प्रमुख जनों को भगवान् की वन्दना के लिए जाते देखकर आनन्द को ज्ञात हुआ कि महावीर स्वामी नगर के बाहर उद्यान में ठहरे हुए हैं। उसके मन में विचार आया कि मुझे भी भगवान् के दर्शनार्थ जाना चाहिए और विधिपूर्वक उपासना करनी चाहिए, इससे महान् फल की प्राप्ति होगी। यह विचार कर उसने स्नान किया, शुद्ध एवं सभा में प्रवेश करने योग्य मङ्गल वस्त्र पहने, अल्प परन्तु बहुमूल्य आभूषणों द्वारा शरीर को विभूषित किया। इस भाँति सुसज्जित होकर वह अपने घर से निकला। कोरंट पुष्पों की माला से अलंकृत छत्र धारण किया और जन समुदाय से घिरा हुआ, पैदल ही वाणिज्यग्राम नगर के बीचों-बीच होता हुआ, दूतिपलाश चैत्य में जहाँ भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहाँ पहुँचा। वहाँ जाकर भगवान् महावीर को तीन बार प्रदक्षिणा की, वन्दना तथा नमस्कार किया, यथाविधि पर्युपासना की।

टीका—सूत्र में 'यावत्' शब्द से निम्नलिखित पाठ की ओर संकेत किया गया है—“समणं भगवं महावीरं वंदामि नमंसांमि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं...।”

भगवान् की वन्दना करते समय उनकी इस प्रकार स्तुति की जाती है—आप कल्याण करने से कल्याण रूप हैं, दुःखों और विघ्नों को उपशमन करने से मङ्गल रूप हैं, तीन लोक के नाथ होने से आप आराध्य देव स्वरूप हैं, विशिष्ट ज्ञानवान् हैं अथवा चित्तशुद्धि के हेतु होने से आप चैत्य-ज्ञान स्वरूप हैं। उक्त चार पदों की व्याख्या राजप्रश्नीय सूत्रान्तर्गत सूर्याभदेव के वर्णन में आचार्य मलयगिरि ने निम्न प्रकार की है—“कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि, कल्याणं—कल्याणकारित्वात्, मंगलं—दुरितोपशमकारित्वात्, देवतां—देवं त्रैलोक्याधिपतित्वात्, चैत्यं—सुप्रशस्तमनोहेतुत्वात् पर्युपासितुम्—सेवितुम्।”

भगवान की धर्मकथा का वर्णन—

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे आणंदस्स गाहावइस्स, तीसे य महइ-महालियाए परिसाए जाव धम्मकहा। परिसा पडिगया, राया य गओ ॥ ११ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः आनन्दाय गाथापतये तस्यां च महातिमहत्यां परिषदि यावद् धर्मकथा। परिषत् प्रतिगता, राजा च गतः।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, आणंदस्स गाहावइस्स—आनन्द गाथापति को, तीसे य महइ महालियाए परिसाए—उस महनीय परिषद् में, जाव—यावत्, धम्म कहा—धर्मकथा कही, परिसा पडिगया—उपदेशानन्तर परिषद् चली गई, राया य गओ—राजा भी चला गया।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने आनन्द गाथापति तथा उस महती परिषद् को धर्म उपदेश दिया। धर्म प्रवचन के पश्चात् परिषद् चली गई और जितशत्रु राजा भी चला गया।

टीका—इस सूत्र में भगवान की धर्मकथा का उल्लेख किया गया है। भगवान महावीर ने आनन्द गाथापति और जितशत्रु राजा आदि प्रधान पुरुषों की महासभा में धर्मकथा की। उसका विस्तृत वर्णन औपपातिक सूत्र में किया गया है। भगवान् ने सर्वप्रथम आस्तिकवाद का निरूपण किया। जैन दर्शन के अनुसार लोक, अलोक, जीव, अजीव, पुण्य-पाप; आश्रव-संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष रूप पदार्थों का वास्तविक अस्तित्व है। जैन शास्त्रों में इनका नय और प्रमाणों द्वारा निरूपण किया गया है। प्रत्येक पदार्थ स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से अस्ति अर्थात् विद्यमान है और पर द्रव्य आदि की अपेक्षा से नास्ति अर्थात् अविद्यमान है। इसका विस्तृत वर्णन सप्तभङ्गी न्याय द्वारा किया गया है। भगवान् ने सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तप का मोक्ष मार्ग के रूप में निरूपण किया है। साथ ही चार गतियों, चार कषायों, चार संज्ञाओं, षड् जीवनिकायों तथा चार विकथाओं अर्थात् स्त्रीविकथा, भक्तविकथा, देशविकथा तथा राजविकथा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त चार प्रकार की धर्म कथाओं का स्वरूप बताया गया है, वे इस प्रकार हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगनी और निर्वेदनी। उक्त चार धर्म कथाओं का श्रीठाणाङ्ग सूत्र में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

धर्मोपदेश श्रवण के अनन्तर आनन्द की प्रतिक्रिया—

मूलम्—तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ट-तुट्ट जाव एवं वयासी—सद्दहामि णं, भंते! णिग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं, भंते! णिग्गंथं पावयणं, रोएमि णं, भंते! निग्गंथं पावयणं, एवमेयं, भंते! तहमेयं, भंते! अवित्तहमेयं, भंते! इच्छियमेयं, भंते! पडिच्छियमेयं, भंते! इच्छिय-पडिच्छियमेयं, भंते! से जहेयं तुब्भे वयह त्ति कट्टु, जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे राईसर तलवर-माडंबिय-कोडुम्बिय-सेट्टि-सेणावई सत्थवाहप्पभिइआ मुण्डा भवित्ता आगराओ अणगारियं पव्वइया, नो खलु अहं तहा संचाएमि मुंडे जाव पव्वइत्तए। अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि। अहासुहं, देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह ॥ १२ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दो गाथापतिः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य हृष्टस्तुष्टः यावदेवमवादीत्—श्रद्धधामि खलु भदन्त! नैर्ग्रन्थं प्रवचनं, प्रत्येमि खलु भदन्त ! नैर्ग्रन्थं प्रवचनं, रोचते मे खलु भदन्त ! नैर्ग्रन्थं प्रवचनम्। एवमेतद् भदन्त! तथ्यमेतद् भदन्त! अवितथमेतद् भदन्त! इष्टमेतद् भदन्त! प्रतीष्टमेतद् भदन्त! इष्टप्रतीष्टमेतद् भदन्त! तद् यथैतद् यूयं वदथेति कृत्वा, यथा खलु देवानुप्रियाणामन्तिके बहवो राजेश्वर-तलवर-माडम्बिक-कौटुम्बिक-श्रेष्ठी-सेनापति-सार्थवाह प्रभृतयो मुण्डीभूय आगाराद् अनगारतां प्रव्रजिताः, नो खलु अहं तथा शक्नोमि मुण्डो यावत् प्रव्रजितुम्। अहं खलु देवानुप्रियाणामन्तिके पञ्चाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं गृहिधर्मं प्रतिपत्स्ये। यथासुखं देवानुप्रिय! मा प्रतिबन्धं कुरु।

शब्दार्थ—तए णं से—तत्पश्चात्, आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स—आनन्द गाथापति श्रमण भगवान् महावीर के, अंतिए—पास, धम्मं—धर्म को, सोच्चा—सुनकर, निसम्म—हृदय में धारण करके, हड्ड तुड्डं जाव एवं वयासी—हृष्ट-तुष्ट यावत् प्रसन्न होकर इस प्रकार बोला, सहहामि णं, भंते ! णिग्गंथं पावयणं—हे भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ, पत्तियामि णं भंते! णिग्गंथं पावयणं—हे भगवन्! निर्ग्रन्थ प्रवचन पर मैं विश्वास करता हूँ। रोएमि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं—हे भगवन् ! निर्ग्रन्थ प्रवचन मुझे अच्छा लगता है। एवमेयं भंते !—हे भगवन् (सत्य का स्वरूप) ऐसा ही है, तहमेयं भंते!—भगवन्! यही तथ्य है, अविहमेयं भंते!—हे भगवन्! यह यथार्थ है। इच्छियमेयं भंते!—हे भगवन्! यह अभिलषणीय है, पडिच्छियमेयं भंते!—हे भगवन्! यह अभीप्सनीय है, इच्छियपडिच्छियमेयं भंते!—हे भगवन् यह अभिलषणीय तथा अभीप्सनीय है। से जहेयं तुब्भे वयह—यह प्रवचन ठीक वैसा ही है जैसा आपने कहा है। त्ति कट्टु—अतः, जहा णं देवानुप्पियाणं अंतिए—जिस प्रकार देवानुप्रिय के पास, बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-सेट्टि-सेणावई-सत्थवाहप्पभिइया—बहुत से राजा-ईश्वर-तलवर-माडम्बिक-कौटुम्बिक-श्रेष्ठी-सेनापति- सार्थवाह आदि; मुण्डा भविता—मुण्डित होकर, अगाराओ अणगारियं पव्वइया—घर छोड़कर मुनि बने, नो खलु अहं तहा संचाएमि मुण्डे जाव पव्वइत्तए—मैं उस प्रकार मुण्डित यावत् प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हूँ। अहं णं देवानुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं—मैं तो देवानुप्रिय के पास पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत, इस प्रकार, दुवालसविहं गिहि धम्मं—द्वादशविध गृहस्थ धर्म को, पडिवज्जिस्सामि—स्वीकार करूंगा। अहासुहं देवानुप्पिया—भगवान ने कहा, हे देवानुप्रिय ! जैसे तुमको सुख हो वैसे करो, मा पडिबन्धं करेह—विलम्ब मत करो।

भावार्थ—तत्पश्चात् आनन्द गाथापति श्री भगवान महावीर स्वामी के पास धर्मोपदेश सुनकर हृष्ट-तुष्ट एवं प्रसन्न होकर इस प्रकार कहने लगा—भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ, विश्वास करता हूँ, वह मुझे अच्छा लगता है। भगवन्! यह ऐसा ही है जैसा आपने कहा। निर्ग्रन्थ

प्रवचन सत्य है, यथार्थ है, तथ्य है, मुझे अभीप्सित है, तथा अभीप्रेत है। हे देवानुप्रिय! आपके पास जिस प्रकार राजा-ईश्वर-तत्त्वर- माडम्बिक-कौटुम्बिक-श्रेष्ठी-सेनापति-सार्थवाह मुण्डित होकर—घर छोड़कर मुनि बने हैं, मैं उस प्रकार मुण्डित एवं प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हूँ। अतः देवानुप्रिय! मैं आपके पास पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत स्वरूप द्वादशविध गृहस्थ धर्म को अंगीकार करना चाहता हूँ। आनन्द गाथापति के इस प्रकार कहने पर भगवान महावीर ने उत्तर दिया—देवानुप्रिय! जैसे तुम्हें सुख हो उस प्रकार करो, विलम्ब मत करो।

टीका—धर्म के दो रूप हैं, श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। श्रुतधर्म का अर्थ है—धर्म के स्वरूप का ज्ञान और उसमें श्रद्धा। चारित्रधर्म का अर्थ है—संयम और तप। संयम द्वारा आत्मा को पाप अथवा अशुभ प्रवृत्तियों से बचाया जाता है और तप द्वारा पूर्व संचित कर्मों अथवा अशुद्धि को दूर किया जाता है। मुनि पूर्ण संयम का पालन करता है और गृहस्थ आंशिक रूप में। आनन्द ने भगवान का प्रवचन सुनकर उसे अच्छी तरह समझा और दृढ़ विश्वास जमाया। तदनन्तर अगले कदम के रूप में श्रावक के व्रत अङ्गीकार किये। उसने अपने विश्वास को जिन शब्दों द्वारा प्रकट किया है वह उसकी दृढ़ श्रद्धा को प्रकट करते हैं। इसी को जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन कहा गया है जो कि मोक्ष मार्ग की आधारशिला है।

भगवान् ने आनन्द को सम्बोधित करते हुए 'देवानुप्रिय' शब्द का प्रयोग किया है, इसी प्रकार आनन्द ने भी भगवान् के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ है, वह व्यक्ति जो देवताओं को भी प्रिय लगता है अर्थात् जिसके जीवन के लिए देवता भी स्पृहा करते हैं।

राजा, ईश्वर आदि शब्द तत्कालीन सामाजिक एवं राजकीय प्रतिष्ठा के द्योतक हैं। इनका अर्थ परिशिष्ट में देखें।

आनन्द का व्रतग्रहण—

प्रथम अहिंसा व्रत—

मूलम्—तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा ॥ १३ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दो गाथापतिः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके तत्प्रथमतया स्थूलं प्राणातिपातं प्रत्याख्याति, यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि मनसा वचसा कायेन।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से—उस, आणंदे गाहावई—आनन्द गाथापति ने, समणस्स

भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के, अंतिए—पास में, तण्ढमयाए—सर्वप्रधान, धूलंगं पाणाइवायं—स्थूलप्राणातिपात का, पच्चक्खाइ—प्रत्याख्यान किया। जावज्जीवाए—समस्त जीवन के लिए, दुव्हिहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से अर्थात्, न करेमि—न करूंगा न कारवेमि—न कराऊंगा, मणसा—मन से, वयसा—वचन से, कायसा—और काय से।

भावार्थ—इसके पश्चात् आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान् महावीर के पास अखिल व्रतों में श्रेष्ठ प्रथम व्रत के रूप में स्थूल प्राणातिपात अर्थात् स्थूल हिंसा का दो कारण तीन योग से परित्याग किया। उसने निश्चय किया कि यावज्जीवन मन, वचन और शरीर से स्थूल प्राणातिपात न स्वयं करूंगा और न दूसरों से कराऊंगा।

टीका—दुव्हिहं तिविहेणं—किसी कार्य या वस्तु का परित्याग कई प्रकार से किया जाता है। किसी कार्य को हम स्वयं नहीं करते, किन्तु दूसरे से कराने या अन्य व्यक्ति द्वारा स्वयं करने पर उसके अनुमोदन का त्याग नहीं करते। इस दृष्टि से जैन धर्म में ४६ भंग अर्थात् प्रकार बताए गए हैं। करना, कराना तथा अनुमोदन करना, ये तीन करण हैं और मन, वचन तथा काय के रूप में तीन योग हैं। सर्वोत्कृष्ट त्याग तीन करण, तीन योग से होता है, इसका अर्थ है किसी कार्य को मन, वचन तथा काय से न स्वयं करना न दूसरे से कराना और न करने वाले का अनुमोदन करना। इस प्रकार का त्याग समस्त सांसारिक प्रवृत्तियों से निवृत्त मुनि के लिए सम्भव है। त्याग की निम्नतम श्रेणी एक करण, एक योग है अर्थात् अपने हाथ से स्वयं न करना। अन्य कोटियां इन दोनों के मध्यवर्ती हैं। श्रावक अपने व्रतों को साधारणतया दो करण, तीन योग से स्वीकार करता है अर्थात् वह निश्चय करता है कि स्थूल हिंसा आदि पाप कार्यों को मन, वचन और काया के द्वारा मैं न स्वयं करूंगा और न दूसरे से कराऊंगा। जहां तक अनुमोदन का प्रश्न है, उसे छूट रहती है। उपरोक्त ४६ भंग अथवा प्रकारों में प्रस्तुत भंग का ४० वां स्थान है, जो २३ अर्थात् दो और तीन के अङ्क द्वारा प्रकट किया जाता है।

धूलंगं पाणाइवायं—जैन धर्म में जीवों का विभाजन दो श्रेणियों में किया गया है। साधारण कीड़े-मकोड़ों से लेकर मनुष्य पर्यन्त जो जीव स्वेच्छानुसार चल-फिर या हिल सकते हैं, उन्हें त्रस कहा गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति के जीव स्थावर कहे गये हैं। स्थूल हिंसा से तात्पर्य है—त्रस जीवों की हिंसा। आनन्द श्रावक ने भगवान से यह व्रत ग्रहण किया कि निरपराधी चलने-फिरने वाले प्राणियों की मैं हिंसा नहीं करूंगा, इसलिए उसने दो करण और तीन योग से मोटी हिंसा का परित्याग किया। श्रावक को स्थावर जीवों की हिंसा का पूर्णरूपेण परित्याग नहीं होता। मुनि को स्थावर तथा त्रस दोनों की हिंसा का पूर्णतया परित्याग होता है।

द्वितीय सत्य व्रत—

मूलम्—तयाणंतरं च णं थूलगं मुसावायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा ॥ १४ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलकं मृषावादं प्रत्याख्याति, यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि, न कारयामि, मनसा, वचसा, कायेन ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—और उसके अनन्तर, थूलगं मुसावायं—स्थूल मृषावाद का, पच्चक्खाइ—प्रत्याख्यान किया, जावज्जीवाए—यावज्जीवन, दुविहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से, न करेमि—न करूंगा, न कारवेमि—न कराऊंगा, मणसा—मन से, वयसा—वचन से, कायसा—शरीर से ।

भावार्थ—इसके बाद आनन्द ने मृषावाद का प्रत्याख्यान किया कि यावज्जीवन दो करण तीन योग से अर्थात् मन से, वचन से और काय से स्थूल मृषावाद का प्रयोग न स्वयं करूंगा और न दूसरों से कराऊंगा ।

तृतीय अस्तेय व्रत—

मूलम्—तयाणंतरं च णं थूलगं अदिण्णादाणं पच्चक्खाइ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा ॥ १५ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलकं अदत्तादानं प्रत्याख्याति यावज्जीवं द्विविधं त्रिविधेन न करोमि न कारयामि, मनसा वचसा कायेन ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—तदनन्तर, थूलगं अदिण्णादाणं—स्थूल अदत्तादान का, पच्चक्खाइ—प्रत्याख्यान किया कि, जावज्जीवाए—यावज्जीवन, दुविहं तिविहेणं—दो करण तीन योग से अर्थात्, न करेमि—स्थूल चोरी न करूंगा, न कारवेमि—न कराऊंगा, मणसा—मन से, वयसा—वचन से, कायसा—और शरीर से, ।

भावार्थ—इसके बाद आनन्द ने स्थूल अदत्तादान अर्थात् चौर्य का प्रत्याख्यान किया कि यावज्जीवन दो करण तीन योग से अर्थात् मन से, वचन से और काय से स्थूल चोरी न करूंगा और न कराऊंगा ।

चतुर्थ स्वदारसंतोष व्रत—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सदारसंतोसीए परिमाणं करेइ, नन्नत्थ एक्काए सिवानंदाए भारियाए, अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खामि ॥ १६ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु स्वदारसान्तोषिके परिमाणं करोति, नान्यत्र एकस्याः शिवानन्दाया भार्याया अवशेषं सर्वं मैथुनविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—तदनन्तर, सदारसंतोसीए—स्वदार सन्तोष सम्बन्धी व्रत के सम्बन्ध में, परिमाणं करेइ—परिमाण किया, नन्नत्थ एक्काए सिवानंदाए भारियाए—एक शिवानन्दा भार्या के अतिरिक्त, अवसेसं—अवशिष्ट, सव्वं मेहुणविहिं—सब प्रकार के मैथुन सेवन का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूं।

भावार्थ—तत्पश्चात् आनन्द ने स्वदार सन्तोष सम्बन्धी व्रत को स्वीकार किया और यह मर्यादा स्वीकार की कि शिवानन्दा नामक विवाहित पत्नी के अतिरिक्त अन्यत्र मैथुन सेवन का प्रत्याख्यान करता हूं।

टीका—प्रस्तुत व्रत में योग और करण का उल्लेख नहीं किया गया। आवश्यक सूत्र में केवल एक करण एक योग का उल्लेख है। इसका अर्थ है श्रावक मर्यादित क्षेत्र से बाहर केवल काया से स्वयं मैथुन सेवन का परित्याग करता है। गृहस्थ जीवन में सन्तान आदि का विवाह करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार पशुपालन करने वाले के लिए उनका परस्पर सम्बन्ध कराना भी अनिवार्य हो जाता है। अतः इसमें दो करण और तीन योग न कहकर श्रावक की अपनी परिस्थिति एवं सामर्थ्य पर छोड़ दिया है। जो श्रावक घर के बाहर उत्तरदायित्व से निवृत्त हो चुका है, वह यथाशक्ति पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढ़ सकता है।

पञ्चम इच्छा परिमाण व्रत—

मूलम्—तयाणंतरं च णं इच्छाविहिपरिमाणं करेमाणे हिरण्णसुवण्णविहि परिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं हिरण्णकोडीहिं निहाण पउत्ताहिं, चउहिं वुड्ढि पउत्ताहिं, चउहिं पवित्थर पउत्ताहिं, अवसेसं सव्वं हिरण्ण सुवण्णविहिं पच्चक्खामि ॥ १७ ॥

तयाणंतरं च णं चउप्पय विहि परिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं वएहिं दसगोसाहस्सिएणं वएणं, अवसेसं सव्वं चउप्पयविहिं पच्चक्खामि ॥ १८ ॥

तयाणंतरं च णं खेत्त-वत्थु विहि परिमाणं करेइ, नन्नत्थ पंचहिं हलसएहिं नियत्तण-सइएणं हलेणं अवसेसं सव्वं खेत्तवत्थु विहिं पच्चक्खामि ॥ १९ ॥

तयाणंतरं च णं सगडविहि परिमाणं करेइ, नन्नत्थ पंचहिं सगडसएहिं दिसायत्तिएहिं, पच्चहिं सगडसएहिं संवाहणिएहिं, अवसेसं सव्वं सगडविहिं पच्चक्खामि ॥ २० ॥

तयाणंतरं च णं वाहणविहि परिमाणं करेइ, नन्नत्थ चउहिं वाहणेहिं दिसायत्तिएहिं, चउहिं वाहणेहिं संवाहणिएहिं, अवसेसं सव्वं वाहणविहिं पच्चक्खामि ॥ २१ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु इच्छाविधि परिमाणं कुर्वन् हिरण्यसुवर्णविधि परिमाणं करोति।

नान्यत्र चतसृभ्यो हिरण्यकोटिभ्यो निधानप्रयुक्ताभ्यः, चतसृभ्यो वृद्धिप्रयुक्ताभ्यः, चतसृभ्यः प्रविस्तरप्रयुक्ताभ्यः, अवशेषं सर्वं हिरण्यसुवर्णविधिं प्रत्याख्यामि ।

तदनन्तरं च खलु चतुष्पदविधि परिमाणं करोति । नान्यत्र चतुर्भ्यो व्रजेभ्यो दशगोसाहसिकेण व्रजेण, अवशेषं सर्वं चतुष्पदविधिं प्रत्याख्यामि ।

तदनन्तरं च खलु क्षेत्रवास्तुविधिपरिमाणं करोति । नान्यत्र पञ्चभ्यो हलशतेभ्यो निवर्त्तनशतिकेन हलेन, अवशेषं सर्वं क्षेत्रवस्तुविधिं प्रत्याख्यामि ।

तदनन्तरं च खलु शकटविधिपरिमाणं करोति । नान्यत्र पञ्चभ्यः शकटशतेभ्योदिग्यात्रिकेभ्यः, पञ्चभ्यः शकटशतेभ्यः सांवाहनिकेभ्यः, अवशेषं सर्वं शकटविधिं प्रत्याख्यामि ।

तदनन्तरं च खलु वाहनविधिपरिमाणं करोति । नान्यत्र चतुर्भ्यो वाहनेभ्यो दिग्यात्रिकेभ्यः, चतुर्भ्यो, वाहनेभ्यः, सांवाहनिकेभ्यः, अवशेषं सर्वं वाहनविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके पश्चात् आनन्द ने, इच्छाविधिपरिमाणं करमाणे—इच्छा विधि का परिमाण करते हुए, हिरण्यसुवर्णविधिपरिमाणं—हिरण्यसुवर्ण विधि का परिमाण, करेइ—किया कि, चउहिं हिरण्य कोडीहिं निहाणपउत्ताहिं—कोष में सञ्चित चार कोटि हिरण्य-सुवर्ण, चउहिं बुद्धि पउत्ताहिं—वृद्धि अर्थात् व्यापार में लगे चार कोटि हिरण्य, चउहिं पविस्थर पउत्ताहिं—प्रविस्तर अर्थात् गृह एवं गृहोपकरण सम्बन्धी चार हिरण्य कोटि के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—शेष, सव्वं—समस्त, हिरण्य सुवर्णविहिं—हिरण्य-सुवर्ण संग्रह का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, चउष्पयविधि परिमाणं—चतुष्पद विधि का परिमाण, करेइ—किया कि, दसगोसाहसिएणं वएणं चउहिं वएहिं—प्रत्येक में दस हजार गौओं वाले चार व्रजों के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं सव्वं—अन्य सब, चउष्पयविहिं पच्चक्खामि—चतुष्पद अर्थात् पशु संग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, खेत्तवत्थु विधि परिमाणं—क्षेत्र-वास्तु विधि का परिमाण, करेइ—किया, नियत्तण-सइयणं हलेणं—सौ बीघा भूमि का एक हल ऐसे, पंचहिं हलसएहिं—पांच सौ हलों के, नन्नत्थ—सिवाय, अवसेसं—अन्य, सव्वं—सब, खेत्तवत्थुविहिं—क्षेत्र-वास्तुविधि का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

तयाणंतरं च णं—तदनन्तर, सगडविधिपरिमाणं करेइ—शकट विधि का परिमाण किया कि, पंचहिं सगड सएहिं दिसायत्तिएहिं—पांच सौ शकट विदेश यात्रा करने वाले और, पंचहिं सगड सएहिं संवाहणिएहिं—पांच सौ शकट माल ढोने वाले, नन्नत्थ—सिवा, अवसेसं—अन्य, सव्वं—सब, सगड विहिं—शकट विधि का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

तयाणंतरं च णं—तदनन्तर, वाहणविधिपरिमाणं—वाहन विधि का परिमाण, करेइ—किया, चउहिं वाहणेहिं दिसायत्तिएहिं—चार वाहन यात्रा के, चउहिं वाहणेहिं संवाहणेहिं—चार वाहन माल ढोने के, नन्नत्थ—सिवाय, अवसेसं सव्वं—अन्य सब, वाहणविहिं—वाहन विधि का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूं।

भावार्थ—तदनन्तर इच्छाविधि का परिमाण करते हुए आनन्द ने हिरण्य सुवर्ण (सोने की मुद्रा) की मर्यादा की और निश्चय किया कि कोष में निहित चार हिरण्य कोटि, व्यापार में प्रयुक्त चार हिरण्यकोटि और गृह तथा गृहोपकरण सम्बन्धी चार हिरण्यकोटि के, इस प्रकार बारह कोटि के अतिरिक्त हिरण्य सुवर्ण संग्रह करने का परित्याग करता हूं।

इसके पश्चात् चतुष्पद अर्थात् पशु सम्बन्धी मर्यादा की—प्रत्येक में दस हजार गौओं वाले ऐसे चार गोकुलों के सिवाय अन्य पशु संग्रह का प्रत्याख्यान किया।

तदनन्तर क्षेत्रवास्तु का परिमाण किया और सौ बीघा भूमि का एक हल, इस प्रकार के पांच सौ हलों के सिवाय शेष क्षेत्रवास्तु का प्रत्याख्यान किया।

उसके पश्चात् बैल गाड़ियों का परिमाण किया और पांच सौ शकट यात्रा के लिए और पांच सौ शकट माल ढोने के रखे-। इसके अतिरिक्त अन्य शकट रखने का परित्याग किया।

तदनन्तर वाहनों, नौकाओं अर्थात् जलयानों का परिमाण किया। चार माल ढोने की तथा चार यात्रा की नौकाओं के सिवाय अन्य नौकाओं के रखने का प्रत्याख्यान किया।

टीका—प्रस्तुत व्रत का नाम इच्छाविधि परिमाण दिया गया है। इसका अर्थ है कि सम्पत्ति सम्बन्धी इच्छा को मर्यादित करना। समाज, शान्ति-व्यवस्था और परस्पर शोषण को रोकने के लिए यह व्रत अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि इच्छाओं की अनर्गल वृद्धि से ही राष्ट्रों में संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इस व्रत को परिग्रह परिमाण व्रत भी कहा जाता है। इसका अर्थ है—सम्पत्ति की मर्यादा। यह नाम संग्राह्य वस्तु की दृष्टि से है और इच्छाविधि के रूप उपर्युक्त नाम संग्राहक के मनोभावों की दृष्टि से है। जहां तक चारित्र्य का प्रश्न है इच्छा परिमाण अधिक उपयुक्त है। इसका अर्थ है, सम्पत्ति रखना अपने आप में बुरा नहीं है। एक व्यक्ति किसी संस्था का संचालक होने के नाते करोड़ों की सम्पत्ति रख सकता है। बुरा है उस सम्पत्ति के प्रति इच्छा या ममत्व का होना।

प्रस्तुत सूत्र में गो पद केवल गाय का वाचक नहीं है। घोड़े-बैल आदि अन्य पशु भी इसके अन्तर्गत हैं। गाय की मुख्यता होने के कारण पशुधन का परिमाण उसी के द्वारा किया जाता है।

आनन्द के पास दस-दस हजार गौओं वाले चार व्रज थे। इससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत में पशुधन सम्पत्ति का प्रमुख अङ्ग था। गाय दूध, दही और घी आदि के रूप में सात्विक एवं

पौष्टिक भोजन प्रदान करती थी और बैल यात्रा, परिवहन एवं कृषि के काम आते थे और व्यापार का मुख्य अङ्ग थे। इन दोनों के द्वारा तत्कालीन समाज स्वास्थ्य तथा समृद्धि प्राप्त करता था।

खेत्तवत्यु—क्षेत्र का अर्थ है, खेत अर्थात् खेती करने की भूमि। 'वत्यु' शब्द का संस्कृत रूपान्तर वस्तु एवं वास्तु दोनों प्रकार से किया जाता है। वस्तु का अर्थ है वस्त्र, पात्र, शय्या आदि प्रतिदिन काम में आने वाले उपकरण, और वास्तु का अर्थ है मकान अथवा निवास। 'वास्तुसार' आदि स्थापत्य एवं शिल्प सम्बन्धी ग्रन्थों में वास्तु शब्द का अर्थ भवन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में भी यही अर्थ विवक्षित है। अभयदेव सूरि ने क्षेत्र को ही वस्तु बताया है उनके शब्द निम्नलिखित हैं—'खेत्तवत्यु त्ति' इह क्षेत्रमेव वस्तु-क्षेत्रवस्तु ग्रन्थान्तरे तु क्षेत्रं च वास्तु च गृहं क्षेत्रवास्तु इति व्याख्यायते।' अर्थात् यहां क्षेत्र ही वस्तु है। किन्तु अन्य ग्रन्थों में इसकी व्याख्या क्षेत्र और वास्तु के रूप में की गई है।

नियत्तण सइएणं—आनन्द ने पांच सौ हल भूमि का परिमाण किया। प्रत्येक हल सौ निवर्तनों* का बताया गया है। निवर्तन का अर्थ है हल चलाते हुए बैलों का मुड़ना। इसी को घुमाव (पञ्जाबी घुमाओं) या खूड भी कहते हैं। अभयदेव-सूरि ने इसका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार बताया है—नियत्तणसइएणं, त्ति निवर्तनम्-भूमिपरिमाण विशेषो देश विशेष प्रसिद्धः ततो निवर्तनशतं कर्षणीयत्वेन यस्यास्ति तन्निवर्तनशतिकं तेन।

दिसायत्तिएहिं—प्रस्तुत सूत्र में दो प्रकार की नौकाओं का वर्णन है। पहला प्रकार उन नौकाओं का है जो देश, विदेश में यात्रा के लिए काम में आती थीं। दूसरी वे हैं, जो सामान ढोने के काम में आती थीं। आनन्द जल एवं स्थल दोनों मार्गों से व्यापार करता था। जल मार्ग के लिए उसके पास आठ जहाज थे—चार यात्रा के लिए और चार माल ढोने के लिए। स्थल मार्ग के लिए उसके पास एक हजार बैलगाड़ियां थीं—पांच सौ यात्रा के लिए और पांच सौ माल ढोने के लिए।

श्रावक के १२ व्रतों में पांचवां परिग्रह-परिमाण व्रत है और छठा दिशा-परिमाण। परिग्रह परिमाण में धनधान्य, पशु, खेत एवं अन्य वस्तुओं के स्वामित्व की मर्यादा की जाती है। छठे दिशा परिमाण व्रत में खेती-व्यापार आदि के लिए क्षेत्र की मर्यादा की जाती है। यहां श्रावक यह निश्चय करता है कि ऊपर नीचे तथा चारों दिशाओं में वह खेती उद्योग वाणिज्य एवं अन्य व्यवसाय के लिए निश्चित क्षेत्र मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करेगा। प्रस्तुत सूत्र में छठा व्रत पांचवें के ही अन्तर्गत कर लिया गया है।

* निवर्तन—कराणां दशकेन वंशः। निवर्तनं विंशतिवंशं संख्यैः क्षेत्रं चतुर्भिश्च भुजैर्निबद्धम् लीलावत्याम् ॥ ६ ॥

(9) उद्द्रवणिका विधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं उवभोगपरिभोग विहिं पच्चक्खाएमाणे, उल्लणिया विहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगाए गंध-कासाईए, अवसेसं सच्चं उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि ॥ २२ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु उपभोगपरिभोगविधिं प्रत्याचक्षाणः, उद्द्रवणिका विधि परिमाणं करोति। नान्यत्र एकस्या गन्धकाषायिकाय्याः, अवशेषं सर्वमुद्द्रवणिकाविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर आनन्द ने, उवभोगपरिभोगविहिं—उपभोग-परिभोग विधि का, पच्चक्खाएमाणे—प्रत्याख्यान करते हुए, उल्लणिया विहिपरिमाणं करेइ—भीगे हुए शरीर को पोंछने के काम आने वाले अंगोछे आदि की मर्यादा निश्चित की, एगाए—एक, गंधकासाईए—सुगन्धित एवं लाल अंगोछे के, नन्नत्थ—सिवाय, अवसेसं सच्चं—अन्य सब, उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि—उद्द्रवणिका विधि-अंगोछे रखने का प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद आनन्द ने उपभोग-परिभोग विधि का प्रत्याख्यान करते हुए उद्द्रवणिका-विधि का अर्थात् स्नान के पश्चात् भीगे शरीर को पोंछने के काम में आने वाले अंगोछे का परिमाण किया और गन्धकषाय नामक वस्त्र के अतिरिक्त अन्य सबका प्रत्याख्यान किया।

टीका—उवभोग परिभोग विहिं—भोजन, पान, विलेपन आदि से सम्बन्ध रखने वाली जो वस्तुएं केवल एक बार काम में आती हैं, उन्हें उपभोग कहा जाता है और वस्त्र, पात्र, शय्या आदि जो वस्तुएं बार-बार काम आती हैं उन्हें परिभोग कहा जाता है। इसके विपरीत कहीं-कहीं एक बार काम में आने वाली वस्तुओं को परिभोग और अनेक बार काम में आने वाली वस्तुओं को उपभोग कहा गया है। प्रस्तुत व्रत में इन्हीं की मर्यादा विहित है। इसके लिए २६ वस्तुएं गिनाई गई हैं। अभयदेव सूरि ने उपभोग-परिभोग की निम्नलिखित व्याख्या की है—उवभोग परिभोग ति—उपभुज्यते पौनः पुन्येन सेव्यत इत्युपभोगो भवनवसनवनितादिः। परिभुज्यत इति परिभोगः आहारकुसुमविलेपनादिः। व्यत्ययो वा व्याख्येय इति।

उल्लणियाविहिं—यह शब्द 'द्रु' या 'लु' धातु से बना है। 'द्रु' का अर्थ है—गीला करना, उसके साथ 'उत्' उपसर्ग लगाने से गीलेपन को हटाना अर्थ हो जाता है। 'लु' धातु का अर्थ है हटाना या छीनना। इसी से लूषण,, लूषक आदि शब्द बनते हैं। इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—“उल्लणियत्ति-स्नान जलार्द्रशरीरस्य जललूषणवस्त्रम्।” अर्थात् स्नान के पश्चात् गीले शरीर को पोंछने वाला तौलिया।

(२) दन्तधावन विधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं दंतवण विहि परिमाणं करेइ । नन्नत्थ एगेणं अल्ललट्टी महुएणं, अवसेसं दंतवणविहिं पच्चक्खामि ॥ २३ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु दन्तधावन विधि परिमाणं करोति । नान्यत्रैकस्मादारद्रमधुयष्ट्याः, अवशेषं दन्तधावनविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, दंतवणविहिपरिमाणं—दन्तधावनविधि का परिमाण, करेइ—किया, एगेणं—एक, अल्ल लट्टीमहुएणं—आर्द्र अर्थात् हरी, मधुयष्टि—मुलहटी के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं सव्वं—अन्य सब, दंतवणविहिं पच्चक्खामि—दन्तधावनों का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—इसके पश्चात् आनन्द ने दन्त-धावन विधि का परिमाण किया और एक हरी मधुयष्टि अर्थात् मुलहटी के अतिरिक्त अन्य दतुअन* का प्रत्याख्यान किया ।

(३) फलविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं फलविहि परिमाणं करेइ । नन्नत्थ एगेणं खीरामलएणं, अवसेसं फलविहिं पच्चक्खामि ॥ २४ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु फलविधिपरिमाणं करोति । नान्यत्रैकस्मात् क्षीरामलकाद्, अवशेषं फलविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, फलविहिपरिमाणं करेइ—फलविधि का परिमाण किया, एगेणं—एक, खीरामलएणं—क्षीरामलक अर्थात् दूधिया मीठे आमलक के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, फलविहिं पच्चक्खामि—फलों का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—इसके पश्चात् फलविधि का परिमाण किया और क्षीरामलक—दूधिया आंवले के अतिरिक्त अन्य सब फलों का प्रत्याख्यान किया ।

टीका—क्षीरामलक शब्द का अर्थ है दूधिया आंवला, जिसमें गुठली नहीं पड़ी है । प्राचीन समय में इसका प्रयोग सिर एवं आंखें आदि धोने के लिए किया जाता था ।

(४) अभ्यङ्गनविधि—

— मूलम्—तयाणंतरं च णं अब्भंगणविहिपरिमाणं करेइ । नन्नत्थ सयपागसहस्सपागेहिं

* दातून—गृहस्थों को दातून करने का निषेध नहीं, इसकी मर्यादा ही है, मर्यादा के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रयोग न करे ।

तेल्लेहिं अवसेसं अब्भंगणविहिं पच्चक्खामि ॥ २५ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु अभ्यङ्गनविधि परिमाणं करोति । नान्यत्र शतपासहस्रपाकाभ्यां तैलाभ्यामवशेषमभ्यंगनविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, अब्भंगणविहिपरिमाणं करेइ—अभ्यङ्गन अर्थात् मालिश करने के तेल आदि वस्तुओं का परिमाण निश्चित किया, सयपाग सहस्सपागेहिं तेल्लेहिं—शतपाक और सहस्रपाक तेलों के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, अब्भंगणविहिं पच्चक्खामि—मालिश के तेलों का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—तत्पश्चात् अभ्यङ्गनविधि अर्थात् मालिश के काम में आने वाले तेलों का परिमाण किया और शतपाक तथा सहस्रपाक नामक तेलों को छोड़कर अन्य सब मालिश के तेलों का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

टीका—सयपाग सहस्सपागेहिं—इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—द्रव्यशतस्य शतकं क्वाथशतेन सह यत्पच्यते कार्षापणशतेन वा तच्छतपाकम्, एवं सहस्रपाकमपि । अर्थात् जिस तेल को सौ वस्तुओं के साथ सौ बार पकाया जाता है अथवा जिसका मूल्य सौ कार्षापण है, उसे शतपाक कहते हैं, इसी प्रकार सहस्रपाक भी समझ लेना चाहिए ।

(५) उद्धर्तनविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं उव्वट्टणविहिपरिमाणं करेइ । नन्नत्थ एगेणं सुरहिणा गंधट्टणं, अवसेसं उव्वट्टणविहिं पच्चक्खामि ॥ २६ ॥

छाया—तदनन्तरं च खुल उद्धर्तनविधि परिमाणं करोति । नान्यत्रैकस्मात्सुरभेर्गन्धाट्टकाद्, अवशेषमुद्धर्तनविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, उव्वट्टणविहिपरिमाणं—उद्धर्तनविधि अर्थात् उबटन का परिमाण करेइ—किया । एगेणं—एक, सुरहिणा गंधट्टणं—सुगन्धित गन्धाटक, (पीठी) के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, उव्वट्टणविहिं—उद्धर्तन विधि अर्थात् उबटनों का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—तदनन्तर उबटनों का परिमाण किया और एक गेहूँ आदि के आटे से बने हुए सुगन्धित उबटन के अतिरिक्त अन्य सब उबटनों का प्रत्याख्यान किया ।

टीका—गंधट्टणं इस पर निम्नलिखित वृत्ति है—‘गंधट्टणं ति गन्ध द्रव्याणामुत्पलकुष्ठादिनां अट्टओ ति चूर्णं गोधूम चूर्णं वा गन्धयुक्तं तस्माद् ।’ अर्थात् नीलकमल, कुष्ठ आदि औषधियों के चूर्ण

अथवा गेहूं के आटे से बने हुए गन्धयुक्त उबटन के अतिरिक्त अन्य सर्व प्रकार के उबटनों का त्याग किया।

(६) स्नानविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं मज्जणविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ अट्टहिं उट्टिएहिं उदगस्स घडेहिं, अवसेसं मज्जणविहिं पच्चक्खामि ॥ २७ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु मज्जनविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्राष्टभ्य औष्ट्रिकेभ्य उदकस्य घटेभ्यः, अवशेषं मज्जनविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, मज्जणविधिपरिमाणं—मज्जनविधि अर्थात् स्नान के लिए पानी का परिमाण, करेइ—किया उदगस्स—जल के, अट्टहिं उट्टिएहिं—आठ औष्ट्रिक घड़ों के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, मज्जण-विहिं—स्नान के लिए पानी का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके अनन्तर स्नान जल का परिमाण किया और पानी से भरे हुए आठ औष्ट्रिक घड़ों के अतिरिक्त शेष जलों के उपयोग का प्रत्याख्यान किया।

टीका—औष्ट्रिक का अर्थ है ऊंट के आकार का पात्र अर्थात् जिसका मुंह संकरा, गर्दन लम्बी और पेट बड़ा हो। प्रतीत होता है, उस समय बड़े लोटे (गङ्गासागर) के रूप में इस प्रकार का बर्तन काम में लाया जाता था। आनन्द ने स्नान के लिए इस प्रकार के आठ कलश पानी की मर्यादा की, अर्थात् इससे अधिक पानी के कलश नहाने के लिए उपयोग नहीं करूंगा।

(७) वस्त्रविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं वत्थविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं खोमजुयलेणं, अवसेसं वत्थविहिं पच्चक्खामि ॥ २८ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु वस्त्रविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात् क्षौमयुगलाद्, अवशेषं वस्त्रविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, वत्थविधिपरिमाणं—वस्त्र विधि का परिमाण, करेइ—किया, एगेणं—एक, खोमजुयलेणं—क्षौमयुगल अर्थात् अलसी या कपास के बने हुए दो वस्त्रों के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य, वत्थविहिं—वस्त्र विधि का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके अनन्तर वस्त्रविधि अर्थात् पहनने के वस्त्रों का परिमाण किया और अलसी अथवा कपास के बने हुए वस्त्र युगल के अतिरिक्त अन्य वस्त्रों के पहनने का परित्याग किया।

टीका—खोमजुयलेणं ति इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—‘कार्पासिक वस्त्र युगलादन्यत्र’ अर्थात् कपास के बने हुए एक जोड़े के अतिरिक्त। क्षोम शब्द का अर्थ कपास या अतसी (अलसी) आदि से बना हुआ वस्त्र है। यहां कपास अर्थात् सूती वस्त्र को भी लिया गया है। युगल शब्द का अर्थ है दो। उन दिनों धोती के रूप में अधोवस्त्र तथा चदर-दुपट्टे आदि के रूप में उत्तरीय वस्त्र पहनने का रिवाज था। सिर पर मुकुट धारण किया जाता था, परन्तु वह वस्त्रों में नहीं गिना जाता था, अतः वस्त्र विधि में दो वस्त्रों का ही उल्लेख है।

(८) विलेपनविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं विलेवणविहि परिमाणं करेइ । नन्नत्थ अगरुकुंकुमचंदण-मादिएहिं, अवसेसं विलेवणविहिं पच्चक्खामि ॥ २६ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु विलेपनविधि परिमाणं करोति। नान्यत्र अगरुकुंकुम-चन्दनादिभ्यः, अवशेषं विलेपनविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—तत्पश्चात्, विलेवणविहि परिमाणं—विलेपन विधि का परिमाण, करेइ—किया। अगरुकुंकुमचंदणमादिएहिं—अगरु-कुंकुम-चन्दन आदि के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, विलेवणविहिं पच्चक्खामि—विलेपनविधि का प्रत्याख्यान करता हूं।

भावार्थ—इसके अनन्तर विलेपन विधि अर्थात् लेप करने की वस्तुओं का परिमाण किया और अगरु, कुंकुम, चन्दन आदि के अतिरिक्त अन्य सब विलेपनों का प्रत्याख्यान किया।

(९) पुष्पविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं पुष्पविहि परिमाणं करेइ । नन्नत्थ एगेणं सुद्धपउमेणं, मालइ कुसुमदामेणं वा, अवसेसं पुष्पविहिं पच्चक्खामि ॥ ३० ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु पुष्पविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मात् शुद्धपद्मात्, मालती कुसुमदाम्ने वा, अवशेषं पुष्पविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, पुष्पविहि परिमाणं—पुष्पविधि का परिमाण, करेइ—किया और, एगेणं—एक, सुद्धपउमेणं—श्वेत कमल, मालइ कुसुमदामेणं वा—तथा मालती के पुष्पों की माला के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, पुष्पविहिं—पुष्पों का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूं।

भावार्थ—इसके पश्चात् पुष्पविधि का परिमाण किया और श्वेत कमल तथा मालती के फूलों की माला के अतिरिक्त अन्य पुष्पों के धारण अथवा सेवन का प्रत्याख्यान किया।

टीका—‘सुद्धपउमेणं....दामेणं वा’ प्रतीत होता है, उन दिनों मालती या चमेली के फूलों की माला पहनने और हाथ में श्वेत कमल को रखने का रिवाज था। मुगलकालीन चित्रों में भी हाथ में फूल मिलता है।

(१०) आभरणविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं आभरणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ मडुकण्णेज्जएहिं नाम मुद्दाए य, अवसेसं आभरण विहिं पच्चक्खामि ॥ ३१ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु आभरणविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्र मृष्टकार्ण्यकाभ्यां नाममुद्रायाश्च अवशेषमाभरणविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, आभरणविहि परिमाणं—आभरणविधि का परिमाण करेइ—किया, मडुकण्णेज्जएहिं नाम मुद्दाए य—उज्ज्वल कुण्डलों तथा नाम मुद्रिका के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब आभरणविहिं—आभरणों का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूं।

भावार्थ—तदनन्तर आभरणविधि का प्रत्याख्यान किया और स्वर्ण कुण्डल तथा अपने नाम वाली मुद्रा (अंगूठी) के अतिरिक्त अन्य सब आभूषणों का प्रत्याख्यान किया।

टीका—मडुकण्णेज्जएहिं—मृष्ट का अर्थ है—शुद्ध सोने के बने हुए बिना चित्र के। वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—मृष्टाभ्यामचित्रवद्भ्यां कर्णाभरणविशेषाभ्याम्।

(११) धूपविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं धूवणविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ अगुरु तुरुक्क धूवमादिएहिं, अवसेसं धूवणविहिं पच्चक्खामि ॥ ३२ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु धूपनविधि परिमाणं करोति। नान्यत्रागुरुतुरुक्कधूपादिकेभ्यः, अवशेषं धूपनविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, धूवणविहि परिमाणं करेइ—धूपविधि का परिमाण किया और, नन्नत्थ अगुरु तुरुक्क धूवमादिएहिं—अगुरु, लोबान एवं धूप आदि के सिवाय, अवसेसं—अन्य सब, धूवणविहिं—धूपनीय वस्तुओं का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूं।

भावार्थ—इसके पश्चात् धूपन विधि का परिमाण किया और अगुरु, लोबान, धूप आदि के अतिरिक्त अन्य धूप के काम आने वाली वस्तुओं का परित्याग किया।

(१२) भोजन विधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं भोयणविहि परिमाणं करेमाणे, पेज्जविहि परिमाणं करेइ । नन्नत्थ एगाए कट्टपेज्जाए, अवसेसं पेज्जविहिं पच्चक्खामि ॥ ३३ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु भोजन विधि परिमाणं कुर्वन् पेयविधिपरिमाणं करोति । नान्यत्रैकस्याः काष्ठपेयात् अवशेषं पेयविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, भोयणविहिपरिमाणं—भोजनविधि का परिमाण, करेमाणे—करते हुए, पेज्जविहिपरिमाणं—पेय वस्तुओं का परिमाण, करेइ—किया । एगाए—एक, कट्टपेज्जाए—मूंग तथा घी में भुने हुए चावल आदि से बने पेय-विशेष के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, पेज्जविहिं—पेय पदार्थों का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—इसके पश्चात् भोजनविधि का परिमाण करते हुए सर्व प्रथम पेय वस्तुओं का परिमाण किया और मूंग अथवा चावलों से बने हुए तत्कालीन एक पेयविशेष के अतिरिक्त अन्य पेय पदार्थों का प्रत्याख्यान किया ।

टीका—कट्टपेज्जाए इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—मुद्गादियूषो घृत तलिततण्डुल पेया वा अर्थात् मूंग आदि का पानी अथवा घी में तले हुए चावलों द्वारा बनाया गया सूप, कहीं-कहीं काष्ठपेय का अर्थ कांजी किया गया है । आयुर्वेद में त्रिफला आदि के काढ़े को भी काष्ठपेय कहते हैं ।

(१३) भक्ष्यविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं भक्खविहि परिमाणं करेइ । नन्नत्थ एगेहिं घय पुण्णेहिं खण्डखज्जएहिं वा, अवसेसं भक्खविहिं पच्चक्खामि ॥ ३४ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु भक्ष्यविधिपरिमाणं करोति । नान्यत्रैकेभ्यः घृतपूर्णेभ्यः खण्डखाद्येभ्यो वा, अवशेषं भक्ष्यविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, भक्खविहिपरिमाणं—भक्ष्यविधि अर्थात् पक्वान्नों का परिमाण, करेइ—किया, एगेहिं—एक, घयपुण्णेहिं खंड खज्जएहिं वा—घेवर तथा खाजे के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, भक्खविहिं पच्चक्खामि—भक्ष्यविधि का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

भावार्थ—इसके बाद भक्ष्यविधि अर्थात् पक्वान्नों का परिमाण किया और घेवर तथा खाजे के अतिरिक्त अन्य पक्वान्नों का प्रत्याख्यान किया ।

(१४) ओदन विधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं ओयणविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ कलमसालि ओयणेणं, अवसेसं ओयणविहिं पच्चक्खामि ॥ ३५ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु ओदनविधि परिमाणं करोति। नान्यत्र कलमशाल्योदनात्, अवशेषोदनविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके पश्चात्, ओयणविहिपरिमाणं करेइ—ओदनविधि का परिमाण किया, कलमसालि ओयणेणं—कलम जातीय चावलों के, नन्नत्थ—अतिरिक्त अवसेसं—अन्य सब ओयणविहिं—ओदनविधि का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद ओदनविधि का परिमाण किया और कलम जातीय चावलों के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के चावलों का प्रत्याख्यान किया।

टीका—कलमसालि—कलम उत्तम जाति बासमति के चावलों का नाम है। प्रतीत होता है, उन दिनों भी बिहार प्रान्त का मुख्य भोजन ओदन अर्थात् चावल था, गेहूँ नहीं। आजकल भी वहाँ मुख्य रूप से चावल ही खाया जाता है।

(१५) सूपविधि

मूलम्—तयाणंतरं च णं सूवविहि परिमाणं करेइ। नन्नत्थ कलायसूवेण वा, मुग्गमाससूवेण वा, अवसेसं सूवविहिं पच्चक्खामि ॥ ३६ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु सूपविधि परिमाणं करोति। नान्यत्र कलायसूपाद्वा, मुद्गमाससूपाद् वा, अवशेषं सूपविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, सूवविहि परिमाणं—सूपविधि का परिमाण, करेइ—किया, नन्नत्थ कलायसूवेण वा मुग्गमाससूवेण वा—मटर तथा मूँग और उड़द की दाल के अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, सूवविहिं—दालों का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तरं सूपविधि अर्थात् दालों का परिमाण किया और मटर, मूँग तथा उड़द की दाल के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार की दालों का प्रत्याख्यान किया।

टीका—कलायसूवेण इस पर वृत्तिकार ने लिखा है—कलायाः चणकाकाराधान्यविशेषाः अर्थात् कलाय—चने के आकार वाले धान्यविशेष को कलाय (मटर) कहते हैं।

(१६) घृतविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं घयविहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ सारइएणं गोघयमण्डएणं, अवसेसं घयविहिं पच्चक्खामि ॥ ३७ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु घृतविधिपरिमाणं करोति । नान्यत्र शारदिकाद् गोघृतमण्डात्, अवशेषं घृतविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, घयविहिपरिमाणं—घृतविधि का परिमाण, करेइ—किया, नन्नत्थ सारइएणं गोघयमंडएणं—शरत्कालीन गोघृत के अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, घयविहिं—घृतविधि का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूं ।

भावार्थ—तदनन्तर घृतविधि का परिमाण और शरत्कालीन दानेदार गोघृतमंड के अतिरिक्त अन्य घृतों का प्रत्याख्यान किया ।

टीका—सारइएणं गोघयमंडेणं—इस पर टीका में निम्नलिखित शब्द हैं—‘सारइएण गोघयमण्डेणं’ ति शारदिकेन शरत्कालोत्पन्नेन गोघृतमण्डेन गोघृतसारिण, अर्थात् शरत्काल में उत्पन्न उत्तम गोघृत का सार । यहां मण्डशब्द का अर्थ है—सारभूत अर्थात् शुद्ध और ताजा घी के ऊपर जो पपड़ी जम जाती है, उसके अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के घृतों का प्रत्याख्यान किया ।

(१७) शाकविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सागविहि परिमाणं करेइ । नन्नत्थ वत्थु-साएण वा, चुच्चुसाएण वा, तुंबसाएण वा, सुत्थियसाएण वा, मण्डुक्कियसाएण वा, अवसेसं सागविहिं पच्चक्खामि ॥ ३८ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु शाकविधि परिमाणं करोति, नान्यत्र वास्तुशाकाद् वा, चूच्चुशाकाद् वा, तुम्बशाकाद् वा, सौवस्तिक शाकाद् वा, मण्डूकिका शाकाद् वा, अवशेषं शाकविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, सागविहिपरिमाणं—शाकविधि का परिमाण, करेइ—किया । वत्थुसाएण वा—बथुआ, चुच्चुसाएण वा—चूच्चु, तुम्बसाएण वा—घीया या लौकी, सुत्थियसाएण वा—सौवस्तिक, मण्डुक्कियसाएण वा—और, मण्डूकिक-भिंडी के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, सागविहिं—शाकों का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूं ।

भावार्थ—इसके बाद शाकविधि का परिमाण किया और बथुआ, चूच्चु, घीया, सौवस्तिक और मण्डूकिक के अतिरिक्त अन्य शाकों का प्रत्याख्यान किया ।

(१८) माधुरकविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं माहुरयविहि परिमाणं करेइ । नन्नत्थ एणेणं पालंगामाहुरएणं, अवसेसं माहुरयविहिं पच्चक्खामि ॥ ३९ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु माधुरकविधि परिमाणं करोति । नान्यत्रैकस्मात् पालंगामाधुरकात्,

अवशेषं माधुरकविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, माहुरयविहि—माधुरकविधि का, परिमाणं करेइ—परिमाण किया। एगेणं—एक, पालंगामाहुरएणं—पालंगा माधुर अर्थात् शल्लकी नामक वनस्पति के गोंद से बने हुए मधुरपेय विशेष के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, माहुरयविहिं—मीठे का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—तदनन्तर माधुरकविधि* का परिमाण किया और पालंगा माधुर के अतिरिक्त अन्य मीठे का प्रत्याख्यान किया।

(१६) जेमनविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं जेमणविहि परिमाणं करेइ । नन्नत्थ सेहंब दालियंबेहिं, अवसेसं जेमणविहिं पच्चक्खामि ॥ ४० ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु जेमनविधिपरिमाणं करोति । नान्यत्र सेधाम्लदालिकाम्लाभ्याम्, अवशेषं जेमनविधिं प्रत्याख्यामि ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर; जेमणविहिपरिमाणं—जेमनविधि का परिमाण, करेइ—किया। सेहंब दालियंबेहिं—सेधाम्ल-कांजी बड़े और दालिकाम्ल पकौड़े के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, जेमणविहिं—जेमनविधि का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद जेमन अर्थात् व्यंजनविधि का परिमाण किया और सेधाम्ल तथा दालिकाम्ल के अतिरिक्त अन्य सब जेमन अर्थात् व्यंजनों का प्रत्याख्यान किया।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में 'जेमण' शब्द से उन पदार्थों को लिया गया है जिन्हें प्रायः जिह्वास्वाद के लिए खाया जाता है। बोलचाल में इसे चाट कहते हैं। सेधाम्ल का अर्थ है—पकौड़े या बड़े, जिन्हें पकने के बाद खटाई में डाल दिया जाता है। साधारणतया इन्हें कांजी बड़े कहा जा सकता है। इनका सेवन आंवले की चटनी तथा अन्य खटाइयों के साथ भी किया जाता है। दालिकाम्ल वे पकौड़े हैं, जिन्हें तेल में तलकर खाया जाता है। खटाई इनके अन्दर ही रहती है। मारवाड़ में इन्हें दालिया कहा जाता है। इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—“सेहंबदालियंबेहिं ति सेधे-सिद्धेसति यानि अम्लेन तीमनादिना संस्क्रियन्ते तानि सेधाम्लानि । यानि दाल्या मुद्गादिमय्या निष्पादितानि अम्लानि च तानि दालिकाम्लानीति सम्भाव्यन्ते ।” अर्थात् जिन्हें पक जाने पर इमली आदि की खटाई में डाला जाता है उन्हें सेधाम्ल कहते हैं। तथा जो खटाई में डालकर मूंग आदि की दाल के बनाए जाते हैं उन्हें दालिकाम्ल कहते हैं।

(२०) पानीयविधि—

* माधुरिक शब्द का अर्थ है—गुड़, चीनी, मिश्री आदि वे वस्तुएँ जिनके द्वारा अन्य वस्तुओं को मीठी बनाया जाता है।

मूलम्—तयाणंतरं च णं पाणिय-विहिपरिमाणं करेइ। नन्नत्थ एगेणं अंतलिक्खोदएणं; अवसेसं पाणियविहिं पच्चक्खामि ॥ ४१ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु पानीयविधिपरिमाणं करोति। नान्यत्रैकस्मादन्तरिक्षोदकात्, अवशेषं पानीयविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, पाणिय विहिपरिमाणं—पीने के पानी का परिमाण, करेइ—किया, एगेणं—एक, अंतलिक्खोदएणं—बादलों के पानी के, नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, पाणियविहिं—जलों का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके बाद पानीयविधि का अर्थात् पीने के पानी का परिमाण किया और एकमात्र वर्षा के पानी के अतिरिक्त अन्य सब जलों का प्रत्याख्यान किया।

(२१) ताम्बूलविधि—

मूलम्—तयाणंतरं च णं मुहवास-विहि-परिमाणं करेइ। नन्नत्थ पंचसोगंधिएणं तंबोलेणं, अवसेसं मुहवास-विहिं पच्चक्खामि ॥ ४२ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु मुखवासविधि परिमाणं करोति। नान्यत्र पञ्चसौगन्धिकात्ताम्बूलादवशेषं मुखवासविधिं प्रत्याख्यामि।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, मुहवास-विहि-परिमाणं—मुखवास विधि का परिमाण, करेइ—किया, पंचसोगंधिएणं तंबोलेणं—पांच सुगन्धित वस्तुओं से युक्त ताम्बूल के नन्नत्थ—अतिरिक्त, अवसेसं—अन्य सब, मुहवासविहिं—मुखवासविधि अर्थात् मुख को सुगन्धित करने वाले द्रव्यों का पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान करता हूँ।

भावार्थ—इसके पश्चात् मुखवास विधि का परिमाण किया और पांच सुगन्धित पदार्थों से युक्त ताम्बूल के सिवाय मुख को सुगन्धित करने वाले अन्य पदार्थों का परित्याग किया।

टीका—पंचसोगंधिएणं—पांच सुगन्धित द्रव्य निम्नलिखित हैं—कंकोल, (कालीमिर्च), एला, लवंग, जातिफल, कर्पूर।

आठवाँ-अनर्थदण्डविरमण व्रत—

मूलम्—तयाणंतरं च णं चउव्विहं अणट्ठादंडं पच्चक्खामि। तं जहा—अवज्झाणाय-रियं, पमायायरियं, हिंसप्पयाणं, पाव-कम्मोवएस ॥ ४३ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु चतुर्विधमनर्थदण्डं प्रत्याख्यामि, तद्यथा—अपध्यानाचरितं, प्रमादाचरितं, हिंस्रप्रदानं, पापकर्मोपदेशम्।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, चउव्विहं—चार प्रकार के, अणट्ठादंडं—अनर्थदण्ड

का, पच्चक्खामि—प्रत्याख्यान किया, तं जहा—वह इस प्रकार है—अवज्झाणायरियं—अपध्यानाचरित, पमायायरियं—प्रमादाचरित, हिंसप्याणं—हिंसप्रदान, पावकम्मोवएसं—और पाप कर्म का उपदेश।

भावार्थ—इसके अनन्तर आनन्द ने भगवान् महावीर से कहा कि मैं अपध्यानाचरित—दुध्यान करना, प्रमादाचरित—विकथा आदि प्रमाद का आचरण करना, हिंस-प्रदान—हिंसक शस्त्रास्त्रों का वितरण तथा पाप कर्म का उपदेश करना—इन चार अनर्थदण्डों का प्रत्याख्यान करता हूँ।

टीका—अण्डादंडं—इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—‘अण्डादण्ड, ति अनर्थेन-धर्मार्थकामव्यतिरेकेण दण्डोऽनर्थदण्डः’ अर्थात् धर्म, अर्थ और काम किसी भी प्रयोजन के बिना जो दण्ड अर्थात् हिंसा की जाती है उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। जीवन में अनुशासन के लिए आवश्यक है कि हम ऐसा कार्य न करें जिसमें बिना ही किसी उद्देश्य के दूसरे को हानि पहुंचे। मुनि अपने स्वार्थ के लिए भी किसी को हानि नहीं पहुंचाता। किन्तु श्रावक को पारिवारिक जीवन के लिए ऐसे अनेक कार्य करने पड़ते हैं जिनमें एक का लाभ दूसरे की हानि पर निर्भर है। उसे चाहिए कि ऐसी प्रवृत्तियों को भी यथाशक्ति घटाता जाए। किन्तु ऐसे कार्यों को तो सर्वथा छोड़ दे, जिनमें उसका कोई लाभ नहीं है और व्यर्थ ही दूसरे को हानि पहुंचती है। इस प्रकार के कार्यों को निम्नलिखित चार कोटियों में गिनाया गया है—

(१) अपध्यानाचरित—इसका अर्थ है दुश्चिन्ता। वह दो प्रकार की है—१. आर्त्तध्यान अर्थात् धन, सन्तान, स्वास्थ्य आदि इष्ट वस्तुओं के प्राप्त न होने पर तथा रोग, दरिद्रता, प्रियवियोग आदि अनिष्ट के प्राप्त होने पर होने वाली मानसिक चिन्ता। २. रौद्रध्यान अर्थात् क्रोध, शत्रुता आदि से प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुंचाने की भावना।

इन दोनों प्रकार के ध्यानों से प्रेरित होकर मन में दुश्चिन्ता अथवा बुरे विचार लाना अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड है।

(२) प्रमादाचरित—प्रमाद का अर्थ है—असावधानी या जीवन की शिथिलता। खाली बैठकर दूसरों की निन्दा करते रहना, श्रृंगार सम्बन्धी बातें करना, दूसरों की पंचायत करते रहना, अपने कर्त्तव्य का ध्यान न रखना, आदि बातों से उत्पन्न मन, वचन तथा शरीर सम्बन्धी विकार इस कोटि में आते हैं।

(३) हिंसप्रदान—इसका अर्थ है—शिकारी, चोर, डाकू आदि को शस्त्र अथवा उन्हें अन्य प्रकार से सहायता देना, जिससे हिंसा को प्रोत्साहन मिले।

(४) पापकर्मोपदेश—इसका अर्थ है—दूसरों को पाप कर्म में प्रवृत्त करना। उदाहरण के रूप में शिकारी या चिड़ीमार को यह बताना कि अमुक स्थान पर हिरण अथवा पक्षियों का बाहुल्य है।

अथवा किसी पशु अथवा मनुष्य को व्यर्थ ही कष्ट देने के लिए अन्य व्यक्तियों को उकसाना, बच्चों को किसी पागल अथवा घायल मनुष्य, पशु पर पत्थर आदि मारने के लिए कहना, किसी अपरिचित के पीछे कुत्ते लगाना आदि बातें इस अनर्थदण्ड में आती हैं।

मानव जीवन में नैतिक अनुशासन के लिए यह व्रत अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सम्यक्त्व व्रत के पांच अतिचार—

मूलम्—इह खलु आणंदा इ समणे भगवं महावीरे आणंदं समणोवासगं एवं वयासी—एवं खलु, आणंदा! समणोवासएणं अभिगय-जीवाजीवेणं जाव अणइक्कमणिज्जेणं सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—संका, कंखा, विइगिच्छा, पर-पासंड-पसंसा, पर-पासंड-संथवे ॥ ४४ ॥

छाया—इह खलु आनन्द! इति श्रमणो भगवान् महावीर आनन्दं श्रमणोपासक-मेवमवादीत्—एवं खलु आनन्द! श्रमणोपासकेनाभिगतजीवाजीवेन यावदनतिक्रमणीयेन सम्यक्त्वस्य पञ्चातिचाराः प्रधानाः (मुख्या) ज्ञातव्या न समाचरितव्याः। तद्यथा—शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, परपाषण्ड प्रशंसा, परपाषण्ड संस्तवः।

शब्दार्थ—इह खलु—इसी प्रसंग में, आणंदा इ समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने हे आनन्द ! इस प्रकार सम्बोधित कहते हुए, आणंदं समणोवासगं—आनन्द श्रमणोपासक को, एवं—इस भांति, वयासी—कहा, आणंदा—हे आनन्द ! एवं खलु—इस प्रकार, अभिगयजीवाजीवेणं जाव अणइक्कमणिज्जेणं—जीव तथा अजीव के स्वरूप को जानने वाले यावत् अनतिक्रमणीय (धर्म से विचलित न होने वाले), समणोवासएणं—श्रमणोपासक को, सम्मत्तस्स—सम्यक्त्व के, पंच—पांच, पेयाला—प्रधान, अइयारा—अतिचार, जाणियव्वा—जानने चाहिए, न समायरियव्वा—परन्तु उनका आचरण नहीं करना चाहिए। तं जहा—वे इस प्रकार हैं—संका—शङ्का, कंखा—कांक्षा, विइगिच्छा—विचिकित्सा अर्थात् धर्म साधन के प्रति (संशय), पर-पासंड-पसंसा—पर-पाषण्ड अर्थात् अन्यमतावलम्बी की प्रशंसा, पर-पासंड-संथवे—और परपाषण्डसंस्तव अर्थात् अन्यमतावलम्बी के साथ सम्पर्क या परिचय।

भावार्थ—इसके अनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने आनन्द श्रमणोपासक को इस प्रकार कहा—हे आनन्द! जीवाजीव आदि पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले तथा धर्म से विचलित न होने वाले और मर्यादा में स्थिर रहने वाले श्रमणोपासक को सम्यक्त्व के पांच मुख्य अतिचार अवश्य जान लेने चाहिए परन्तु उनका आचरण नहीं करना चाहिए, वे इस प्रकार हैं—(१) शंका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) परपाषण्डप्रशंसा और (५) परपाषण्डसंस्तव।

टीका—आनन्द द्वारा व्रत ग्रहण कर लेने पर उनमें दृढ़ता लाने के लिए भगवान् ने प्रत्येक व्रत के

पांच-पांच अतिचार बताए। अतिचार का अर्थ है, व्रत में किसी प्रकार की शिथिलता या खलना। इससे अगली कोटी अनाचार की है, जहां व्रत टूट जाता है।

प्रस्तुत पाठ में श्रमणोपासक अर्थात् श्रावक के दो विशेषण दिए हैं—

(१) अभिगयजीवाजीवेणं—अर्थात् जो जीव तथा अजीव का स्वरूप जानता है। जैन धर्म में ६ तत्त्व माने गए हैं। उनमें प्रथम दो जीव और अजीव हैं। विश्व इन्हीं दो तत्त्वों में विभक्त है। इससे यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन विश्व के मूल में परस्पर भिन्न दो तत्त्व मानता है। ये जीव की आध्यात्मिक चेतना और उसके शुभाशुभ परिणामों को प्रकट करते हैं। अतः इनका ज्ञान भी जीव तत्त्व के ज्ञान के साथ अनिवार्य है। प्रस्तुत सूत्र में जीव तथा अजीव में सब को सम्मिलित कर लिया गया है।

(२) अणइक्कमणिज्जेणं—(अनतिक्रमणीयेन) इसका अर्थ है—वह व्यक्ति जिसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता अर्थात् जिसे अपने निश्चय से कोई विचलित नहीं कर सकता। इसी उपासकदशाङ्गसूत्र में कामदेव आदि ऐसे श्रावकों का वर्णन है, जिन्हें अनुकूल तथा प्रतिकूल किसी प्रकार के विघ्न विचलित न कर सके। देवताओं ने अनेक प्रकार के भय दिखाए और सांसारिक सुखों के आकर्षण भी उपस्थित किए, किन्तु वे अपने व्रत पर दृढ़ रहे।

प्रस्तुत सूत्र में सम्यक्त्व के पांच अतिचार बताए गए हैं—सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धा धर्म की आधारशिला है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र्य निष्फल हैं। जिस व्यक्ति की श्रद्धा विपरीत है अर्थात् असत्य की ओर है, उसे मिथ्यात्वी कहा जाता है, वह धर्म के क्षेत्र से बहिर्भूत है। जिस व्यक्ति की श्रद्धा तो सम्यक् है किन्तु उसमें कभी-कभी शिथिलता या दुर्बलता आ जाती है, उसी के निराकरण के लिए नीचे लिखे पांच अतिचार बताए गए हैं—

(१) संका—(शङ्का) इसका अर्थ है सन्देह अर्थात् आत्मा, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप, आदि जिन तत्त्वों का प्रतिपादन सर्वज्ञदेव ने किया है, उनके अस्तित्व में सन्देह होना। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है—क्या व्यक्ति को धार्मिक बातों के सम्बन्ध में ऊहापोह करने का अधिकार नहीं है? मन में संदेह उत्पन्न होने पर उसे क्या करना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि संशय निवारण के लिए ऊहापोह करने और शङ्का में परस्पर पर्याप्त भेद है। यदि मन में जिज्ञासा उत्पन्न होने पर विश्वास डावांडोल हो जाता है तो वह शङ्का है। विश्वास को दृढ़ रखते हुए प्रश्नोत्तर करना शङ्का नहीं है। उसमें तो विश्वास में उत्तरोत्तर दृढ़ता आती है। भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य श्री गौतम स्वामी श्रद्धा की दृष्टि से सर्वोच्च माने गए हैं। किन्तु उनके लिए भी भगवतीसूत्र में बार-बार आया है कि मन में संशय उत्पन्न हुआ और निराकरण के लिए वे भगवान के पास गए। गौतम का संशय

जिज्ञासारूप थां, शङ्कारूप नहीं। उपनिषदों में भी मनन अर्थात् युक्तिपूर्वक विचार को आवश्यक माना गया है। किन्तु वह तर्क ऐसा नहीं होना चाहिए, जिससे मूल विश्वास को आघात पहुंचे। जहां तर्क और श्रद्धा में परस्पर विरोध हो, वहां श्रद्धा को सुस्थिर रखते हुए अपनी बुद्धि की मर्यादा को समझना चाहिए और यही मानना चाहिए कि बुद्धि अज्ञान या पूर्व के जमे हुए विश्वासों के कारण उस सूक्ष्म तत्त्व को ग्रहण नहीं कर रही है। उसे ग्रहण करने के लिए पुनः पुनः प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु श्रद्धा को शिथिल नहीं होने देना चाहिए।

(२) कंखा—(कांक्षा) इसका अर्थ है बाह्य आडम्बर अथवा अन्य प्रलोभनों से आकृष्ट होकर किसी अन्य मत की ओर झुकाव होना। बाह्य प्रभाव को देखकर सत्य से विचलित होना इसी के अन्तर्गत है।

(३) विङ्गिच्छा—(विचिकित्सा) धर्मानुष्ठान के फल में संदेह करना अर्थात् तपश्चरण आदि करते समय सन्देहशील होना कि फल प्राप्त होगा या नहीं। इस प्रकार का सन्देह कार्य सिद्धि का बहुत बड़ा बाधक है।

(४) परपासंडपसंसा—(परपाषण्ड प्रशंसा) वर्तमान हिन्दी भाषा में पाखण्ड शब्द का अर्थ है ढोंग अथवा मिथ्या आडम्बर और पाखण्डी का अर्थ है ढोंगी। किन्तु प्राचीन समय में यह शब्द निन्दावाचक नहीं था। उस समय इसका अर्थ था मत या सम्प्रदाय। अशोक की धर्मलिपियों में विभिन्न मतों के लिए पासंड शब्द प्रयोग किया है। यहां भी वही अर्थ है। परपासंड का अर्थ है—जैन धर्म को छोड़कर अन्य मतों के अनुयायी। उनकी प्रशंसा करने का अर्थ है—अपने विश्वास में कमी। शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो इसका अर्थ है—अपनी श्रद्धा से विपरीत चलने वालों अथवा विपरीत प्रवृत्ति करने वालों की प्रशंसा करना। साधक को इस प्रकार की शिथिलता से दूर रहना चाहिए।

परपासंडसंधवे—(परपाषण्ड संस्तवः) संस्तव का अर्थ है परिचय या सम्पर्क। सच्चे साधक को भिन्न मार्ग पर चलने वाले के साथ परिचय नहीं बढ़ाना चाहिए।

पेयाला—इस पर निम्नलिखित टीका है—‘पेयाला’ त्ति साराः प्रधानाः अर्थात् सार या प्रधान-भूत।

अहिंसा व्रत के पांच अतिचार

मूलम्—तयाणंतरं च णं थूलगस्स पाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहां—बंधे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाण वोच्छेए ॥ ४५ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलकस्य प्राणातिपातविरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा पेयाला ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—बन्धः, वधः, छविच्छेदः, अतिभारः, भक्तपानव्यवच्छेदः।

शब्दार्थ—तथापि च णं—इसके अनन्तर, धूलगस्स—स्थूल पाणाइवायवेरमणस्स—प्राणातिपातविरमण व्रत के, पांच—पांच, पेयाला—प्रधान, अइयारा—अतिचार, समणोवासएणं—श्रमणोपासक को, जाणियव्वा—जानने चाहिएँ, न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। तं जहा—वे इस प्रकार हैं—बंधे—बंध, वहे—वध, छविच्छेए—छविच्छेद अर्थात् अंग-विच्छेद, अइभारे—अतिभार, भक्तपानवोच्छेए—और भक्तपानव्यवच्छेद।

भावार्थ—तदनन्तर स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत के पांच मुख्य अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१. बन्ध—पशु आदि को कठोर बंधन से बांधना। २. वध—घातक प्रहार करना। ३. छविच्छेद—अंग काट देना। ४. अतिभार—सामर्थ्य से अधिक भार लादना। ५. भक्तपान-व्यवच्छेद—भोजन और पानी को रोकना या समय पर न देना।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में अहिंसा व्रत के पाँच अतिचार बताए गए हैं। इसके पहले सम्यक्त्व व्रत के अतिचार बताए गए थे। उसका सम्बन्ध श्रद्धा से है किन्तु अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतों का शील अथवा आचार के साथ सम्बन्ध है।

धूलगस्स—(स्थूलकस्य) श्रावक को जीवन में अनेक प्रवृत्तियां करनी पड़ती हैं, अतः वह पूर्ण अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। परिणामस्वरूप स्थूल हिंसा का परित्याग करता है। जैन धर्म में त्रस और स्थावर के रूप में जीवों को दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियों के जीव स्थावर कहे जाते हैं। वे अपनी इच्छानुसार चलने-फिरने में असमर्थ हैं। इसके विपरीत चलने-फिरने वाले जीव त्रस कहे गए हैं। श्रावक त्रस जीवों की हिंसा का परित्याग करता है, स्थावरों की मर्यादा। त्रस जीवों में भी जो अपराधी हैं या हानि पहुँचाने वाले हैं उनकी हिंसा का परित्याग नहीं होता। इसी प्रकार यहाँ हिंसा का अर्थ है—किसी को मारने या हानि पहुँचाने की बुद्धि से मारना। यदि कोई कार्य भलाई के लिए किया जाता है, किन्तु उसमें किसी की हिंसा हो जाती है या हानि पहुँचती है तो श्रावक को उसका त्याग नहीं है। उदाहरण के रूप में डॉक्टर चिकित्सा के लिए रोगी का ऑपरेशन करता है और उसमें रोगी को हानि पहुँच जाती है तो डॉक्टर का व्रत भंग नहीं होता। व्रत भंग तभी होता है जब डॉक्टर रोगी को हानि पहुँचाने की भावना से ऐसा करे। उपरोक्त छूटें होने के कारण श्रावक के व्रत को स्थूल कहा गया है। साधु के व्रत में ये छूटें भी नहीं होती।

सर्वप्रथम स्थूल प्राणातिपात व्रत है, इस व्रत के अतिचारों में मुख्यतया पशु को सामने रखा गया है। उन दिनों दास प्रथा विद्यमान होने के कारण कभी-कभी मनुष्यों के साथ भी पशु के समान बर्ताव किया जाता था।

(१) बंधे—इसका अर्थ है पशु अथवा दास आदि को ऐसा बांधना जिससे उसे कष्ट हो। यहाँ भी मुख्य दृष्टि विचारों की है। यदि चिकित्सा के निमित्त या संकट से बचाने के लिए पशु आदि को बांधा जाता है तो वह अतिचार नहीं है। शास्त्रकारों ने बन्ध के दो भेद किए हैं—अर्थ बन्ध और अनर्थ बन्ध। अनर्थ बन्ध तो हिंसा है ही और वह अनर्थदण्ड नामक आठवें व्रत में आती है। अर्थबन्ध भी यदि क्रोध, द्वेष आदि क्रूर भावों के साथ किया गया है तो वह अतिचार है। अर्थबन्ध के पुनः दो भेद हैं, सापेक्ष और निरपेक्ष। अग्नि आदि का भय उत्पन्न होने पर जिस बन्धन से सहज मुक्ति मिल सके उसे सापेक्ष बन्ध कहते हैं। यह अतिचार में नहीं आता। इसके विपरीत भय उत्पन्न होने पर भी जिस बन्धन से छुटकारा मिलना कठिन हो उसे निरपेक्ष बन्ध कहते हैं। ऐसा बन्धन बांधना अतिचार है।

(२) वहे (वध) यहाँ वध का अर्थ हत्या नहीं है। हत्या करने पर तो व्रत सर्वथा टूट जाता है। अतः वह अनाचार है। यहाँ वध का अर्थ है घातक प्रहार, ऐसा जिससे अंगोपांगादि को हानि पहुँचे।

(३) छविच्छेद*—इसका अर्थ है अङ्गविच्छेद अर्थात् क्रोध में आकर किसी के अङ्ग को काट डालना अथवा अपनी प्रसन्नता के लिए कुत्ते आदि के कान, पूँछ काट देना।

(४) अइभारे (अतिभारः) इसका अर्थ पशु या दास पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना। नौकर, मजदूर या अन्य कर्मचारी से इतना काम लेना कि वह उसी में पिस जाए, यह भी अतिभार है। इतना ही नहीं परिवार के सदस्यों में भी किसी एक पर काम का अधिक बोझ डालना अतिचार है।

(५) भत्तपाणवोच्छेद (भत्तपानव्यवच्छेदः) इसका स्थूल अर्थ है मूक पशु को भूखा तथा प्यासा रखना या उसे चारा एवं पानी समय पर न देना। नौकर आदि आश्रितों का समय पर वेतन न देना, उनके वेतन में अनुचित कटौती करना, किसी की आजीविका में बाधा डालना, या अपने आश्रितों से काम अधिक लेना और उसके अनुरूप भोजन या वेतन न देना। खाद्य एवं पेय सामग्री को दूषित करना आदि भी इसी अतिचार के अन्तर्गत हैं।

सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन की दृष्टि से इस व्रत का बहुत महत्त्व है। यह स्पष्ट है कि उक्त अतिचार खासतौर पर उस परिस्थिति को सामने रखकर बताए गए हैं; जब कि पशुपालन गृहस्थ जीवन का आवश्यक अङ्ग था। वर्तमान जीवन में पशुपालन गौण हो गया है और अत्याचार एवं क्रूरता के नए-नए रूप सामने आ रहे हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीवनचर्या के अनुसार इन अतिचारों का मूल हार्द ग्रहण कर लेना चाहिए जिससे इनका दैनन्दिन व्यवहार के साथ जीवित सम्बन्ध बना रहे।

★ छविच्छेद—(सं-च्छविच्छेद)—इसका साधारण अर्थ अंग-विच्छेद किया जाता है किन्तु अर्थमागधी में 'छ' या 'छवि' के रूप में कोई शब्द नहीं है जिसका अर्थ अंग होता है। प्रतीत होता है, यह शब्द 'छयविच्छेद' रहा होगा जिसका अर्थ है 'क्षतविच्छेद'। 'क्षत' का अर्थ है घाव और 'विच्छेद' का अर्थ अंगविच्छेद किया जा सकता है। पालि में छवि शब्द का अर्थ त्वचा है। यदि यह अर्थ माना जाए तो छविच्छेद का अर्थ होगा ऐसा घाव करना जिससे त्वचा का छेदन हो जाए। प्रस्तुत में यह अर्थ भी किया जा सकता है—सम्पादक।

सत्यव्रत के अतिचार

मूलम्—तयाणंतरं च णं धूलगस्स मुसा-वाय-वेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा । तं जहा—सहसा अब्भक्खाणे, रहसा अब्भक्खाणे, सदार-मंत-भेए, मोसोवएसे, कूड-लेह-करणे ॥ ४६ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलकस्य मृषावादविरमणस्य पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—सहसाभ्याख्यानं, रहोऽभ्याख्यानं, स्वदारमन्त्रभेदः, मृषोपदेशः, कूटलेखकरणम् ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, धूलगस्स मुसा-वाय-वेरमणस्स—स्थूल मृषावाद-विरमण व्रत के, पंच अइयारा—पाँच अतिचार, जाणियव्वा—जानने चाहिएँ, न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ। तं जहा—वे इस प्रकार हैं—सहसा अब्भक्खाणे—सहसा अभ्याख्यानं, रहसा अब्भक्खाणे—रहस्याभ्याख्यान, सदार-मंत-भेए—स्वदारमन्त्रभेद, मोसोवएसे—मृषोपदेश, कूड-लेह-करणे—और कूटलेखकरण ।

भावार्थ—तदनन्तर स्थूल मृषावादविरमण व्रत के पांच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१. सहसाभ्याख्यान—किसी पर बिना विचारे मिथ्या आरोप लगाना, २. रहोऽभ्याख्यान—किसी की गुप्त बात प्रकाशित करना । ३. स्वदारमन्त्रभेद—पत्नी की गुप्त बात प्रकट करना । ४. मृषोपदेश—खोटी सलाह देना या मिथ्या उपदेश देना । ५. कूटलेखकरण—खोटा लेख लिखना अर्थात् दूसरे को धोखा देने के लिए जाली दस्तावेज बनाना—

टीका—प्रस्तुत पाठ में मृषावाद विरमण अर्थात् असत्यभाषण के परित्याग रूप व्रत के अतिचार बताए गए हैं, इसमें भी स्थूल विशेषण लगा हुआ है अर्थात् श्रावक स्थूल मृषावाद का परित्याग करता है, सूक्ष्म का नहीं। शास्त्रों में स्थूल मृषावाद का स्वरूप बताते हुए उदाहरण के लिए नीचे लिखी बातें बताई हैं—

(१) कन्यालीक—वैवाहिक सम्बन्ध की बातचीत करते समय कन्या की आयु तथा शरीर, वाणी एवं मस्तिष्क सम्बन्धी दोषों को छिपाना अथवा उसकी योग्यता के सम्बन्ध में अतिशयोक्तिपूर्ण असत्य भाषण करना ।

(२) गवालीक—पशु का लेन-देन करते समय असत्य भाषण करना, जैसे कि थोड़ा दूध देने वाली गाएँ और भैंस के लिए कहना कि अधिक दूध देती है अथवा बैल आदि के लिए कहना कि यह अधिक काम कर सकता है, परन्तु वह उतनी क्षमता वाला नहीं होता, इत्यादि ।

(३) भूम्यलीक—कृषि, निवास आदि भूमि के सम्बन्ध में असत्य भाषण करना या वस्तुस्थिति को छिपाना।

(४) न्यासापहार—किसी के न्यास अर्थात् धरोहर में रखी हुई वस्तु को हड़प जाना। किसी संस्था या सार्वजनिक कार्य के लिए संगृहीत धन को उद्दिष्ट कार्य में न लगाकर वैयक्तिक कार्यों में खर्च करना भी न्यासापहार है। सार्वजनिक निधि से वैयक्तिक लाभ उठाना उसे वैयक्तिक प्रसिद्धि या अपने कुटुम्बियों को ऊँचा उठाने में खर्च करना भी इसी के अन्तर्गत है।

(५) कूडसक्खिज्जं—(कूटसाक्ष्य) झूठी गवाही देना।

(६) सन्धिकरण—षड्यन्त्र करना।

उपरोक्त कार्य स्थूल मृषावाद में आते हैं और श्रावक के लिए सर्वथा वर्जित हैं। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि श्रावक के जीवन में व्यवहार-शुद्धि पर पूरा बल दिया गया था। व्यापार या अन्य व्यवहार में झूठ बोलने वाला श्रावक नहीं हो सकता था।

इस व्रत के भी पांच अतिचार हैं—

(१) सहसा अब्भक्खाणे—सहसा का अर्थ है बिना विचारे और अब्भक्खाणे का अर्थ है दोषारोपण करना। यदि मिथ्यारोप विचारपूर्वक दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए किया जाता है तो वह अनाचार है, उससे श्रावक का व्रत टूट जाता है, किन्तु उसे इस बात के लिए भी सावधान रहना चाहिए कि बिना विचारे भी रोष या आवेश में आकर अथवा अनायास ही किसी पर दोषारोपण न करे। यह भी एक प्रकार का दोष है और व्रत में शिथिलता उत्पन्न करता है। यहाँ टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—‘सहसा अब्भक्खाणे, त्ति सहसा—अनालोच्याभ्याख्यानम्—असद्दोषाध्याक्षेपणं सहसाभ्याख्यानं यथा चौरस्त्वमित्यादि, एतस्य चातिचारत्वं सहसाकारेणैव न तीव्रसंक्लेशेन भणनादिति, अर्थात् बिना विचारे ही दूसरे पर मिथ्या दोषारोपण करना सहसाभ्याख्यान है—जैसे तू चोर है इत्यादि। यह कार्य सहसा अर्थात् बिना विचारे किया जाने के कारण ही अतिचार कोटि में आता है। यदि तीव्र संक्लेश अर्थात् दुर्भावना पूर्वक किया जाए तो अतिचार नहीं रहता, अनाचार बन जाता है।

(२) रहसा अब्भक्खाणे—(रहोऽभ्याख्यान) इसका अर्थ दो प्रकार से किया जाता है। पहला अर्थ है रहस्य अर्थात् किसी कि गुप्त बात को अचानक प्रकट करना। दूसरा अर्थ है किसी पर रहस्य अर्थात् छिपे-छिपे षड्यन्त्र आदि करने का आरोप लगाना। उदाहरण के रूप में कुछ आदमी एकान्त में बैठे परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं, अचानक उन पर यह आरोप लगाना कि वे राज्यविरुद्ध षड्यन्त्र कर रहे हैं या कहीं पर चोरी, डकैती आदि की योजना बना रहे हैं। यह कार्य भी अतिचार वहीं तक है, जब मन में दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना न हो और अनायास ही किया जाए। मन में दुर्भावना

रहने पर यह भी अनाचार बन जाता है। यहाँ वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—‘रहसा अब्भक्खाणे’ ति रहः एकान्तस्तेन हेतुना अभ्याख्यानं रहोऽभ्याख्यानम्, एकान्तमात्रोपधितया च पूर्वस्माद्विशेषः, अथवा सम्भाव्यमानार्थभणनादतिचारो न तु भङ्गोऽयमिति। रहः का अर्थ है—एकान्त और उसी का आधार लेकर मिथ्यादोषारोपण करना रहोऽभ्याख्यान है। प्रथम अतिचार की अपेक्षा इसमें एकान्त का आधार रूप विशिष्टता है, अथवा इसमें लगाया जाने वाला आरोप सर्वथा निर्मूल नहीं होता। उसकी सम्भावना रहती है और इसी आधार पर इसकी गणना अतिचारों में की गई है। व्रत भङ्ग नहीं माना गया।

(३) सदारमंतभेए (स्वदारमन्त्रभेदः)—अपनी स्त्री की गुप्त बातों को प्रकट करना। पारिवारिक जीवन में बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जिन्हें सत्य होने पर भी प्रकाशित नहीं किया जाता। उनके प्रकाशित करने पर व्यक्ति को दूसरों के सामने लज्जित होना पड़ता है, अतः शेखी या आवेश में आकर घर एवं परिवार की गुप्त बातों को प्रकट करना अतिचार है।

(४) मोसोवएसे (मृषोपदेशः)—झूठी सलाह देना या उपदेश देना, इसके कई अर्थ हैं—१. पहला यह है कि जिस बात के सत्यासत्य अथवा हिताहित के विषय में हमें स्वयं निश्चय नहीं है उसकी दूसरों को सलाह देना। २. दूसरा यह है कि किसी बात की असत्यता अथवा हानिकारिता का ज्ञान होने पर भी दूसरों को उसमें प्रवृत्त होने के लिए कहना। ३. तीसरा रूप यह है कि वास्तव में मिथ्या एवं अकल्याणकारी होने पर भी हम जिस बात को सत्य एवं कल्याणकारी मानते हैं उसमें हित बुद्धि से दूसरे को प्रवृत्त करना। तीसरा रूप दोष कोटि में नहीं आता। क्योंकि उसमें उपदेश देने वाले की ईमानदारी एवं हितबुद्धि पर आक्षेप नहीं आता। दूसरा रूप अनाचार है, उससे व्रत भङ्ग हो जाता है। पहला रूप अतिचार है। उसके अतिरिक्त किसी को हिंसा-पूर्ण कार्यों में प्रवृत्त करना प्रथम व्रत के अतिचारों में आ चुका है।

५. कूडलेहकरणे (कूटलेखकरण) झूठे लेख लिखना तथा जाली हस्ताक्षर बनाना। इस पर टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—‘कूडलेहकरणे, ति असद्भूतार्थस्य लेखस्य विधानमित्यर्थः। एतस्य चातिचारत्वं प्रमादादिना दुर्विवेकत्वेन वा माया मृषावादः प्रत्याख्यातोऽयं तु कूटलेखो, न मृषावादनमिति भावयत इति। तथा कूटम्-असद्भूतं वस्तु तस्य लेखः लेखनं, तद्रूपा क्रिया कूटलेखक्रिया—अन्यदीयां मुद्राद्यङ्कितां लिपिं हस्तादिकौशलवशादक्षरशोऽनुकृत्य परवञ्चनार्थं सर्वथा तदाकारतया लेखनमित्यर्थ अनाचारातिचारौ तु प्राग्वदेवाभोगानाभोगाभ्यामवगन्तव्यौ’—अर्थात्—कूटलेखकरण—झूठा लेख लिखना। यह अतिचार तभी है जब असावधानी या विवेकहीनता के रूप में किया गया हो। अर्थात् श्रावक यह सोचने लगे कि मैंने झूठ बोलने का त्याग किया है लिखने का नहीं, यह विवेकहीनता है। अथवा कूट का अर्थ है अविद्यमान वस्तु। उसका लिखना अर्थात् जाली

दस्तावेज बनाना या किसी के नाम की मुद्रा अथवा मोहर बनाना। दूसरे को धोखा देने के लिए जाली हस्ताक्षर बनाना आदि। पूर्वोक्त अतिचारों के समान प्रस्तुत कार्य भी यदि असावधानी, विवेकहीनता अथवा अन्य किसी रूप में अनिच्छापूर्वक किया जाता है तो अतिचार है और यदि दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए इच्छापूर्वक किया जाए तो अनाचार है।

अस्तेय व्रत के अतिचार

मूलम्—तयाणंतरं च णं थूलगस्स अदिण्णादाण वेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। तं जहा—तेणाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्धरज्जाइक्कमे, कूड-तुल्ल-कूडमाणे, तप्पडिरूवग ववहारे ॥ ४७ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु स्थूलकस्याऽदत्तादानविरमणस्य पञ्चातिचाराः ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा स्तेनाहतं, तस्करप्रयोगः, विरुद्धराज्यातिक्रमः, कूटतुलाकूटमानं, तद्वतिरूपकव्यवहारः।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, थूलगस्स अदिण्णादाणवेरमणस्स—स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के, पंच अइयारा—पाँच अतिचार, जाणियव्वा—जानने चाहिएं, न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएं। तं जहा—वे इस प्रकार हैं—तेणाहडे—स्तेनाहत, तक्करप्पओगे—तस्करप्रयोग, विरुद्धरज्जाइक्कमे—विरुद्धराज्यातिक्रम, कूडतुलाकूडमाणे—कूट-तुला, कूट-मान, तप्पडिरूवगववहारे—और तद्वतिरूपक व्यवहार।

भावार्थ—तदनन्तर स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के पांच अतिचार जानने चाहिएं, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—(१) स्तेनाहत—चोर के द्वारा लाई हुई वस्तु को स्वीकार करना। (२) तस्करप्रयोग—व्यवसाय के रूप में चोरों को नियुक्त करना। (३) विरुद्धराज्यातिक्रम—विरोधी राजाओं द्वारा निषिद्ध सीमा का उल्लंघन करना। अर्थात् परस्पर विरोधी राजाओं ने अपनी-अपनी जो सीमा निश्चित कर रखी हैं उन्हें लांघकर दूसरे की सीमा में जाना। यहाँ साधारणतया “राजविरुद्ध कार्य करना” ऐसा अर्थ भी किया है। किन्तु वह मूल शब्दों से नहीं निकलता। टीका में भी यह अर्थ नहीं है। (४) कूटतुला—कूटमान—खोटा तोलना और खोटा मापना। (५) तद्वतिरूपकव्यवहार—संमिश्रण के द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से नकली वस्तु को असली के रूप में चलाना।

टीका—अदत्तादान का अर्थ है बिना दी हुई वस्तु को लेना। अन्य व्रतों के समान यहाँ भी श्रावक स्थूल अदत्तादान का त्याग करता है, सूक्ष्म का नहीं। शास्त्रों में स्थूल अदत्तादान के नीचे लिखे रूप बताए गए हैं—

(१) सेंध लगाकर चोरी करना। (२) बहुमूल्य वस्तु को बिना पूछे उठाना। (३) पथिकों को लूटना, गांठ खोलकर या जेब काटकर किसी की वस्तु निकालना। इसी प्रकार ताला खोलकर या तोड़कर दूसरे की वस्तु लेना। डाके डालना, गाय, पशु, स्त्री आदि को चुराना, राजकीय कर की चोरी करना तथा व्यापार में बेइमानी करना आदि सभी स्थूल चोरी के अन्तर्गत हैं।

प्रस्तुत व्रत के अतिचारों में चोरी का माल खरीदना तथा चोरों को नियुक्त करके व्यापार चलाना तो सम्मिलित है ही, माप तोल में गड़बड़ करना तथा असली वस्तु दिखाकर नकली देना या बहुमूल्य वस्तु का मिश्रण करना भी चोरी माना गया है। प्रतीत होता है उन दिनों भी व्यापार में इस प्रकार की बेइमानी प्रचलित होगी। इसलिए अतिचारों में इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

स्वदारसन्तोष व्रत के अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सदारसंतोसिए पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा—इत्तरियपरिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अणंगकीडा, परविवाहकरणे, काम-भोगतिव्वाभिलासे ॥ ४८ ॥

छाया—तदनन्तरं च खुल स्वदारसन्तोषिकस्य पंचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः तद्यथा—इत्वरिकपरिगृहीतागमनम्, अपरिगृहीतागमनम्, अनङ्ग-क्रीडा, परविवाहकरणम्, कामभोगतीव्राभिलाषः ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, सदारसंतोसिए—स्वदारसन्तोष रूप व्रत के, पंच अइयारा—पाँच अतिचार, जाणियव्वा—जानने चाहिएं, न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएं, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—इत्तरियपरिग्गहियागमणे—इत्तरिकपरिगृहीतागमन, अपरिग्गहियागमणे—अपरिगृहीतागमन, अणंगकीडा—अनङ्गक्रीडा, परविवाहकरणे—परविवाह करण, कामभोगतिव्वाभिलासे—और कामभोगतीव्राभिलाषा ।

भावार्थ—तदनन्तर स्वदार-सन्तोषव्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएं। परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१. इत्वरिक परिगृहीतागमन—कुछ समय के लिए पत्नी के रूप में स्वीकार की हुई स्त्री के साथ सहवास करना। २. अपरिगृहीतागमन—अपरिगृहीता अर्थात् वेश्या, कन्या, विधवा आदि अविवाहिता स्त्री के साथ सहवास करना। ३. अनङ्गक्रीडा—अर्थात् अप्राकृतिक मैथुन। ४. परविवाहकरण—अपनी सन्तान एवं स्वाश्रित कुटुम्बियों के अतिरिक्त अन्य स्त्री-पुरुषों के विवाह करना, पशुओं का परस्पर सम्बन्ध करना तथा दूसरों को व्यभिचार में प्रवृत्त करना। ५. कामभोगतीव्राभिलाष—कामभोग या विषयतृष्णा की उत्कटता।

टीका—श्रावक का प्रथम व्रत मानवता से सम्बन्ध रखता है। दूसरा और तीसरा व्यवहार-शुद्धि

से और चौथा सामाजिक सदाचार से। यह व्रत दो प्रकार से अङ्गीकार किया जाता था—१. स्वदारसन्तोष के रूप में तथा २. परदार विवर्जन के रूप में। स्वदारसन्तोष के रूप में ग्रहण करने वाला व्यक्ति अन्य समस्त स्त्रियों का परित्याग करता है और यह उत्तम कोटि का व्रत माना जाता है। द्वितीय अर्थात् परदार विवर्जन के रूप में ग्रहण करने वाला व्यक्ति दूसरे की विवाहिता स्त्री के साथ सम्पर्क न करने का निश्चय करता है। आनन्द ने इसे प्रथम अर्थात् स्वदार-सन्तोष के रूप में अङ्गीकार किया।

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) इत्तरियपरिगृह्यागमणे—(इत्वरिकपरिगृहीतागमन) इसका अर्थ कई प्रकार से किया जाता है—(१) थोड़े समय के लिए पत्नी के रूप में स्वीकार की गई स्त्री के साथ सहवास करना। (२) अल्पवयस्का पत्नी के साथ सहवास करना। * (३) इत्वरिक शब्द संस्कृत की 'इण्' गतौ धातु से बना है। इसका अर्थ है—चला जाने वाला, स्थायी न रहने वाला। गत्वर इसी का पर्याय है। यहाँ इत्वरिका या इत्वरी का अर्थ है जो स्त्री कुछ समय पश्चात् चली जाने वाली है। साथ ही परिगृहीता है अर्थात् जितनी देर रहेगी पत्नी मानी जाएगी और उस समय वह अन्य किसी के साथ सम्पर्क न रखेगी। प्रतीत होता है उन दिनों इस प्रकार की प्रथा रही होगी। आजकल भी बहुत से सम्पन्न व्यक्ति वेश्या, अभिनेत्री या किसी अन्य को कुछ काल के लिए अपने पास रख लेते हैं और उस समय उसका अन्य किसी के साथ सम्पर्क नहीं होता। यह भी व्रत का अतिचार है।

(२) अपरिगृह्यागमणे—(अपरिगृहीतागमन) अपरिगृहीता का अर्थ है—वह स्त्री जिस पर किसी का अधिकार नहीं है। काव्यशास्त्र में तीन प्रकार की नायिकाओं का वर्णन है—(१) स्वीया—अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री। (२) परकीया अर्थात् दूसरे की विवाहिता पत्नी और (३) सामान्या अर्थात् वेश्या आदि जिस पर किसी का अधिकार नहीं है। यहाँ अपरिगृहीता शब्द से तृतीय प्रकार लिया गया है।

(३) अणङ्गकीड़ा (अनंगक्रीड़ा)—स्वाभाविक अङ्गों से काम न लेकर काम-क्रीड़ा के लिए चर्म, रबर आदि के उपकरणों से काम लेना अथवा कामान्ध होकर मुखादि से विषय वासना को शान्त करना या किसी स्वजातीय से संभोग करना। यह अतिचार चरित्र की दृष्टि से रखा है, इससे व्यभिचार को पोषण मिलता है, अतः गृहस्थ के जीवन की दुष्प्रवृत्ति है।

(४) परविवाहकरणे (परविवाह करण)—गृहस्थ में रहकर व्यक्ति को अपने परिवार के सदस्यों का विवाह-संस्कार करना ही पड़ता है, इसके लिए गृहस्थी को इसकी छूट है। परन्तु इतर लोगों के

* पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज ने इसका अर्थ वाग्दत्ता के साथ सहवास करना भी किया है।

रिश्ते-सम्बन्ध करवाना या उनको प्रेरित करना कि आपका लड़का अथवा लड़की विवाह योग्य हो गए हैं इनकी शादी कर दो। ऐसा करने से यदि लड़के अथवा लड़की का आपस में अयोग्य सम्बन्ध हो जाए तो उसका रिश्ता कराने वाले को ही उपालम्भ मिलता है कि अमुक ने यह सम्बन्ध स्थापित किया है। इसलिए यह श्रावक व्रत का अतिचार है। अतः गृहस्थ को ऐसे कार्य से बचना चाहिए।

(५) काम-भोग तिब्वाभिलासे (कामभोगतीव्राभिलाषः)—गृहस्थ में रहकर वेद को उपशमन करने के लिए विवाह संस्कार किया जाता है। परन्तु कामासक्त होकर किसी कामजनक औषध, वाजिकरण आदि का प्रयोग करना अथवा किसी मादक द्रव्य का आसेवन करना जिससे मानसिक अभिलाषाएं तीव्र हों। इस प्रकार आचरण करना श्रावक के व्रत में अतिचार है।

इच्छा-परिमाण व्रत के पाँच अतिचार

मूलम्—तयाणंतरं च णं इच्छा-परिमाणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तंजहा—खेत्तवत्थु-पमाणाइक्कमे, हिरण्ण सुवण्ण-पमाणाइक्कमे, दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमे, धण-धन्न-पमाणाइक्कमे, कुविय-पमाणाइक्कमे ॥ ४६ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु इच्छापरिमाणस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमः, हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमः, द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रमः, धन-धान्य-प्रमाणातिक्रमः, कुप्यप्रमाणातिक्रमः।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, समणोवासएणं—श्रमणोपासक को, इच्छापरिमाणस्स—इच्छापरिमाण व्रत के, पंच अइयारा—पाँच अतिचार, जाणियव्वा—जानने चाहिए, न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिए, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—खेत्तवत्थुपमाणाइक्कमे—क्षेत्र वास्तुप्रमाणातिक्रम, हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमे—हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम, दुपयचउप्पय-पमाणाइक्कमे—द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम, धणधन्नपमाणाइक्कमे—धनधान्यप्रमाणातिक्रम, कुविय-पमाणाइक्कमे—कुप्यप्रमाणातिक्रम।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमणोपासक को इच्छापरिमाण व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिए, परन्तु आचरण न करने चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१. क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम—खेत और गृह सम्बन्धी मर्यादा का उल्लंघन। २. हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम—सोना-चाँदी आदि मूल्यवान धातुओं की मर्यादा का उल्लंघन। ३. द्विपदचतुष्पद प्रमाणातिक्रम—दास-दासी तथा पशु-सम्बन्धी मर्यादा का अतिक्रमण। ४. धन्नधान्यप्रमाणातिक्रम—मणि, मुक्ता एवं पण्य आदि धन्न तथा गेहूँ चावल आदि अनाज सम्बन्धी मर्यादा का उल्लंघन। ५. कुप्यप्रमाणातिक्रम—वस्त्र, पात्र, शय्या, आसन, आदि गृहोपकरण सम्बन्धी मर्यादा का उल्लंघन।

टीका—षांचवें अणुव्रत का नाम है—इच्छा परिमाण व्रत। इच्छा आकाश के तुल्य अनन्त है, उसकी कोई सीमा ही नहीं है, अतः उसे सीमित करना ही इस व्रत का मुख्य उद्देश्य है। आशा, तृष्णा, इच्छा ये तीनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। इच्छा से ही परिग्रह का निर्माण होता है, अतः इसे सीमित किए बिना व्यक्ति इस व्रत का आराधक नहीं हो सकता। जो अपने पास कनक-कामिनी है या सचित्त-अचित्त परिग्रह है, उस पर ममत्व करना। जो अप्राप्त वस्तु है उसकी प्राप्ति के लिए इच्छा दौड़-धूप करती है। गृहस्थावस्था में इच्छा अनिवार्य उत्पन्न होती है। अणुव्रती श्रावक में आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही इच्छा पैदा होती है, शेष इच्छाओं का निरोध हो जाता है, उस ससीम इच्छा से जो अप्राप्त की प्राप्ति होती है, उससे संग्रह बुद्धि पैदा होती है, संगृहीत पदार्थों पर ममत्व हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ परिग्रह तीन प्रकार का होता है। भगवान महावीर ने संग्रह और ममत्व रूप परिग्रह का गृहस्थ के लिए सर्वथा निषेध नहीं किया, सबसे पहले इच्छा को परिमित करने के लिए उपदेश दिया है, ज्यों-ज्यों इच्छा कम होती जाती है त्यों-त्यों संग्रह और ममत्व भी कम होता जाता है।

जो निःस्पृह मुनिवर होते हैं उनमें न संग्रह बुद्धि होती है और न ममत्व बुद्धि ही, अतः सिद्ध हुआ परिग्रह का मूल कारण इच्छा ही है। जिसने इच्छा को सीमित कर दिया, उसके लिए यह अधिक श्रेय है कि जिन वस्तुओं पर ममत्व है, उनमें से प्रतिदिन शासनोन्नति, श्रुतसेवा, जनसेवा, संघसेवा, इत्यादि शुभ कार्यों में न्यायनीति से उपार्जित द्रव्य को लगाता रहे। अनावश्यक पदार्थों का संग्रह करना श्रावक के लिए निषिद्ध है। इच्छा को, संग्रह को, ममत्व को नित्यप्रति न्यून करते रहने से देशसेवा, राष्ट्रसेवा, सहानुभूति, स्वकल्याण तथा परकल्याण स्वयमेव हो जाता है। दुःख, क्लेश, हैरानी, परेशानी ये सब कुछ परिग्रह से सम्बन्धित हैं। मर्यादित वस्तुओं को बढ़ाना नहीं और उनमें से भी घटाते रहना ये दोनों अपरिग्रहवाद के ही पहलू हैं। नौ प्रकार के परिग्रह की जैसी-जैसी जिसने मर्यादा की है उसका अतिक्रम न करना यह सन्तोष है, उसमें से भी न्यून करते रहना यह उदारता है। ये दोनों गुण सर्वोत्तम हैं। जैसे रोगों से शरीर दूषित हो जाता है, वैसे ही अतिचारों से व्रत दूषित हो जाता है। अब इच्छापरिमाण व्रत के अतिचारों का विवेचन किया जाता है, जैसे कि—

(१) खेत्तवत्युपमाणाइक्कमे—‘खेत्त’ का अर्थ है खेती करने की भूमि अर्थात् श्रावक ने कृषि के लिए जितनी भूमि रखी है उसका अतिक्रमण करना अतिचार है। और ‘वत्यु’ का अर्थ है निवास के योग्य भवन-उद्यान आदि जो श्रावक अपने उपयोग में लाता है, उससे अधिक मकान हवेली अपने पास रखना अतिचार है।

(२) हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमे—इसका अर्थ है—सोना-चाँदी आदि बहुमूल्य धातुएं। मोहर, रुपया आदि प्रचलित सिक्का भी इसी में आता है।

(३) दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमे—द्विपद का अर्थ है—दो पैर वाले अर्थात् मनुष्य और चउप्पय

का अर्थ है—चतुष्पद अर्थात् पशु। यहाँ मनुष्य को भी सम्पत्ति में गिना गया है। उन दिनों दास-प्रथा प्रचलित थी और मनुष्य भी सम्पत्ति के रूप में रखे जाते थे। उनका क्रय-विक्रय भी होता था।

(४) धणधन्नपमाणाइक्कमे—इसमें मणि मुक्ता आदि रत्न जाति और पण्य विक्रयार्थ वस्तुएं धन हैं। और गेहूँ, चावल आदि जितने भी अनाज हैं, वे सब धान्य हैं।

(५) कुवियपमाणाइक्कमे—इसका अर्थ है—गृहोपकरण, यथा शय्या, आसन, वस्त्रपात्र आदि घर का सामान, इनके विषय में जो मर्यादा श्रावक ने की है, उसका उल्लङ्घन करना अतिचार है। इस व्रत का मूल भाव इतना ही है कि गृहस्थ अपनी आवश्यकता से अधिक न तो भूमि, मकान आदि रखे, न धन-धान्य का संग्रह करे और न ही मर्यादा से अधिक पशु आदि ही रखे। नैतिक दृष्टि से भी सर्व साधारण को उतनी ही सामग्री रखनी चाहिए जिससे जनता में अपवाद न हो और अपना कार्य भी सुचारु रूपेण चल सके।

दिग्ब्रत के पाँच अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च णं दिसिव्वयस्स पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—उड्ढ-दिसि-पमाणाइक्कमे, अहो-दिसि-पमाणाइक्कमे, तिरिय-दिसि-पमाणाइक्कमे, खेत्त-वुड्ढी, सइअंतरद्धा ॥ ५० ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु दिग्ब्रतस्य पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रमः, अधोदिक्प्रमाणातिक्रमः, तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रमः, क्षेत्रवृद्धिः, स्मृत्यन्तर्धानम्।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, दिसिव्वयस्स—दिग्ब्रत के, पंच अइयारा—पाँच अतिचार, जाणियव्वा—जानने चाहिए, न समायरियव्वा—परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे—ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम, अहोदिसिपमाणाइक्कमे—अधोदिक्प्रमाणातिक्रम, तिरियदिसिपमाणाइक्कमे—तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम, खेत्तवुड्ढी—क्षेत्रवृद्धि, सइअंतरद्धा—और स्मृत्यन्तर्धान।

भावार्थ—इसके अनन्तर दिग्ब्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिए, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१. ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम—ऊर्ध्व दिशा सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। २. अधोदिक्प्रमाणातिक्रम—नीचे की ओर दिशा सम्बन्धी मर्यादा का उल्लङ्घन। ३. तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम—तिरछी दिशाओं से सम्बन्ध रखने वाली मर्यादा का उल्लङ्घन। ४. क्षेत्रवृद्धि—व्यापार आदि प्रयोजन के लिए मर्यादित क्षेत्र से आगे बढ़ना। ५. स्मृत्यन्तर्धान—दिशा मर्यादा की स्मृति न रखना।

टीका—पांचवें इच्छापरिमाणव्रत में परिग्रह सम्बन्धी मर्यादा की जाती है। प्रस्तुत व्रत में व्यापार, सैनिक अभियान अथवा अन्य प्रकार के स्वार्थपूर्ण कार्यों के लिए क्षेत्र की मर्यादा की गई है। और उस मर्यादा का अतिक्रमण अतिचार माना गया है।

आनन्द ने जब व्रतों को स्वीकार किया उस समय इस व्रत का निर्देश नहीं आया है। इसी प्रकार आगे बताए जाने वाले चार शिक्षाव्रतों का निरूपण भी नहीं आया। सामायिक आदि शिक्षाव्रत समस्त जीवन के लिए नहीं होते। वे घड़ी, दो घड़ी या दिन-रात आदि निश्चित काल के लिए होते हैं। सम्भवतया इसी कारण इनका अहिंसा, सत्य आदि यावज्जीवन सम्बन्धी व्रतों के साथ निर्देश नहीं आया। इसी प्रकार प्रतीत होता है आनन्द ने उस समय दिग्व्रत भी अङ्गीकार नहीं किया था। इस व्रत का मुख्य सम्बन्ध विदेशों में जाकर व्यापार करने वाले सार्थवाह आदि अथवा सैनिक अभियान करने वाले राजाओं के साथ है। आनन्द के पास यद्यपि सामान ढोने एवं यात्रा के लिए बैलगाड़ियां तथा नौकाएं भी थीं। फिर भी इस प्रकार का कोई निर्देश नहीं मिलता कि वह सार्थवाह के रूप में स्वयं व्यापार करने के लिए विदेशों में जाया करता है। अतः सम्भव है इस व्रत की तत्काल आवश्यकता न प्रतीत हुई हो।

यहाँ टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—“दिग्व्रतं शिक्षाव्रतानि च यद्यपि पूर्वं नोक्तानि, तथापि तत्र तानि द्रष्टव्यानि। अतिचारभणनस्यान्यथा निरवकाशता स्यादिहेति। कथमन्यथा प्रागुक्तं “दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जिंसांमि” इति, कथं वा वक्ष्यति “दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जइ” इति। अथवा सामायिकादीनामित्तरकालीनत्वेन—प्रतिनियतकालकरणीयत्वान्न तदैव तान्यसौ प्रतिपन्नवान्, दिग्व्रतं च विरतेरभावाद्। उचितावसरे तु प्रतिपत्स्यत इति भगवतस्तदतिचारवर्जनोपदेशनमुपपन्नम्। यच्चोक्तं “द्वादशविधं गृहधर्मं प्रतिपत्स्ये” यच्च वक्ष्यति “द्वादशविधं श्रावकधर्मं प्रतिपद्यते”, तद्यथाकालं तत्करणाभ्युपगमादनवद्यमवसेयमिति।”

इसका भाव यह है कि—दिग्व्रत तथा शिक्षाव्रत यद्यपि पहले नहीं कहे गए, फिर भी उनका वहाँ अनुसंधान कर लेना चाहिए। अन्यथा यहाँ अतिचारों का प्रतिपादन निरर्थक हो जाएगा। इसके बिना पूर्वोक्त “मैं बारह प्रकार के श्रावकधर्म को स्वीकार करूँगा” तथा आगे कहा जाने वाला “बारह प्रकार के श्रावक धर्म को स्वीकार किया” ये कथन संगत नहीं होते। अथवा सामायिक आदि व्रत मर्यादित काल के लिए होते हैं और उन्हें उपयुक्त नियत समय पर ही ग्रहण किया जाता है। अतः उस समय उन्हें ग्रहण नहीं किया। इसी प्रकार विरति का अभाव होने के कारण दिग्व्रत भी उस समय ग्रहण नहीं किया गया। फिर भी भविष्यकाल में ग्रहण करेगा, इस लिए उक्त व्रतों के अतिचारों का निरूपण करना भगवान् ने आवश्यक समझा। ऐसी स्थिति में जो यह कहा गया कि ‘बारह प्रकार के श्रावक धर्म को स्वीकार करूँगा’ अथवा आगे आने वाला कथन कि ‘उसने बारह प्रकार के श्रावक धर्म

को स्वीकार किया' यथा समय व्रत अङ्गीकार करने की दृष्टि से समझना चाहिए। अतः इसमें किसी प्रकार की विसंगति नहीं है।

उद्धृदिसि—यहाँ दो प्रकार का पाठ मिलता है। 'उद्धृदिसिपमाणाइक्कमे' तथा 'उद्धृदिसाइक्कमे' दोनों का भावार्थ एक ही है। यहाँ भी अतिक्रम यदि इच्छा पूर्वक किया जाता है तो वह अनाचार है। ऐसी स्थिति में व्रत टूट जाता है। अतः अनाभोग अर्थात् असावधानी के कारण होने वाला अतिक्रम ही अतिचार के अन्तर्गत है।

'खेत्तवुद्धि'—इस पर टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं। "एकतो योजनशतपरिमाण-मभिगृहीतमन्यतो दश योजनान्यभिगृहीतानि, ततश्च यस्यां दिशि दश योजनानि तस्यां दिशि समुत्पन्ने कार्ये योजनशतमध्यादपनीयान्यानि दश योजनानि तत्रैव स्वबुध्या प्रक्षिपति, संवर्धयत्येकत इत्यर्थः। अयं चातिचारो व्रतसापेक्षत्वादवसेयः।" अर्थात् मान लीजिए किसी ने एक ओर सौ योजन तथा दूसरी ओर दस योजन की मर्यादा की है। उसे दस योजन वाली दिशा में आगे बढ़ने की आवश्यकता हुई तो उसने सौ योजन वाली दिशा में दस योजन कम करके उन्हें दस योजन वाली दिशा के साथ मिला दिया। इस प्रकार हेर-फेर करना 'खेत्तवुद्धि' है।

सइअन्तरद्धात्ति—इस पर वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—“स्मृत्यन्तर्धा—स्मृत्यन्तर्धानं स्मृतिभ्रंशः। किं मया व्रतं गृहीतं, शतमर्यादया पञ्चाशन्मर्यादया वा, इत्येवमस्मरणे योजनशत-मर्यादायामपि पञ्चाशतमतिक्रामतोऽयमतिचारोऽवसेय इति।” अर्थात् 'स्मृत्यन्तर्धान' का अर्थ है व्रत मर्यादा का विस्मृत होना। इस प्रकार का सन्देह होना कि मैंने सौ योजन की मर्यादा की है अथवा पचास योजन की, इस प्रकार विस्मृत होने पर पचास योजन का अतिक्रमण करने पर भी दोष लगता है। भले ही वास्तविक मर्यादा सौ योजन की हो।

उपभोगपरिभोग व्रत के अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च णं उवभोग-परिभोगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—भोयणओ य, कम्मओ य, तत्थ णं भोयणओ समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-सचित्ताहारे सचित्त-पडिबद्धाहारे, अप्पउलिओसहि भक्खणया, दुप्पउलि-ओसहिभक्खणया' तुच्छोसहिभक्खणया। कम्मओ णं समणोवासएणं पणरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइं, तं जहा—इंगाल-कम्मे, वण-कम्मे, साडी-कम्मे, भाडी-कम्मे, फोडी-कम्मे, दंत वाणिज्जे, लक्ख-वाणिज्जे, रस-वाणिज्जे, विस-वाणिज्जे, केस-वाणिज्जे, जंत-पीलण-कम्मे, निल्लंछण-कम्मे, दवग्गि-दावणया, सरदह-तलाय सोसणया, असई-जण-पोसणया ॥ ५१ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु उपभोग-परिभोगो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—भोजनतः कर्मतश्च, तत्र खलु भोजनतः श्रमणोपासकेन पंचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—सचित्ताहारः, सचित्त-प्रतिबद्धाहारः, अपक्वौषधिभक्षणता, दुष्पक्वौषधिभक्षणता, तुच्छौषधिभक्षणता ।

कर्मतः खलु श्रमणोपासकेन पञ्चदश कर्मादानानि ज्ञातव्यानि न समाचरितव्यानि तद्यथा—१. अंगारकर्म, २. वनकर्म, ३. शाकटिककर्म, ४. भाटीकर्म, ५. स्फोटीकर्म, ६. दन्त वाणिज्यम्, ७. लाक्षा वाणिज्यम्, ८. रस वाणिज्यम्, ९. विष वाणिज्यम्, १०. केश वाणिज्यम्, ११. यंत्रपीडन कर्म, १२. निर्लाञ्छन कर्म, १३. दावाग्निदापनम्, १४. सरोहदतडाग शोषणम्, १५. असतीजन पोषणम् ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, उवभोग परिभोगे—उपभोग परिभोग, दुविहे—दो प्रकार का, पण्णत्ते—कहा गया है, तं जहा—वह इस प्रकार है, भोयणओ य कम्मओ य—भोजन से और कर्म से, तत्थ णं—उन्में, भोयणओ—भोजन से अर्थात् भोजन सम्बन्धी उपभोग परिभोग के, पंच अइयारा—पाँच अतिचार, समणोवासएणं—श्रमणोपासक को, जाणियव्वा—जानने चाहिएं, न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएं, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—सचित्ताहारे—सचित्ताहार, सचित्तपडिबद्धाहारे—सचित्तप्रतिबद्धाहार, अप्पउलिओसहिभक्खणया—अपक्व ओषधि-वनस्पति का खाना, दुष्पउलिओसहि भक्खणया—दुष्पक्व ओषधि का खाना, तुच्छोसहिभक्खणया—तुच्छ ओषधि का खाना, कम्मओ णं—कर्म . से, समणोवासएणं—श्रमणोपासक को, पणरस—पन्द्रह, कम्मादाणाइं—कर्मादान, जाणियव्वाइं—जानने चाहिएं, न समायरियव्वाइं—आचरण न करने चाहिएं, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—

इंगालकम्मे—अंगारकर्म, वणकम्मे—वनकर्म, साडीकम्मे—शाकटिककर्म, भाडीकम्मे—भाटीकर्म, फोडीकम्मे—स्फोटीकर्म, दंतवाणिज्जे—दन्त वाणिज्य, लक्खवाणिज्जे—लाक्ष वाणिज्य, रसवाणिज्जे—रस वाणिज्य, विसवाणिज्जे—विष वाणिज्य, केशवाणिज्जे—केश वाणिज्य, जंतपीलणकम्मे—यंत्रपीडन कर्म, निल्लंछणकम्मे—निर्लाञ्छन कर्म, दवग्गिदावणया—दावाग्निदापन, सरदहतलाय सोसणया—सरोहदतडाग शोषण, असईजणपोसणया—असतीजन पोषण ।

भावार्थ—तदनन्तर उपभोग-परिभोग-व्रत का निरूपण है, वह दो प्रकार का है—(१) भोजन से और (२) कर्म से । प्रथम भोजन सम्बन्धी उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं—(१) सचित्ताहार—सचित्त अर्थात् सजीव वस्तु खाना । (२) सचित्त प्रतिबद्धाहार—सजीव के साथ सटी हुई वस्तु खाना । (३) अपक्वौषधिभक्षणता—कच्ची वनस्पति अर्थात् फल शाक आदि खाना । (४) दुष्पक्वौषधिभक्षणता—पूरी न पकी हुई वनस्पति खाना । (५) तुच्छौषधिभक्षणता—अर्थात् कच्ची मूँगफली आदि खाना ।

कर्म सम्बन्धी उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के पन्द्रह कर्मादान श्रावक को जानने चाहिएं परन्तु आचरण न करने चाहिएं, वे इस प्रकार हैं—(१) अंगार कर्म—कोयले बनाकर बेचना तथा जिनमें कोयलों का अधिक उपयोग करना पड़े, ऐसे व्यापार करना। (२) वन कर्म—वन काटने का व्यापार। (३) शाकटिक कर्म—गाड़ी वगैरह बनाने तथा बेचने का व्यापार। (४) भाटी कर्म—गाड़ी वगैरह भाड़े पर चलाने का व्यापार। (५) स्फोटी कर्म—जमीन खोदने तथा पत्थर आदि फोड़ने का व्यापार। (६) दन्त वाणिज्य—हाथी दाँत आदि का व्यापार। (७) लाक्षा वाणिज्य—लाख का व्यापार। (८) रस वाणिज्य—मदिरा आदि रसों का व्यापार। (९) विष वाणिज्य—सोमल आदि विषों का व्यापार। (१०) केश वाणिज्य—केशों का व्यापार। (११) यन्त्रपीडन कर्म—घानी कोल्हू आदि चलाने का व्यापार। (१२) निर्लाञ्छन कर्म—बैल आदि को बधिया करने का व्यापार। (१३) दावाग्निदापन—क्षेत्र साफ करने आदि के लिए जंगल में आग लगाने का व्यापार। (१४) सरोहद तडाग शोषण—सरोवर, झील तथा तालाब आदि को सुखाने का व्यापार। (१५) असतीजन पोषण—वेश्यादि दुराचारिणी स्त्रियों अथवा शिकारी कुत्ते बिल्ली आदि हिंसक प्राणियों को रखकर व्यभिचार अथवा शिकार आदि का व्यापार।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में उपभोग-परिभोग व्रत के अतिचार बताए गए हैं और उन्हें दो भागों में विभक्त किया गया है—(१) भोजन की अपेक्षा से और (२) कर्म की अपेक्षा से। भोजन की अपेक्षा से—

(१) 'सचित्ताहारे'—इसका शब्दतः अर्थ है—किसी भी सचित्त वस्तु का आहार करना, किन्तु श्रावक के लिए सचित्त भोजन का सर्वथा त्याग अनिवार्य नहीं है, वह अपनी मर्यादा के अनुसार पानी, फल, आदि सचित्त वस्तुओं का सेवन कर सकता है। ऐसी स्थिति में यहाँ सचित्ताहार का अर्थ यही समझना चाहिए कि सचित्त वस्तुओं की जो मर्यादा स्वीकृत की है उसको अनाभोग अर्थात् असावधानी के कारण उल्लङ्घन होना अथवा जिस व्यक्ति ने सचित्त वस्तुओं का पूर्णतया त्याग कर रखा है उसके द्वारा असावधानी के कारण नियमोल्लङ्घन होना। परन्तु जान बूझकर मर्यादा तोड़ने पर तो अतिचार के स्थान पर अनाचार हो जाता है और व्रत टूट जाता है। यहाँ टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—'सचित्ताहारे' ति सचेतनाहारः, पृथिव्यप्काय वनस्पति काय जीव शरीरिणां सचेतनानामभ्यवहरणमित्यर्थः, अयं चातिचारः कृतसचित्ताहारः प्रत्याख्यानस्य कृततत्परिमाणस्य वाऽनाभोगादिना प्रत्याख्यातं सचेतनं भक्षयतस्तद्वा प्रतीत्यातिक्रमादौ वर्तमानस्य।'

(२) सचित्तपडिबद्धाहारे—दूसरा अतिचार सचित्तप्रतिबद्धाहार है, इसका अर्थ है, ऐसी वस्तु को खाना जो सचित्त के साथ सटी या लगी हुई है, जैसे वृक्ष के साथ लगी हुई गोंद या आम, खजूर आदि जहाँ केवल गुठली सचित्त होती है और गुद्दा, रस आदि बाहर का भाग अचित्त। यह अतिचार भी

उसी व्यक्ति की दृष्टि से है, जिसने सचित्त वस्तुओं का परित्याग या मर्यादा कर रखी है। इस पर टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—“सचित्तपडिबद्धाहारे’ ति सचित्ते वृक्षादौ प्रतिबद्धस्य गुन्दादेरभ्यवहरणम्, अथवा सचित्ते—अस्थिके प्रतिबद्धंयत्पक्वमचतेनं खजूरफलादि तस्य सास्थिकस्य कटाहमचतेनं भक्षयिष्यामीतरत्परिहरिष्यामि इति भावनया मुखे क्षेपणमिति, एतस्य चातिचारत्वं व्रतसापेक्षत्वादिति ।”

(३) अप्पउलिओसहि भक्खणया—(अपक्वौषधि भक्षणता) इसका अर्थ है कच्चे फल या थोड़े पके हुए चावल, चने (छोलिया) आदि खाना। यहां औषधि के स्थान पर ओदन का पाठ भी मिलता है, ओदन पके हुए चावलों को कहते हैं। यहां इसका अर्थ होगा—कच्चे या आधे पके हुए चावल खाना।

(४) दुप्पउलिओसहि-भक्खणया—(दुष्पक्वौषधि भक्षणता) इसका अर्थ है देर में पकने वाली औषधियों को पकी जानकर कच्ची निकाल लेना और उनका सेवन करना।

(५) तुच्छोसहि-भक्खणया (तुच्छौषधि भक्षणता) इसका अर्थ है ऐसी वस्तुओं को खाना जिनमें अधिक हिंसा होती हो, जैसे—चौलाई, खसखस आदि के दाने।

ऊपर बताए गए पाँच अतिचार उपलक्षणमात्र हैं। श्रावक ने भोजन विषयक जो मर्यादा की है उनका असावधानी के कारण किसी प्रकार उल्लङ्घन होना, इस व्रत का अतिचार है। श्रावक के प्रायः रात्रि-भोजन का भी परित्याग होता है, अतः तत्सम्बन्धी अतिचार भी उपलक्षणत्वेन इसी में आ जाते हैं। यहां वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—“इह च पञ्चातिचारा इत्युपलक्षणमात्रमेवावसेयं यतो मधुमद्य मांस रात्रिभोजनादि व्रतिनामनाभोगातिक्रमादिभिरनेके ते सम्भवन्तीति ।”

पन्द्रह कर्मादान—भोजन सम्बन्धी अतिचार बताने के पश्चात् शास्त्रकार ने कर्म सम्बन्धी अतिचार गिनाए हैं। उनकी संख्या १५ है। ये ऐसे कर्म हैं जिनमें अत्यधिक हिंसा होती है, अतः वे श्रावक के लिए वर्जित हैं। कर्मादान शब्द का अर्थ है—ऐसे व्यापार जिनसे ज्ञानावरणादि कर्मों का प्रबल बन्ध होता है। टीकाकार ने लिखा है—कर्माणि-ज्ञानावरणादीन्यादीयन्तेयैस्तानि कर्मादानानि, अथवा कर्माणि च तान्यादानानि च कर्मादानानि कर्महेतव इति विग्रहः।” इन कर्मादानों का सेवन श्रावक को न स्वयं करना चाहिए, न दूसरों से कराना चाहिए और न करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन-समर्थन ही करना चाहिए। इसके लिए भगवतीसूत्र में नीचे लिखे अनुसार कहा गया है—

“किमंग पुण जे इमे समणोवासगा भवंति, जेसिं नो कप्पंति इमाइं पन्नरस कम्मादाणाइं सयं करेत्तए वा कारवेत्तए वा अन्नं न समणुजाणेत्तए ।”

वे पन्द्रह कर्मादान निम्नलिखित हैं—

१. इंगाल कम्मे—(अङ्गार कर्म) कोयले बनाने का धन्धा करना अथवा भट्टा चलाना, ईंट पकाना आदि ऐसे धन्धे करना जिनमें आग और कोयलों का अत्यधिक उपयोग हो। यद्यपि सूत्रकार ने अंगार कर्म से केवल कोयले बनाने का धन्धा ही लिया है, फिर भी अत्यधिक हिंसा के कारण ईंट पकाने आदि के धन्धे भी उसी में सम्मिलित कर लेने चाहिए, वृत्तिकार ने इस पर नीचे लिखे अनुसार लिखा है—

“इङ्गाल कम्मे ति अङ्गार करणपूर्वकस्तद्विक्रयः, एवं यदन्यदपि वह्नि समारम्भपूर्वकं जीवनमिष्टकाभाण्डकादिपाक रूपं तदङ्गारकमेति ग्राह्यं समान स्वभावत्वात्, अतिचारताचास्य कृतैतत्प्रत्याख्यानस्यानाभोगादिना अत्रैव वर्तमानादिति, एवं सर्वत्र भावना कार्या।”

कर्मादानों की अतिचारता इस आधार पर है कि परित्याग करने पर भी कभी अनाभोगादि के द्वारा उक्त कर्मों का आचरण कर लिया जाए। जानबूझकर आचरण करने पर तो अनाचार ही माना जाता है।

२. वणकम्मे—(वनकर्म) ऐसे धन्धे करना जिनका सम्बन्ध वन या जंगल के साथ हो, वृक्षों को काटकर लड़कियां बेचना, बस्ती आदि के लिए जंगल साफ करना अथवा जंगल में आग लगाना आदि उसके अन्तर्गत हैं। वृत्तिकार ने बीजपेषण अर्थात् चक्की चलाना आदि धन्धे भी इसमें सम्मिलित किए हैं।

३. साडी कम्मे—(शकटकर्म) शकट अर्थात् बैल गाड़ी, रथ आदि बनाकर बेचने का धन्धा।

४. भाडी कम्मे—(भाटीकर्म) पशु-बैल-अश्व आदि को भाटक-भाड़े पर देने का व्यापार करना।

५. फोडी कम्मे—(स्फोटीकर्म) खान खोदने, पत्थर फोड़ने आदि का धन्धा करना।

६. दन्त वाणिज्जे—हाथी आदि के दांतों का व्यापार करना, उपलक्षण से चर्म आदि का व्यापार भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

७. लक्ख वाणिज्जे—(लाक्षावाणिज्य) लाख का व्यापार करना।

८. रस वाणिज्जे—(रसवाणिज्य) मदिरा आदि रसों का व्यापार करना। यद्यपि ईख एवं फलों के रस का भी व्यापार होता है किन्तु वह यहाँ नहीं लिया जाता। हिंसा एवं दुराचार की दृष्टि से मदिरा आदि मादक रस ही वर्जनीय हैं।

९. विस वाणिज्जे—(विष वाणिज्य)—विविध प्रकार के विषों का व्यापार करना। बन्दूक, तलवार, धनुष, बाण, बारूद आदि हथियार एवं हिंसक वस्तुएं भी इसमें सम्मिलित हैं।

१०. केस वाणिज्जे—(केश वाणिज्य)—दास, दासी एवं पशु आदि जीवित प्राणियों के क्रय-विक्रय

का धन्धा करना। कुछ आचार्यों के मत में चमरी आदि के बालों का व्यापार भी इसी में सम्मिलित है। मोरपंख तथा ऊन का व्यापार इस में नहीं आता क्योंकि उन्हें प्राप्त करने के लिए मोर और भेड़ आदि को मारना नहीं पड़ता। इसके विपरीत चमरी गाय के बाल उसे बिना मारे नहीं प्राप्त होते।

११. जन्त-पीलण-कम्मे—(यन्त्र-पीडन कर्म)—घाणी, कोल्हू आदि यन्त्रों के द्वारा तिल, सरसों आदि पीलने का धन्धा करना।

१२. निल्लंछण कम्मे—(निर्लाञ्छन कर्म)—बैल आदि को नपुंसक बनाने अर्थात् खसी करने का धन्धा।

१३. दवग्निदावणया—(दावाग्निदापन)—जंगल में आग लगाना। जंगल की आग अनियन्त्रित होती है और उसके द्वारा तत्रस्थ अनेक व्रस जीवों का भी संहार होता है।

१४. सरदहतलाय सोसणया—(सरोहद तडाग शोषणम्)—तालाब, झील, सरोवर, नदी आदि जलाशयों को सुखाना। इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—

सरसः—स्वयं संभूत जलाशय विशेषस्य, ह्रदस्य—नद्यादिषु निम्नतर प्रदेशलक्षणस्य तडागस्य—कृत्रिम जलाशयविशेषस्य परिशोषणं यत्तत्तथा, प्राकृतत्वात् स्वार्थिक ता प्रत्ययः 'सरदहतलाय परिसोसणया।'

यहाँ सर, ह्रद तथा तडाग में नीचे लिखा भेद बताया गया है—

सर—ऐसा जलाशय, जो स्वयं संभूत अर्थात् अपने आप निष्पन्न हो गया हो, इसे झील भी कहा जाता है।

ह्रद—नदी आदि का वह निम्नतर भाग, जहाँ पानी संचित हो जाता है।

तडाग—कृत्रिम जलाशय।

भगवती सूत्र की वृत्ति में भी यही बात कही गई है—“सरोहदतडाग परिशोषणता, तत्र सरः—स्वभाव निष्पन्नं, ह्रदो-नद्यादीनां निम्नतरः प्रदेशः तडागं—खननसम्पन्नमुत्तानविस्तीर्ण जलस्थानम्, एतेषां शोषणं गोधूमादीनां वपनार्थम्।”

१५. असई जणपोसणया—(असतीजनपोषणता) व्यभिचारवृत्ति के लिए वेश्या आदि को नियुक्त करना तथा शिकार आदि के लिए कुत्ते, बिल्ली आदि पालना, इस अतिचार के विषय में भगवती सूत्र तथा उपासकदशाङ्गसूत्र की वृत्ति में इस प्रकार लिखा है—“असतीजनपोषणता-असतीजनस्यपोषण तद्भाटिकोपजीवनार्थं यत्तत्तथा, एवंमन्यदपि क्रूरकर्मकारिणः प्राणिनः तेषां पोषणमसतीजनपोषणमेवेति।* ”

★ भगवती सूत्र की वृत्ति।

‘असई पोसणय’ त्ति-दास्यः पोषणं तद्भाटी ग्रहणाय, अनेन च कुक्वट
मार्जारादिक्षुद्रजीव पोषणमप्याक्षिप्तं दृश्यमिति* ।”

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में उपरोक्त कर्मादानों का निरूपण नीचे लिखे शब्दों में किया है—

अङ्गार-वन-शकट-भाटक-स्फोट जीविका । दन्त लाक्षा रस-केश-विष वाणिज्यकानि च ॥
यन्त्र-पीडा-निर्लाञ्छन-मसतीपोषणं तथा । दव-दान-सरः शोष, इति पञ्चदश त्यजेत् ॥
अङ्गार भ्राष्ट्र करणं कुम्भाय स्वर्णकारिता । ठठारत्वेष्टका पाकाविति ह्यङ्गार जीविका ॥
छत्राच्छिन्नवनपत्र-प्रसून फल विक्रयः । कणानां दलनात् पेषाद् वृत्तिश्च वनजीविका ॥
शकटानां-तडागानां घटनं खेटनं-तथा । विक्रयश्चेति शकट-जीविका परिकीर्तिता ॥
शकटोक्षलुलायोष्ट्र खराश्वतर वाजिनाम् । भारस्य वाहनाद् वृत्तिर्भवेद् भाटक जीविका ॥
सरः कूपादि खनन-शिला कुट्टन कर्मभिः । पृथिव्यारम्भ सम्भूतैर्जीवनं स्फोट जीविका ॥
दन्त-केश-नखास्थित्वग्रन्थो ग्रहणमाकरे । त्रसाङ्गस्य वाणिज्यार्थं दन्तवाणिज्यमुच्यते ॥
लाक्षामन-शिला-नीली धातकी-टङ्कणादिनः । विक्रयः पापसदनं लाक्षावाणिज्यमुच्यते ॥
नयनील-वसा-क्षौद्रे मद्यप्रभृति विक्रयः । द्विपाच्चतुष्पाद विक्रयो वाणिज्यं रसकेशयोः ॥
विषास्त्रहलयन्त्रायो हरितालादिवस्तुनः । विक्रयो जीवितघ्नस्य विषवाणिज्यमुच्यते ॥
तिलेक्षु सर्षपैरण्ड जल यन्त्रादिपीडनम् । दल तैलस्य च कृतिर्यन्त्र पीडा प्रकीर्तिता ॥
नासा वेधोऽङ्कनं मुष्कच्छेदनं पृष्ठ गालनम् । कर्ण कम्बल विच्छेदो निर्लाञ्छनमुदीरितम् ॥
सारिका शुकमार्जार-श्वकुर्कुट कलापिनाम् । पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसतीपोषणं विदुः ॥
व्यसनात् पुन्यबुद्ध्या वा दवदानं भवेद्द्विधा । सरः शोषः सरः सिन्धुहृदादेरम्बुसंप्लव ॥

—योगशास्त्र—श्लोक ८८—११३

हिंसा प्रधान होने के कारण उपरोक्त कर्म श्रावक के लिए वर्जित हैं, इसी प्रकार के यन्त्र कर्म भी इनमें सम्मिलित कर लेने चाहिए, वर्तमान युग में हिंसा एवं शोषण के नए-नए साधन एवं उपाय अपनाए जा रहे हैं, इन सब का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है, व्रतधारी को वर्तमान परिस्थिति के अनुसार विचार कर लेना चाहिए ।

अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च णं अणद्वदंडवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा
न समायरियव्वा, तं जहा—कंदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे,
उवभोगपरिभोगाइरित्ते ॥ ५२ ॥

★ उपासकदशाङ्ग की वृत्ति ।

छाया—तदनन्तरं च खलु अनर्थदण्डविरमणस्य श्रमणोपासकेन पंचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—कन्दर्पः, कौक्कुच्यं, मौखर्यं, संयुक्ताधिकरणम्, उपभोगपरिभोगातिरेकः ।

शब्दार्थ—तयाणन्तरं च णं—इसके अनन्तर, समणोवासएणं—श्रमणोपासक को, अणदण्डवेरमणस्स—अनर्थदण्ड विरमणव्रत के, पंच अइयारा—पाँच अतिचार, जाणियव्वा—जानने चाहिएं, न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएं, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—कन्दप्पे—कन्दर्प, कुक्कुइए—कौक्कुच्य, मोहरिए—मौखर्य, संजुत्ताहिगरणे—संयुक्ताधिकरण, उवभोगपरिभोगाइरित्ते—उपभोग परिभोगातिरेक ।

भावार्थ—इसके अनन्तर अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिएं, परन्तु आचरण न करने चाहिएं। वे इस प्रकार हैं १. कन्दर्प—कामोत्तेजक बातें या चेष्टाएँ करना। (२) कौक्कुच्य—भांडों की तरह विकृत चेष्टाएँ करना। ३. मौखर्य—झूठी शेखी मारना अथवा इधर-उधर की व्यर्थ बातें करना। ४. संयुक्ताधिकरण—हथियारों अथवा अन्य हिंसक साधनों को एकत्रित करना। ५. उपभोग-परिभोगातिरेक—उपभोग-परिभोग को निरर्थक बढ़ाना।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में अनर्थदण्ड विरमण व्रत के अतिचार बताए गए हैं। अनर्थदण्ड का अर्थ है—ऐसे कार्य जिनसे अपना कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता और दूसरे को हानि पहुँचती है, जिन कार्यों से व्यर्थ ही आत्मा मलिन होता है वे भी अनर्थदण्ड में आते हैं।

(१) कन्दप्पे—(कन्दर्पः) कन्दर्प का अर्थ है काम वासना। व्यर्थ ही काम वासना सम्बन्धी बातें अथवा चेष्टाएं करते रहना कन्दर्प नाम का अतिचार है। गन्दी गालियां बकना, शृंगारिक चेष्टाएं करना, अश्लील साहित्य को पढ़ना तथा अन्य कामोत्तेजक बातें करना भी इसमें सम्मिलित है। यह अइचार प्रमादाचरित कोटि में आता है, क्योंकि यह एक प्रकार की मानसिक, वाचिक अथवा कायिक शिथिलता है।

(२) कुक्कुइए—(कौक्कुच्यम्) भांडों के समान मुंह, नाक, हाथ आदि की कुचेष्टाएं करना, यह भी प्रमादाचरित का अतिचार है। यदि चेष्टाएँ बुरी भावना के साथ की जायें तो इसका सम्बन्ध अपध्यानाचरित के साथ भी हो जाता है।

(३) मोहरिए—(मौखर्यम्) मुखर का अर्थ है—बिना विचारे बड़-चढ़ कर बातें करने वाला। प्रायः धृष्टता या अहंकार से प्रेरित होकर व्यक्ति ऐसा करता है। इसमें मिथ्या प्रदर्शन की भावना उग्र होती है। यह अतिचार पाप कर्मोपदेश से सम्बन्ध रखता है।

(४) संजुत्ताहिगरणे—(संयुक्ताधिकरणम्) अधिकरण का अर्थ है फरसा, कुल्हाड़ी, मूसल आदि हिंसा के उपकरण, इन उपकरणों को संग्रह करके रखना, जिसमें आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त उपयोग किया जा सके, संयुक्ताधिकरण है। इस अतिचार से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है।

(५) उवभोग परिभोगाइरित्ते—(उपभोगपरिभोगातिरेक) श्रावक को खान, पान, वस्त्र, पात्र, मकान आदि भोग्य सामग्री पर नियन्त्रण रखना चाहिए, और उन्हें आवश्यकता से अधिक नहीं रखना चाहिए। इन्हें अनावश्यक रूप से बढ़ाना उपभोग-परिभोगातिरेक नाम का अतिचार है। इसका भी प्रमादाचरित के साथ सम्बन्ध है।

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च णं सामाइयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न सामायरियव्वा, तं जहा—मणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइअकरणया, सामाइयस्स अणवड्डियस्स करणया ॥ ५३ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु सामायिकस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—मनोदुष्प्रणिधानं, वचोदुष्प्रणिधानं, कायदुष्प्रणिधानं, सामायिकस्य स्मृत्यकरणता सामायिकस्यानवस्थितस्य करणता।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, समणोवासएणं—श्रमणोपासक को, सामाइयस्स—सामायिक व्रत के, पंच अइयारा—पाँच अतिचार, जाणियव्वा—जानने चाहिए, न सामायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिए, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—मणदुप्पणिहाणे—मनोदुष्प्रणिधान, वयदुप्पणिहाणे—वचोदुष्प्रणिधान, कायदुप्पणिहाणे—कायदुष्प्रणिधान, सामाइयस्स सइ अकरणया—सामायिक का स्मृत्यकरणम्, सामाइयस्स अणवड्डियस्स करणया—सामायिक को अस्थिरतापूर्वक करना।

भावार्थ—इसके पश्चात् श्रमणोपासक को सामायिक व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिए। परन्तु आचरण न करने चाहिए। वे इस प्रकार हैं १. मनोदुष्प्रणिधान—मन का दुष्प्रयोग करना। २. वचोदुष्प्रणिधान—वचन का दुष्प्रयोग करना। ३. कायदुष्प्रणिधान—काय का दुष्प्रयोग करना। ४. स्मृत्यकरणम्—सामायिक का विस्मृत होना अथवा सामायिक की अवधि का ध्यान न रखना। ५. अनवस्थित सामायिक करण—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना।

टीका—सामायिक का अर्थ है जीवन में समता या समभाव का होना। जीवन में विषमता राग तथा द्वेष के कारण आती है। अतः इन्हें छोड़कर शुद्ध आत्मस्वरूप रमणता ही सामायिक है। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्यरूप है। स्वस्वरूपानुसन्धान से इन गुणों का उत्तरोत्तर विकास होता है। अतः सामायिक से एक ओर राग-द्वेष आदि विकृतियां शान्त होती हैं और दूसरी ओर ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की वृद्धि होती है। यहां वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—“सामाइयस्स’ त्ति समो—रागद्वेषवियुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत्पश्यति तस्य आयः—प्रतिक्षण-मपूर्वापूर्वज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायाणां निरुपमसुखहेतुभूतानामधःकृत चिन्तामणिकल्पद्रुमोपमानां लाभः समायः स प्रयोजनमस्यानुष्ठानस्येति सामायिकम्।”

यह व्रत मुनि को समस्त जीवन के लिए होता है, श्रावक इसे कुछ समय अर्थात् प्रचलित परम्परा के अनुसार दो घड़ी—४८ मिनट के लिए अंगीकार करता है और उस समय समस्त सावद्य अर्थात् पापयुक्त क्रियाओं का परित्याग करता है। इस व्रत के निम्नलिखित अतिचार हैं—

(१) मणदुष्पणिहाणे (मनोदुष्पणिधान) सामायिक के समय घरेलू बातों का चिन्तन करना। शत्रु-मित्र आदि का बुरा-भला सोचना अथवा अन्य प्रकार से मन में राग-द्वेष सम्बन्धी वृत्तियों को लाना।

(२) वयदुष्पणिहाणे (वचोदुष्पणिधान) असत्य बोलना, दूसरे को हानि पहुंचाने वाले अथवा कठोर वचन कहना एवं सांसारिक बातें करना।

(३) कायदुष्पणिहाणे (कायदुष्पणिधान) ऐसी शारीरिक हलचल करना जिससे हिंसा की सम्भावना हो।

(४) सामाइयस्स सइ-अकरणया (सामायिकस्यस्मृत्यकरणता) सामायिक करने के लिए निश्चित समय को भूल जाना अथवा सामायिक काल में यह भूल जाना कि मैं सामायिक में हूँ। यह अतिचार प्रमाद के कारण होता है।

(५) सामाइयस्स अणवट्टियस्सकरणया (सामायिकस्य अनवस्थितस्य करणता)—सामायिक के सम्बन्ध में अनवस्थित रहना अर्थात् कभी करना, कभी न करना, कभी अवधि से पहले ही उठ जाना आदि। उपरोक्त अतिचारों में प्रथम तीन का कारण मुख्यतया अनाभोग या असावधानी है, और अन्तिम दो का प्रमाद। वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—‘सामाइयस्स सइ अकरणय’ ति सामायिकस्य सम्बन्धिनी या स्मृतिः-अस्यां वेलायां मया सामायिकं कर्तव्यं तथा कृतं तत्र वा इत्येवंरूपं स्मरणं, तस्याः प्रबलप्रमादतयाऽकरणंस्मृत्यकरणम्, ‘अणवट्टियस्स करणया’ ति अनवस्थितस्य अल्पकालीनस्यानियतस्य वा सामायिकस्यकरण मनवस्थितकरणम्, अल्पकालकरणानन्तरमेवत्यजति यथाकथञ्चिद्वा तत्करोतीति भावः। इह चाद्यत्रयस्यानाभोगादिनातिचारत्वम् इतरद्वयस्य तु प्रमाद-बहुलतयेति।”

शास्त्रों में मन के दस, वचन के दस तथा काया के बारह दोष बताए गए हैं जो सामायिक में वर्जित हैं। वे निम्नलिखित हैं—

मन के दस दोष—

१. विवेक बिना सामायिक करे तो ‘अविवेक दोष।’

२. यश-कीर्ति के लिए सामायिक करे तो ‘यशोवाँछा’ दोष।

३. धनादिक के लाभ की इच्छा से सामायिक करे तो ‘लाभवाँछा’ दोष।

४. गर्व-अहंकार (घमंड) सहित सामायिक करे तो 'गर्व' दोष ।
५. राजादिक के भय से सामायिक करे तो 'भय' दोष ।
६. सामायिक में नियाणा (निदान) करे तो 'निदान' दोष । नियाणा या निदान का अर्थ है—धर्म साधना के फलस्वरूप किसी अमुक भोग आदि की कामना करना ।
७. फल में संदेह रखकर सामायिक करे तो 'संशय' दोष ।
८. सामायिक में क्रोध, मान, माया, लोभ करे तो 'रोष' दोष ।
९. विनयपूर्वक सामायिक न करे तथा सामायिक में देव-गुरु-धर्म की अविनय आशातना करे तो 'अविनय दोष' ।

१०. बहुमान—भक्तिभावपूर्वक सामायिक न करके, बेगार समझकर सामायिक करे तो 'अबहुमान' दोष ।

वचन के दस दोष—

१. कुत्सित वचन बोले तो 'कुवचन दोष' ।
२. बिना विचारे बोले तो 'सहसाकार' दोष ।
३. सामायिक में राग उत्पन्न करने वाले संसार सम्बन्धी गीत-श्रुत आदि गाए तो 'स्वच्छन्द' दोष ।
४. सामायिक में पाठ और वाक्य को संक्षिप्त करके बोले तो 'संक्षेप' दोष ।
५. सामायिक में क्लेशकारी वचन बोले तो 'कलह' दोष ।
६. राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा—इन चार कथाओं में से कोई कथा करे तो 'विकथा' दोष ।
७. सामायिक में हंसी, मसखरी, ठड्डा, होहल्ला करे तो 'हास्य' दोष ।
८. सामायिक में गड़बड़ करके जल्दी-जल्दी बोले या अशुद्ध पढ़े तो 'अशुद्ध' दोष ।
९. सामायिक में उपयोग बिना बोले तो 'निरपेक्षा' दोष ।
१०. सामायिक में स्पष्ट उच्चारण न करके गुण-गुण बोले तो 'भ्रमण' दोष ।

काय के बारह दोष—

१. सामायिक में अयोग्य आसन से बैठे तो 'कुआसन' दोष । सहारा लेकर बैठना, पैर पर-पैर रखकर बैठना, गर्व के आसन से बैठना, लेटना आदि सामायिक में वर्जित है ।

२. सामायिक में स्थिर आसन से न बैठना, स्थान तथा आसन बदलते रहना अथवा अन्य प्रकार से चपलता प्रकट करना 'चलासन' दोष है।

३. सामायिक में दृष्टि स्थिर न रखना, इधर-उधर देखते रहना 'चलदृष्टि' दोष है।

४. सामायिक में सावध अर्थात् दोष युक्त कार्य करना 'सावध-क्रिया' दोष है, घर की रखवाली करना, कुत्ते, बिल्ली को भगाना आदि सावध क्रियाएँ हैं।

५. सामायिक में दीवार आदि का सहारा लेकर बैठे या खड़ा रहे तो 'आलंबन' दोष है।

६. सामायिक में बिना प्रयोजन हाथ-पैर आदि संकोचे अथवा पसारे तो 'आकुंचन-प्रसारण' दोष।

७. सामायिक में हाथ-पैर आदि मोड़े अथवा अंगड़ाई ले तो 'आलस्य' दोष।

८. सामायिक में हाथ एवं पैरों की अंगुलियों को चटकाए तो 'मोटन' दोष।

९. सामायिक में मेल उतारे तो 'मल' दोष।

१०. गले अथवा गाल पर हाथ लगाकर शोकासन से बैठे तो 'विमासण' दोष।

११. सामायिक में नींद लेवे तो 'निद्रा' दोष।

१२. सामायिक में बिना कारण दूसरे से 'वैयावच्च' अर्थात् सेवा सुश्रूषा करावे तो 'वैयावृत्य' दोष है।

दसवां देशावकाशिक व्रत के अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न
समायरियव्वा, तं जहा—आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए,
बहियापोग्गलपक्खेवे ॥ ५४ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु देशावकाशिकस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न
समाचरितव्याः तद्यथा—आनयनप्रयोगः, प्रेष्यप्रयोगः, शब्दानुपातः, रूपानुपातः बहिःपुद्गल प्रक्षेपः।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, समणोवासएणं—श्रमणोपासक को, देसाव-
गासियस्स—देशावकाशिक व्रत के, पंच अइयारा—पाँच अतिचार, जाणियव्वा—जानने चाहिएं, न
समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएं, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—
आणवणप्पओगे—आनयन प्रयोग, पेसवणप्पओगे—प्रेष्य प्रयोग, सद्दाणुवाए—शब्दानुपात,
रूवाणुवाए—रूपानुपात, बहियापोग्गलपक्खेवे—और बहिपुद्गल प्रक्षेप।

भावार्थ—इसके पश्चात् श्रमणोपासक को देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिए, परन्तु आचरण न करने चाहिए। वे इस प्रकार हैं—(१) आनयन प्रयोग—मर्यादा भंग करने वाले संदेशों द्वारा बाहर से वस्तु मँगाना। (२) प्रेष्य प्रयोग—बाहर से वस्तु मँगाने के लिए किसी व्यक्ति को भेजना। (३) शब्दानुपात—शाब्दिक संकेत द्वारा काम कराना। (४) रूपानुपात—आँख आदि के इशारे से काम कराना। (५) बहिःपुद्गलप्रक्षेप—बाहर कोई वस्तु फेंककर काम कराना।

टीका—प्रस्तुत व्रत का नाम है—देशावकाशिक व्रत, इसका अर्थ है—अमुक निश्चित समय विशेष के लिए क्षेत्र की मर्यादा करना और इससे बाहर किसी प्रकार की सांसारिक प्रवृत्ति न करना। यह व्रत छठे दिग्ब्रत का संक्षेप है, दिग्ब्रत में दिशा सम्बन्धी मर्यादा की जाती है, किन्तु यह मर्यादा यावज्जीवन या लम्बे समय के लिए होती है और प्रस्तुत मर्यादा साधना के रूप में दिन-रात के या न्यूनाधिक समय के लिए की जाती है। भोगोपभोग-परिमाण आदि अन्य व्रतों का प्रतिदिन अमुक काल तक किया जाने वाला संक्षेप भी इसी व्रत में सम्मिलित है। टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—

‘देशावगासियस्स’ त्ति दिग्ब्रतगृहीतदिक्परिमाणस्यैकदेशो देशस्तस्मिन्नवकाशोगमनादिचेष्टास्थानं देशावकाशस्तेन निर्वृत्तं देशावकाशिकं—पूर्वगृहीतदिग्ब्रत संक्षेपरूपं सर्वव्रतसंक्षेपरूपं चेति ।”

१. आनयन प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र के अन्दर उपयोग के लिए मर्यादा क्षेत्र से बाहर के पदार्थों को दूसरे से मँगाना।

२. प्रेष्य प्रयोग—मर्यादा किए हुए क्षेत्र से बाहर के कार्यों का संपादन करने के लिए नौकर आदि भेजना।

३. शब्दानुपात—नियत क्षेत्र से बाहर का कार्य आने पर छींककर, खाँसकर अथवा कोई शब्द करके पड़ौसी आदि को इशारा करके कार्य कराना।

४. रूपानुपात—नियत क्षेत्र से बाहर का काम करने के लिए दूसरे को हाथ आदि का इशारा करना।

५. बहिः पुद्गलप्रक्षेप—कंकड-पत्थर आदि फेंककर दूसरे को संकेत करना।

जैन परंपरा में यह आवश्यक माना गया है कि साधक समय-समय पर अपनी प्रवृत्तियों को मर्यादित करने का अभ्यास करता रहे, इससे जीवन में अनुशासन तथा दृढ़ता आती है, प्रस्तुत व्रत इसी अभ्यास का प्रतिपादन करता है। समय विशेष के लिए की गई समस्त मर्यादाएं इसके अन्तर्गत हैं।

पौषध व्रत के पाँच अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च णं पोसहोववासस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय सिज्जासंधारे, अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय

सिज्जासंधारे, अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय उच्चारपासवण भूमी, अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय उच्चारपासवण-भूमी, पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया ॥ ५५ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु पौषधोपवासस्य श्रमणोपासकेन पंचातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा-अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारकः, अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारकः, अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखितोच्चार प्रस्रवण भूमिः, अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितोच्चारप्रस्रवण भूमिः, पौषधोपवासस्य सम्यगननुपालनम् ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, समणोवासएणं—श्रमणोपासक को, पोसहोववासस्स—पौषधोपवास के, पंच अइयारा—पांच अतिचार, जाणियव्वा—जानने चाहिएं, न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएँ, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय सिज्जासंधारे—अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारक, अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय सिज्जासंधारे—अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक, अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहिय उच्चारपासवण भूमी—अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि, अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमी—अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवण भूमि, पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया—पौषधोपवास का सम्यगननुपालन ।

भावार्थ—इसके अनन्तर श्रमणोपासक को पौषधोपवास के पांच अतिचार जानने चाहिएँ, परन्तु उनका आचरण न करना चाहिए, वे अतिचार इस प्रकार हैं—(१) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तार—बिना देखे-भाले अथवा अच्छी तरह देखे-भाले बिना शय्या का उपयोग करना । (२) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तार—पूँजे बिना अथवा अच्छी तरह पूँजे बिना शय्यादि का उपयोग करना । (३) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि—बिना देखे अथवा अच्छी तरह देखे बिना शौच या लघुशंका के स्थानों का उपयोग करना । (४) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्रवण भूमि—बिना पूँजे अथवा अच्छी तरह पूँजे बिना शौच एवं लघुशंका के स्थानों का उपयोग करना । (५) पौषधोपवास का सम्यगननुपालन—पौषधोपवास को विधिपूर्वक न करना ।

टीका—प्रस्तुत व्रत का नाम पौषधोपवास व्रत है । पौषध का अर्थ है—उपाश्रय या धर्म स्थान, और उपवास का अर्थ है अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम रूप चार प्रकार के आहार का त्याग । इस व्रत में उपवास के साथ सावद्य प्रवृत्तियों का भी त्याग किया जाता है और दिन रात के लिए घर से सम्बन्ध तोड़ दिया जाता है । व्रतधारी अपने सोने-बैठने तथा शौच एवं लघुशंका आदि के लिए भी स्थान निश्चित कर लेता है । इस व्रत के अतिचारों में प्रथम चार का सम्बन्ध मर्यादित भूमि तथा शय्या-आसनादि की देख-रेख से है । व्रतधारी को इन्हें अच्छी तरह देखभाल कर बरतना चाहिए, जिससे किसी जीव-जन्तु की हिंसा न होने पाए ।

इस व्रत में चार बातों का त्याग किया जाता है—

१. अशन, पान आदि चारों आहारों का ।
२. शरीर का सत्कार-वेशभूषा, स्नानादि ।
३. मैथुन ।
४. समस्त सावद्य व्यापार ।

इन चार बातों का मानसिक चिन्तन पाँचवें अतिचार के अन्तर्गत है। वृत्तिकार का कथन है—“कृतपौषधोपवासस्यास्थिरचित्ततयाऽऽहारशरीरसत्काराब्रह्मव्यापाराणामभिलषणादननुपालना पौषधस्येति, अस्य चातिचारत्व भावतो विरतेर्बाधितत्वादिति ।”

जैन परम्परा में द्वितीय, पंचमी, अष्टमी, एकादशी तथा चतुर्दशी को पर्व तिथियाँ माना गया है। उनमें भी अष्टमी और चतुर्दशी के दिन विशेष रूप से धर्माराधन किया जाता है। पौषधोपवास व्रत भी प्रायः इन्हीं पर किया जाता है।

यथासंविभाग व्रत के पाँच अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च णं अहासंविभागस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा—सचित्तनिक्खेवणया, सचित्तपेहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया ॥ ५६ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु यथासंविभागस्य श्रमणोपासकेन पंच अतिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—सचित्तनिक्खेपणता, सचित्तपिधानम्, कालातिक्रमः, परव्यपदेशः, मत्सरिता ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च णं—इसके अनन्तर, समणोवासएणं—श्रमणोपासक को, अहासंविभागस्स—यथासंविभाग व्रत के, पंच अइयारा—पाँच अतिचार, जाणियव्वा—जानने चाहिए, न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिए, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—सचित्तनिक्खेवणया—सचित्तनिक्खेपण, सचित्तपेहणया—सचित्तपिधान, कालाइक्कमे—कालातिक्रम, परववएसे—परव्यपदेश, मच्छरिया—मत्सरिता ।

भावार्थ—इसके पश्चात् श्रमणोपासक को यथासंविभाग व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिए, परन्तु आचरण न करने चाहिए। वे इस प्रकार हैं—(१) सचित्त-निक्खेपण—दान न देने के विचार से भोजन-सामग्री को सचित्त वस्तुओं में रख देना। (२) सचित्तपिधान—सचित्त वस्तुओं से ढक देना। (३) कालातिक्रम—समय बीतने पर भिक्षादि के लिए आमन्त्रित करना। (४) परव्यपदेश—टालने के लिए अपनी वस्तु को दूसरे की बताना। (५) मत्सरिता—ईर्ष्यापूर्ण दान देना।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में यथासंविभाग व्रत के अतिचार बताए गए हैं, इसी का दूसरा नाम

‘अतिथि संविभाग व्रत’ भी है। ‘संविभाग’ का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से विभाजन। यथा शब्द का अर्थ है—उचित रूप से अथवा मुनि आदि चारित्र सम्पन्न योग्य पात्र के लिए अपने अन्न, पान, वस्त्र आदि में से यथाशक्ति विभाजन करना अर्थात् उसे देना यथासंविभाग या अतिथि-संविभाग व्रत है। इसके अतिचारों में मुख्य बात ‘दान न देने की भावना’ है। इस भावना से प्रेरित होकर किसी प्रकार की टालमटोल करना इस व्रत का अतिचार है। उपलक्षण के रूप में उसके निम्नलिखित ५ प्रकार हैं—

(१) सचित्त निम्नखेवणया—(सचित्तनिक्षेपण) दान न देने के अभिप्राय से अचित्त वस्तुओं को सचित्त धान्य आदि में मिला देना अथवा कल्पनीय वस्तुओं में सचित्त वस्तु मिला देना सचित्त निक्षेपण है। तात्पर्य यह है कि—सचित्त व्रीहि (तुष सहित चावल) आदि में अगर अचित्त मिला देंगे या अचित्त अन्न आदि में सचित्त चावल आदि मिला देंगे तो साधु ग्रहण नहीं करेंगे, ऐसी भावना करके सचित्त में अचित्त और अचित्त में सचित्त मिला देना सचित्तनिक्षेपण अतिचार है।

(२) सचित्तपेहणया—(सचित्तपिधान) इसी प्रकार पूर्वोक्त भावना से सचित्त वस्तु से अचित्त को और अचित्त से सचित्त को ढांप देना सचित्त-पिधान अतिचार है।

(३) कालाइक्कम्भे—(कालातिक्रम) अर्थात् समय का उल्लंघन करना, ‘साधु का सत्कार भी हो जाए और आहार भी न देना पड़े, ऐसी भावना से भोजनसमय को टालकर भिक्षा देने को तैयार होना कालातिक्रम’ अतिचार है।

(४) परववएसे—(परव्यपदेश) टालने के लिए अपनी वस्तु को दूसरे की बताना।

(५) मच्छरिया—(मत्सरिता) ईर्ष्यावश आहार आदि का देना, यथा अमुक ने अमुक दान दिया है, मैं इस से कोई कम नहीं हूँ, इस भावना से देना। अथवा दान देने में कंजूसी करना मात्सर्य अतिचार है। कोई-कोई मत्सर का अर्थ क्रोध करते हैं, उनके मत से क्रोधपूर्वक भिक्षा देना मात्सर्य अतिचार है।

इसके विपरीत यदि आहारादि देवे ही नहीं या देते हुए को रोके अथवा देकर पश्चात्ताप करे तो व्रत भंग समझना चाहिए, कहा भी है—

“ण देइ वारेइ य दिज्जमाणं, तहेव दिन्ने परितप्पए य ।
इयेरिसो जो किवणस्स भावो, भंगो वये बारसगे इहेसो ॥”
न ददाति वारयति च दीयमानं, तथैव दत्ते परितप्यते च ।
इत्येतादृशो यः कृपणस्य भावः, भङ्गो व्रते द्वादशके इहैषः ॥

स्वयं न देना, दूसरा लेने लगे तो उसे मना करना अथवा देकर पछताना आदि से बारहवें व्रत का भंग होता है।

संलेखना के पांच अतिचार—

मूलम्—तयाणंतरं च षं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाञ्जूसणाराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीविया-संसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे ॥ ५७ ॥

छाया—तदनन्तरं च खलु अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाऽऽराधनायाः पंच अतिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा—इहलोकाशंसाप्रयोगः, परलोकाशंसाप्रयोगः, जीविताशंसा-प्रयोगः, मरणाशंसाप्रयोगः, कामभोगाशंसाप्रयोगः ।

शब्दार्थ—तयाणंतरं च षं—इसके अनन्तर, अपच्छिममारणंतिय-संलेहणा-ञ्जूसणाराहणाए—अपश्चिम-मारणान्तिक-संलेखना-जोषणा आराधना के, पंच अइयारा—पाँच अतिचार, जाणियव्वा—जानने चाहिएं, न समायरियव्वा—परन्तु आचरण न करने चाहिएं, तं जहा—वे इस प्रकार हैं—इहलोगासंसप्पओगे—इस लोक के सुखों की अभिलाषा करना, परलोगासंसप्पओगे—परलोक के सुखों की अभिलाषा करना, जीवियासंसप्पओगे—जीविताशंसाप्रयोग, मरणासंसप्पओगे—मरणाशंसाप्रयोग, कामभोगासंसप्पओगे—काम-भोगाशंसाप्रयोग ।

भावार्थ—इसके पश्चात् श्रमणोपासक को अपश्चिम-मारणान्तिक-संलेखना-जोषणा आराधना के पांच अतिचार जानने चाहिएं, परन्तु आचरण नहीं करने चाहिएं। वे इस प्रकार हैं—(१) इहलोकाशंसाप्रयोग—इस लोक के सुखों की अभिलाषा करना, (२) परलोकाशंसाप्रयोग—परलोक के सुखों की अभिलाषा करना, (३) जीविताशंसाप्रयोग—जीने की आकांक्षा करना, (४) मरणाशंसाप्रयोग—मृत्यु की आकांक्षा करना, (५) कामभोगाशंसाप्रयोग—काम-भोगों की आकांक्षा करना ।

टीका—जैन धर्म के अनुसार जीवन अपने आप में कोई स्वतन्त्र एवं अन्तिम लक्ष्य नहीं है, यह आत्म विकास का साधन मात्र है। अतः साधक के लिए, वह साधु हो या सद्गृहस्थ, आवश्यक माना गया है कि जब तक शरीर के द्वारा धर्मानुष्ठान होता रहे तब तक उसकी सही सार संभाल रखे। किन्तु रोग अथवा अशक्ति के कारण जब शरीर धर्म क्रियाएं करने में असमर्थ हो जाए, अथवा रोग आदि के कारण मन में दुर्बलता आने लगे और विचार मलिन होने लगे तो उस समय यही उचित है कि शान्ति एवं दृढ़ता के साथ शरीर के संरक्षण का प्रयत्न छोड़ दिया जाए। इसके लिए साधक भोजन का त्याग कर देता है और पवित्र स्थान में आत्मचिन्तन करता हुआ शान्तिपूर्वक आध्यात्मिक साधना के पथ पर अग्रसर होता है।

इस व्रत को संलेखना कहा जाता है, जिसका अर्थ है समस्त सांसारिक व्यापारों का उपसंहार। सूत्र में इसके दो विशेषण हैं 'अपश्चिमा' और 'मारणान्तिकी'। अपश्चिमा का अर्थ है—अन्तिम

अर्थात् जिसके पीछे जीवन का कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। मारणान्तिकी का अर्थ है—मरने तक चलने वाली। इस व्रत में ऐहिक तथा पारलौकिक समस्त कामनाओं का परित्याग कर दिया जाता है, इतना ही नहीं जीवन मृत्यु की आकांक्षा भी वर्जित है, अर्थात् व्रतधारी न यह चाहता है कि जीवन कुछ समय के लिए लम्बा हो जाए और न व्याकुल होकर शीघ्र मरना चाहता है। वह शान्तचित्त होकर केवल आत्म-चिन्तन में लीन रहता है। यहाँ वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—

‘अपच्छिमे’ त्यादि, पश्चिमैवापश्चिमा मरणं—प्राणत्यागलक्षणं तदेवान्तो मरणान्तः तत्र वा मारणान्तिकी, संलिख्यते—कृशीक्रियते शरीरकषायाद्यनयेति संलेखना—तपोविशेषलक्षणा ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः तस्याः जोषणा—सेवना तस्या आराधना,—अखण्डकालकरणमित्यर्थः, अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना जोषणाराधना, तस्याः।”

यहाँ संलेखना का अर्थ शरीर एवं कषायों का कृश करना बताया गया है। इसके पश्चात् जोषणा और आराधना शब्द लगे हुए हैं, जोषणा का अर्थ है प्रीति या सेवन करना। यह संस्कृत की ‘जुषी प्रीति सेवनयोः’ से बना है। आराधना का अर्थ है जीवन में उतारना। संलेखना के पाँच अतिचार नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) इहलोगासंसर्पओगे—(इहलोकाशंसाप्रयोग) ऐहिक भोगों की कामना अर्थात् मरकर राजा, धनवान या सुखी एवं शक्तिशाली बनने की इच्छा।

(२) परलोगासंसर्पओगे—(परलोकाशंसा प्रयोग) स्वर्ग सम्बन्धी भोगों की इच्छा, जैसे कि मरने के पश्चात् मैं स्वर्ग में जाऊँ और सुख भोगूँ आदि।

(३) जीवियासंसर्पओगे—(जीविताशंसा प्रयोग) यश-कीर्ति आदि के प्रलोभन अथवा मृत्यु भय के कारण जीने की आकांक्षा करना।

(४) मरणासंसर्पओगे—(मरणाशंसा प्रयोग) भूख, प्यास अथवा अन्य शारीरिक कष्टों के कारण शीघ्र मरने की आकांक्षा, ताकि इन कष्टों से शीघ्र ही छुटकारा हो जाए।

(५) कामभोगासंसर्पओगे—(कामभोगाशंसाप्रयोग) इस लोक या परलोक में शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि किसी प्रकार के इन्द्रिय विषय को भोगने की आकांक्षा करना अर्थात् ऐसी भावना रखना कि अमुक पदार्थ की प्राप्ति हो।

अन्तिम समय में जीवन की समस्त आकांक्षाओं एवं मोह ममता से निवृत्त होने के लिए यह व्रत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसे आत्महत्या कहना अनुचित है, आत्महत्या में मनुष्य क्रोध, शोक, मोह, दुःख अथवा किसी अन्य मानसिक आवेग से अभिभूत होता है, उसकी विचार शक्ति कुण्ठित हो जाती है और परिस्थिति का सामना करने की शक्ति न होने के कारण वह अपने प्राणों का अन्त करना चाहता है। किन्तु संलेखना में जीने और मरने की आकांक्षा भी वर्जित है। चित्त शान्ति और तटस्थवृत्ति

संलेखना का आवश्यक तत्त्व है, इसमें किसी प्रकार का आवेग या उन्माद नहीं रहता। इस प्रकार आत्म आलोचना और आत्म शुद्धिपूर्वक मृत्यु को जैन शास्त्रकार पंडित मरण कहते हैं।

आनन्द द्वारा सम्यक्त्व-ग्रहण तथा शिवानन्दा को परामर्श—

मूलम्—तएणं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—

नो खलु मे भंते! कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेवयाणि वा अन्नउत्थिय परिग्गहियाणि चेइयाइं वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा, पुव्विं अणालत्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा, तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पद्राउं वा, नन्नत्थं रायाभिओगेणं, गणाभिओगेणं, ब्रह्माभिओगेणं, देवयाभिओगेणं, गुरुनिग्गहेणं, वित्तिकंतारेणं। कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाण-खाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुञ्छणेणं, पीठफलगसिज्जासंथारएणं ओसहभे-सज्जेण य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए” —

—त्ति कट्टु इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ, अभिगिण्हित्ता पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्ठाइं आदियइ, आदिइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ, वंदित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव वाणियग्गामे नयरे, जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सिवनन्दं भारियं एवं वयासी—

“एवं खलु देवाणुप्पिए! मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे निसंते से वि य धम्मे मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए, तं गच्छ णं तुमं देवाणुप्पिए! समणं भगवं महावीरं वंदाहि जाव पज्जुवासाहि, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालविहं गिहिधम्मं पडिवज्जाहि” ॥ ५८ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दो गाथापतिः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके पंचाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं श्रावकधर्मं प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—

“नो खलु मे भदन्त! कल्पते अद्यप्रभृति अन्य यूथिकान् वा, अन्ययूथिक दैवतानि वा,

अन्ययूथिक परिगृहीतानि चैत्यानि वा वन्दितुं वा नमस्कृतुं वा, पूर्वमनालप्तेन आलपितुं वा, संलपितुं वा, तेभ्योऽशनं वां पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा दातुं वा अनुप्रदातुं वा, नान्यत्र राजाभियोगात्, गणाभियोगात्, बलाभियोगात्, देवताभियोगात्, गुरुनिग्रहात्, वृत्तिकान्तारात्। कल्पते मे श्रमणान् निर्ग्रन्थान् प्रासुकेन एषणीयेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन वस्त्रप्रतिग्रहकम्बलपादप्रोक्षणेन, (पतद्ग्रह) पीठ-फलक-शय्या संस्तारकेण, औषधभैषज्येण च प्रतिलाभयतो विहर्तुम्।”

इति कृत्वा, इममेतद्रूपमभिग्रहमभिगृह्णाति, अभिग्रह्य प्रश्नान् पृच्छति, पृष्ट्वाऽर्थानाददाति, आदाय श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिकृत्वो वन्दते, वन्दित्वा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकेत्वात् दूतिपलाशात् चैत्यात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य यत्रैव वणिगुग्रामं नगरं यत्रैव स्वकं गृहं तत्रैव उपागच्छति, उपागत्य शिवानन्दां भायमिवमादीत्—

एवं खलु देवानुप्रिये! मया श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्मो निशान्तः। सोऽपि च धर्मो ममेच्छितः प्रतीच्छितोऽभिरुचितः, तद् गच्छ खलु त्वं देवानुप्रिये! श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दस्व यावत् पर्युपास्व, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पंचाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं गृहधर्मं प्रतिपद्यस्व।

शब्दार्थ—तएणं—इसके अनन्तर, से—वह आणदे—आनन्द, गाहावई—गाथापति, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के, अंतिए—पास, पंचाणुव्वइयं—पाँच अणुव्रत रूप, सत्तसिक्खावइयं—सात शिक्षाव्रत रूप, दुवालसविहं—बारह प्रकार का, सावयधम्मं—श्रावकधर्म, पडिवज्जइ—स्वीकार करता है। पडिवज्जित्ता—स्वीकार करके, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को, वंदइ—वन्दना करता है, नमंसइ—नमस्कार करता है, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके, एवं वयासी—इस प्रकार बोलता है—

भंते—हे भगवन्! खलु—निश्चय रूप से, मे—मेरे को, नो कप्पइ—नहीं कल्पता है, अज्जप्पभिइं—आज से, अन्नउत्थिए वा—निर्ग्रन्थ संघ के अतिरिक्त अन्य संघ वालों को, अन्नउत्थियदेवयाणि वा—अन्य यूथिकों देवों को, अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि चेइयाइं वा—तथा अन्य यूथिकों द्वारा स्वीकृत चैत्यों को, वंदित्ते वा नमंसित्ते वा—वन्दना-नमस्कार करना, पुव्विं अणालत्तेणं आलवित्ते वा संलवित्ते वा—उनके बिना बुलाए पहले स्वयं ही बोलना अथवा वार्तालाप करना, तेसिं—उनको, असणं वा—अशन, पाणं वा—पान, खाइमं वा—खाद्य तथा, साइमं वा—स्वाद्य, दाउं वा—देना, अणुप्पदाउं वा—आग्रहपूर्वक पुनः पुनः देना, नन्नत्थ—किन्तु वक्ष्यमाण आगारों के सिवाय, रायाभिओगेणं—राजाभियोग से अर्थात् राजा के आग्रह से, गणाभिओगेणं—गण के अभियोग से, बलाभिओगेणं—सेना के अभियोग से, देवयाभिओगेणं—देवता के अभियोग से, गुरुनिग्गहेणं—गुरुजनों माता-पिता आदि के आग्रह से, वित्तिकंतारेणं—और वृत्ति कान्तार से अर्थात्

अरण्यादि में वृत्ति के लिए विवश होने पर। कप्पइ मे—मुझे कल्पता है, समणे निर्गन्थे—श्रमण-निर्ग्रन्थों को, फासुएणं—प्रासुक, एसणिज्जेणं—एषणीय, असण-पाण-खाइम-साइमेणं—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य से, वत्थ-पडिग्गहकंबलपायपुञ्छणेणं—वस्त्र, कंबल, पात्र, पादप्रोञ्छन, पीठफलगसिज्जासंधारएणं—पीठ, फलक, शय्या, संस्तरक, ओसहभेसज्जेणं य—तथा औषध भैषज्य के द्वारा, पडिलाभेमाणस्स—उनका सत्कार करते हुए, (बहराते हुए), मे—मुझे, विहरित्ते—विचरण करना, ति कट्टु—इस प्रकार कहकर, इमं एयारूवं अभिग्गहं—आनन्द ने इस प्रकार का अभिग्रह, अभिगिण्हइ—ग्रहण किया, अभिगिण्हित्ता—ग्रहण करके, पसिणाइं—प्रश्न, पुच्छइ—पूछे, पुच्छित्ता—पूछकर, अट्ठाइं—भगवान के द्वारा कहे गए तथ्यों को, आदियइ—ग्रहण किया, आदिइत्ता—ग्रहण करके, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर की, तिक्खुत्तो—तीन बार, वंदइ—वन्दना की, वंदित्ता—वन्दना करके, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के, अंतियाओ—पास से, दूइपलासाओ चेइयाओ—दुतिपलाश चैत्य से पडिणिक्खमइ—निकला, पडिणिक्खमित्ता—निकलकर, जेणेव वाणियग्गामे नयरे—जिधर वाणिज्य ग्राम नगर था, जेणेव सएगिहे—जहाँ अपना घर था, तेणेव—वहाँ, उवागच्छइ—आए, उवागच्छित्ता—आकर, सिवनंदं भारियं—शिवानन्दा भार्या को, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—देवाणुप्पिए—हे देवानुप्रिये! एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही, मए—मैंने समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के, अंतिए—पास, धम्मे—धर्म, निसंते—श्रवण किया है, से वि य धम्मे—और वह धर्म, मे—मेरे को इच्छिए—इष्ट है, पडिच्छिए—अतीव इष्ट है, अभिरुइए—और अच्छा लगा है, तं—इसलिए, देवाणुप्पिए—हे देवानुप्रिये!, तुमं पि—तुम भी, गच्छ णं—जाओ, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को, वंदाहि—वन्दना करो, जाव—यावत्, पज्जुवासाहि—पर्युपासना करो, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के, अंतिए—पास, पंचाणुव्वइयं—पाँच अणुव्रत, सत्तसिक्खावइयं—सात शिक्षाव्रत रूप, दुवालसविहं गिहिधम्मं—बारह प्रकार के गृहस्थ-धर्म को, पडिवज्जाहि—स्वीकार करो।

भावार्थ—इसके पश्चात् आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान महावीर के पास पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रतरूप बारह प्रकार का श्रावक धर्म—गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। भगवान् को नमस्कार करके वह इस प्रकार बोला—भगवन्! आज से मुझे निर्ग्रन्थ संघ से इतर संघ वालों को, अन्ययूथिक देवों को, अन्ययूथिकों द्वारा परिगृहीत चैत्यों को वन्दना नमस्कार करना नहीं कल्पता है, इसी प्रकार उनके बिना बुलाए अपनी ओर से बोलना, उनको गुरुबुद्धि से अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य देना तथा उनके लिए इसका आग्रह करना नहीं कल्पता है। परन्तु राजा के अभियोग से, गण (संघ) के अभियोग से, बलवान के अभियोग से, देवता के अभियोग से, गुरुजन माता-पिता आदि के आग्रह के कारण तथा वृत्तिकान्तर (आजीविका के लिए विवश होकर) यदि कभी ऐसा करना पड़े, तो आगार है, मुझे निर्ग्रन्थ श्रमणों को

प्रासुक-एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल, पादप्रोज्जन, पीठ, फलक, शय्या, संस्तार, औषध, भैषज्य देकर उनका सत्कार करते हुए विचरण करना कल्पता है।

आनन्द ने उक्त रीति से अभिग्रह धारण किया, अभिग्रह ग्रहण करके उसने भगवान से प्रश्न पूछे और भगवान द्वारा कहे गए तथ्यों को ग्रहण किया। उसके बाद श्रमण भगवान महावीर को तीन बार वन्दना की। भगवान के पास से उठकर दूतिपलाश चैत्य से बाहर निकला और अपने घर पहुँचा। अपनी शिवानन्दा नामक पत्नी से इस प्रकार बोला—हे देवानुप्रिये! आज मैंने श्रमण भगवान महावीर से धर्म श्रवण किया। वह मुझे अतीव इष्ट एवं रुचिकर लगा। देवानुप्रिये! तुम भी जाओ, भगवान की वन्दना करो, यावत् पर्युपासना करो और श्रमण भगवान महावीर से पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहस्थ का धर्म स्वीकार करो।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में तीन बातें हैं—(१) आनन्द गाथापति द्वारा व्रत ग्रहण का उपसंहार। (२) उसके द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण अर्थात् जैन धर्म में दृढ़ श्रद्धा का प्रकटीकरण और (३) अपनी पत्नी को व्रत ग्रहण के लिए भगवान महावीर के पास जाने का परामर्श।

यहाँ गृहस्थ धर्म को पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत के रूप में प्रकट किया गया है। अणुव्रत का अर्थ है छोटे व्रत। मुनि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का पूर्णतया पालन करता है, अतः उसके व्रत को महाव्रत कहा जाता है। श्रावक या गृहस्थ अहिंसा आदि व्रतों का पालन मर्यादित रूप में करता है, अतः महाव्रतों की तुलना में उसके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में बारह व्रतों का विभाजन पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत के रूप में किया गया है। अन्यत्र यह विभाजन पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत के रूप में भी मिलता है। छठा दिग्व्रत, सातवाँ उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत तथा आठवाँ अनर्थदण्ड विरमण व्रत, गुण व्रत में सम्मिलित किए जाते हैं।

अणुव्रतों का सम्बन्ध मुख्यतया नैतिकता एवं सदाचार के रूप में आत्म-शुद्धि से है, और शिक्षाव्रतों का उद्देश्य उक्त आत्मशुद्धि को अधिकाधिक विकसित करना है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

पतञ्जलि ने अपने योग सूत्र में अहिंसादि व्रतों को यम शब्द से प्रकट किया है और उन्हें अष्टांगिक योग मार्ग का प्रथम सोपान अथवा मूलाधार माना है। इनके बिना योग अथवा आध्यात्मिक विकास संभव नहीं है। उसने इन्हें अपनी परिभाषा विशेष के अनुसार महाव्रत भी कहा है, पतञ्जलि के अनुसार अहिंसादिक व्रत सार्वभौम होते हैं, वे देश, काल और परिस्थिति की मर्यादा से परे होते हैं, अर्थात् जब उनका पालन प्रत्येक स्थिति में अपेक्षित होता है, तब उन्हें सार्वभौम महाव्रत कहा जाता है।

पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग के अन्तिम चार अंग मुख्यतया आत्मशुद्धि के साथ सम्बन्ध

रखते हैं, उनकी तुलना शिक्षा व्रतों के साथ की जा सकती है, पंचम अंग प्रत्याहार का अर्थ है—मन तथा इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर आत्मा की ओर उन्मुख करना, यह एक प्रकार से समभाव साधना रूप सामायिक का ही प्रकारान्तर है। धारणा, ध्यान और समाधि रूप अन्तिम तीन अंगों में मन की एकाग्रता या निरोध पर बल दिया गया है और इन तीनों को संयम शब्द से प्रकट किया है। यह भी मन को बाह्य प्रवृत्तियों से रोककर आत्म-चिन्तन में स्थिर करने का अभ्यास है, फलतः कुछ विद्वान् इन्हें भी जैन सामायिक का ही एक परिवर्तित रूप मानते हैं, शेष व्रत उसी के पोषक हैं।

जैन परम्परा में तप के बारह भेद किए गए हैं, उनमें प्रथम छह बाह्य तप हैं और शेष छह आभ्यन्तर तप, योग के अन्तिम चार अंग और आभ्यन्तर तप के छह भेदों में बहुत समानता है।

सूत्र में दूसरी बात आनन्द द्वारा सम्यक्त्व ग्रहण अथवा अपनी श्रद्धा के प्रकटीकरण की है, वह घोषणा करता है—भगवन्! आज से अन्ययूथिक देव तथा अन्ययूथिकों द्वारा परिगृहीत चैत्यों को वन्दना नमस्कार करना, उनसे परिचय बढ़ाना, उनके बिना बुलाए अपनी ओर से बोलना मेरे लिए वर्जित है। उन्हें धर्मबुद्धि से अशन, पान आदि किसी प्रकार का आहार अथवा वस्त्र-पात्र आदि का दान देना भी वर्जित है। परन्तु उन पर अनुकम्पा बुद्धि से देने का निषेध नहीं है। यहां कई बातें विचारणीय हैं, उस चर्चा में जाने से पूर्व वृत्तिकार के शब्द उद्धृत करना उचित होगा—“अन्ययूथिकेभ्योऽशनादि दातुं वा सकृत्, अनुप्रदातुं वा पुनः पुनरित्यर्थः, अयं च निषेधो धर्मबुद्ध्यैव, करुणया तु दद्यादपि।”

श्रावक का इतर धर्मावलम्बियों के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए यहाँ इस बात की चर्चा की गई है, उन्हें वन्दना नमस्कार करना, उनके साथ संलाप करना तथा उन्हें भोजन वस्त्रादि दान देना आनन्द अपने लिए वर्जित मानता है, किन्तु यह निषेध धर्मबुद्धि या आध्यात्मिक दृष्टि से है। साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने स्वीकृत मार्ग पर दृढ़ विश्वास रखे और उससे विचलित न हो, उस मार्ग के तीन अंग हैं—(१) आदर्श, (२) पथप्रदर्शक, (३) पथ। इन्हीं को देव, गुरु और धर्म शब्द से प्रकट किया जाता है। देव आदर्श का कार्य करते हैं और उस लक्ष्य को अपने जीवन द्वारा प्रस्तुत करते हैं जहाँ साधक को पहुँचना है। गुरु उस पथ को अपने जीवन एवं उपदेशों द्वारा आलोकित करते हैं और उस पथ का नाम धर्म है। प्रस्तुत सूत्र में अन्य यूथिक शब्द से इतर मतावलम्बी धर्म गुरुओं का निराकरण किया गया है। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि विभिन्न विचारधारा के आग्रही धर्म गुरुओं के संकेत पर आँख मून्द कर चलने वाला या उनकी बातों को महत्व देने वाला साधक आत्मशुद्धि के विशिष्ट लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरे पद द्वारा अन्य देवों का निराकरण किया गया है। और तीसरे द्वारा अन्यमतीय मठ एवं स्थानों का। जहाँ तक लौकिक व्यवहार परस्पर सहायता एवं अनुकम्पा दान का प्रश्न है उनका इस पाठ से कोई संबंध नहीं है, इसीलिए आचार्य अभयदेव ने इस पाठ की टीका करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है—“अयं च निषेधो धर्म बुद्ध्यैव, करुणया तु दद्यादपि।”

‘अन्नउत्थिय परिग्गहिआइं’ के पश्चात्—‘चेइआइं’ या अरिहंत चेइआइं’ पाठ मिलता है और चैत्य शब्द का अर्थ मन्दिर या मूर्ति किया जाता है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ किया है—वे जिन मन्दिर या जिनप्रतिमाएँ जिन पर दूसरों ने अधिकार कर लिया है, किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं बैठता। इसके दो कारण हैं, पहली बात यह है कि जैन परम्परा इस बात को नहीं मानती कि दूसरे द्वारा स्वीकृत होने मात्र से मन्दिर या धर्म स्थान भ्रष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह है कि प्रतिमा के साथ आलाप, संलाप तथा अशन, पान आदि देने का सम्बन्ध नहीं बैठता। यहाँ चैत्य शब्द का अर्थ ज्ञान या धार्मिक मर्यादाएँ हैं।

इसके विभिन्न अर्थों को प्रकट करने के लिए प्रामाणिक ग्रन्थों से कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं, रायपसेणीय सूत्र की टीका में मलयगिरि ने नीचे लिखा अर्थ किया है—चेइयं—चैत्यं प्रशस्त मनोहेतुत्वात्, भगवान् प्रशस्त होने के कारण चैत्य हैं। पद्मचन्द्र कोष के १५१ पृष्ठ पर चैत्य शब्द के निम्नलिखित अर्थ किए हैं—

चैत्य (न.) चित्वाया इदम् अण्। गाँव आदि में प्रसिद्ध महावृक्ष, देवता के पास का वृक्ष, बुद्ध भेद, मन्दिर, जनसभा, यज्ञ का स्थान, लोगों के विश्राम की जगह, देवता का स्थान, बिम्ब।

दिगम्बर परम्परा में मूल संघ के प्रवर्तक श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने अष्टपाहुड ग्रन्थ में चैत्य शब्द का अर्थ साधु किर्या है, ये गाथाएँ तथा उनकी वचनिका निम्नलिखित हैं—

“बुद्धं जं चोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च ।

पंच महव्वय सुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥”

बुद्धं यत् बोधयन् आत्मानं चैत्यानि अन्यत् च ।

पंच महाव्रत शुद्धं ज्ञानमयं जानीहि चैत्यगृहम् ॥

वचनिका—जो मुनि बुद्ध कहिए ज्ञानमयी ऐसी आत्मा ताहि जानता होय बहुरि अन्य जीवनकुँ चैत्य कहिए चेतना स्वरूप जानता होय बहुरि आप ज्ञानमयी होय बहुरि पाँच महाव्रतनिकरि शुद्ध होय निर्मल होय ता मुनिकुँ हे भव्य चैत्य गृह जानि।

भावार्थ—जामैं आपा पर का जानने वाला ज्ञानी निःपाप निर्मल ऐसा चैत्य कहिए चेतना स्वरूप आत्मा वैसे सो चैत्य गृह है सो ऐसा चैत्यगृह संयमी मुनि है। अन्य पाषाण आदि का मंदिरकुँ चैत्य गृह कहना व्यवहार है।

आगैं फेरि कहै है—

“चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स ।

चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ॥

चैत्यं बंधं मोक्षं दुखं सुखं आत्मकं तस्य ।

चैत्यं गृहं जिनमार्गं षट्कायहितंकरं भणितम् ॥

वचनिका—जाकै बंध अर मोक्ष बहुरि सुख अर दुख ये आत्मा के होंय जाकै स्वरूप में होंय सो चैत्य कहिए जातैं चेतना स्वरूप होंय ताहीकै बंध, मोक्ष, सुख, दुख संभवै ऐसा जो चैत्य का गृह होय सो चैत्यगृह है। सो जिन मार्ग विषै ऐसा चैत्य गृह छह काय का हित करने वाला होय सो ऐसा मुनि है सो पाँच थावर अर त्रस में विकलत्रय अर असैनी पंचेन्द्रियताइं केवल रक्षा ही करने योग्य है, तातैं तिनिकी रक्षा करने का उपदेश करै है, तथा आप तिनिका घात न करै है तिनिका यही हित है, बहुरि सैनी पंचेन्द्रिय जीव हैं तिनी की रक्षा भी करै है रक्षा का उपदेश भी करै है तथा तिनिकूं संसार तैं निवृत्त रूप मोक्ष होने का उपदेश करै है ऐसे मुनिराजकूं चैत्यगृह कहिए।

भावार्थ—लौकिकजन चैत्यगृह का स्वरूप अन्यथा अनेक प्रकार माने हैं तिनिकूं सावधान किए हैं—जो जिन सूत्र में छह काय का हित करने वाला ज्ञानमयी संयमी मुनि है सो चैत्यगृह है, अन्यकूं चैत्यगृह कहना मानना व्यवहार है, ऐसे चैत्यगृह का स्वरूप कहा।

इन गाथाओं से सिद्ध होता है कि चैत्य शब्द ज्ञान और साधु का वाचक है। इसलिए इस स्थान पर उक्त दोनों अर्थ संगत होते हैं। चाहे जैन साधु ने परदर्शन की श्रद्धा ग्रहण की हो चाहे परदर्शन वालों ने अपने वेष को न छोड़ते हुए जैन ज्ञान ग्रहण किया हो यह दोनों श्रावक के वन्दन करने योग्य नहीं हैं। इनसे संगति करने वालों को मिथ्यात्व की वृद्धि होती है। इसलिए इनके साथ विशेष परिचय हानिकारक है। दान का निषेध धर्मबुद्धि से किया गया है न कि करुणाभाव से, कारण के पड़ जाने पर षट् कारण ऊपर कथन किए जा चुके हैं जैसे कि राजा आदि के अभियोग से इत्यादि।

जिन प्रतिमा और जिन बिम्ब का स्वरूप जो श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य ने किया है वह भी पाठकों के देखने योग्य है—

“सपरा जंगम देहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाम् ।

गिगंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥

स्वपरा जंगमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम् ।

निर्ग्रन्थ वीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा ॥

वचनिका—दर्शन ज्ञान करि शुद्ध निर्मल है चारित्र जिनकै तिनिकी स्वपरा कहिये अपनी अर पर की चालती देह है सो जिन मार्गविषै जंगम प्रतिमा है, अथवा स्वपरा कहिए आत्मा तै पर कहिए भिन्न है ऐसी देह है, सो कैसी है—निर्ग्रन्थ स्वरूप है, जाके किछू परिग्रह का लेश नाही, ऐसी दिगम्बरमुद्रा, बहुरि कैसी है—वीतरागस्वरूप है जाकै काहू वस्तुसौं राग द्वेष मोह नाही, जिन मार्ग विषै ऐसी प्रतिमा

कही है। दर्शन ज्ञान करि निर्मल चारित्र जिनकै पाइये ऐसे मुनिनि की गुरु शिष्य अपेक्षा अपनी तथा परकी चालती देह-निर्ग्रन्थ वीतरागमुद्रा स्वरूप है सो जिन मार्ग विषै प्रतिमा है अन्य कल्पित है अर धातु पाषाण आदि करि दिगम्बर मुद्रा स्वरूप प्रतिमा कहिए सो व्यवहार है सो भी बाह्य प्रकृति ऐसी ही होय सो व्यवहार में मान्य है।

आगै फेरि कहै हैं—

“जं चरदि सुद्ध चरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्पत्तं ।
सा होई वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥
यः चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् ।
सा भवति वंदनीया निर्ग्रन्था सांयता प्रतिमा ॥

वचनिका—जो शुद्ध आचरणकूँ आचरै बहुरि सम्यग्ज्ञान करि यथार्थ वस्तुकूँ जानै है बहुरि सम्यग्दर्शनकरिय अपने स्वरूपकूँ देखै है ऐसैं शुद्ध सम्यक् जाकै पाइये है ऐसी निर्ग्रन्थ संयम स्वरूप प्रतिमा है सो वंदिवे योग्य है।

भावार्थ—जानने वाला, देखने वाला, शुद्ध सम्यक्त्व शुद्ध चारित्र स्वरूप निर्ग्रन्थ संयम सहित मुनि का स्वरूप है सो ही-प्रतिमा है सो ही वंदिवे योग्य अन्य कल्पित वंदिवे योग्य नाँहि है, बहुरि तैसे ही रूप सदृश धातु पाषाण की प्रतिमा होय सो व्यवहार करि वंदिवे योग्य है।

आगै फेरि कहै है—

“दंसण अणंत णाणं अणंवीरिय अणंत सुक्खा य ।
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ट बंधेहिं ॥
निरुवममचलमखोहा णिम्विया जंगमेण रूपेण ।
सिद्धट्टाणमि ठिया वोसर पडिमा धुवा सिद्धा ॥”
दर्शनम् अनंतज्ञानं अनन्तवीर्याः अनन्तसुखाः च ।
शाश्वतसुखा अदेहाः मुक्ताः कर्माष्टकबंधैः ॥
निरुपमा अचला अक्षोभाः निर्मापिता जंगमेन रूपेण ।
सिद्धस्थाने स्थिताः व्युत्सर्ग प्रतिमा ध्रुवाः सिद्धाः ॥

वचनिका—जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख इनि करिसहित है, बहुरि शाश्वता अविनाशी सुख स्वरूप है, बहुरि अदेह है कर्म नोकर्मरूप पुद्गलमयी देह जिनकै नाँही है, बहुरि अष्टकर्म के बंधन करि रहित है, बहुरि उपमा करि रहित है, जाकी उपमा दीजिये ऐसा लोक में वस्तु नाँही है, बहुरि अचल है प्रदेशनिका चलनां जिनकै नाँही है बहुरि अक्षोभ है जिनकै उपयोग में

किछु क्षोभ नांही है निश्चल है, बहुरि जंगमरूप करि निर्मित है कर्मतैं निर्मुक्त हुये पीछैं एक समय मात्र गमनरूप होय है, तातैं जंगम रूपकरि निर्मापित है, बहुरि सिद्धस्थान जो लोक का अग्रभाग ता विषैं स्थित है याही तैं व्युत्सर्ग कहिये कायरहित है जैसा पूर्वें देह में आकार था तैसा ही प्रदेशनिका आकार किछू घाटि ध्रुव है, संसार तैं मुक्त होय एक समय गमन करि लोक कै अग्रभाग विषैं जाय तिष्ठैं पीछैं चलाचल नांही है ऐसी प्रतिमा सिद्ध है।

भावार्थ—पहलैं दोय गाथा में तौ जंगम प्रतिमा संयमि मुनिनिकी देह सहित कही, बहुरि इनि दोय गाथानि में थिर प्रतिमा सिद्धनिकी कही ऐसैं जंगम थावर प्रतिमा का स्वरूप कह्या अन्य केई अन्यथा बहुत प्रकार कल्पैं है सो प्रतिमा वंदिवे योग्य नांही है।

आगैं जिनबिंब का निरूपण करै हैं—

“जिनबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च ।

जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खय कारणे सुद्धा ॥”

जिनबिंबं ज्ञानमयं संयमशुद्धं सुवीतरागं च ।

यत् ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षय कारणे शुद्धे ॥

वचनिका—जिनबिंब कैसा है ज्ञानमयी है अर संयम करि शुद्ध है बहुरि अतिशय करि वीतराग है बहुरि जो कर्म का क्षय का कारण अर शुद्ध है ऐसी दीक्षा अर शिक्षा दे है।

भावार्थ—जो जिन कहिए अरहंत सर्वज्ञ का प्रतिबिंब कहिए ताकी जायगां तिस की ज्यौं माननें योग्य होय, ऐसे आचार्य हैं सो दीक्षा कहिए व्रत का ग्रहण अर शिक्षा कहिए व्रत का विधान बतावनां ये दोऊ कार्य भव्य जीवनि कूँ दे है, यातैं प्रथम तौ सो आचार्य ज्ञानमयी होय जिन सूत्र का जिनकूँ ज्ञान होय ज्ञान बिना दीक्षा शिक्षा कैसे होय अर आप संयम करि शुद्ध होय ऐसा न होय तौ अन्य कूँ भी संयम शुद्ध न करावै, बहुरि अतिशय करि वीतराग न होय तो कषायसहित होय तब दीक्षा शिक्षा यथार्थ न दे, या तैं ऐसे आचार्य कूँ जिन के प्रतिबिंब जाननें।

आगैं फेरि कहै है—

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं ।

जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चयेणा भावो ॥”

तस्य च कुरुत प्रणामं सर्वा पूजां च विनयं वात्सल्यम् ।

यस्य च दर्शनं ज्ञानं अस्ति ध्रुवं चेतनाभावः ॥

वचनिका—ऐसैं पूर्वोक्त जिनबिंब कूँ प्रणाम करो बहुरि सर्व प्रकार पूजा करो विनय करो वात्सल्य करो, काहे तैं—जाकै ध्रुव कहिए निश्चयतैं दर्शन ज्ञान पाइए है बहुरि चेतना भाव है।

भावार्थ—दर्शन ज्ञानमयी चेतनाभाव सहित जिनबिंब आचार्य है तिनि कूँ प्रणामादिक करना, इहां परमार्थ प्रधान कह्या है तहाँ जड़ प्रतिबिंब की गौणता है।

आमैं फेरि कहे है—

तव वय गुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
अरहंतमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य ॥”
तपोव्रत गुणैः शुद्धो जानाति पश्यति शुद्ध सम्यक्त्म् ।
अर्हन्मुद्रा एषा दात्री दीक्षा शिक्षाणां च ॥

वचनिका—जो तप अर व्रत अर गुण कहिए, उत्तर गुण तिनिकरि शुद्ध होय बहुरि सम्यग् ज्ञान करि पदार्थनि कूँ यथार्थ जानैं बहुरि सम्यग्दर्शनं करि पदार्थनि कूँ देखै याही तैं शुद्ध सम्यक्त्व जाकै ऐसा जिनबिंब आचार्य है सो येही दीक्षा शिक्षा की देने वाली अरहंत की मुद्रा है।

भावार्थ—ऐसा जिनबिंब है सो जिनमुद्रा ही है ऐसैं जिनबिंब का स्वरूप कह्या है।

यह वचनिका पं. जयन्द्र छावड़ा की है, इससे यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि चैत्य शब्द साधु और ज्ञान का वाचक भी है, इस स्थान पर उक्त दोनों अर्थ युक्तियुक्त सिद्ध होते हैं, कारण कि आलाप-संलाप आदि चेतन से ही सिद्ध हो सकते हैं न कि जड़ से। आनन्द ने अन्य मतावलम्बियों के साथ सम्पर्क न रखने का निश्चय किन्ना, किन्तु जीवन व्यवहार के लिए तथा राजकीय एवं सामाजिक अनुरोध की दृष्टि से कुछ छूटें रखीं। वे नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) **रायाभिओगेणं**—(राजाभियोगेन) अभियोग का अर्थ है—बलप्रयोग। यदि राजकीय आज्ञा के कारण विवश होकर अन्य मतावलम्बियों के साथ संभाषण आदि करना पड़ता है, तो उसकी छूट है।

(२) **गणाभिओगेणं**—(गणाभियोगेन) गण का अर्थ है—समाज अथवा व्यापार खेती आदि के लिए परस्पर सहयोग के रूप में एकत्रित व्यक्तियों का दल। भगवान महावीर के समय लिच्छवि, मल्लि आदि लोकतन्त्रीय शासन भी गण कहलाते थे। इसका अर्थ है—व्यक्ति जिस गण का सदस्य है, उस गण का बहुमत यदि कोई निर्णय करे तो वैयक्तिक मान्यता के विपरीत होने पर भी उसे मानना आवश्यक हो जाता है।

(३) **बलाभिओगेणं**—बल का अर्थ है सेना, उसकी आज्ञा के रूप में यदि ऐसा करना पड़े तो छूट है।

(४) **गुरुनिग्गहेणं**—(गुरुनिग्रहेण) माता-पिता-अध्यापक आदि गुरुजनों का आग्रह होने पर भी ऐसा करने की छूट है।

(५) वित्तिकान्तरेण—(वृत्तिकान्तरेण) वृत्ति का अर्थ है—आजीविका और कान्तार का अर्थ है—कठिनाई, साधारणतया कान्तार शब्द का अर्थ अरण्य या जंगल होता है, किन्तु यहाँ इसका अर्थ अभाव या कठिनाई है। आजीविका सम्बन्धी कष्ट आ पड़ने पर अथवा अभावग्रस्त होने पर ऐसा करने की छूट है। वृत्तिकार के निम्नलिखित शब्द हैं—

‘वित्तिकान्तरेण’ त्ति वृत्तिः—जीविका तस्याः कान्तारम्—अरण्यं तदिव कान्तारं क्षेत्रं कालो वा वृत्तिकान्तार-निर्वाहाभाव इत्यर्थः, तस्मादन्यत्र निषेधो दानप्रणामादेरिति—प्रकृतमिति ।

आनन्द ने घर आकर अपनी पत्नी शिवानन्दा से भी भगवान महावीर के पास जाकर व्रत ग्रहण करने का अनुरोध किया, इससे प्रतीत होता है, कि उसकी पत्नी भी एक समझदार गृहिणी थी। आनन्द ने स्वयं उपदेश वा आदेश देने के स्थान पर उसको भगवान के पास भोजना उचित समझा जिससे कि उस पर साक्षात् रूप से भगवान के त्याग-तपस्या एवं ज्ञान का प्रभाव पड़े, और वह स्वयं समझपूर्वक व्रतों को ग्रहण कर सके।

शिवानन्दा का भगवान के दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—तए णं सा सिवनंदा भारिया आणंदेण समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणा हट्ट तुट्ठा कोडुम्बियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—“खिप्पामेव लहुकरण” जाव पज्जुवासइ ॥ ५६ ॥

छाया—ततः सा शिवानन्दा भार्या आनन्देन श्रमणोपासकेन एवमुक्ता सती हृष्टतुष्टा कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दापयति शब्दापयित्वैवमवादीत्—“क्षिप्रमेव लघुकरण” यावत् पर्युपास्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर, सा—उस, सिवनंदा भारिया—शिवानन्दा भार्या ने, आणंदेणं समणोवासएणं—आनन्द श्रमणोपासक के द्वारा, एवं वुत्ता समाणा—इस प्रकार कहे जाने पर, हट्ट तुट्ठा—हृष्ट-तुष्ट होकर, कोडुम्बियपुरिसे—कौटुम्बिक पुरुषों को, सद्दावेइ—बुलाया, सद्दावित्ता—और बुलाकर, एवं वयासी—इस प्रकार कहा कि, खिप्पामेव लहुकरण—शीघ्र ही लघुकरण रथ तैयार करके लाओ, जाव—यावत् उसने भगवान की, पज्जुवासइ—पर्युपासना की।

भावार्थ—आनन्द गाथापति के उत्तम वचन सुनकर, शिवानन्दा अतीव हृष्ट-तुष्ट हुई और कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर इस प्रकार बोली—कि तुम शीघ्र ही लघुकरण रथ अर्थात् जिसमें शीघ्र चलने वाले बैल जुते हुए हों ऐसे धार्मिक रथ को तैयार करके लाओ, मुझे भगवान महावीर के दर्शनार्थ जाना है। इस प्रकार वह भगवान के पास पहुँची और उनकी पर्युपासना की।

भगवान महावीर द्वारा धर्म प्रवचन—

मूलम्—तएणं समणे भगवं महावीरे सिवनंदाए तीसे य महइ जाव धम्मं कहेइ ॥ ६० ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान महावीरः शिवानन्दायै तस्यां च महत्यां यावद् धर्मं कथयति ।

शब्दार्थ—तएणं—इसके अनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ने, शिवानंदाए—शिवानंदा को और, तीसे य महइ—उस महती परिषद् में उपस्थित अन्य जनता को भी, धम्मं—धर्म, कहेइ—प्रवचन सुनाया ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान महावीर ने शिवानंदा और उस विशाल सभा को धर्मोपदेश दिया ।

टीका—जब शिवानन्दा भार्या और महती परिषद् श्री भगवान के समीप उपस्थित हुई तब भगवान ने संवेगनी, निर्वेदनी, आक्षेपणी और विक्षेपणी इन चारों धर्म कथाओं का सविस्तर वर्णन किया ।

शिवानन्दा की प्रतिक्रिया—

मूलम्—तएणं सा शिवनंदा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठ जाव गिहिधम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जिता तमेव धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ, दुरुहिता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया ॥ ६१ ॥

छाया—ततः खलु सा शिवानन्दा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य हृष्टा यावद् गृहस्थधर्मं प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य तदेव धार्मिकं—यानप्रवरमारोहति, आरुह्य यस्या एव दिशः प्रादुर्भूता तामेव दिशं प्रतिगता ।

शब्दार्थ—तएणं—इसके अनन्तर, सा शिवनन्दा—वह शिवानन्दा, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के, अंतिए—पास में, धम्मं—धर्म को, सोच्चा—सुनकर, निसम्म—हृदय में धारण करके, हट्ठ—प्रसन्न हुई, जाव—और यावत् उसने, गिहिधम्मं—गृहस्थ धर्म को, पडिवज्जइ—स्वीकार किया, पडिवज्जिता—स्वीकार करके, तमेव धम्मियं जाणप्पवरं—उसी धार्मिक-धर्म कार्यों के लिए निश्चित रथ पर, दुरुहइ—सवार हुई, दुरुहिता—सवार होकर, जामेव दिसं पाउब्भूया—जिस दिशा से आई थी, तामेव दिसं—उसी ओर, पडिगया—लौट गई ।

भावार्थ—शिवानन्दा श्रमण भगवान महावीर के पास धर्म श्रवण कर एवं उसे हृदयंगम करके अतीव प्रसन्न हुई । उसने भी यथाविधि गृहस्थधर्म ग्रहण किया और उसी धर्म कार्यों के लिए निश्चित रथ पर सवार होकर जिस ओर से आई थी उसी ओर लौट गई ।

टीका—शिवानन्दा भार्या ने श्री भगवान के मुख से धर्मकथा श्रवण की, तत्पश्चात् उसने गृहस्थ धर्म के द्वादश व्रत ग्रहण किए । फिर वह जिस प्रकार आई थी उसी प्रकार धार्मिक रथ पर बैठकर अपने स्थान पर चली गई । इस कथन से यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि शिवानन्दा को पति की आज्ञा पालन करने से धर्म की प्राप्ति हुई । और साथ ही जो सूत्रकर्ता ने “धम्मंसुच्चा निसम्म हट्ठ”

इत्यादि पद दिए हैं इनका भाव यह है कि धर्म सुनकर फिर सूक्ष्म बुद्धि से विचार कर, फिर जो हर्ष उसका होता है, वह अकथनीय होता है। कारण कि—धर्म श्रवण से ज्ञान और इससे विज्ञान, तत्पश्चात् प्रत्याख्यान किया जाता है। इस क्रम से किए हुए प्रत्याख्यान से आस्रवों का निरोध हो जाने से संवर द्वारा आत्मविकास हो जाता है।

गौतमस्वामी का आनन्द के विषय में प्रश्न—

मूलम्—“भंते!” त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वन्दइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—“पहूणं भंते! आणंदे समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुण्डे जाव पव्वइत्तए ?” “नो तिणट्ठे समट्ठे” गोयमा ! आणंदे णं समणोवासए बहूइं वासाइं समणोवासग परियायं पाउणिहिइ, पाउणित्ता जाव सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववज्जिहिइ ! तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं आणंदस्सवि समणोवासगस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता” ॥ ६२ ॥

छाया—हे भदन्त ! इति भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—“प्रभुः खलु भदन्त ! आनन्दः श्रमणोपासको देवानुप्रियाणामन्तिके मुण्डो यावत् प्रव्रजितो भवितुम् ?” “नायमर्थः समर्थः,” “गौतम ! आनन्दः खलु श्रमणोपासको बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासक पर्यायं पालयिष्यति पालयित्वा यावत् सौधर्मे कल्पे अरुणाभे विमाने देवतया उत्पत्स्यते, तत्र खलु अस्त्येककानां देवानां चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता, तत्र चाऽऽनन्दस्यापि श्रमणोपासकस्य चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।”

शब्दार्थ—भगवं गोयमे—भगवान् गौतम ने, भंतेत्ति—हे भगवन् ! इस प्रकार सम्बोधन करते हुए, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को, वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार की, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके, एवं वयासी—इस प्रकार कहा—भंते—हे भगवन् !, आणंदे समणोवासए—क्या आनन्द श्रमणोपासक, देवाणुप्पियाणं अंतिए—देवानुप्रिय के पास में, मुंडे—मुण्डित, जाव—यावत्, पव्वइत्तए—प्रव्रजित होने में, पहूणं—समर्थ है ? गोयमा—भगवान् ने उत्तर दिया हे गौतम ! नो तिणट्ठे समट्ठे—यह अर्थ समर्थ नहीं है अर्थात् यह संभव नहीं है, आणंदे णं समणोवासए—आनन्द श्रमणोपासक, बहूइं वासाइं—अनेक वर्षों तक, समणोवासग परियायं—श्रमणोपासक पर्याय को, पाउणिहिइ—पालन करेगा, पाउणित्ता—पालन करके, जाव—यावत्, सोहम्मे कप्पे—सौधर्म कल्प में, अरुणाभे विमाणे—अरुणाभ नामक विमान में, देवत्ताए—देवता के रूप में, उववज्जिहिइ—उत्सन्न होगा, तत्थणं—वहां, अत्थेगइयाणं—बहुत से, देवाणं—देवों की, चत्तारि पलिओवमाइं—चार पल्योपम, ठिई—आयु, पण्णत्ता—कही गई है। तत्थणं—वहाँ, आणंदस्सवि समणोवासगस्स—आनन्द श्रमणोपासक की भी, चत्तारि पलिओवमाइं ठिई—चार पल्योपम आयु, पण्णत्ता—है।

भावार्थ—हे भगवन् ! इस प्रकार का सम्बोधन करते हुए गौतम ने श्रमण भगवान महावीर को वन्दना नमस्कार किये और पूछा—हे भगवन् ! क्या आनन्द श्रमणोपासक देवानुप्रिय के पास मुण्डित एवं प्रव्रजित होने में समर्थ है ? भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! यह संभव नहीं है ! अपितु आनन्द श्रमणोपासक अनेक वर्षों तक श्रावक धर्म का पालन करेगा और अन्त में सौधर्म देवलोक के अरुणाभ विमान में उत्पन्न होगा । वहाँ बहुत से देवताओं की चार पत्न्योपम आयु है, आनन्द की आयु भी चार पत्न्योपम होगी ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से आनन्द के भविष्य के विषय में पूछा है । पहला प्रश्न उसके वर्तमान जीवन से सम्बन्ध रखता है, उसमें पूछा गया है—क्या आनन्द श्रावक मुनिव्रत धारण करेगा ? भगवान् ने उत्तर दिया—नहीं—ऐसा नहीं होगा । साथ ही भगवान् ने बताया कि वह सौधर्म देवलोक के अरुणाभ नामक विमान में देवरूप में उत्पन्न होगा और वहाँ उसकी चार पत्न्योपम आयु होगी । जैन-धर्म के अनुसार देवों के चार निकाय (समूह) हैं—

(१) भवनपति—भूमि के अन्दर रहने वाले देव ।

(२) वाणव्यन्तर—भूमि पर रहने वाले देवता को वाणव्यन्तर कहते हैं ।

(३) ज्योतिषि—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तथा तारालोक में रहने वाले देवता ज्योतिषि कहलाते हैं ।

(४) वैमानिक—ऊर्ध्व लोक में रहने वाले देव—इनके २६ भेद हैं । प्रथम देवलोक का नाम सौधर्म है जहाँ ३२ लाख विमानों का अधिपति शक्रेन्द्र है ।

देवलोकों का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के द्वितीय पद, भगवती सूत्र तथा देवेन्द्रस्तव आदि से जानना चाहिए ।

पत्न्योपम काल के परिमाण विशेष का नाम है, एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे गोलाकार कूप की उपमा से जो काल गिना जाए उसे पत्न्योपम कहते हैं । अनुयोग द्वार सूत्र में इसका विस्तृत वर्णन है । इसके लिए टिप्पणी देखिए ।

भगवान महावीर का प्रस्थान—

मूलम्—तएणं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ बहिया जाव विहरइ ॥ ६३ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदापि बहिर्यावद् विहरति ।

शब्दार्थ—तएणं—इसके अनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, अन्नया कयाइ—अन्यदा कदाचित्, बहिया—अन्यत्र विहार कर गए, जाव—यावत् धर्मोपदेश करते हुए, विहरइ—विचरने लगे ।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अन्य जनपदों में विहार कर गए और वहाँ धर्मोपदेश देते हुए विचरने लगे।

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए जाए अभिगय-जीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरइ ॥ ६४ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासको जातोऽभिगतजीवाजीवो यावत् प्रतिलाभयन् विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर, से—वह, आणंदे—आनन्द, अभिगय-जीवाजीवे—जीव और अजीव आदि तत्त्वों को जानने वाला, समणोवासए—श्रमणोपासक, जाए—हो गया, जाव—यावत्, पडिलाभेमाणे—साधु-साध्वियों को प्रासुक आहारादि का दान करते हुए, विहरइ—जीवन व्यतीत करने लगा।

भावार्थ—इसके पश्चात् आनन्द जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों का ज्ञाता श्रमणोपासक बन गया और साधु-साध्वियों को प्रासुक आहार देते हुए धर्ममय जीवन व्यतीत करने लगा।

मूलम्—तए णं सा सिवनन्दा भारिया समणोवासिया जाया जाव पडिलाभेमाणी विहरइ ॥ ६५ ॥

छाया—ततः खलु सा शिवानन्दा भार्या श्रमणोपासिका जाता, यावत् प्रतिलाभयन्ती विहरति।

शब्दार्थ—तएणं—इसके अनन्तर, सा—वह, सिवनन्दा भारिया—शिवानन्दा भार्या भी, समणोवासिया जाया—श्रमणोपासिका हो गई, जाव—यावत्, पडिलाभेमाणी—साधु-साध्वियों की आहारादि द्वारा सेवा करती हुई, विहरइ—जीवन व्यतीत करने लगी।

भावार्थ—तदनन्तर शिवानन्दा भार्या भी श्रमणोपासिका बन गई और साधु-साध्वियों को शुद्ध, अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, कम्बल बहराती हुई विचरने लगी।

आनन्द द्वारा घर से अलग रहकर धर्माराधन का संकल्प और ज्येष्ठ पुत्र को गृह भार सौंपना—

मूलम्—तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स उच्चावएहिं—सीलव्वयगुण-वेरमण-पच्चक्ख्राण-पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणस्स चोदस संवच्छराइं वइक्कंताइं। पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्त-काल-समयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंत्थिए कप्पिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—“एवं खलु अहं वाणियग्गामे नयरे बहूणं राई-सर जाव सयस्सवि य णं

कुडुंबस्स जाव आधारे, तं एएणं वक्खेवेणं अहं नो संचाएमि समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। तं सेयं खलु ममं कल्लं जाव जलंते विउलं असणं४, जहा पूरणो, जाव जेट्ठ-पुत्तं कुडुंबे ठवेत्ता, तं मित्त जाव जेट्ठ-पुत्तं च आपुच्छित्ता, कोल्लाए सन्निवेसे नायकुलंसि पोसह-सालं पडिलेहित्ता, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।” एवं संपेहेइ, २ ता कल्लं विउलं तहेव जिमिय-भुत्तुरागए तं मित्त जाव विउलेणं पुप्फ ५ सक्कारेइ सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता तस्सेव मित्त जाव पुरओ जेट्ठ-पुत्तं सद्दावेइ, २ ता एवं वयासी—“एवं खलु पुत्ता ! अहं वाणियग्गामे बहूणं राईसर जहा चित्तियं जाव विहरित्तए। तं सेयं खलु मम इदाणिं तुमं सयस्स कुडुम्बस्स आलंबणं ४ ठवेत्ता जाव विहरित्तए” ॥ ६३ ॥

छाया—ततः खलु तस्याऽऽनन्दस्य श्रमणोपासकस्योच्चावचैः शीलव्रतगुणविरमण प्रत्याख्यान पौषधोपवासैरात्मानं भावयतश्चतुर्दश संवत्सराणि व्यतिक्रान्तानि। पञ्चदश संवत्सरमन्तरा वर्तमानस्यान्यदा कदापि पूर्वरात्रापरत्र कालसमये धर्मजागरिकां जाग्रतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकश्चिन्तितः कल्पितः प्रार्थितो मनोगतः संकल्पः समुदपद्यत—“एवं खल्वहं वाणिज्यग्रामे नगरे बहूनां राजेश्वरयावत्त्वकस्यापि च खलु कुटुम्बस्य यावदाधारः, तदेतेन व्याक्षेपेणाहं नो शक्नोमि श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसंपद्य विहर्तुम्, तत् श्रेयः खलु मम कल्ये यावज्ज्वलति (सति) विपुलमशनं ४ यथा पूरणो यावज्ज्येष्ठपुत्रं कुटुम्बे स्थापयित्वा तं मित्र यावज्ज्येष्ठपुत्रं चाऽऽपृच्छ्य कोल्लाके सन्निवेशे ज्ञातकुले पौषधशालां प्रतिलिख्य श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसंपद्य विहर्तुम्।” एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य कल्यं विपुलं तथैव जिमित्तभुक्तोत्तरागतस्तं मित्र—यावद् विपुलेन पुष्पवस्त्रगन्धमाल्याऽलंकारेण च सत्करोति सम्मानयति, सत्यकृत्य सम्मान्य; तस्यैव मित्र-यावत् पुरतो ज्येष्ठपुत्रं शब्दायते, शब्दापयित्वा एवमवादीतु—“एवं खलु पुत्र ! अहं वाणिज्यग्रामे बहूनां राजेश्वर यथाचिन्तितं यावद् विहर्तुम्। तत् श्रेयः खलु ममेदानीं त्वां स्वकस्य कुटुम्बस्याऽऽलम्बनं ४ स्थापयित्वा यावद् विहर्तुम्।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स—उस आनन्द श्रमणोपासक को, उच्चावएहिं शीलव्यय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं—अनेक प्रकार के शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान पौषधोपवास के द्वारा, अप्पाणं भावेमाणस्स—आत्मा को संस्कारित करते हुए, चोइस्स संवच्छराइं—चौदह वर्ष, वइक्कंताइं—बीत गए, पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा-वइमाणस्स—पंदरहवें वर्ष में, अन्नया कयाइ—एक समय, पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि—पूर्वरात्रि के पश्चात् अर्थात् अन्तिम प्रहर में, धम्मजागरियं जागरमाणस्स—धर्म जागरण करते हुए, इमेयाख्वे—इस

प्रकार का, अज्झत्थिए—आध्यात्मिक, चित्तिए—चित्तित, कप्पिए—जिसकी पहले ही कल्पना की हुई थी, पत्थिए—प्रार्थित, मणोगए संकप्पे—मनोगत संकल्प, समुप्पज्जित्था—उत्पन्न हुआ, एवं खलु अहं—मैं निश्चय ही इस प्रकार, वाणियग्गामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर में, बहूणं राईसर-जाव सयस्सवि णं कुडुम्बस्स—बहुत से राजा ईश्वर यावत् अपने भी कुटुम्ब का, जाव आधारे—आलम्बन यावत् आधारभूत हूँ, तं एएणं वक्खेवेणं—इस विक्षेप के कारण, अहं—मैं, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं—श्रमण भगवान महावीर स्वामी के समीप प्राप्त की हुई, धम्मपण्णात्तिं—धर्मप्रज्ञप्ति को, उवसंपज्जित्ताणं—स्वीकार करके, विहरित्तए—विचरने में, नो संचाएमि—समर्थ नहीं हूँ, तं—अतः, सेयं खलु—श्रेय है, ममं—मुझे, कल्लं जाव जलंतं—कल प्रातःकाल सूर्य के निकलते ही, जहा पूरणो—पूरण सेठ के समान, विउलं—विपुल, असणं—अशन-पान द्वारा मित्र एवं परिवारजनों को भोजन कराके, जाव—यावत्, जेट्ठपुत्तं—ज्येष्ठ पुत्र को, कुडुम्बे—कुटुम्ब पर, ठवेत्ता—स्थापित करके, तं—और उस, मित्त जाव जेट्ठपुत्तं च—मित्र यावत् ज्येष्ठ पुत्र को, आपुच्छित्ता—पूछकर कोल्लाएसन्निवेशे—कोल्लाक सन्निवेश में, नाय कुलंसि—ज्ञात कुल की, पोसहसालं—पौषधशाला में, पडिलेहित्ता—प्रतिलेखन करके, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के, अंतियं—पास प्राप्त हुई, धम्मपण्णात्तिं—धर्मप्रज्ञप्ति को, उवसंपज्जित्ताणं—स्वीकार करके, विहरित्तए—विचरना, एवं—इस प्रकार, संपेहेइ—विचार किया, संपेहित्ता—विचार करके, कल्लं—दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्योदय होने पर, विउलं—विपुल अशनादि तैयार कराया, तहेव—उसी प्रकार, जिमियभुत्ततरागए—सब के भोजन करने के पश्चात्, तं मित्त जाव—उस उपस्थित मित्रवर्ग एवं परिवार का, विउलेणं पुप्फं—विपुल पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माला, अलंकार आदि के द्वारा, सक्कारे- इ सम्माणेइ—सत्कार-सम्मान किया, सक्कारित्ता सम्माणित्ता—सत्कार और सम्मान करके, तस्सेव मित्त जाव पुरओ—उसी मित्रवर्ग यावत् परिवार के समक्ष, जेट्ठपुत्तं—ज्येष्ठ पुत्र को, सहावेइ—बुलाया और, सहावित्ता—बुलाकर, एवं वयासी—इस प्रकार कहा, एवं खलु पुत्ता—हे पुत्र ! इस प्रकार निश्चय ही, अहं—मैं, वाणियग्गामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर में, बहूणं—बहुत से, राईसर—राजा-ईश्वर आदि का आधारभूत हूँ, अतः कार्य व्यग्रता के कारण धर्मक्रिया का अच्छी तरह पालन नहीं कर सकता ।, जहा चित्तियं जाव विहरित्तए—जिस प्रकार चिन्तन किया था, अर्थात् मेरे मन में विचार आया कि—मैं ज्येष्ठ पुत्र को कार्यभार सौंपकर एकान्त में धर्मानुष्ठान करता हुआ विचरूँ। तं सेयं खलु ममं—अतः मुझे यही श्रेय है कि, इयाणि—अब, तुमं—तुम्हें, सयस्स कुडुम्बस्स—अपने कुटुम्ब का, आलंबणं—आलंबन, ठवेत्ता—स्थापित करके, जाव विहरित्तए—यावत् धर्म की आराधना करता हुआ जीवन व्यतीत करूँ।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक को अनेक प्रकार के शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि के द्वारा अपनी अन्तरात्मा को संस्कारित करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत

हो गए। पंद्रहवें वर्ष में एक दिन पूर्व रात्रि के अपर भाग में धर्म जागरण करते समय उसके मन में यह संकल्प उठा कि—मैं वाणिज्यग्राम नगर में अनेक राजा-ईश्वर एवं स्वजनों का आधार तथा आलंबनभूत हूँ। अनेकानेक कार्यों में पूछा जाता हूँ। इस विक्षेप के कारण मैं श्रमण भगवान महावीर स्वामी के पास अङ्गीकृत धर्मप्रज्ञप्ति का अच्छी तरह पालन नहीं कर सकता। अतः मेरे लिए यह श्रेय है कि कल प्रातःकाल सूर्योदय होने पर विपुल अशन-पानादि तैयार कराकर मित्र एवं परिवारादि को भोजन कराकर पूरण सेठ के समान उन सब के समक्ष ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंपकर मित्रों एवं ज्येष्ठ पुत्र को पूछकर कोल्लाक सन्निवेश में ज्ञातकुल की पौषधशाला का प्रतिलेखन कर श्रमण भगवान महावीर के पास स्वीकृत धर्म प्रज्ञप्ति को यथाविधि पालन करूँ। यह विचार कर दूसरे दिन मित्रवर्ग तथा परिवार को आमंत्रित किया और पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माला और विपुल अशन-पानादि के द्वारा उनका सत्कार किया। तदनन्तर उन सब के समक्ष ज्येष्ठ पुत्र को बुलाया और कहा—पुत्र ! मैं वाणिज्यग्राम नगर में राजा, ईश्वर, आत्मीयजनादि का आधारभूत हूँ। यावत् अनेकानेक कार्यों में पूछा जाता हूँ। अतः व्यस्तता के कारण धर्मप्रज्ञप्ति का सम्यक् पालन नहीं कर सकता। अतः मेरे लिए उचित है कि मैं अब तुमको कुटुम्ब के पालन-पोषणादि का भार सौंपकर एकान्त में धर्मानुष्ठान करूँ।

टीका—“शीलद्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहि” श्रमण भगवान महावीर के पास व्रत ग्रहण करने के पश्चात् आनन्द को चौदह वर्ष व्यतीत हो गए। इस अवधि में आत्मविकास करने के लिए वह अनेक प्रकार के व्रतों का पालन करता रहा। प्रस्तुत पंक्ति में उनका श्रेणी विभाजन किया गया है। सर्वप्रथम शीलव्रत हैं, जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के रूप में पहले बताए जा चुके हैं। इनका मुख्य सम्बन्ध शील अर्थात् सदाचार एवं नैतिकता से है। बौद्ध परम्परा में ये पंचशील के रूप में बताए गए हैं। योगदर्शन में इन्हें यम के रूप में प्रतिपादित किया गया और अष्टांगयोग की भूमिका माना गया है। इनके पश्चात् तीन गुणव्रत हैं जो शीलव्रतों के पोषक हैं, तथा जीवन में अनुशासन पैदा करते हैं। तत्पश्चात् सामायिक आदि चार शिक्षाव्रत हैं, जो आत्मचिन्तन के लिए दैनन्दिन कर्त्तव्य के रूप में बताए गए हैं। पौषधोपवास तपस्या का उपलक्षण है, इसका अर्थ है—आनन्द शास्त्रों में प्रतिपादित अनेक प्रकार की तपस्याएँ करता रहा। परिणामतः उत्तरोत्तर जीवनशुद्धि होती गई और आत्मा में दृढ़ता आती गई। साधना में उत्साह बढ़ता गया और एक दिन मध्यरात्रि के समय धर्मचिन्तन करते हुए उसके मन में आया कि अब मुझे गृह कार्यों से निवृत्त होकर एकान्त में रहते हुए सारा समय आत्म-साधना में लगाना चाहिए। दूसरे दिन उसने अपने परिवार तथा जाति-बन्धुओं को आमंत्रित किया। भोजन, वस्त्र, पुष्प, माला, आदि के द्वारा उनका सम्मान किया और उनकी उपस्थिति में ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सौंपने के भाव प्रकट किए।

आनन्द वाणिज्य ग्राम के राजा, ईश्वर सेनापति आदि समस्त प्रतिष्ठित व्यक्तियों का सम्मान-

पात्र था। विविध प्रकार के प्रश्न उपस्थित होने पर वे उससे परामर्श लिया करते थे। परन्तु उसने इन सब बातों को आत्मसाधना में विक्षेप माना और पौषधशाला में जाकर रहने की इच्छा व्यक्त की।

ज्येष्ठ पुत्र द्वारा आनन्द की आज्ञा का स्वीकार—

मूलम्—तए णं जेट्ठ-पुत्ते आणंदस्स समणोवासयस्स 'तह' ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ ॥ ६७ ॥

छाया—ततः खलु ज्येष्ठपुत्र आनन्दस्य श्रमणोपासकस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिश्रुणोति ।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर, जेट्ठपुत्ते—ज्येष्ठ पुत्र ने, आणंदस्स समणोवासयस्स—आनन्द श्रमणोपासक के, एयमट्ठं—इस अभिप्राय को, तहत्ति—तथेति अर्थात् जैसी आपकी आज्ञा हो, यह कहते हुए, विणएणं—विनयपूर्वक, पडिसुणेइ—स्वीकार किया।

भावार्थ—तदनन्तर ज्येष्ठ पुत्र ने आनंद श्रमणोपासक के उक्त कथन को 'तथास्तु' कहते हुए अत्यन्त विनय के साथ स्वीकार किया।

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए तस्सेव मित्त जाव पुरओ जेट्ठपुत्तं कुडुम्बे ठवेइ, ठवित्ता एवं वयासी—“मा णं, देवाणुप्पिया ! तुब्भे अज्जप्पभिइं केइ ममं बहुसु कज्जेसु जाव आपुच्छउ वा, पडिपुच्छउ वा, ममं अट्ठाए असणं वा ४ उवक्खडेउ वा उवकरेउ वा” ॥ ६८ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासकः—तस्यैव मित्र—यावत्पुरतोः ज्येष्ठपुत्रं कुटुम्बे स्थापयति, स्थापयित्वा एवमवादीत्—मा खलु देवानुप्रियाः ! यूयमद्यप्रभृति केऽपि मम बहुषु कार्येषु यावत् आपृच्छतु वा, प्रतिपृच्छतु वा, ममार्थाय अशनं वा ४ उपस्कुरुत वा उपकुरुत वा ।

शब्दार्थ—तएणं से आणंदे समणोवासए—तत्पश्चात् उस आनन्द श्रमणोपासक ने, तस्सेव मित्त जाव पुरओ—मित्र जातिबन्धु आदि के समक्ष, जेट्ठपुत्तं—ज्येष्ठ पुत्र को, कुडुम्बे—कुटुम्ब पर ठवेइ—स्थापित किया। ठवित्ता—स्थापित करके, एवं वयासी—इस प्रकार कहा—देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रियो !, अज्जप्पभिइं—आज से, तुब्भे—तुम, केइ—कोई भी, ममं—मुझको, बहुसु कज्जेसु—विविध कार्यों के सम्बन्ध में, मा—मत, आपुच्छउ वा—पूछना और नाही; पडिपुच्छउ वा—परामर्श करना, ममं अट्ठाए—और मेरे लिए, असणं वा४—अशन-पानादि, उवक्खडेउ वा—तैयार मत करना और, न उवकरेउ वा—मेरे पास लाना।

टीका—प्रस्तुत पाठ में आनन्द ने दो बातों की मनाही की है, पहली बात है—हे देवानुप्रियो ! अब मुझे गृहव्यवस्था सम्बन्धी किसी भी कार्य में मत पूछना, इस प्रकार उसने गृहस्थ सम्बन्धी

जीवनचर्या से अपना हाथ खींच लिया। दूसरी बात है अब मेरे लिए अशन-पान आदि भोजन सामग्री न तैयार करना और न मेरे पास लाना। इससे प्रतीत होता है कि आनन्द अन्तिम समय में निरारम्भ भोजनचर्या पर रहने लगा था, यद्यपि उसने मुनिव्रत नहीं लिया परन्तु उसके निकट अवश्य पहुँच गया था।

आनन्द का निष्क्रमण—

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए जेट्ठ-पुत्तं मित्त-णाइं आपुच्छइ, २ ता सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, २ ता वाणियग्गामं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, २ ता जेणेव कोल्लाए-सन्निवेशे, जेणेव नायकुले जेणेव पोसहसाला, तेणेव उवागच्छइ, २ ता पोसहसालं पमज्जइ, २ ता उच्चार-पासवण-भूमिं पडिलेहेइ, २ ता दब्भ-संधारयं संधरइ, संधरित्ता दब्भ-संधारयं दुरुहइ, २ ता पोसहसालाए पोसहिए दब्भ-संधारोवगए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णात्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ ६६ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासको ज्येष्ठपुत्रं मित्रज्ञातिमापृच्छति, आपृच्छ्य स्वकाद् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य वाणिज्यग्राम नगरं मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव कोल्लाकः सन्निवेशः, येनैव ज्ञातकुलं, येनैव पौषधशाला तेनैवोपागच्छति, उपागत्य पौषधशालां प्रमार्जयति, प्रमार्ज्योच्चारप्रस्रवण भूमिं प्रतिलेखयति, प्रतिलेख्य दर्भसंस्तारकं संस्तृणाति, संस्तीर्य दर्भसंस्तारकं दूरोहति, दूरुह्य पौषधशालायां पौषधिको दर्भसंस्तारोपगतः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसंपद्य विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर, से—उस, आणंदे समणोवासए—आनन्द श्रमणोपासक ने, जेट्ठपुत्तं मित्तणाइं—ज्येष्ठ पुत्र तथा मित्रों एवं ज्ञातिजनों को, आपुच्छइ—पूछ, आपुच्छित्ता—पूछकर, सयाओ गिहाओ—वह अपने घर से, पडिणिक्खमइ—निकला, पडिणिक्खमित्ता—निकलकर, वाणियग्गाम नयरं—वाणिज्यग्राम नगर के, मज्झं मज्झेणं—बीचोंबीच, निग्गच्छइ—निकला, निग्गच्छित्ता—निकलकर, जेणेव कोल्लाए सन्निवेशे—जहाँ कोल्लाक सन्निवेश था, जेणेव नायकुले—जहाँ ज्ञात कुल था, जेणेव पोसहसाला—और जहाँ पौषधशाला थी; तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आया, उवागच्छित्ता—आकर, पोसहसालं—पौषधशाला को, पमज्जइ—पूँजा अर्थात् साफ किया, पमज्जित्ता—पूँजकर, उच्चारपासवण भूमिं—उच्चार प्रस्रवण अर्थात् शौच तथा पेशाब करने की भूमि की, पडिलेहेइ—प्रतिलेखना की, पडिलेहित्ता—प्रतिलेखना करके, दब्भसंधारयं—डाभ का बिछौना, संधरइ—बिछाया, संधरित्ता—बिछाकर, दब्भसंधारयं—डाभ के बिछौने पर, दुरुहइ—बैठा, दुरुहित्ता—बैठकर, पोसहसालाए—पौषधशाला में, पोसहिए—पौषधिक होकर,

दम्भ-संथारोवगए— डाभ के बिछौने पर बैठकर, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के, अंतिए—पास की, धम्मपण्णतिं—धर्मप्रज्ञप्ति की, उवसंपज्जित्ताणं—स्वीकार करके, विहरइ—रहने लगा ।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक ने बड़े पुत्र तथा मित्र ज्ञातिजन की अनुमति ली और अपने घर से निकला, वाणिज्यग्राम नगर के बीच होता हुआ, जहाँ कोल्लाक सन्निवेश था, जहाँ ज्ञातकुल तथा ज्ञातकुल की पौषधशाला थी वहाँ पहुँचा । पौषधशाला का परिमार्जन करके उच्चार प्रस्रवण (शौच तथा लघुनीत) भूमि की प्रतिलेखना की । तत्पश्चात् दर्भासन पर बैठकर पौषध अङ्गीकार करके भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मदर्शन का अनुष्ठान करने लगा ।

टीका—पुत्र को घर का भार सौंपकर तथा जाति-बन्धुओं से विदा लेकर आनन्द श्रमणोपासक कोल्लाक सन्निवेश में पहुँचा और पौषधशाला में पौषधव्रत स्वीकार करके धर्मचिन्तन में लीन हो गया । प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि वह भगवान् महावीर द्वारा आदिष्ट धर्मप्रज्ञप्ति का आराधन करने लगा, यही धर्म प्रज्ञप्ति मोक्ष मार्ग के रूप में प्रतिपादित की गई है जिसके तीन अंग हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र । उत्तराध्ययन सूत्र में चारित्र के साथ तप का भी उल्लेख है वास्तव में देखा जाय तो वह चारित्र का ही अंग है । पाप-जनक प्रवृत्तियों के निरोध रूप चारित्र को शास्त्रों में संयम शब्द से निर्दिष्ट किया गया है और पूर्व संचित कर्मों एवं वैकारिक संस्कारों को दूर करने के लिए जिस चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है उसे तप कहते हैं । कर्म निरोध की दृष्टि से संयम का दूसरा नाम संवर है । तप संवररूप भी है, और निर्जरारूप भी । कर्म निरोध की दृष्टि से वह संवर और कर्मक्षय की दृष्टि से वही निर्जरा भी है ।

प्रतीत होता है कोल्लाक सन्निवेश में आनन्द का जातिवर्ग रहता था, वह उनके घर से आहार आदि लेकर जीवनयापन करने लगा । श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा में इसी का विधान किया गया है, अर्थात् कुछ समय प्रतिमाधारी को स्वजातीयवर्ग के घरों से भिक्षा लेकर निर्वाह करना चाहिए ।

आनन्द द्वारा प्रतिमा ग्रहण—

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए उवासग-पडिमाओ उवसंपज्जित्ताणं विहरइ । पढमं उवासग पडिमं अहा-सुत्तं अहा-कप्पं अहा-मग्गं अहा-तच्चं सम्मं काएणं फासेइ, पालेइ, सोहेइ, तीरेइ, किट्टेइ, आराहेइ ॥ ७० ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासक उपासक-प्रतिमा उपसंपद्य विहरति, प्रथमामुपासकप्रतिमां यथासूत्रं, यथाकल्पं, यथामार्गं, यथातत्त्वं सम्यक् कायेन स्पृशति, पालयति, शोधयति, तीरयति, कीर्त्तयति, आराधयति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से—वह, आणंदे समणोवासए—आनन्द श्रमणोपासक, उवासगपडिमाओ—उपासक प्रतिमाओं को, उवसंपज्जित्ताणं—स्वीकार करके, विहरइ—विचरने लगा, पढमं—प्रथम, उवासग पडिमं—उपासक प्रतिमा को, अहासुत्तं—सूत्र के अनुसार, अहाकप्पं—कल्प के अनुसार, अहामग्गं—मार्ग के अनुसार, अहातच्चं—यथार्थ तत्त्व के अनुसार, सम्मं—सम्यक् रूप में, काएणं—काया के द्वारा, फासेइ—स्वीकार किया, पालेइ—पालन किया, सोहेइ—निरतिचार शोधन किया, तीरेइ—आद्यन्त अच्छी तरह पूर्ण किया, किट्ठेइ—कीर्तन किया, आराहेइ—अंगीकृत प्रतिमा का अभिनन्दन किया।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक उपासकप्रतिमाएँ स्वीकार करके विचरने लगा। उसने प्रथम उपासक-प्रतिमा को यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग, यथातथ्य शरीर के द्वारा स्वीकार किया, पालन किया, शोधन किया, कीर्तन किया तथा आराधन किया।

टीका—साधुओं की उपासना—सेवा करने वाला उपासक कहलाता है। अभिग्रह विशेष को पडिमा—प्रतिज्ञा कहते हैं। उपासक—श्रावक का अभिग्रहविशेष प्रतिज्ञा, उवासक-पडिमा कहलाती है।

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए दोच्चं उवासग-पडिमं, एवं तच्चं, चउत्थं, पंचमं, छट्ठं, सत्तमं, अट्ठमं, नवमं, दसमं, एक्कारसमं। जाव आराहेइ ॥ ७१ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासको द्वितीयामुपासकप्रतिमाम्, एवं तृतीयां, चतुर्थीं, पञ्चमीं, षष्ठीं, सप्तमीं, अष्टमीं, नवमीं, दशमीं, एकादशीं, यावदाराधयति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से—उस, आणंदे समणोवासए—आनन्द श्रावक ने, दोच्चं उवासगपडिमं—दूसरी उपासक प्रतिमा, एवं—इसी प्रकार, तच्चं—तीसरी, चउत्थं—चौथी, पंचमं—पाँचवी, छट्ठं—छट्ठी—सत्तमं—सातवीं, अट्ठमं—आठवीं, नवमं—नवीं, दसमं—दसवीं, एक्कारसमं—ग्यारहवीं का, जाव—यावत्, आराहेइ—आराधन किया।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक ने दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं, नौवीं, दसवीं और ग्यारहवीं उपासक प्रतिमा का आराधन किया।

टीका—उपरोक्त दो सूत्रों में आनन्द द्वारा प्रतिमा ग्रहण का वर्णन है। प्रतिमा एक प्रकार का व्रत या अभिग्रह है, जहां आत्मशुद्धि के लिए धार्मिक क्रियाओं का विशेष रूप से अनुष्ठान किया जाता है, प्रत्येक प्रतिमा में किसी एक क्रिया को लक्ष्य में रखकर सारा समय उसी के चिन्तन, मनन, अनुष्ठान एवं आत्मसात् करने में लगाया जाता है। प्रतिमाएँ ग्यारह हैं। उनका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार है—

(१) दर्शन प्रतिमा—दर्शन का अर्थ है श्रद्धा या दृष्टि। आत्मविकास के लिए सर्वप्रथम दृष्टि का ठीक होना आवश्यक है। दर्शनप्रतिमा का अर्थ है—वीतराग देव, पांच महाव्रतधारी गुरु तथा वीतराग के बताए हुए मार्ग पर दृढ़ विश्वास। उन्हीं का चिन्तन, मनन एवं अनुष्ठान। शास्त्रों में इसका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार बताया गया है—

सङ्कादि सल्ल विरहिय सम्महंसणजुओ उ जो जन्तू ।
 सेसगुण विप्पमुक्को एसा खलु होई पढमा उ ॥
 शङ्कादि शल्यविरहित सम्यग्दर्शनयुक्तस्तु यो जन्तुः ।
 शेषगुण विप्रमुक्तः एषा खलु भवति प्रथमा ॥

अर्थात् चारित्र्यादि शेष गुण न होने पर भी सम्यग्दर्शन का शंका, कांक्षा, आदि दोषों से रहित होकर सम्यक्तया पालन करना पहली अर्थात् दर्शन प्रतिमा है। इस प्रतिमा में श्रमणोपासक 'राधाभियोगेण' आदि आगारों रहित सम्यक्त्व का निरतिचार पालन करता है अर्थात् क्रियावादी, अक्रियावादी, नास्तिक आदि वादियों के मतों को भली प्रकार जानकर विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन करता है। इस पडिमा का आराधन एक मास तक किया जाता है।

(२) व्रत प्रतिमा—दर्शन के पश्चात् दूसरी व्रत प्रतिमा है, सम्यग्दृष्टि जीव जब अणुव्रतों का निर्दोष पालन करता है तो उसे व्रत प्रतिमा कहा जाता है। पहली प्रतिमा का आराधक पुरुष शुद्ध सम्यक्त्व वाला होता है। दूसरी में वह चारित्र-शुद्धि की ओर झुक्कर कर्मक्षय का प्रयत्न करता है। वह पाँच अणुव्रत और तीन गुण व्रतों को धारण करता है। चार शिक्षा व्रतों को भी अङ्गीकार करता है। किन्तु सामायिक और देशावकाशिक व्रतों का यथासमय सम्यक् पालन नहीं करता। इस पडिमा का समय दो मास है।

दंसणपडिमा जुत्तो पालेन्तोऽणुव्वए निरइयारे ।
 अणुकम्पाइगुण जुओ जीवो इह होइ वयपडिमा ॥
 दर्शनप्रतिमायुक्त, पालयन् अणुव्रतानि निरतिचाराणि ।
 अनुकम्पादिगुणयुतो जीव इह भवति व्रतप्रतिमा ॥

(३) सामायिक प्रतिमा—सम्यग्दर्शन और अणुव्रत स्वीकार करने के पश्चात् प्रतिदिन तीन बार सामायिक करना सामायिक प्रतिमा है। तीसरी पडिमा में सर्वधर्म विषयक रुचि रहती है। वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास धारण करता है। सामायिक और देशावकाशिक की आराधना भी उचित रीति से करता है, किन्तु चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा आदि पर्व दिनों में पौषधोपवास व्रत की सम्यग् आराधना नहीं कर सकता। इस पडिमा का समय तीस मास का है।

वरदंसणवयजुत्तो सामाइयं कुणइ जो उ तिसज्झासु ।
 उक्कोसेण तिमासं एसा सामाइयप्पडिमा ॥
 वरदर्शनव्रत युक्तः सामायिकं करोति यस्तु त्रिसंध्यासु ।
 उक्कृष्टेन त्रीन् मासान् एषा सामायिक प्रतिमा ॥

(४) पौषध प्रतिमा—पूर्वोक्त तीन प्रतिमाओं के साथ जो व्यक्ति अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों पर प्रतिपूर्ण पौषधव्रत की पूर्णतया आराधना करता है, यह पौषध प्रतिमा है। इस पडिमा की अवधि चार मास की होती है।

पुब्बोदियपडिमा जुओ पालइ जो पोसहं तु सम्पुण्णं ।
 अट्ठमि चउद्दसाइसुं चउरो मासे चउत्थी सा ॥
 पूर्वोदित प्रतिमायुतः पालयति यः पौषधं तु संपूर्णम् ।
 अष्टमी चतुर्दश्यादिषु चतुरो मासान् चतुर्थ्येषा ॥

(५) कायोत्सर्ग प्रतिमा—कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर का त्याग अर्थात् कुछ समय के लिए शरीर-वस्त्र आदि का ध्यान छोड़कर मन को आत्मचिन्तन में लगाना, इस प्रकार रात भर ध्यान का अनुष्ठान करना कायोत्सर्ग प्रतिमा है। इसकी अवधि पाँच मास है। दिगम्बर परम्परा में इसके स्थान पर सचित्त त्याग प्रतिमा है।

सम्मणुब्बयगुणवयसिक्खावयवं धिरो य नाणी य ।
 अट्ठमिचउद्दसीसुं पडिमं ठाएगराइयं ॥
 असिणाण वियडभोई मउल्लिकडो दिवसबम्भयारी य ।
 राइं परिमाणकडो पडिमावज्जेसु दियहेसु ॥
 ज्ञायइ पडिमाए ठिओ, तिलोयपुज्जे जिणे जियकसाए ।
 नियदोस पच्चणीयं अण्णं वा पच्च जा मासा ॥

सम्यक्त्वाणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतवान् स्थिरश्च ज्ञानी च ।
 अष्टमी चतुर्दश्योः प्रतिमां तिष्ठत्येकरात्रिकीम् ॥
 अस्नानो दिवसभोजी मुत्कलकच्छे दिवस ब्रह्मचारी च ।
 रात्रौ कृतपरिमाणः प्रतिमा वर्जेषु दिवसेषु ॥
 ध्यायति प्रतिमया स्थितः त्रैलोक्यपूज्यान् जिनान् जितकषायान् ।
 निजदोषप्रत्यनीकमन्यद्वा पञ्च यावन्मासाम् ॥

अर्थात् सम्यक्त्व, अणुव्रत तथा गुणव्रतों का धारक अष्टमी या चतुर्दशी के दिन-रात भर कायोत्सर्ग करता है। अथवा सांसारिक प्रवृत्तियों को त्यागकर सारी रात आत्मचिन्तन में व्यतीत करता है, इसी को कायोत्सर्ग प्रतिमा कहते हैं। यह प्रतिमा कम से कम एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लेकर अधिक से अधिक पांच मास तक की होती है। इस प्रतिमा में रात्रि भोजन का परित्याग तथा दिन में ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया जाता है और रात्रि का परिमाण किया जाता है। धोती की लांग नहीं लगाई जाती।

(६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—पूर्वोक्त पांच प्रतिमाओं के आराधन के पश्चात् छठी पडिमा में सर्वधर्म रुचि होती है। वह पूर्वोक्त सर्व व्रतों का सम्यक् रूप से पालन करता है और ब्रह्मचर्य प्रतिमा को स्वीकार करता है। इसमें पूर्ण ब्रह्मचर्य का विधान है। स्त्रियों से अनावश्यक वार्तालाप, उनके शृङ्गार तथा चेष्टाओं को देखना आदि वर्जित है, किन्तु वह सचित्त आहार का त्याग नहीं करता अर्थात् औषध सेवन के समय या अन्य किसी कारण वह सचित्त को भी सेवन कर लेता है। इसकी अवधि छह मास है। दिगम्बर परम्परा में इसे रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा या दिवामैथुन त्याग प्रतिमा कहते हैं।

पुव्वोदिय गुणजुत्तो विसेसओ, विजिय मोहणिज्जो य ।

वज्जइ अबंभमेगंतओ य, राइं पि थिर चित्तो ॥

सिङ्गारकहा विरओ इत्थीए समं रहम्मि, नो ठाइ ।

चयइ य अइप्पसङ्गं, तहा विभूसं च उक्कोसं ॥

एवं जा छम्मासा एसोऽहिगओ उ इयरहा दिट्ठं ।

जावज्जीवं पि इमं, वज्जइ एयम्मि लोगम्मि ॥

पूर्वोदित गुणयुक्तो विशेषतो विजितमोहनीयश्च ।

वर्जयत्यब्रह्मैकान्ततस्तु रात्रावपि स्थिरचित्तः ॥

शृङ्गारकथाविरतः स्त्रिया समं रहसि न तिष्ठति ।

त्यजति चाति प्रसङ्गं तथा विभूषां चोत्कृष्टाम् ॥

एवं यावत् षण्मासान् एषोऽधिकृतस्तु इतरथा दृष्टम् ।

यावज्जीवमपीदं वर्जयति एतस्मिन् लोके ॥

अर्थात् पूर्वोक्त गुणों से युक्त जो व्यक्ति मोहनीय कर्म पर विजय प्राप्त कर लेता है, रात्रि को भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है तथा स्त्रियों से संलापादि नहीं करता। शृङ्गारयुक्त वेषभूषा नहीं करता। इस प्रकार ६ मास तक रहना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। इस प्रतिमा की अवधि कम से कम एक,

दो या तीन दिन है और उत्कृष्ट छः मास है। यावज्जीवन भी ब्रह्मचर्य को धारण कर सकता है।

(७) सचित्ताहारवर्जन प्रतिमा—सातवीं पडिमा में सर्वधर्म विषयक रूचि होती है। इसमें उपरोक्त सब नियमों का पालन किया जाता है। इस पडिमा का धारक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है और सचित्त आहार का सर्वथा त्याग कर देता है, किन्तु आरम्भ का त्याग नहीं करता। इसकी उत्कृष्ट काल मर्यादा सात मास है। दिगंबर परम्परा में सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है।

सच्चित्तं आहारं वज्जइ असणाइयं निरवसेसं ।
सेसवय समाउत्तो जा मासा सत्त विहिपुव्वं ॥
सचित्तमाहारं वर्जयति अशनादिकं निरवशेषम् ।
शेषपदसमायुक्तो यावन्मासान् सप्त विधि पूर्वम् ॥

(८) स्वयं आरम्भवर्जन प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारक' उपरोक्त सभी नियमों का पालन करता है। सचित्त आहार का त्याग करता है। स्वयं किसी प्रकार का आरम्भ अथवा हिंसा नहीं करता। इसमें आजीविका अथवा निर्वाह के लिए दूसरे से कराने का त्याग नहीं होता। काल मर्यादा कम से कम एक दिन, दो दिन या तीन दिन और उत्कृष्ट ८ मास है।

वज्जइ सयमारम्भं सावज्जं कारवेइ पेसेहिं ।
वित्तिनिमित्तं पुव्वय गुणजुत्तो अट्ठ जा मासा ॥
वर्जयति स्वयमारम्भं सावद्यं कारयति प्रेष्यैः ।
वृत्तिनिमित्तं पूर्वगुणयुक्तोऽष्ट यावन्मासान् ॥

(९) भृतकप्रेष्यारम्भवर्जनप्रतिमा—नवमी पडिमा को धारण करने वाला उपासक उपरोक्त सब नियमों का यथावत् पालन करता है। आरम्भ का भी परित्याग कर देता है किन्तु उद्दिष्ट भक्त का परित्याग नहीं करता अर्थात् जो भोजन उसके निमित्त बनाया गया है वह उसे ग्रहण कर लेता है। वह स्वयं आरम्भ नहीं करता, न दूसरों से कराता है किन्तु अनुमति देने का उसका त्याग नहीं होता। इस प्रतिमा का कालमान कम से कम एक, दो या तीन दिन है और अधिक से अधिक ९ मास है।

पेसेहिं आरम्भं सावज्जं कारवेइ नो गुरुयं ।
पुव्वोइयगुणजुत्तो नव मासा जाव विहिणा उ ॥
प्रेष्यैराम्भं सावद्यं कारयति नो गुरुकम् ।
पूर्वोदित गुणयुक्तो नव मासान् यावद्विधिनेव ॥

(१०) उद्दिष्टभक्तवर्जन प्रतिमा—इस प्रतिमा में उपासक अपने निमित्त से बने हुए भोजन का भी परित्याग कर देता है अर्थात् ऐसी कोई वस्तु स्वीकार नहीं करता जो उसके लिए बनाई या तैयार

की गई हो। सांसारिक कार्यों के विषय में कोई बात पूछने पर इतना ही उत्तर देता है कि 'मैं इसे जानता हूँ या नहीं जानता।' इसके अतिरिक्त प्रवृत्ति विषयक कोई आज्ञा, आदेश या परामर्श नहीं देता। सिर को उस्तरे से मुँडाता है। कोई कोई शिखा रखता है। इसकी कालमर्यादा कम से कम एक, दो या तीन दिन उत्कृष्ट दस मास है।

उद्दिष्टकडं भक्तंपि वज्जए किमुय सेसमारम्भं ।
सो होइ उ खुरमुण्डो, सिंहलिं वा धारए कोइ ॥
दव्वं पुट्ठो जाणं जाणे इइ वयइ नो य नो वेति ।
पुव्वोदिय गुणजुत्तो दस मासा कालमाणेणं ॥
उद्दिष्टकृतं भक्तमपि वर्जयति किमुत शेषमारम्भम् ।
स भवति तु क्षुरमुण्डः शिखां वा धारयति कोऽपि ॥
द्रव्यं पृष्टो जानन् जानामीति नो वा नैवेति ।
पूर्वोदित गुणयुक्तो दश मासान् कालमानेन ॥

(११) श्रमणभूत प्रतिमा—ग्यारहवीं पडिमाधारी सर्वधर्म विषयक रुचि रखता है। उपरोक्त सभी नियमों का पालन करता है। सिर के बालों को उस्तरे (क्षुर) से मुण्डवा देता है, शक्ति होने पर लुञ्चन कर सकता है। साधु जैसा वेष धारण करता है। साधु के योग्य भण्डोपकरण आदि उपधि धारण कर श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रतिपादित धर्म का निरतिचार पालन करता हुआ विचरे। ग्यारहवीं पडिमाधारी की सारी क्रियाएँ साधु के समान होती हैं अतः प्रत्येक क्रिया में यतनापूर्वक प्रवृत्ति करे। साधु के समान ही गोचरी से जीवन निर्वाह करे किन्तु इतना विशेष है कि उस उपासक का अपने सम्बन्धियों से सर्वथा राग नहीं छूटता है, इसलिए वह उन्हीं के घरों में गोचरी लेने जाता है।

इस प्रतिमा का कालमान जघन्य एक, दो, तीन दिन है, उत्कृष्ट ११ मास है। अर्थात् यदि ग्यारह महीने से पहले ही प्रतिमाधारी श्रावक की मृत्यु हो जाए या दीक्षित हो जाए तो जघन्य या मध्यम काल ही उसकी अवधि है। यदि दोनों में से कुछ भी न हो तो उपरोक्त सब नियमों के साथ ग्यारह महीने तक इस पडिमा का पालन किया जाता है।

सब पडिमाओं का समय मिलाकर साढ़े पाँच वर्ष होता है।

खुरमुण्डो लोएण व रयहरणं ओग्गहं च घेत्तूणं ।
समणब्भूओ विहरइ धम्मं काएण फासेन्तो ॥
एवं उक्कोसेणं एक्कारसमास जाव विहरेइ ।
एक्काहाइपरेणं एवं सब्वत्थ पाएणं ॥

क्षुरमुण्डो लोचेन वा रजोहरणमवग्रहं च गृहीत्वा ।
 श्रमणभूतो विहरति धर्मं कायेन स्पृशन् ॥
 एवत्सुकृष्टेनैकादश मासान् यावद् विहरति ।
 एकाहादेः परतः एवं सर्वत्र प्रायेण ॥

उपरोक्त पाठ में प्रतिमाओं के पालन के लिए तीन पद दिए हैं—‘अहासुत्तं’ अहाकम्पं तथा ‘अहामगं’। ‘अहासुत्तं’ का अर्थ है शास्त्र में उनका जैसा प्रतिपादन किया गया है तदनुसार। ‘अहाकम्पं’ का अर्थ है कल्प अर्थात् श्रावक की मर्यादा के अनुसार। ‘अहामगं’ का अर्थ है मार्ग अर्थात् क्षायोपशमिक स्थिति के अनुसार। ग्यारह प्रतिमाओं में श्रावक धर्म का प्रारम्भ से लेकर उच्चतम रूप मिलता है। इनका प्रारम्भ सम्यक् दर्शन से होता है और अन्त ग्यारहवीं श्रमणभूत प्रतिमा के साथ। तत्पश्चात् मुनिव्रत है। श्रावक की मर्यादा यहीं समाप्त हो जाती है।

आनन्द श्रमणोपासक ने उपरोक्त ग्यारह प्रतिमाओं का विधिविधान के अनुसार शास्त्रोक्त रीति से भली प्रकार आराधन किया।*

आनन्द का तपश्चरण और शरीर शोषण—

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए इमेणं एयारूवेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं तवो-कम्मेणं सुक्के जाव किसे धमणिसंतए जाए ॥ ७२ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासकोऽनेनैतद्रूपेणोदारेण विपुलेन प्रत्यनेन प्रगृहीतेन तपः कर्मणा शुष्को यावत्कृशो धमनिसंततो जातः ।

शब्दार्थ—तए णं—तत्पश्चात्, स—वह, आणंदे समणोवासए—आनन्द श्रमणोपासक, इमेणं—इस, एयारूवेणं—एतत्स्वरूप, उरालेणं—उदार, विउलेणं—विपुल, पग्गहिएणं—स्वीकृत पयत्तेणं—प्रयत्न तथा, तवोकम्मेणं—तपःकर्म से, सुक्के—शुष्क, जाव—यावत्, किसे—कृश, धमणिसंतए—उभरी हुई नाडियों से व्याप्त सा, जाए—हो गया।

भावार्थ—इस प्रकार के कष्टकर एवं विपुल श्रम तथा तप के ग्रहण करने के कारण आनन्द का शरीर सूख गया, उसकी नसें दिखाई देने लगीं।

आनन्द द्वारा मरणांतिक संल्लेखना का निश्चय—

मूलम्—तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्ता० जाव

* ऊपर ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। विशेष ज्ञान के लिए मेरे द्वारा विरचित दशाश्रुतस्कन्ध की ‘गणपतिगुणप्रकाशिका’ नामक भाषा टीका में छठी दशा का अनुशीलन करना चाहिए—व्याख्याकार।

धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयं अज्झत्थिए ४ “एवं खलु अहं इमेणं जाव धमणिसंतए जाए। तं अत्थि ता मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कार परक्कमे सद्धा धिइ संवेगे। तं जाव ता मे अत्थि उट्ठाणे सद्धा धिइ संवेगे, जाव य मे धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ, ताव ता मे सेयं कल्लं जाव जलंते अपच्छिममारणंतियसंलेहणा झूसणाझूसियस्स, भत्तपाणपडियाइक्खियस्स कालं अणवकङ्कमाणस्स विहरित्तए।” एवं संपेहेइ, २ ता कल्लं पाउ जाव अपच्छिममारणंतिय जाव कालं अणवकङ्कमाणे विहरइ ॥ ७३ ॥

छाया—ततः खलु तस्याऽऽनन्दस्य श्रमणोपासकस्यान्यदा कदाचित् पूर्वरात्रौ यावद्धर्मजागरिकां जाग्रतोऽयमाध्यात्मिकः ४ “एवं खल्वहमनेन यावद्धमनिसन्ततो जातः। तदस्ति तावन्मे उत्थानं कर्म, बलं, वीर्यं, पुरुषकारपराक्रमः श्रद्धा, धृतिः, संवेगः, तद्यावत्तावन्मेऽस्ति उत्थानं श्रद्धा धृति संवेगः, यावच्च मे धर्माचार्यो धर्मोपदेशकः श्रमणो भगवान् महावीरो जिनः सुहस्ती विहरति, तावन्मे श्रेयः कल्यं यावज्ज्वलति अपश्चिममारणान्तिक संलेखना जोषणा जूषितस्य भक्तपानप्रत्याख्यातस्य कालमनवकांक्षतो विहर्तुम्, एवं संप्रेक्षते संप्रेक्ष्य कल्यं प्रादुर्यावदपश्चिममारणान्तिक यावत्कालमनवकांक्षन् विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर, तस्स—उस, आणंदस्स समणोवासगस्स—आनन्द श्रमणोपासक को, अन्नया कयाइ—एक दिन, पुव्वरत्ता०—पूर्वरात्रि के अपर भाग में, जाव—यावत्, धम्मजागरियं जागरमाणस्स—धर्म जागरण करते २, अयं—यह, अज्झत्थिए ४—संकल्प उत्पन्न हुआ कि—एवं खलु अहं—मैं निश्चय ही, इमेणं—इस तपस्या से शुष्क, जाव—यावत् एवं, धमणिसंतए—धमनियों से व्याप्त, जाए—हो गया हूँ, तं अत्थि ता—तो भी, मे—मुझ में अभी, उट्ठाणे—उत्थान, कम्मे—कर्म, बले—बल, वीरिए—वीर्य, पुरिसक्कार परक्कमे—पुरुषकार पराक्रम, सद्धा धिइ संवेगे—श्रद्धा, धृति और संवेग, अत्थि—हैं, तं जाव ता—जब तक, मे—मुझ में, उट्ठाणे—उत्थान, सद्धाधिइसंवेगे, यावत्, श्रद्धा, धृति, संवेग; अत्थि—हैं, जाव य—और जब तक, मे—मेरे, धम्मायरिए—धर्माचार्य, धम्मोवएसए—धर्मोपदेशक, समणे भगवं महावीरे—श्राण भगवान् महावीर, जिणे—जिन, सुहत्थी—सुहस्ती, विहरइ—विचरते हैं, ताव ता—तब तक, कल्लं—कल प्रातःकाल, जाव—यावत्, जलंते—सूर्य उदय होने पर, अपच्छिममारणंतियसंलेहणा झूसणा झूसियस्स—अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना को अङ्गीकार करके, भत्तपाण पडियाइक्खियस्स—भक्तपान का प्रत्याख्यान करके, कालं अणवकङ्कमाणस्स—मृत्यु की कांक्षा न करते हुए, मे—मेरे को, विहरित्तए—विचरना, सेयं—श्रेय है। एवं—इस प्रकार, संपेहेइ—विचार किया, संपेहित्ता—विचार करके, कल्लं पाउ—दूसरे दिन प्रातःकाल, जाव—यावत्, अपच्छिममारणंतिय—अपश्चिम मारणान्तिक

संलेखना को स्वीकार करके, जाव—यावत्, कालं अणवकंखमाणे—काल की कांक्षा न करते हुए, विहरइ—विचरने लगा।

भावार्थ—तदनन्तर एक दिन आनन्द श्रावक को पूर्वरात्रि के अपर भाग में धर्म चिन्तन करते हुए यह विचार आया—यद्यपि मैं उग्र तपश्चरण के कारण कृश हो गया हूँ। नसें दीखने लगी हैं, फिर भी अभी तक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ पराक्रम, श्रद्धा, धृति और संवेग विद्यमान हैं। अतः जब तक मुझ में उत्थानादि हैं और जब तक मेरे धर्मोपदेशक धर्माचार्य श्रमण भगवान महावीर जिनसुहस्ती विचर रहे हैं। मेरे लिए श्रेयस्कर होगा कि अन्तिम मरणान्तिक संलेखना अङ्गीकार कर लूँ। भोजन, पानी आदि का परित्याग कर दूँ और मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए शान्त चित्त से अन्तिम काल व्यतीत करूँ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में आनन्द द्वारा अन्तिम संलेखनाव्रत अङ्गीकार करने का वर्णन है, इसमें कई बातें महत्वपूर्ण हैं।

संलेखना जीवन का अन्तिम व्रत है, और यह जैन साधक की जीवन-दृष्टि को प्रकट करता है। पहले बताया जा चुका है कि जैन धर्म में जीवन एक साधन है, साध्य नहीं। वह अपने आप में लक्ष्य नहीं है। वह आत्म-विकास का साधन मात्र है। साधन को तभी तक अपनाना चाहिए, जब तक वह लक्ष्य सिद्धि में सहायक है। इसके विपरीत यदि वह बाधाएँ उपस्थित करने लगे तो साधन को उसे छोड़ देना ही उचित है। शरीर या जीवन को भी तभी तक रखना चाहिए, जब तक वह आत्म-विकास में सहायक है। रोग, अशक्ति अथवा अन्य कारणों से जब यह प्रतीत होने लगे कि अब वह विकास के स्थान पर पतन की ओर ले जाएगा, मन में उत्साह न रहे, चिन्ताएँ सताने लगे और भावनाएं क्लुषित होने लगे, तो ऐसी स्थिति आने से पहले ही शरीर का परित्याग कर देना उचित है। आनन्द श्रमणोपासक ने भी यही निश्चय किया। उसने सोचा—जब तक मुझ में बल, वीर्य, पराक्रम, उत्साह आदि विद्यमान हैं और मेरे धर्मोपदेशक, मेरे धर्माचार्य भगवान महावीर विचर रहे हैं, मुझे जीवन का अन्तिम व्रत ले लेना चाहिए।

यह निश्चय कर लेने पर प्रातः होते ही उसने संलेखना व्रत ले लिया, आमरण अशन, पान आदि आहार का त्याग कर दिया और एकमात्र आत्म चिन्तन में लीन हो गया। सूत्रकार ने यहाँ बताया है कि जिस प्रकार उसने जीने की आकांक्षा छोड़ दी उसी प्रकार मरने की आकांक्षा भी नहीं की अर्थात् उसने यह भी नहीं चाहा कि भूख-प्यासादि के कारण कष्ट हो रहा है अतः मृत्यु शीघ्र ही आ जाए। जीवन, मरण, यश, कीर्ति ऐहिक भोग तथा पारलौकिक सुखादि सब इच्छाओं से निवृत्त होकर एकमात्र आत्मचिन्तन में लीन होकर वह समय व्यतीत करने लगा।

प्रस्तुत सूत्र में कुछ शब्द ध्यान देने योग्य हैं, उत्थान—उठना, बैठना, गमनागमन आदि शारीरिक

चेष्टाएँ अथवा हल-चल। बल—शारीरिक शक्ति। वीर्य—आत्म तेज या उत्साह शक्ति जो किसी कार्य को करने की प्रेरणा देती है।—“विशेषेण इर्यते प्रेर्यते अनेन इति वीर्यम्”। पुरुषकार—पुरस्कार या उद्यम। पराक्रम—इष्ट साधन के लिए परिश्रम। श्रद्धा—विशुद्ध चित्तपरिणति के कारण होने वाला दृढ़ विश्वास। धृति—धैर्य, भय, शोक, दुःख, संकट आदि से विचलित न होना अर्थात् मन में किसी प्रकार का क्षोभ या उद्वेग न आना। संवेग—आत्मा तथा अनात्मा सम्बन्धी विवेक के कारण बाह्य वस्तुओं से होने वाली विरक्ति। शास्त्र में स्थान-स्थान पर धर्म जागरिका के लिए पूर्व रात्रि का अपर भाग विशेष रूप से बताया गया है, इसका अर्थ है—मध्यम रात्रि। उस समय दुनिया का कोलाहल बन्द हो जाता है और मानसिक वृत्तियाँ शान्त होती हैं। योग परम्परा में भी मन की एकाग्रता का अभ्यास करने के लिए इस समय को प्रशस्त माना है। आनन्द ने भगवान महावीर स्वामी के रहते ही अन्तिम व्रत ले लेना उचित समझा। धर्मानुष्ठान के लिए गुरु या मार्ग-दर्शक का उपस्थित रहना अत्यन्त उपयोगी है इससे उत्साह बना रहता है और किसी प्रकार का संदेह, द्विविधा, अड़चन आदि उत्पन्न होने पर उनका निवारण होता रहता है।

आनन्द को अवधिज्ञान का होना—

मूलम्—तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेसाहिं विसुज्जमाणीहिं, तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ओहिनाणे समुप्पन्ने। पुरत्थिमेणं लवण समुद्रे पंच-जोयण-सयाइं खेतं जाणइ पासइ, एवं दक्खिणेणं पच्चत्थिमेणं य, उत्तरेणं जाव चुल्लहिमवंतं वासधर पव्वयं जाणइ पासइ, उड्ढं जाव सोहम्मं कप्पं जाणइ पासइ, अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुयं नरयं चउरासीइवाससहस्सट्ठइयं जाणइ पासइ ॥७४॥

छाया—ततः खलु तस्याऽऽनन्दस्य श्रमणोपासकस्यान्यदा कदाचित् शुभेनाध्यवसायेन, शुभेनपरिणामेन, लेश्याभिर्विशुद्ध्यमानाभिस्तदावरणीयानां कर्मणां क्षयोपशमेनावधिज्ञानं समुत्पन्नम्। पौरस्त्ये खलु लवणसमुद्रे पञ्चयोजन-शतानि क्षेत्रं जानाति पश्यति। एवं दक्षिणात्ये पश्चिमात्ये च, उत्तरे खलु यावत् क्षुल्लहिमवन्तं वर्षधरपर्वतं जानाति पश्यति, ऊर्ध्वं यावत् सौधर्मकल्पं जानाति पश्यति, अधो यावद् अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या लोलुपाच्युतं नरकं चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकं जानाति पश्यति।

शब्दार्थ—तए णं—इसके अनन्तर, आणंदस्स समणोवासगस्स—आनन्द श्रमणोपासक को, अन्नया कयाइ—अन्यदा कदाचित्, सुभेणं—शुभ, अज्झवसाणेणं—अध्यवसाय तथा, सुभेणं परिणामेणं—शुभ परिणाम के कारण, विसुज्जमाणीहिं लेसाहिं—विशुद्ध होती हुई लेश्याओं से,

तयावरणिज्ञाणं कम्माणं—अवधिज्ञानावरण कर्म के, खओवसमेणं—क्षयोपशम से, ओहिनाणे—अवधि ज्ञान, समुप्पन्ने—उत्पन्न हो गया, उसके द्वारा, पुरत्थिमेणं—पूर्व की ओर, लवण समुद्रे—लवण समुद्र में, पांच ज्योयण सयाइं—पाँच सौ योजन, खेतं—क्षेत्र को, जाणइ पासइ—जानने और देखने लगा, एवं दक्खिणेणं पच्चत्थिमेणं—इसी प्रकार दक्षिण और पश्चिम में भी पाँच सौ योजन तक जानने और देखने लगा। उत्तरेणं—उत्तर की ओर, चुल्लहिमवतं वासधरपच्चयं—क्षुल्लक हिमवान-वर्षधर पर्वत को, जाणइ पासइ—जानने देखने लगा, उड्ढं—ऊर्ध्व लोक में, सोहम्मं कप्प जावं—सोधर्म कल्प तक, जाणइ पासइ—जानने देखने लगा और, अहे—अधोलोक में, इमीसे—इस, रयणप्पभाए—रल प्रभा, पुढ्ढवीए—पृथ्वी के, चउरासीइवाससहस्सट्ठइयं—चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले, लोलुपाच्च्युयं नरयं—लोलुपाच्च्युत नामक नरक, जाव—तक, जाणइ—जानने तथा पासइ—देखने लगा।

भावार्थ—इस प्रकार धर्म चिन्तन करते हुए आनन्द को एक दिन शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम एवं विशुद्ध लेश्या के कारण अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो गया और अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। परिणामस्वरूप वह पूर्व और पश्चिम की तरफ लवण समुद्र में पाँच सौ योजन की दूरी तक जानने और देखने लगा, उत्तर दिशा की तरफ क्षुल्लहिमवान वर्षधर पर्वत को, ऊर्ध्वलोक में सौधर्मकल्प तक और अधोलोक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले लोलुपाच्च्युत नरक तक जानने और देखने लगा।

टीका—इस सूत्र में आनन्द के अवधिज्ञान का वर्णन है। उसका क्रम नीचे लिखे अनुसार बताया गया है। तपस्या, धर्मचिन्तन आदि के कारण उसके अध्यवसाय शुद्ध हुए। तदनन्तर परिणाम शुद्ध हुए। परिणाम शुद्ध होने पर लेश्याएँ शुद्ध हुईं। लेश्याएँ शुद्ध होने पर अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ और उससे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। टीकाकार ने अध्यवसाय का अर्थ किया है—प्रथम मनोभाव अर्थात् कार्यविशेष या अनुष्ठान के लिए दृढसंकल्प। उसके लिए परिश्रम करने का निश्चय और मार्ग में आने वाले संकट एवं विघ्न बाधाओं से विचलित न होने की प्रतिज्ञा। परिणाम का अर्थ है—अध्यवसाय के पश्चात् उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विशुद्धि एवं उत्साह के फलस्वरूप उठने वाले मनोभाव। लेश्या का अर्थ है अन्तिम मनोभाव जो आत्मा की आध्यात्मिक स्थिति को प्रकट करते हैं।

जैन आगमों में ६ लेश्याएँ बताई गई हैं—(१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तैजस् (५) पद्म और (६) शुक्ल। कृष्ण लेश्या क्रूरतम विचारों को प्रकट करती है, इसके पश्चात् नील आदि लेश्याओं में विचार उत्तरोत्तर शुद्ध होते जाते हैं। अन्तिम लेश्या में वे पूर्णतया निर्मल हो जाते हैं। विचार ज्यों-ज्यों निर्मल होते हैं, साधक उत्तरोत्तर लेश्याओं को प्राप्त करता जाता है। इनका विस्तृत वर्णन पणवणा सूत्र के सत्तरहवें पद, और उत्तराध्ययन तथा चतुर्थ कर्मग्रन्थ में दिया गया है।

अवधिज्ञानावरण—जैन दर्शन के अनुसार आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्य अर्थात् शक्ति का पुञ्ज है, उसका यह स्वरूप कर्मबन्ध के कारण दबा हुआ है, इसीलिए वह संसार में भटक रहा है और सुख-दुःख भोग रहा है। कर्म आठ हैं, उनमें से ४ आत्मा के उपरोक्त गुणों को दबाकर रखते हैं, शेष ४ विविध योनियों में विविध प्रकार की शारीरिक एवं सामाजिक स्थिति, न्यूनाधिक आयु एवं बाह्य सुख-दुःख के प्रति कारण हैं। प्रथम चार में ज्ञानावरण—ज्ञान पर पर्दा डालता है, दर्शनावरण—दर्शन पर, मोहनीय—सुख का घात करता है और अन्तराय शक्ति का। ज्ञानावरण के ५ भेद हैं—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुत ज्ञानावरण (३) अवधि ज्ञानावरण (४) मनःपर्यय ज्ञानावरण (५) केवल ज्ञानावरण।

अवधिज्ञान—दूर-सूक्ष्म विषयक उस अतीन्द्रिय ज्ञान को कहते हैं जो रूप वाले द्रव्यों तक सीमित है। आनन्द श्रावक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया और वह निश्चित सीमा तक दूरवर्ती पदार्थों को देखने तथा जानने लगा।

लवण समुद्र—जैन भूगोल के अनुसार मनुष्य क्षेत्र अढ़ाई द्वीपों तक फैला हुआ है। मध्य में जम्बूद्वीप है जो एक लाख योजन लम्बा, एक लाख योजन चौड़ा वृत्ताकार है। उसके चारों ओर लवण समुद्र है। लवण समुद्र के चारों ओर धातकी खण्ड नामक द्वीप है। उस द्वीप को कालोदधि समुद्र घेरे हुए है। उसके चारों ओर पुष्करद्वीप है। इस द्वीप के मध्य में मानुषोत्तर पर्वत हैं। मनुष्यों की बस्ती यहाँ तक ही है।

वर्षधर पर्वत—जम्बूद्वीप के बीच मेरु पर्वत है। मेरु से दक्षिण की ओर भरत आदि ६ खण्ड हैं। वर्षधर पर्वत इन खण्डों का विभाजन करता है। एतत्सम्बन्धी विस्तारार्थ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, तत्त्वार्थ आदि ग्रन्थों को देखना चाहिए।

सौधर्म देवलोक—ऊर्ध्व लोक में प्रथम देवलोक का नाम सौधर्म है।

रत्न प्रभा—पृथ्वी के अधोभाग में सात नरक हैं। प्रथम नरक का नाम रत्नप्रभा है। उस नरक में भी अनेक प्रकार के नारकीय जीव रहते हैं। लोलुपाच्युत नरक भी इसी पृथ्वी का स्थान विशेष है, जहाँ नारकीय जीवों की आयु चौरासी हजार वर्ष मानी जाती है।

भगवान महावीर का पुनरागमन—

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरिए, परिसा निग्गया जाव पडिगया ॥ ७५ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः समवसृतः। परिषन्निर्गता यावत्प्रतिगता।

शब्दार्थ—तेणं कालेणं—उस काल चौथे आरक में, तेणं समएणं—उसी समय में जब वाणिज्य ग्राम में आनन्द की अवधिज्ञान उत्पन्न हो चुका था, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर, समोसरिए—पधारे, परिसा निग्गया—परिषद् धर्म श्रवणार्थ गई, जाव—यावत्, पडिगया—और लौट गई।

भावार्थ—उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम धर्म जागृति करते हुए वाणिज्य ग्राम के बाहर दुतिपलाश चैत्य में पधारे। नगर की परिषद् धर्म श्रवण करने के लिए गई और धर्म उपदेश सुनकर वापिस लौट आई।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में वाणिज्य ग्राम नगर के बाहर दुतिपलाश चैत्य में श्रमण भगवान महावीर के पुनरागमन का निर्देश किया गया है। लोगों का धर्म श्रवण के लिए आने और वापिस लौटने का भी संकेत है। इन सबका विस्तृत वर्णन पहले आ चुका है।

गौतम स्वामी का वर्णन—

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इंदभूर्इ नामं अणगारे गोयम गोत्तेणं सत्तुस्सेहे, समचउरंसंठाण संठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे, कणगपुलगनिघसपम्हगोरे उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, घोरतवे, महातवे, उराले, घोरगुणे घोरतवस्सी, घोरबंभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, संखित्तविउलतेउलेस्से, छट्ठं-छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ ७६ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठोऽन्तेवासी इन्द्रभूतिर्नाम अनगारो गौतम-गोत्रः खलु सप्तोत्सेधः, समचतुरस्र संस्थान संस्थितः, वज्रर्षभनाराचसंहननः, कनक-पुलकनिकषपद्मगौरः, उग्रतपाः, दीप्ततपाः, तप्ततपाः, घोरतपाः, महातपाः, उदारः, घोरगुणः, घोरतपस्वी, घोरब्रह्मचर्यवासी, उत्सृष्टशरीरः, संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्यः, षष्ठषष्ठेन अनिक्षिप्तेन तपः कर्मणा, संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति।

शब्दार्थ—तेणं कालेणं—उस काल, तेणं समएणं—उस समय, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान महावीर के, जेट्ठे अन्तेवासी—प्रधान शिष्य, इंदभूर्इ नामं अणगारे—इन्द्रभूति नामक अनगार, गोयमगोत्तेणं—गौतम गोत्रीय, सत्तुस्सेहे—सात हाथ ऊँचे शरीर वाले, समचउरंसंठाणसंठिए—समचतुरस्र संस्थान वाले, वज्जरिसहनारायसंघयणे—वज्रर्षभनाराचसंहनन वाले, कणगपुलगनिघसपम्हगोरे—निकष-कसौटी पर धिसे हुए सोने की रेखा और पद्म के समान गौरवर्ण वाले, उग्गतवे—उग्र तपस्वी, दित्ततवे—दीप्त तपस्वी, तत्ततवे—तप से तपे हुए,

घोरतवे—घोर तपस्वी, महातवे—महा तपस्वी, उराले—उदार, घोरगुणे—महान गुणों वाले, घोरतवस्वी—घोर तपस्वी, घोरबंभचेरवासी—उग्र ब्रह्मचर्य व्रत के धारक, उच्छूद्धसरीरे—शारीरिक मोह से रहित अथवा शरीर त्यागी, संखित्तविउलतेउलेस्से—तेजोलेश्या की विशाल शक्ति को समेटे हुए, छट्ठं छट्ठेणं—षष्ठ भक्त अर्थात् बेले-बेले के, अणिक्खित्तेणं—निरन्तर, तवोकम्पेणं—तपानुष्ठान, संजमेणं—संयम, तवसा—तथा अनशनादि अन्य तपश्चरण के द्वारा, अप्पाणं भावेमाणे—अपनी आत्मा को संस्कारित करते हुए, विहरइ—विचर रहे थे।

भावार्थ—उस काल और उस समय श्रमण भगवान महावीर के प्रधान शिष्य गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति नामक अनगार विचर रहे थे, वे सात हाथ ऊँचे थे, सम-चतुरस्रसंस्थान, वज्रर्षभनाराचसंहनन वाले तथा सुवर्ण पुलक निकष और पद्म के समान गौरवर्ण वाले थे। उग्रतपस्वी, दीप्ततपस्वी, घोरतपस्वी, महातपस्वी, उदार, महा गुणवान, उत्कृष्ट तपोधन, उग्र ब्रह्मचारी, शरीर से निर्मल और संक्षिप्त की हुई विपुल तेजोलेश्या के धारक थे। निरन्तर बेले तथा अन्य प्रकार के तपानुष्ठान द्वारा आत्मविकास कर रहे थे।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी का वर्णन है। यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक तीर्थंकर के कुछ मुख्य शिष्य होते हैं, जिन्हें गणधर कहा जाता है। भगवान महावीर के ११ गणधर थे, उनमें इन्द्रभूति प्रथम एवं ज्येष्ठ थे। वे महातपस्वी तथा विनय-सम्पन्न थे। प्रस्तुत पाठ में दिया गया प्रत्येक विशेषण उनके महत्वपूर्ण गुणों को प्रकट करता है।

इन्द्रभूति—गौतम स्वामी का वैयक्तिक नाम इन्द्रभूति था, गौतम उनका गोत्र था। व्यवहार में अधिकतर गोत्र का प्रयोग होने से उनका नाम ही गौतम प्रसिद्ध हो गया। भगवान् महावीर भी उन्हें 'गोयमा' अर्थात् 'हे गौतम' शब्द द्वारा सम्बोधित करते थे।

अणगारे—इस शब्द का अर्थ है साधु एवं मुनि। जैन धर्म में साधना के २ रूप बताए गए हैं। (१) श्रावक के रूप में जहाँ गृह-सम्पत्ति तथा सूक्ष्म हिंसादि का त्याग नहीं होता है। (२) साधु का इनका पूर्णतया त्याग होता है। श्रावक को सागार कहा जाता है। आगार के २ अर्थ हैं—(१) घर या (२) व्रत धारण में अमुक छूट। इन दोनों का परित्याग होने के कारण मुनि को अनगार कहा जाता है।

सत्तुस्सेहे—(सत्तोत्सेधः) इसमें गौतम स्वामी की शारीरिक सम्पत्ति का वर्णन है। उत्सेध का अर्थ है—ऊँचाई। वे सात हाथ ऊँचे थे।

समचउरंस-संठाण-संठिए—(समचतुरस्रसंस्थान संस्थितः) जैन धर्म में शरीर की रचना नामकर्म के उदय से मानी जाती है। नामकर्म की अठानवे प्रकृतियाँ हैं, उन्हीं में ६ संस्थान तथा ६ संहननों का

वर्णन आता है। संस्थान का अर्थ है शरीर की रचना, इसका मुख्य सम्बन्ध बाह्य आकार से है। किसी का शरीर सुडौल होता है अर्थात् हाथ-पांव आदि अंग संतुलित एवं सुरूप होते हैं और किसी का बेडौल। इसी आधार पर ६ संस्थान बताए गए हैं, उनमें समचतुरस्रसंस्थान सर्वश्रेष्ठ है। इसका अर्थ है सिर से पैरों तक समस्त अङ्गों का एक दूसरे के अनुरूप एवं सुन्दर होना।

वज्र-रिसह-नाराय-संघयणे—(वज्रर्षभ-नाराच-संहननः) संहनन का अर्थ है—शरीर के अंगों का संगठन। उदाहरण के रूप में किसी का शारीरिक संगठन इतना दुर्बल होता है कि थोड़ा-सा झटका लगने पर अङ्ग अपने स्थान से हट जाते हैं और किसी के इतने मजबूत होते हैं कि किसी भी परिस्थिति में अपना स्थान नहीं छोड़ते। इसी आधार पर ६ संहनन बताए गए हैं और इनमें शारीरिक सन्धियों की बनावट का वर्णन है जो शरीर शास्त्र के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वज्रऋषभनाराच संहनन सर्वोत्तम माना गया है, और यह तीर्थंकर, चक्रवर्ती एवं अन्य महापुरुषों के होता है। इसमें हड्डियाँ तीन प्रकार से मिली हुई होती हैं। (१) नाराच अर्थात् मर्कट बन्ध अर्थात् एक हड्डी दूसरी हड्डी में कुण्डे की तरह फँसी हुई होती है, (२) ऋषभ—अर्थात् उस बन्धन पर वेष्टन पट्ट चढ़ा रहता है, (३) कीलक—अर्थात् पूरे जोड़ में कील लगी रहती है। वज्रऋषभनाराच संहनन में ये बन्ध पूर्ण रूप में होते हैं। इसके विपरीत अन्य संहननों में किसी में आधा कील होता है किसी में होता ही नहीं, किसी में वेष्टनपट्ट नहीं होता और किसी में हड्डियाँ मर्कटबन्ध के स्थान पर यों ही आपस में सटी रहती हैं और अस्थिबन्ध उत्तरोत्तर शिथिल होता जाता है।

कणग-गोरे—(कणकपुलकनिकषपद्मगौरः) इसमें भगवान गौतम के शरीर का वर्ण बताया गया है। वे सुवर्णपुलक निकष अर्थात् कसौटी पर खिंची हुई सुवर्ण रेखा तथा पद्म अर्थात् कमल के समान गौर वर्ण के थे।

उग्रतवे—(उग्रतपाः) वे उग्र अर्थात् कठोर तपस्वी थे।

घोरतवे—(घोर-तपाः) वे घोरतपस्वी थे, घोर का अर्थ है कठोर, उन्होंने तपस्या करते समय कभी अपने शरीर के प्रति ममता या दुर्बलता नहीं दिखाई, दूसरों के लिए जो अत्यंत दयालु थे वे ही अपने लिए कठोर थे।

महातवे—(महा-तपाः) वे महा तपस्वी थे। उपरोक्त तीनों विशेषण इस बात को प्रकट करते हैं कि जैन परम्परा में बाह्य एवं आभ्यन्तर सभी प्रकार के तपों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

उराले—(उदारः) वे उदार अर्थात् मनस्वी एवं विशाल हृदय थे। प्रत्येक बात में उनका दृष्टिकोण उच्चतम लक्ष्य की ओर रहता था।

घोरगुणे—(घोरगुणः) वे तपस्या, ज्ञान, कठोर चारित्र्य आदि विशिष्ट गुणों के धारक थे। घोर

शब्द से उन गुणों की ओर संकेत किया गया है जहाँ किसी प्रकार की शिथिलता या दुर्बलता के लिए स्थान नहीं होता।

घोर-तवस्सी-घोरबंभचेरवासी—(घोरतपस्वी-घोरब्रह्मचर्यवासी) इन दोनों विशेषणों में भी यही बताया गया है, कि उनकी तपस्या एवं कठोर ब्रह्मचर्य में किसी प्रकार की शिथिलता या दुर्बलता के लिए अवकाश न था। उन्हें देखकर दूसरे आश्चर्यचकित हो जाते थे।

उच्छूढ सरीरे—(उत्सृष्टशरीरः) उन्होंने अपने शरीर का परित्याग कर रखा था अर्थात् खाना पीना, चलना-फिरना आदि कार्य करने पर भी ममत्व छोड़ रखा था। उपनिषदों में इसी अर्थ को लेकर जनक को वैदेह कहा गया है।

संखित्त-विउल-तेउ-लेस्से—(संक्षिप्तविपुलतेजोलेश्यः) यहां तेजो लेश्या का अर्थ है दूसरों को भस्म कर देने की शक्ति। यह उग्र तपस्या के फलस्वरूप अपने आप प्रकट होती है। गौतम स्वामी में यह शक्ति विपुल अर्थात् प्रचुरमात्रा में विद्यमान थी किन्तु उन्होंने इसे अपने ही शरीर में समेट रखा था। प्रचुर शक्ति होने पर भी उन्होंने उसका कभी प्रयोग नहीं किया। जैन परम्परा में तपोजन्य विभूतियों के लिए गौतम स्वामी को आदर्श माना जाता है।

छट्ठं-छट्ठेणं—(षष्ठषष्ठेन) एक प्रकार की तपस्या है। इसका अर्थ है छः भोजनों का परित्याग, अर्थात् पहले दिन सायंकाल का भोजन न करे, दूसरे दिन तथा तीसरे दिन पूर्ण उपवास रखे। और चौथे दिन प्रातःकालीन भोजन न करे। इस प्रकार इसमें २ दिन का पूर्ण उपवास और दो दिन एक एक समय भोजन करना होता है। गौतम स्वामी इस प्रकार का तप निरन्तर कर रहे थे अर्थात् छट्ट करके पारणा करते थे और फिर छट्ट कर लेते थे। इस प्रकार दीर्घकाल से उनका तप निरन्तर चल रहा था। जम्बूद्वीप प्रजापति की शान्तिचन्द्रीया वृत्ति में गौतम स्वामी का वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—

“अनन्तरोक्त विशेषणे हीनं संहननोऽपिस्यादत् आह ‘वज्ज’ त्ति वज्जर्षभनाराचसंहननः, तत्र नाराचम् उभयतो मर्कटबन्धः, ऋषभः तदुपरिवेष्टनपट्टः, कीलिका—अस्थित्रयस्यापि भेदकमस्थि एवं रूपं संहननं यस्य स तथा, अयं च निन्द्यवर्णोऽपिस्यादत् आह—‘कणग’ त्ति कनकस्य-सुवर्णस्य पुलको—लवस्तस्य यो निकषः कषट्टके रेखारूपः तद्वत् तथा ‘पम्ह’ त्ति अवयवे समुदायोपचारात् पद्म शब्देन पद्मकेसराण्युच्यन्ते तद्वद् गौर इति, अयं च विशिष्ट चरणरहितोऽपिस्यादत् आह उग्रम्—अप्रधृष्यं तपः—अनशनादि यस्य स तथा, यदन्येन चिन्तितुमपि न शक्यते तद्विधेन तपसायुक्त इत्यर्थः, तथा दीप्तं जाज्वल्यमानं दहनं इव कर्मवनगहनदहनं समर्थतया ज्वलितं तपोधर्मध्यानादि यस्य स तथा, तथा तप्तं तपो येन स तथा। एवं हि तेन तप्तं तपो येन सर्वाण्यशुभानि कर्माणि

भस्मसाकृतानीति, तथा महत् प्रशस्तमाशंसादि दोषरहितत्वात् तपो यस्य स तथा, तथा उदारः—प्रधानः अथवा ओरालो—भीष्मः, उग्रादि विशेषेण विशिष्ट तपः करणतः पार्श्वस्थानामल्पसत्त्वानां भयानक इत्यर्थः, तथा घोरो निर्धृणः परीषहेन्द्रियादिरिपुगण विनाशनमाश्रित्य निर्दय इत्यर्थः, अन्ये तु आत्मनिरपेक्षं घोरमाहुः, तथा घोरा—इतरैर्दुर्नुचरागुणा मूलगुणादयो यस्य स तथा घोरैस्तपोभिस्तपस्वी तथा घोरं—दारुणमल्पसत्त्वैर्दुर्नुचरत्वाद् यद् ब्रह्मचर्यं तत्र वस्तुं शीलं यस्य स तथा । 'उच्छूढं'—उज्झितं संस्कारपरित्यागात् शरीरं येन स तथा । संक्षिप्ता—शरीरान्तर्गतत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला विस्तीर्णा अनेक योजन प्रमाण क्षेत्राश्रित वस्तु दहन समर्थत्वात् तेजोलेश्या—विशिष्टतपोजन्य लब्धिर्विशेष प्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा । चतुर्दश—पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य स तथा, तेन तेषां रचितत्वात्, अनेन तस्य श्रुतकेवलितामाह—स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि स्यादत आह—चतुर्ज्ञानोपगतः, मतिश्रुतावधिमनःपर्यायरूप ज्ञानचतुष्कसमन्वित इत्यर्थः । उक्त विशेषणद्वयकलितोऽपि कश्चिन्न समग्रश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति, चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानपतितत्वेन श्रवणात्, अत आह सर्वे च ते अक्षर सन्निपाताश्च-अक्षरसंयोगस्ते ज्ञेयतया सन्ति यस्य स तथा किमुक्तं भवति? या काचिज्जगति पदानुपूर्वी वाक्यानुपूर्वी वा सम्भवन्ति ताः सर्वा अपि जानाति अथवा श्रव्यानि—श्रुतिसुखकारीणि अक्षराणि साङ्गत्येन नितरां वदितुं शीलमस्येति स तथा एवं गुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरिव साक्षादिति कृत्वा शिष्याचारत्वाच्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसामन्तेन विहरतीति योगः, तत्र दूरं—विप्रकृष्टं सामन्तं संनिकृष्टं तद्व्यतिषेधाददूरसामन्तं तत्र नातिदूरं नातिनिकटेत्यर्थः, किं विधः सन् तत्र विहरतीति? ऊर्ध्वं जानुनी यस्य स तथा, शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिक निषद्याया अभावाच्चोत्कुटुकासन इत्यर्थ, अधः शिरो—नोर्ध्वं तिर्यग् वा निक्षिप्त दृष्टिः, किन्तु नियत भूभागनियमितदृष्टिरित्यर्थः, ध्यान धर्म शुक्लं वा तदेव कोष्ठः—कुशूलो ध्यानकोष्ठस्तमुपागतः । यथाहिकोष्ठके धान्यं निक्षिप्तमविप्रसृतं भवति एवं भगवानपि ध्यानतोऽविप्रकीर्णोन्द्रियान्तः करणवृत्तिरित्यर्थः, संयमेन—पञ्चाश्रवनिरोधादिलक्षणेन, तपसा-अनंशनादिना च शब्दोऽत्र समुच्चयार्थो लुप्तो द्रष्टव्यः, संयमतपसोग्रहणं चानयोः प्रधानभोक्षाङ्गत्वव्यपनार्थं प्राधान्यं च संयमस्य नवकर्मानुपादान हेतुत्वेन तपसश्च पुराणकर्मनिर्जरा हेतुत्वेन, भवति चाभिनवकर्मानुपादानात् पुराणकर्म क्षपणाच्च सकलकर्मक्षयलक्षणे मोक्ष इति, आत्मानं भावयन्—वासयन् विहरति तिष्ठतीत्यर्थः ।”

भावार्थ—उक्त संदर्भ में श्री गौतम स्वामी की शारीरिक एवं आध्यात्मिक सम्पदा संक्षेप में वर्णित है । “जैसे—भगवान गौतम की संहनन वज्रर्षभनाराच थी जो कि अत्यन्त दृढ़ एवं शक्तिशाली होती है । उनके शरीर का वर्ण कसौटी पर धिसे हुए सोने की रेखा तथा पद्म कमल के पराग की भान्ति गौर और मनोहारी था । इस प्रकार विशिष्ट सौन्दर्य से युक्त होने पर भी उग्र तप करते थे जिसका साधारण व्यक्ति चिन्तन भी नहीं कर सकते । वे तप तथा धर्म ध्यान की जाज्वल्यमान ज्वाला से कर्म

महावन को दहन कर रहे थे। वे आशंसारहित तपस्तेज से उदीप्त थे। उनके महातपश्चरण को देखकर पार्श्वस्थ एवं हीनसत्त्व व्यक्ति भयभीत होते थे। वे इन्द्रिय और परीषह शत्रुओं को निर्दयता से दमन कर रहे थे। उन्होंने शरीर-सत्कार और ममत्व को छोड़कर दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया हुआ था। भगवान गौतम सदैव मूल तथा उत्तर गुणों की आराधना में तत्पर रहते थे। उग्र तप एवं भीष्म ब्रह्मचर्य व्रत से योजनों परिमाण क्षेत्र में स्थित वस्तुओं को भस्म करने में समर्थ तेजोलेश्या लब्धि-विशेष उत्पन्न हो गई थी। जिसको उन्होंने अपने अध्यात्म में संक्षिप्त किया हुआ था।

चौदह पूर्व के रचियता होने से वे चतुर्दश पूर्वधर थे। सभी चतुर्दश पूर्वधारी भी समग्रश्रुत के धारक नहीं होते, उनमें भी षाड्गुण्य हानि-वृद्धियुक्त तथा अवधिज्ञान के विकल होते हैं। परन्तु गौतम मति, श्रुति, अवधि और मनःपर्याय चार ज्ञान सम्पन्न थे। सूत्रकर्ता ने 'सव्वक्खरसन्निवाई' पद दिया है अर्थात् उनका ज्ञान इतना विमल व विशिष्ट था कि संसार में जितनी भी पदानुपूर्वी, वाक्यानुपूर्वी सम्भव हो सकती हैं, एक पद या एक वाक्य मात्र कहने से समस्त विषय को वे सम्यक् प्रकार से जान लेते थे।

श्री गौतम ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार सम्पन्न होते हुए भी निरभिमानी और विनय की जीती जागती मूर्ति थे। अतः इन विशेषताओं से युक्त, सचित्त भूमि वर्ज कर उल्लुटुक आसन ऊर्ध्वजानु और शिर कुछ झुकाए भूमिगत दृष्टि, धर्मध्यान को ध्याते हुए न अति दूर न अति समीप, मोक्ष-हेतु संयम और तप से अपनी आत्मा को सुवासित करते हुए भगवान महावीर के चरणों में विचरण कर रहे थे।”

गौतम स्वामी का भिक्षा के लिए जाना—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, विइयाए पोरिसीए ज्ञाणं झियाइ, तइयाए पोरिसीए अतुरियं अचवलं असंभंते मुहपत्तिं पडिलेहेइ, पडिलेहिता, भायण-वत्थाइं पडिलेहेइ, पडिलेहिता भायण वत्थाइं पमज्जइ, पमज्जित्ता भायणाइं उग्गाहेइ, उग्गाहिता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी—“इच्छामि णं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए छट्ठक्खमणपारणगंसि वाणियग्गामे नयरे उच्चनीय मज्झिमाइं कुलाइं घर समुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए।” अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह” ॥ ७७ ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमः षष्ठक्षपणपारणके प्रथमायां—पौरुष्यां स्वाध्यायं करोति, द्वितीयायां पौरुष्यां ध्यानं ध्यायति, तृतीयायां पौरुष्यामत्वरितमचपलमसम्भ्रान्तो मुखवस्त्रिकां

प्रतिलेखयति, प्रतिलेख्य भाजन वस्त्राणि प्रतिलेखयति, प्रतिलेख्य भाजनवस्त्राणि प्रमार्जयति प्रमार्ज्य भाजनान्युद्गृह्णाति; उद्गृह्य येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—“इच्छामि खलु भदन्त! युष्माभिरभ्यनुज्ञातः षष्ठक्षपणपारणके वाणिज्यग्रामनगरे उच्च-नीच-मध्यमानि कुलानि गृह समुदानस्य भिक्षाचर्यायै अटितुम्।” “यथासुखं देवानुप्रिय! मा प्रतिबन्धं कुरु।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से भगवं गोयमे—भगवान गौतम ने, छट्ठक्खमणपारणगंसि—षष्ठक्षपणा के अर्थात् बेला उपवास के पारणे के दिन, पढमाए पोरिसीए—प्रथम पौरुषी में, सज्जायं करेइ—स्वाध्याय किया, बिइयाए पोरिसीए—दूसरी पौरुषी में, झाणं झियाइ—ध्यान किया, तइयाए पोरिसीए—तीसरी पौरुषी में, अतुरियं—शीघ्रता-रहित, अचवलं—चपलता रहित, असंभंते—असम्भ्रान्त होकर, मुहपत्तिं पडिलेहेइ—मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना की, पडिलेहिता—प्रतिलेखना करके, भायण वत्थाइं—पात्र और वस्त्रों की, पडिलेहेइ—प्रतिलेखना की, पडिलेहिता—प्रतिलेखना करके, भायण वत्थाइं—पात्र और वस्त्रों का, पमज्जइ—प्रमार्जन किया, पमज्जिता—प्रमार्जन करके, भायणाइं—पात्रों को, उग्गाहेइ—उठाया, उग्गाहिता—उठाकर, जेणेव समणे भगवं महावीरे—जहाँ श्रमण भगवान महावीर थे, तेणेव—वहाँ, उवाग्गच्छइ—आए, उवाग्गच्छिता—आकर, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान महावीर को, वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके, एवं वयासी—इस प्रकार कहा, भंते—भगवन्! तुब्भेहिं—आपकी, अब्भणुण्णाए—अनुमति प्राप्त होने पर, छट्ठक्खमणपारणगंसि—बेला पारणा के लिए, वाणियग्गामे नयरे—वाणिज्यग्राम नगर में, उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं—उच्च-नीच और मध्यम कुलों की, घरसमुदानस्स—गृहसमुदानी-सामूहिक घरों से, भिक्खायरियाए—भिक्षाचर्या के लिए, अडित्तए—पर्यटन करना, इच्छामि णं—चाहता हूँ, भगवान ने उत्तर दिया, देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रिय! अहासुहं—जैसे तुम को सुख हो, मा पडिबन्धं करेह—विलम्ब न करो।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान गौतम ने छट्ठक्खमण—बेला पारणे के दिन पहली पौरुषी में स्वाध्याय किया, दूसरी पौरुषी में ध्यान किया, तीसरी पौरुषी में बिना शीघ्रता के, चपलता एवं उद्वेग के बिना शान्त चित्त से मुख वस्त्रिका एवं पात्रों व वस्त्रों की प्रतिलेखना की और परिभार्जन किया। तत्पश्चात् जहाँ श्रमण भगवान महावीर थे वहाँ पहुँचे, उन्हें वन्दना नमस्कार किया और पूछा, भगवन्! आपकी अनुमति प्राप्त होने पर मैं बेला पारणे के लिए वाणिज्य ग्राम में उच्च, मध्यम तथा अधम सभी कुलों में समुदानीकी भिक्षाचर्या करना चाहता हूँ। हे देवानुप्रिय! जैसे तुम्हें सुख हो, विलम्ब मत करो, भगवान ने उत्तर दिया।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में पारणे के दिन का वर्णन किया गया है। गौतम स्वामी ने पहले प्रहर में

शास्त्रों का स्वाध्याय किया, दूसरे में ध्यान और तीसरे में मुखवस्त्रिका, पात्र एवं वस्त्रों की प्रतिलेखना की, तदनन्तर भगवान् महावीर के पास पहुंचे। वन्दना नमस्कार के पश्चात् भिक्षार्थ वाणिज्यग्राम में जाने की अनुमति मांगी। 'पट्टमाए पोरिसीए-प्रथमायां पौरुष्यां' पौरुषी शब्द का अर्थ पहर है, इसका यौगिक अर्थ है पुरुष की छाया के आधार पर निश्चित किया गया काल परिमाण। हमारी छाया प्रातःकाल लम्बी होती है और घटते-घटते मध्याह्न में संक्षिप्त हो जाती है, दोपहर के बाद फिर बढ़ने लगती है। इसी आधार पर जैनकाल गणना में दिन को चार पोरिसिओं में विभक्त किया है। आजकल भी जैन साधु एवं श्रावकों द्वारा काल मर्यादा स्थिर करने की परम्परा विद्यमान है। जैन शास्त्रों में पोरिसी नाम का प्रत्याख्यान भी है, जिसमें व्यक्ति सूर्योदय के पश्चात् एक प्रहर या दो प्रहर तक अन्न एवं जल ग्रहण न करने का निश्चय करता है। प्रथम प्रहर में स्वाध्याय तथा द्वितीय पहर में ध्यान। इसी प्रकार भगवान् गौतम स्वामी दो प्रहर तक आत्मचिन्तन में लगे रहे। तृतीय प्रहर प्रारम्भ होने पर अपना व्रत पूरा किया और प्रतिलेखना आदि दैनिक कार्यों में लग गए। साधारणतया साधुओं के लिए यह विधान है कि प्रतिदिन प्रातः सूर्योदय होने पर और सायं सूर्यास्त से पहले प्रतिलेखन करनी चाहिए, किन्तु गौतम स्वामी भोजन आदि का परित्याग करके जब तक एकान्त आत्म चिन्तन में लीन रहे तब तक अन्य दैनिक कार्यों को स्थगित कर दिया।

साधारणतया भिक्षा का समय—पहला प्रहर बीतने पर होता है, किन्तु गौतम स्वामी ने छट्ट भक्त कर रखा था, उसकी मर्यादा के अनुसार चौथे दिन भी दो प्रहर से पहले भोजन नहीं करना चाहिए इसी लिए वे तीसरे प्रहर भिक्षा के लिए गए।

उच्च-नीच—भिक्षा के लिए घूमते समय गौतम स्वामी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि जिस घर में वे जा रहे हैं वे सम्पन्न हैं या दरिद्र, बिना भेदभाव के वे प्रत्येक घर में घूमने लगे।

सामुदानीकी—भिक्षा के लिए घूमते समय कई प्रकार की चर्याओं का विधान है। उदाहरण के रूप में गौमूत्रिका नाम की एक चर्या है। इसमें साधु गली में घूमता है। एक ओर के एक घर में भिक्षा लेकर दूसरी ओर चला जाता है और फिर उसी ओर आकर दूसरे घर से भिक्षा लेता है। सामुदानीकी चर्या में एक ही किनारे के बीच में बिना किसी घर को छोड़े भिक्षा लेता चला जाता है। गौतम स्वामी ने सामुदानीकी भिक्षा की।

अतुरियं—इत्यादि, दो दिन के उपवास का पारणा होने पर भी गौतम स्वामी ने सारे दैनिक कृत्य स्थिरता एवं धैर्यपूर्वक किए, उनमें न किसी प्रकार की त्वरा थी, न चपलता और न सम्भ्रम अर्थात् घबराहट। साधक के लिए यह महत्वपूर्ण बात है कि वह अपनी साधना काल में तथा उसके पश्चात् भी धैर्य एवं दृढ़ता से काम ले।

प्रतिलेखना आदि करके गौतम स्वामी भगवान् महावीर के पास गए। वन्दना नमस्कार किया

और भिक्षार्थं वाणिज्यग्राम में घूमने की अनुज्ञा माँगी। भगवान् ने उत्तर दिया—‘अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह’ अर्थात् हे देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा सुख हो, प्रतिबद्ध अर्थात् रुकावट मत आने दो। भगवान्-महावीर का यह उत्तर जैनागमों में सर्वत्र मिलता है, किसी भी यथाप्राप्त उचित कार्य के लिए अनुज्ञा माँगने पर वे कहा करते थे—‘जैसा तुम्हें सुख हो, देर मत करो।’ यह उत्तर एक ओर इस बात को प्रकट करता है कि वे शुभ कार्य के लिए भी अपनी आज्ञा किसी पर लादते नहीं थे, साथ ही देरी मत करो कहकर उसके उत्साह को बढ़ाते भी थे।

मूलम्—तए णं भगवं गोयमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए-समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमिन्ता अतुरियमचवलमसंभंते जुगंतर परिलोयणाए दिट्ठीए पुरओ इरियं सोहेमाणे जेणेव वाणियग्गामे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिन्ता वाणियग्गामे नयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घर समुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ ॥ ७८ ॥

छाया—ततः खलु भगवान् गौतमः श्रमणेन भगवता महावीरेणाभ्यनुज्ञातः सन् श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके दूतिपलाशाच्चैत्याद्यतिनिष्कामति, प्रतिनिष्कम्यात्वरितमचपलमसम्भ्रान्तो युगान्तर-परिलोकनया दृष्ट्या पुरत ईर्या शोधयन् येनैव वाणिज्यग्रामं नगरं तेनैवोपागच्छति, उपागत्य वाणिज्यग्रामे नगरे उच्चनीयमध्यमानि-कुलानि गृहसमुदानस्य-भिक्षाचर्यायै अटति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, भगवं गोयमे—भगवान् गौतम, समणेणं भगवया महावीरेणं—श्रमण भगवान् महावीर से, अब्भणुण्णाए समाणे—अनुमति मिल जाने पर, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के, अंतियाओ—पास से, दूइपलासाओ—दूतिपलाश, चेइयाओ—चैत्य से, पडिणिक्खमइ—निकले, पडिणिक्खमिन्ता—निकलकर, अतुरियं—बिना शीघ्रता किए, अचवले—चपलता रहित, असंभंते—असम्भ्रान्त होकर, अर्थात् जुगंतर परिलोयणाए दिट्ठीए—युगपरिमाण अवलोकन करने वाली दृष्टि से, पुरओ—आगे की ओर, इरियं—ईर्या का, सोहेमाणे—शोधन करते हुए, जेणेव वाणियग्गामे नयरे—जहाँ वाणिज्यग्राम नगर था, तेणेव—वहाँ, उवागच्छइ—पहुँचे, उवागच्छिन्ता—पहुँचकर, वाणियग्गामे नयरे—वाणिज्य ग्राम नगर में, उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं—उत्तम, मध्यम, अधम कुलों में, घरसमुदाणस्स—गृह समुदानी, भिक्खायरियाए—भिक्षाचर्या के लिए, अडइ—श्रमण करने लगे।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम भगवान् महावीर की अनुमति मिलने पर दूतिपलाश उद्यान से निकले, चपलता तथा घबराहट के बिना धैर्य एवं शान्ति के साथ साढ़े तीन हाथ तक मार्ग पर दृष्टि डालते हुए वाणिज्यग्राम नगर में आए, और उच्च, नीच एवं मध्यम कुलों में यथाक्रम भिक्षाचर्या के लिए घूमने लगे।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में गौतम स्वामी के भिक्षार्थ पर्यटन का वर्णन है। पिछले पाठ में प्रतिलेखना से पहले जो तीन क्रियाविशेषण दिए गए थे वे यहां पुनः दिए गए हैं अर्थात् भिक्षा के लिए घूमते समय भी गौतम स्वामी में किसी प्रकार की त्वरा, चपलता या घबराहट नहीं थी।

जुगन्तर—युग का अर्थ है गाड़ी का जुवा जो बैलों के कन्धे पर रखा जाता है, उसकी लम्बाई साढ़े तीन हाथ मानी जाती है। साधु के लिए यह विधान है कि वह चलते समय सामने की ओर साढ़े तीन हाथ तक भूमि देखता चले, इधर-उधर या बहुत दूर न देखे।

इरियं सोहेमाणे—साधु के आचार में सत्रह प्रकार का संयम बताया गया है—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और चार कषायों का दमन। समिति का अर्थ है—चलने, फिरने, बोलने, भिक्षा करने तथा वस्त्र-पात्र आदि को उठाने, रखने में सावधानी। सर्वप्रथम इर्यासमिति है, इसका अर्थ है—चलने में सावधानी। प्रस्तुत पंक्ति में यह बताया गया है कि गौतम स्वामी इर्यासमिति का शोधन या पालन करते हुए घूमने लगे। वाणिज्य ग्राम में वे उच्च-नीच तथा मध्यम समस्त कुलों में सामुदायिकी भिक्षाचर्या करने लगे।

गौतम द्वारा आनन्द की चर्याविषयक समाचार का श्रवण—

मूलम्—तएणं से भगवं गोयमे वाणियग्गामे नयरे, जहा पण्णत्तीए तहा, जाव भिक्खायरियाए अडमाणे अहापज्जत्तं भत्तपाणं सम्मं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहित्ता वाणियग्गामाओ पडिणिग्गच्छइ, पडिणिग्गच्छित्ता कोल्लायास्स सन्निवेशस्स अदूरसामंतेणं वीईवयमाणे, बहुजण सद्दं निसामेइ, बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ४—“एवं खलु देवानुप्पिया! समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तेवासी आणंदे नामं समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिम जाव अणवकंखमाणे विहरइ ॥ ७६ ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमो वाणिज्यग्रामे नगरे—यथाप्रज्ञप्त्यां यावद् भिक्षाचर्यायै अटन् यथा-पर्याप्तं भक्तपानं सम्यक् प्रतिगृह्णाति, प्रतिगृह्य वाणिज्यग्रामात् प्रतिनिर्गच्छति, प्रतिनिर्गत्य कोल्लाकस्य सन्निवेशस्याऽदूरसामन्ते व्यतिव्रजन् बहुजनशब्दं निशाम्यति। बहुजनोऽन्यान्यस्मै एवमाख्याति ४—“एवं खलु देवानुप्रियाः! श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तेवासी आनन्दो नाम श्रमणोपासकः पौषधशालायामपश्चिम यावत् अनवकांक्षन् विहरति।

भावार्थ—तए णं—तदनन्तर, से—उस, भगवं गोयमे—भगवान् गौतम ने, वाणियग्गामे नयरे—वाणिज्यग्राम नाम में, जहा पण्णत्तीए तहा—यथा व्याख्याप्रज्ञप्ति में कल्प है, उसी प्रकार, जाव—यावत्, भिक्खायरियाए—भिक्षाचर्या के लिए, अडमाणे—भ्रमण करते हुए, अहापज्जत्तं—यथापर्याप्त, भत्तपाणं—भक्तपान, सम्मं—सम्यक् रूप से, पडिग्गाहेइ—ग्रहण किया,

पडिग्गाहिता—ग्रहण करके, वाणियग्गाभाओ—वाणिज्यग्राम नगर से, पडिणिग्गच्छइ—निकले, पडिणिग्गच्छिता—निकल करके, कोल्लायस्स सन्निवेशस्स—जब वे कोल्लाक सन्निवेश के, अदूरसामंतेणं—पास से, वीइवयमाणे—जा रहे थे तो, बहुजणसइं—बहुत से मनुष्यों को, निसामेइ—यह कहते हुए सुना, बहुजणो—बहुत मनुष्य, अन्नमन्नस्स—परस्पर, एवमाइक्खइ—इस प्रकार कह रहे थे—देवानुप्पिया—हे देवानुप्रियो! एवं खलु—इस प्रकार, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर का, अंतेवासी—शिष्य, आणंदे नामं समणोवासए—आनन्द नामक श्रावक, पोसहसालाए—पौषध शाला में, अपच्छिम जाव अणवकंखमाणे—अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना किए हुए यावत् मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए, विहरइ—विचर रहा है।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम न वाणिज्यग्राम नगर में व्याख्याप्रज्ञप्ति में वर्णित साधुजनोचित कल्प के अनुसार भिक्षाचर्या के लिए भ्रमण करते हुए यथापर्याप्त अन्नजल ग्रहण किया और वाणिज्यग्राम नगर से बाहर निकलकर कोल्लाक सन्निवेश के पास पहुँचे। बहुत से मनुष्यों को बात करते हुए सुना कि—हे देवानुप्रियो! श्रमण भगवान् महावीर का शिष्य आनन्द श्रमणोपासक पौषधशाला में अपश्चिम-मारणान्तिक संलेखना किए हुए यावत् जीवन-मरण की आकांक्षा न रखते हुए विचर रहा है।

गौतम का आनन्द के पास पहुँचना—

मूलम्—तए णं तस्स गोयमस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म अयमेयारूवे अज्झत्थिए ४ “तं गच्छामि णं आणंदं समणोवासयं पासामि।” एवं संपेहेइ, संपेहित्ता जेणेव कोल्लाए सन्निवेशे जेणेव आणंदे समणोवासए, जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ ॥ ८० ॥

छाया—ततः खलु तस्य गौतमस्य बहुजनस्यान्तिके एतदर्थं श्रुत्वा निशम्यायमेतद्रूप अध्यात्मिकः ४—तद् गच्छामि खलु आनन्दं श्रमणोपासकं पश्यामि, एवं संप्रेक्षते, संप्रेक्ष्य येनैव कोल्लाकः सन्निवेशो येनैव आनन्दः श्रमणोपासकः येनैव पौषधशाला तेनैव उपागच्छति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, तस्स गोयमस्स—गौतम स्वामी को, बहुजणस्स अंतिए—बहुत लोगों से, एयमट्ठं—यह बात, सोच्चा—सुनकर, निसम्म—ग्रहण करके, अयमेयारूवे—इस प्रकार, अज्झत्थिए—विचार आया कि, तं गच्छामि णं—मैं जाऊँ और, आणंदं समणोवासयं—आनन्द श्रमणोपासक को, पासामि—देखूँ, एवं संपेहेइ—इस प्रकार विचार किया, संपेहित्ता—विचार करके, जेणेव कोल्लाए सन्निवेशे—जिस ओर कोल्लाक सन्निवेश था, जेणेव पोसहसाला—और जिस ओर पौषधशाला थी, जेणेव आणंदे समणोवासए—जहाँ आनन्द श्रावक था, तेणेव—वहाँ, उवागच्छइ—आए।

भावार्थ—अनेक मनुष्यों से यह बात सुनकर गौतम जी के मन में यह विचार आया कि मैं इधर-का-इधर ही जाऊँ, और आनन्द श्रमणोपासक को देखूँ। यह विचार कर वे कोल्लाक सन्निवेश में स्थित पौषधशाला में बैठे हुए आनन्द श्रावक के पास आए।

टीका—भिक्षार्थ घूमते हुए गौतम स्वामी कोल्लाक सन्निवेश में पहुँचे। वहाँ उन्होंने परस्पर चर्चा करते हुए लोगों से आनन्द के विषय में सुना कि किस प्रकार उसने संलेखना व्रत ले रखा है, और आमरण भोजन तथा पानी का परित्याग कर दिया है। उनके मन में भी आनन्द के पास जाने की उत्कण्ठा जागृत हुई।

आनन्द का गौतम स्वामी को अपने पास आने का निमन्त्रण—

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हड्ड जाव हियए भगवं गोयमं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—“एवं खलु भन्ते! अहं इमेणं उरालेणं जाव धमणिसंतए जाए, नो संचाएमि देवाणुप्पियस्स अंतियं पाउब्भवित्ता णं तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाए अभिवंदित्तए, तुब्भे णं भन्ते! इच्छाकारेणं अणभिओगेणं इओ चेव एह, जा णं देवाणुप्पियाणं तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदामि नमंसामि” ॥ ८१ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासको भगवन्तं गौतमं ईर्यमाणं पश्यति। दृष्ट्वा हृष्ट—यावद् हृदयो भगवन्तं गौतमं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—“एवं खलु भदन्त! अहमनेनोदारेण यावद् धमनिसन्ततो जातः, नो शक्नोमि देवानुप्रियस्यान्तिकं प्रादुर्भूय त्रिःकृत्वो मूर्ध्ना पादावभिवन्दितुम्। यूयं भदन्त! इच्छाकारेणाऽनभियोगेनेतश्चैव एत, यस्मात् खलु देवानुप्रियाणां त्रिःकृत्वो मूर्ध्ना पादयोर्वन्दे नमस्यामि।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से आणंदे समणोवासए—उस आनन्द श्रमणोपासक ने, भगवं गोयमं—भगवान् गौतम को, एज्जमाणं—आते हुए, पासइ—देखा, पासित्ता—देखकर, हड्ड जाव हियए—हृष्ट-तुष्ट यावत् प्रसन्न हृदय होकर, भगवं गोयमं—भगवान् गौतम को, वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके, एवं वयासी—इस प्रकार कहा, भंते!—हे भगवन्! एवं खलु—इस प्रकार, अहं—मैं, इमेणं उरालेणं—इस उदार तपस्या से, जाव—यावत्, धमणिसंतए—धमनियों से व्याप्त, जाए—हो गया हूँ, अतः, देवाणुप्पियस्स—देवानुप्रिय के, अंतियं—पास में, पाउब्भवित्ता णं—आकर, तिक्खुत्तो—तीन बार, मुद्धाणेणं—मस्तक से, पाए—पैरों को, अभिवंदित्तए—वन्दना करने में, नो संचाएमि—समर्थ नहीं हूँ, भंते!—हे भगवन् आप ही, इच्छाकारेणं—स्वेच्छापूर्वक, अणभिओगेणं—और बिना किसी दबाव के, इओ चेव—यहाँ,

एह—पधारिए, जा णं—जिससे मैं, देवानुप्पियाणं—देवानुप्रिय को, तिक्खुत्तो—तीन बार, मुद्धाणेणं—मस्तक द्वारा, पाएसु—चरणों में, वंदामि नमंसांमि—वन्दना-नमस्कार करूं।

भावार्थ—आनन्द श्रावक ने भगवान् गौतम को आते हुए देखा और अतीव प्रसन्न होकर उन्हें नमस्कार कर इस प्रकार कहा—“हे भगवन्! मैं उग्रतपस्या के कारण अतीव कृश हो गया हूं, कि बहुना, सारा शरीर उभरी हुई नाड़ियों से व्याप्त हो गया है। अतः देवानुप्रिय के समीप आने तथा तीन बार मस्तक झुकाकर चरणों में वन्दना करने में असमर्थ हूं। भगवन्! आप ही स्वेच्छापूर्वक बिना किसी दबाव के मेरे पास पधारिए, जिससे देवानुप्रिय के चरणों में तीन बार मस्तक झुकाकर वन्दना कर सकूँ।

टीका—गौतम स्वामी को आया जानकर आनन्द अत्यन्त प्रसन्न हुआ। किन्तु उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि उठकर उनके सामने जाता और वन्दना नमस्कार करता। आनन्द उपासक ने लेटे ही लेटे प्रसन्नता प्रकट की और चरण स्पर्श करने के लिए उन्हें समीप आने की प्रार्थना की।

इच्छाकारेणं—इसका अर्थ है स्वेच्छापूर्वक, जैन आगमों में गुरुजनों से किसी प्रकार का अनुरोध करते समय इस शब्द का प्रयोग मिलता है। **अणभियोगेणं**—अभियोग का अर्थ है—बलप्रयोग या बाध्य करना। प्रस्तुत सूत्र में आनन्द गौतम स्वामी से प्रार्थना करते समय अनभियोग शब्द का प्रयोग करता है। इस पाठ से तीन बातें प्रकट होती हैं—१. गौतम स्वामी के आने पर आनन्द का प्रसन्न होना, वह तपस्या से कृश हो गया था, और सारे शरीर पर नसें उभर आई थीं, फिर भी उसके मन में शान्ति थी और गुरुजन के आने पर उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठा। २. वह इतना कृश हो गया था कि शय्या से उठने की सामर्थ्य ही नहीं रही, फिर भी गौतम स्वामी के प्रति आदर एवं भक्ति प्रकट करने की पूरी भावना थी। इसीलिए उसने संकोच के साथ उन्हें अपने पास आने की प्रार्थना की। इसका अर्थ है श्रावक को सामान्यतः गुरुजनों के समीप जाकर ही वन्दना नमस्कारादि करना चाहिए, किन्तु अशक्ति आदि के कारण अपवाद रूप में इस प्रकार की प्रार्थना कर सकते हैं। ३. गुरुजनों से प्रार्थना आदेश के रूप में नहीं की जाती इसीलिए यहाँ ‘इच्छाकारेणं और अनभियोगेणं’ शब्दों का प्रयोग है।

आनन्द द्वारा अपने अवधिज्ञान की सूचना—

मूलम्—तएणं से भगवं गोयमे जेणेव आणंदे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ ॥ ८२ ॥

तए णं से आणंदे भगवओ गोयमस्स तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—“अत्थि णं भंते! गिहिणो गिहमज्झावसंतस्स ओहिनाणं समुपज्जइ?” “हंता अत्थि”, “जइ णं भंते! गिहिणो जाव समुपज्जइ, एवं खलु भंते!

ममवि गिहिणो गिहमज्झावसंतस्स ओहिनाणे समुप्पण्णे—पुरत्थिमे णं लवणसमुद्दे पंचजोयण—सयाइं जाव लोलुयच्चुयं नरयं जाणामि पासामि ॥ ८३ ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमः येनैव आनन्दः श्रमणोपासकः तेनैव उपागच्छति ।

ततः खलु स आनन्दो भगवतो गौतमस्य त्रिःकृत्वो मूर्ध्ना पादौ वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—“अस्ति खलु भदन्त! गृहिणो गृहमध्याऽऽवसतोऽवधिज्ञानं समुत्पद्यते?” “हन्त! अस्ति ।”

“यदि खलु भदन्त! गृहिणो यावत्समुत्पद्यते, एवं खलु भदन्त! ममापि गृहिणो गृहमध्याऽऽवसतोऽवधिज्ञानं समुत्पन्नम्—पौरस्त्ये खलु लवणसमुद्रे पञ्चयोजन-शतानि यावत् लोलुपाच्युतं नरकं जानामि पश्यामि ।

शब्दार्थ—तए णं—तत्पश्चात्, से भगवं गोयमे—भगवान् गौतमं, जेणेव आणंदे समणोवासए—जहाँ आनन्द श्रमणोपासक था, तेणेव—वहाँ, उवागच्छइ—आए ।

तए णं—तदनन्तर, से आणंदे—आनन्द ने, भगवओ गोयमस्स—भगवान् गौतम को, तिक्खुत्तो—तीन बार, मुद्धाणेणं—मस्तक से, पाएसु—पैरों में, वंदइ—वन्दना की, नमंसइ—नमस्कार किया, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके, एवं वयासी—इस प्रकार कहा, अत्थि णं भंते—भगवन्! क्या, गिहिणो—गृहस्थ को, गिहमज्झावसंतस्स—घर में रहते हुए, ओहिनाणं—अवधिज्ञान, समुपज्जइ?—उत्पन्न हो सकता है? गौतम ने उत्तर दिया, हंता अत्थि—हाँ हो सकता है, पुनः आनन्द ने कहा—भंते!—हे भगवन्, जइ णं—यदि, गिहिणो जाव समुपज्जइ—गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है तो, भंते!—हे भगवन्, एवं खलु—इस प्रकार, मम वि गिहिणो—मुझे गृहस्थ को भी, गिहमज्झावसंतस्स—घर में रहते हुए को, ओहिनाणे समुप्पण्णे—अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, पुरत्थिमे णं—पूर्व की ओर, लवणसमुद्दे—लवण समुद्र. पंच जोयण सयाइं—पाँच सौ योजन, जाव—यावत्, लोलुयच्चुयं—लोलुपाच्युत, नरयं—नरक को, जाणामि पासामि—जानता हूँ, देखता हूँ ।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम आनन्द श्रमणोपासक के पास आए ।

उसने उन्हें तीन बार मस्तक झुकाकर वन्दना नमस्कार किया और पूछा—भगवन्! क्या गृहस्थ को घर में रहते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है? गौतम—“हाँ, आनन्द ! हो सकता है ।” आनन्द—“भगवन् ! यदि गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है, तो मुझे भी अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है । उसके द्वारा मैं पूर्व की ओर लवणसमुद्र में पाँच सौ योजन तक, अधोलोक में लोलुपाच्युत नरक तक जानने तथा देखने लगा हूँ ।

गौतम का संदेह और आनन्द का उत्तर—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे आणंदं समणोवासयं एवं वयासी—“अत्थि णं, आणंदा! गिहिणो जाव समुप्पज्जइ। नो चेव णं एयमहालए। तं णं तुमं, आणंदा! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव तवोकम्मं पडिवज्जाहि” ॥ ८४ ॥

तए णं से आणंदे भगवं गोयमं एवं वयासी—“अत्थि णं, भंते! जिणवयणे संताणं तच्चाणं तहियाणं सब्भूयाणं भावाणं आलोइज्जइ जाव पडिवज्जिज्जइ?” “नो इणट्ठे समट्ठे।”

“जइ णं भंते ! जिण-वयणे संताणं जाव भावाणं नो आलोइज्जइ जाव तवो कम्मं नो पडिवज्जिज्जइ, तं णं भंते ! तुब्भे चेव एयस्स ठाणस्स आलोएह जाव पडिवज्जह ।” ॥ ८५ ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतम आनन्दं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“अस्ति खलु आनन्द! गृहिणो यावत्समुत्पद्यते, नो चैव खलु एतन्महालयं, तत् खलु त्वमानन्द! एतस्य स्थानस्य (विषये) आलोचय यावत्तपः कर्म प्रतिपद्यस्व।”

ततः खलु स आनन्दो भगवन्तं गौतममेवमवादीत्—“अस्ति खलु भदन्त! जिणवचने सतां तत्त्वानां तथ्यानां सद्भूतानां भावानां (विषये) आलोच्यते यावत् प्रतिपद्यते?” गौतमः “नायमर्थः समर्थः।”

(आनन्दः) “यदि खलु भदन्त! जिणवचने सतां यावद् भावानां (विषये) नो आलोच्यते यावत् तपः कर्म नो प्रतिपद्यते, तत् खलु भदन्त! यूयमेवैतस्य स्थानस्य (विषये) आलोचयत यावत् प्रतिपद्यध्वम्।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से भगवं गोयमे—भगवान् गौतम, आणंदं समणोवासयं—आनन्द श्रमणोपासक को, एवं वयासी—इस प्रकार बोले—आणंदा! हे आनन्द!, अत्थि णं गिहिणो जाव समुप्पज्जइ—यह ठीक है कि गृहस्थ को घर में रहते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है!, नो चेव णं एयमहालए—किन्तु इतना विशाल नहीं, तं णं—इसलिए, आणंदा! हे आनन्द!, तुमं—तुम, एयस्स, ठाणस्स—मृषावादर्ूप इस स्थान की, आलोएहि—आलोचना करो, जाव—यावत् उसे शुद्ध करने के लिए, तवोकम्मं—तपस्या, पडिवज्जाहि—स्वीकार करो।

तए णं—तत्पश्चात्, से आणंदे—वह आनन्द, समणोवासए—श्रमणोपासक, भगवं गोयमं—भगवान् गौतम को, एवं वयासी—इस प्रकार बोला, भंते!—हे भगवन्! अत्थि णं—क्या,

जिणवयणे—जिन शासन में, संताणं—सत्य, तच्चाणं—तात्त्विक, तहियाणं—तथ्य तथा, सब्भूयाणं—सद्भूत, भावाणं—भावों के लिए भी, आलोइज्जइ—आलोचना की जाती है?, जाव—और यावत् पडिवज्जिज्जइ—तपःकर्म स्वीकार किया जाता है? गौतम ने उत्तर दिया, नो इण्ठे सम्हे—ऐसा नहीं है, तब आनन्द ने कहा—भंते!—हे भगवन्!, जइ णं—यदि, जिणवयणे—जिन प्रवचन में, संताणं जाव भावाणं—सत्य आदि भावों की, नो आलोइज्जइ—आलोचना नहीं होती, जाव—यावत् उनके लिए, तवोकम्मं—तपः कर्म, नो पडिवज्जिज्जइ—नहीं स्वीकार किया जाता, तं णं—तो भंते!—हे भगवन्!, तुब्भे चेव—आप ही, एयस्स ठाणस्स—इस स्थान के लिए, आलोएह—आलोचना कीजिए, जाव—यावत्, पडिवज्जह—तपः कर्म स्वीकार कीजिए।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम ने आनन्द श्रावक से यह कहा कि—“हे आनन्द! गृहस्थ अवस्था में रहते हुए गृहस्थ को अवधिज्ञान तो उत्पन्न हो सकता है, परन्तु इतना विशाल नहीं। अतः हे आनन्द! इस असत्य भाषण की आलोचना करो यावत् आत्म-शुद्धि के लिए उचित तपश्चरण स्वीकार करो।”

इसके पश्चात् आनन्द भगवान् गौतम से बोला—“हे भगवन्! क्या जिन प्रवचन में सत्य, तात्त्विक, तथ्य और सद्भूत भावों के लिए भी आलोचना की जाती है? यावत् तपःकर्म स्वीकार किया जाता है?”

भगवान् गौतम ने उत्तर दिया—“आनन्द! ऐसा नहीं हो सकता।”

आनन्द ने कहा—“भगवन्! यदि जिन प्रवचन में सत्य आदि भावों की आलोचना नहीं होती और उनके लिए तपःकर्म स्वीकार नहीं किया जाता तो भगवन्! आप ही इस विषय में आलोचना कीजिए और तपःकर्म ग्रहण कीजिए।”

टीका—आनन्द के पूछने पर गौतम स्वामी ने बताया कि गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है। किन्तु आनन्द ने जब अपने ज्ञान के विस्तृत क्षेत्र का निरूपण किया तो गौतम स्वामी को संदेह हो गया, उनकी यह धारणा थी कि गृहस्थ को इतना विशाल ज्ञान नहीं हो सकता। उन्हें आनन्द का कथन मिथ्या प्रतीत हुआ, परिणामस्वरूप उसे आलोचना तथा प्रायश्चित्त स्वरूप तपश्चरण के लिए कहा। आनन्द ने नम्रता किन्तु दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया “भगवन्! क्या सच्ची बात के लिए भी आलोचना तथा प्रायश्चित्त होता है? यदि ऐसा नहीं है तो आप ही आलोचना तथा प्रायश्चित्त कीजिए।”

इस वक्तव्य में कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। आनन्द ने मुनिव्रत स्वीकार नहीं किया था, वह गृहस्थ था, उसका वेश भी गृहस्थ का ही था। फिर भी वह साधना की दृष्टि से उस अवस्था पर पहुँच

गया था, जिसे हम आगम की भाषा में श्रमणभूत कहते हैं। जैन परम्परा में वेश का उतना महत्व नहीं, जितना कि आध्यात्मिक भावों का महत्व है। यही कारण है कि सिद्धों के पन्द्रह भेदों में जैन साधु ही नहीं, गृहस्थ एवं परिव्राजक, संन्यासी आदि जैनेतर साधुओं को भी मोक्ष का अधिकारी माना गया है। परन्तु उपर्युक्त विचार चर्चा से ध्वनित होता है कि गौतम स्वामी की धारणा कुछ विलक्षण भूमिका पर पहुँच गई थी। उनकी दृष्टि में इस प्रकार का उच्च ज्ञान मुनि को ही उत्पन्न हो सकता है, गृहस्थ को नहीं, इसी धारणा के कारण उन्होंने आनन्द को आत्म-विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेने की प्रेरणा दी।

यहाँ मिथ्या भाषण रूप दोष के लिए गौतम स्वामी ने आनन्द को आलोचना तथा तपःकर्म के लिए कहा और आनन्द ने गौतम स्वामी को। आलोचना का अर्थ है—अपने दोष को अच्छी तरह देखना या समझना और उसे पुनः न करने का निश्चय करना तपःकर्म आन्तरिक-शुद्धि के लिए किया जाता है, किसी प्रकार की भूल होने पर या दोष लगने पर यदि मनुष्य उस पर अच्छी तरह विचार करे, दोष के रूप में समझ ले, पुनः न करने का दृढ़ संकल्प करे और साथ ही भूल की तरतमता के अनुसार एक उपवास दो उपवास, आदि छोटा-बड़ा तपश्चरण प्रायश्चित्त के रूप में कर ले तो उस भूल के पुनः होने की संभावना नहीं रहती। आत्मशुद्धि का यह मार्ग जैन परम्परा में अब भी प्रचलित है। जैन साधु एवं श्रावक अपनी भूलों के लिए प्रतिदिन चिन्तन एवं पश्चात्ताप करते हैं और छोटी-बड़ी तपस्या अंगीकार करते हैं।

गौतम स्वामी महातपस्वी, महाज्ञानी तथा कठोर चर्या वाले साधु थे। आनन्द ने उनके प्रति श्रद्धा रखते हुए भी जिस प्रकार उत्तर दिया, वह ध्यान देने योग्य है। वह पूछता है—“क्या जैन शासन में सत्य, तथ्य, तात्विक एवं सद्भूत वस्तु के लिए भी आलोचना तथा प्रायश्चित्त करना होता है?” उसका यह वाक्य वैदिक परंपरा से जैन परम्परा का भेद प्रकट करता है, उसका अभिप्राय है कि जैन परम्परा किसी की आज्ञा के कथन या शब्द पर आधारित नहीं है अर्थात् यहाँ किसी के कथन-मात्र से कोई बात भली या बुरी नहीं होती, यहाँ तो सत्य ही एकमात्र कसौटी है।

गौतम का शंक्ति होकर भगवान् के पास आना—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे आणंदेणं समणोवासणं एवं वुत्ते समाणे, संकिए कंखिए विइगिच्छा समावत्रे, आणंदस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, २ ता जेणेव वूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ २ ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूर-सामन्ते गमणागमणाए पडिक्कमइ, २ ता एसणमणेसणं आलोएइ, आलोइत्ता भत्तपाणं पडिदंसेइ, पडिदंसित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ ता एवं

वयासी—“एवं खलु भंते! अहं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए तं चेव सव्वं कहेइ, जाव तए णं अहं संकिए ३ आणंदस्स समणोवासगस्स अंतियाओ पडिणिक्खमामि, २ ता जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए, तं णं भंते! किं आणंदेणं समणोवासएणं तस्स ठाणस्स आलोएयव्वं जाव पडिवज्जेयव्वं उदाहु मए?”

“गोयमा!” इ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी गोयमा! तुमं चेव णं तस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि, आणंदं च समणोवासयं एयमद्वं खामेहि ॥ ८६ ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतम आनन्देन श्रमणोपासकेनैवमुक्तः सन् शङ्कितः कांक्षितो विचिकित्सा समापन्न आनन्दस्यान्तिकात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य येनैव दूतिपलाशचैत्यो येनैव श्रमणो भगवान् महावीरः तेनैव उपागच्छति, उपागत्य श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसामन्ते गमनागमनस्य प्रतिक्रामति, प्रतिक्रम्य एषणमनेषणमालोचयति, आलोच्य भक्तपात्रं प्रतिदर्शयति, प्रतिदर्श्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—“एवं खलु भदन्त! अहं युष्माभिरभ्यनुज्ञातः तदेव सर्वं कथयति यावत् ततः खल्वहं शङ्कितः ३ आनन्दस्य श्रमणोपासकस्य अन्तिकात् प्रतिनिष्क्रामामि प्रतिनिष्क्रम्य येनैवेह तेनैव हव्यमागतः, तत्खलु भदन्त! किमानन्देन श्रमणोपासकेन तस्य स्थानस्याऽऽलोचितव्यं यावत् प्रतिपत्तव्यमुताहो मया? “हे गौतम!” इति श्रमणो भगवान् महावीरो भगवन्तं गौतममेवमवादीत्—“गौतम त्वमेव खलु तस्य स्थानस्य आलोचय यावत्प्रतिपद्यस्व आनन्दं च श्रमणोपासकमेतस्मै अर्थाय क्षमापय ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से भगवं गोयमे—भगवान् गौतम, आणंदेणं समणोवासएणं—आनन्द श्रमणोपासक के द्वारा, एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर, संकिए—शंकित, कंखिए—कांक्षित, विङ्गिच्छसमावन्ने—और विचिकित्सा युक्त होकर, आणंदस्स अंतियाओ—आनन्द के पास से, पडिणिक्खमइ—निकले, पडिणिक्खमित्ता—निकलकर, जेणेव दूइपलासे चेइए—जहाँ दूतिपलाश चैत्य था, जेणेव समणे भगवं महावीरे—जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, तेणेव उवागच्छइ—वहाँ पहुँचे, उवागच्छित्ता—पहुँच कर, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के, अदूरसामन्ते—पास में, गमनागमणाए—गमनागमन का, पडिवक्कमइ—प्रतिक्रमण किया, पडिवक्कमित्ता—प्रतिक्रमण करके, एसणमणेसणं—एषणीय एवं अनेषणीय की, आलोएइ—आलोचना की, आलोइत्ता—आलोचना करके, भत्तपाणं—आहार पानी, पडिदंसेइ—दिखलाया, पडिदंसित्ता—दिखाकर, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को, वंदइ—वन्दना की, नमंसइ—नमस्कार किया, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके, एवं वयासी—इस प्रकार बोले, भंते!—हे भगवन्!, एवं खलु—इस प्रकार निश्चय ही, अहं—मैं, तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए—आपकी अनुमति

मिलने पर इत्यादि, तं चेव सव्वं कहेइ—सारी घटनाएँ कह सुनाई, जाव—यावत्, तए णं—उससे, अहं—मैं, सङ्खिए-शंकित होकर, आणंदस्स समणोवासगस्स—आनन्द श्रमणोपासक के, अंतियाओ—पास से, पडिणिक्खमामि—निकला, पडिणिक्खमित्ता—निकलकर, जेणेव इहं—यहाँ आप विराजमान हैं, तेणेव—वहाँ, हव्वमागए—शीघ्रतापूर्वक आया हूँ, तं णं—तो क्या, भंते—भगवन्! किं—क्या, तस्स ठाणस्स—उस स्थान के लिए, आणंदेणं समणोवासएणं—आनन्द श्रमणोपासक को, आलोएयव्वं—आलोचना करनी चाहिए, जाव पडिवज्जेयव्वं—यावत् ग्रहण करना चाहिए, उदाहु—अथवा, मए—मुझे, गोयमा इ—‘गौतम!’ यह सम्बोधन करते हुए—समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, भगवं गोयमं—भगवान् गौतम को, एवं वयासी—इस प्रकार कहा—गोयमा—हे गौतम!, तुमं चेव णं—तुम ही, तस्स ठाणस्स—उस स्थान की, आलोएहि—आलोचना करो, जाव—यावत्, पडिवज्जाहि—तपःकर्म स्वीकार करो, आणंदं च समणोवासयं—और आनन्द श्रमणोपासक से, एयमट्ठं—इस बात के लिए, खामेहि—क्षमा प्रार्थना करो।

भावार्थ—तदनन्तर भगवान् गौतम आनन्द श्रमणोपासक के इस प्रकार कहने पर शंका, कांक्षा, एवं विचिकित्सा से युक्त होकर आनन्द के पास से बाहर निकले और दूतिपलाश चैत्य में श्रमण भगवान् महावीर के पास पहुँचे। वहाँ भगवान् के समीप गमनागमन का प्रतिक्रमण किया। एषणीय और अनेषणीय की आलोचना की। भगवान् को भोजन पानी दिखलाया, वन्दना नमस्कार किया और कहा—“मैं आपकी अनुमति प्राप्त करके इत्यादि गौतम ने पूर्वोक्त समस्त घटनाएँ कह सुनाई, अन्त में कहा मैं शंकित होकर आपकी सेवा में आया हूँ।” भगवन्! उस पाप स्थान की आलोचना तथा तपस्या आनन्द को करनी चाहिए अथवा मुझ को?” ‘गौतम’ इस प्रकार सम्बोधन करते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने उत्तर दिया, “हे गौतम! तुम ही उस असत्य भाषण रूप पाप-स्थान के लिए आलोचना यावत् तपःकर्म स्वीकार करो तथा आनन्द श्रावक से इस अपराध के लिए क्षमा याचना करो।”

टीका—आनन्द का उत्तर सुनकर गौतम स्वामी विचार में पड़ गए। इस विषय में भगवान् से पूछने का निश्चय किया।

यहाँ सूत्रकार ने तीन शब्द दिए हैं—‘संकिए कंखिए और विइगिच्छे’, इन शब्दों का निरूपण पहले किया जा चुका है। गौतम स्वामी के मन में संदेह उत्पन्न हो गया, और वह डावाँडोल होने लगा।

वे भगवान् के पास पहुँचे और मुनि की आचार मर्यादा के अनुसार सर्वप्रथम एषणीय और अनेषणीय की आलोचना की। एषणीय का अर्थ है मुनि द्वारा ग्रहण करने योग्य वस्तुएँ और अनेषणीय का अर्थ है ग्रहण न करने योग्य वस्तुएँ। गौतम स्वामी ने शान्त चित्त से बैठकर इस बात की आलोचना की कि मैंने कोई ऐसी वस्तु तो नहीं ली जो ग्रहण करने योग्य नहीं थी या भिक्षा के लिए घूमते समय एवं उसे ग्रहण करते समय कोई मर्यादा विरुद्ध कार्य तो नहीं किया।

एषणीय, अनेषणीय की आलोचना के पश्चात् उन्होंने भिक्षा में लाया हुआ भोजन एवं पानी भगवान् को दिखाया। जैन मुनियों की मर्यादा में यह भी आवश्यक माना गया है कि वह भिक्षा में भोजन-वस्त्र आदि जो कुछ लाए सर्वप्रथम गुरु को दिखाए और उनके आदेशानुसार सेवन करे, यह मर्यादा मुनि को अनेक दोषों से बचाती है।

तदनन्तर गौतम स्वामी ने सारा वृत्तान्त भगवान् को सुनाया और पूछा कि आलोचना एवं प्रायश्चित्त किसे करना चाहिए? भगवान् ने उत्तर दिया—“गौतम! तुम ही आलोचना एवं प्रायश्चित्त करो, इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि इस बात के लिए आनन्द से क्षमा याचना करो। इससे ज्ञात होता है कि महावीर के शासन में दोष किसी का हो उसे क्षमा नहीं किया जाता था। गौतम महावीर के प्रधान शिष्य थे। संघ में उनका सर्वोच्च स्थान था, फिर भी भगवान् ने उनसे कहा, ‘आनन्द से क्षमा याचना करो।’

गौतम द्वारा क्षमा याचना—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे, समणस्स भगवओ महावीरस्स “तह” त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, २ ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ, आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेइ ॥ ८७ ॥

तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ बहिया जणवय विहारं विहरइ ॥ ८८ ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ‘तथेति’ एतमर्थं विनयेन प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य तस्य स्थानस्याऽऽलोचयति, यावत्प्रतिपद्यते, आनन्दं च श्रमणोपासकमेतदर्थं क्षमापयति।

ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचिद् बहिर्जनपदविहारं विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से भगवं गोयमे—भगवान् गौतम ने, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के, एयमट्ठं—उक्त कथन को, तहत्ति—तथेति कहकर, विणएणं—विनयपूर्वक, पडिसुणेइ—स्वीकार किया, पडिसुणित्ता—स्वीकार करके, तस्स ठाणस्स—उस स्थान की, आलोएइ—आलोचना की, जाव—यावत्, पडिवज्जइ—तपःकर्म स्वीकार किया, आणंदं च समणोवासयं—और आनन्द श्रमणोपासक से, एयमट्ठं—इस बात के लिए, खामेइ—क्षमा याचना की।

तए णं—तत्पश्चात्, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, अन्नया कयाइ—अन्यदा कदाचित्, बहिया जणवयविहारं—दूसरे जनपदों में, विहरइ—विचरने लगे।

भावार्थ—गौतम ने भगवान् महावीर के उक्त कथन को विनयपूर्वक स्वीकार किया और उस

दोष की आलोचना की तथा प्रायश्चित्त के रूप में आनन्द श्रावक से क्षमा याचना की।

कुछ समय पश्चात् भगवान् महावीर दूसरे जनपदों को विहार कर गए और धर्म प्रचार करते हुए विचरने लगे।

टीका—गौतम स्वामी ने भगवान् के आदेश को 'तथेति' कहकर स्वीकार किया और आनन्द से क्षमा याचना की। यह बात उनके उदात्त चारित्र्य को प्रकट करती है। महातपस्वी, महाज्ञानी तथा प्रधान गणधर होने पर भी उन्हें श्रावक से क्षमा याचना करने में संकोच नहीं हुआ। संघ में सर्वमान्य होने पर भी उनके मन में किसी प्रकार का अभिमान नहीं था।

तदनन्तर, भगवान् महावीर वाणिज्य ग्राम से प्रस्थान कर गए और धर्मोपदेश करते हुए विभिन्न जनपदों में विचरने लगे।

आनन्द के जीवन का उपसंहार—

मूलम्—तए णं से आणंदे समणोवासए बहूहिं सील-व्वएहिं जाव अप्पाणं भावेत्ता, वीसं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणित्ता, एक्कारस य उवासग-पडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता, मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइय-पडिक्कंते, समाहि-पत्ते, काल-मासे कालं किच्चा, सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसगस्स महा-विमाणस्स उत्तर-पुरत्थिमेणं अरुणे विमाणे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं आणंदस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥ ८६ ॥

छाया—ततः खलु स आनन्दः श्रमणोपासको बहुभिः शीलव्रतैर्यावदात्मानं भावयित्वा विंशति वर्षाणि श्रमणोपासकपर्यायं पालयित्वा एकादश चोपासकप्रतिभाः सम्यक् कायेन स्पृष्ट्वा मासिक्या संलेखनयाऽऽत्मानं जोषयित्वा षष्टि भक्तान्यनशनेन छित्वा आलोचित प्रतिक्रान्तः समाधिप्राप्तः कालमासे कालं कृत्वा सौधर्मावतंसकस्य महाविमानस्योत्तरपौरस्त्ये खलु अरुणे विमाने देवत्वेनोपपन्नः, तत्र खलु अस्त्येकानां देवानां चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता, तत्र खलु आनन्दस्यापि देवस्य चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से आणंदे समणोवासए—वह आनन्द श्रमणोपासक, बहूहिं सीलव्वएहिं—अनेक प्रकार के शील एवं व्रतों के द्वारा, जाव—यावत्, अप्पाणं—अपनी आत्मा को, भावेत्ता—संस्कारित करके, वीसं वासाइं—बीस वर्ष तक, समणोवासग परियागं—श्रमणोपासक पर्याय को, पाउणित्ता—पालन करके, एक्कारस य उवासग पडिमाओ—ग्यारह उपासक प्रतिमाओं का, सम्मं काएणं फासित्ता—सम्यक् पालन करके, मासियाए संलेहणाए—एक मास की संलेखना द्वारा,

अत्ताणं—अपनी आत्मा को, झूसित्ता—शुद्ध करके, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता—साठ बार का अनशन पूरा करके, आलोइय पडिक्कंते—आलोचना प्रतिक्रमण करके, समाहिपत्ते—समाधि में लीन रहता हुआ, कालमासे कालं किच्चा—अन्तिम समय आने पर, सोहम्मे कप्पे—सौधर्म कल्प में, सोहम्मवडिसगस्स—सौधर्मावतंसक, महाविमाणस्स—महाविमान के, उत्तरपुरस्थिमेणं—उत्तरपूर्व अर्थात् ईशानकोण में, अरुणे विमाणे—अरुण विमान में, देवत्ताए—देवरूप में, उववन्ने—उत्पन्न हुआ, तत्थ णं—वहाँ, अत्थेगइयाणं देवाणं—अनेक देवों की चत्तारि पलिओवमाइं—चार पत्त्योपम की, ठिई—स्थिति, पण्णत्ता—कही गई है, तत्थ णं—वहाँ, आणंदस्स वि देवस्स—आनन्द देव की भी, चत्तारि पलिओवमाइं—चार पत्त्योपम की, ठिई—स्थिति, पण्णत्ता—कही गई है।

भावार्थ—तदनन्तर आनन्द श्रावक बहुत से शीलव्रत आदि के द्वारा आत्मा को संस्कारित करता रहा, उसने श्रावक व्रतों का पालन किया। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार कीं। अन्त में एक मास की संलेखना ली और साठ बार के भोजन अर्थात् तीस दिन का अनशन करके मृत्युकाल आने पर समाधिमरण को प्राप्त हुआ। मरकर वह सौधर्म देवलोक, सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशानकोण में स्थित अरुण विमान में देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ बहुत से देवताओं की आयु मर्यादा चार पत्त्योपम की बताई गई है। आनन्द की आयु मर्यादा भी चार पत्त्योपम है।

टीका—प्रस्तुत पाठ में आनन्द के जीवन का उपसंहार किया गया है। वह बीस वर्ष तक श्रमणोपासक रहा, साढ़े चौदह वर्ष बीतने पर घर छोड़कर पौषधशाला में रहने लगा। वहाँ उसने क्रमशः ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ स्वीकार कीं और ग्यारहवीं श्रमणभूत प्रतिमा में साधु के समान जीवन व्यतीत करने लगा। ज्यों-ज्यों आत्मशुद्धि होती गई उसका उत्साह बढ़ता चला गया, क्रमशः उसने अन्तिम संलेखना व्रत ले लिया और जीवन एवं मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए शान्तचित्त होकर आत्मचिन्तन में लीन रहने लगा। एक महीने के उपवास के पश्चात् शरीरान्त हो गया और सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ।

उसके विचारों में उत्तरोत्तर दृढ़ता आती गई, उत्साह बढ़ता गया और अन्त तक चित्त शान्त रहा। एक महीने का उपवास होने पर भी मनोदशा में परिवर्तन नहीं हुआ। शास्त्रकार ने इस बात का पुनः-पुनः उल्लेख किया है।

आनन्द का भविष्य—

मूलम्—“आणंदेणं भंते! देवे ताओ देवत्तोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता, कहिं गच्छिहिइ, कहिं उववज्जिहिइ?”

“गोयमा! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ” ॥ निक्खेवो ॥ ६० ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं पढमं आणंदज्झयणं समत्तं ॥

छाया—आनन्दः खलु भदन्त! देवस्तस्माद्देवलोकादायुः क्षयेण, भवक्षयेण, स्थितिक्षयेण अनन्तरं चयं च्युत्वा कुत्र गमिष्यति? कुत्रोत्पत्येते? गौतम! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति । निक्षेपः ।

॥ सप्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां प्रथमानन्दमध्ययनं समाप्तम् ॥ 9 ॥

शब्दार्थ—गौतम ने प्रश्न किया भंते!—हे भगवन्!, आणंदे णं—आनन्द, देवे—देव, ताओ—उस, देवलोगाओ—देवलोक से, आउक्खएणं—आयुक्षय होने पर, भवक्खएणं—भवक्षय होने पर, ठिइक्खएणं—स्थिति क्षय होने पर, अणंतरं—अनन्तर, चयं चइत्ता—वहाँ से च्यवन करके, कहिं—कहाँ, गच्छिहिइ—जायगा?, कहिं—और कहाँ, उववज्जिहिइ—उत्पन्न होगा? भगवान् ने उत्तर दिया, गोयमा—हे गौतम! महाविदेहे वासे—महाविदेह वर्ष में, सिज्झिहिइ—सिद्ध होगा ।

भावार्थ—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—हे भगवन्! आनन्द देव आयु, भव तथा स्थिति के क्षय होने पर देव शरीर का परित्याग कर कहाँ जाएगा, कहाँ उत्पन्न होगा? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—हे गौतम! आनन्द महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और वहाँ से सिद्धगति प्राप्त करेगा ।

निक्षेप—सुधर्मा स्वामी ने कहा—“हे जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर ने सातवें अंग उपासकदशाङ्ग सूत्र के प्रथम अध्ययन का यह भाव बताया है, वैसा ही मैं तुमसे कहता हूँ ।”

टीका—प्रस्तुत सूत्र में आनन्द के भविष्य का कथन है । गौतम स्वामी ने पूछा भगवन्! देवत्व की अवधि समाप्त होने पर आनन्द कहाँ-उत्पन्न होगा? भगवान् ने उत्तर दिया ‘महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त करेगा ।’

यहाँ दो बातें उल्लेखनीय हैं । पहली बात यह है कि जैन परम्परा में देवत्व कोई शाश्वत अवस्था नहीं है । मनुष्य तपस्या एवं अन्य शुभ कर्मों द्वारा उसे प्राप्त करता है और उपाजित पुण्य समाप्त हो जाने पर पुनः मर्त्यलोक में आ जाता है । ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में देवता शाश्वत शक्ति के प्रतीक हैं, इतना ही नहीं, जीवों के शुभाशुभ कर्मों के फल एवं भविष्य पर उनका नियन्त्रण है । किन्तु उपनिषदों में देवत्व का वह स्थान नहीं रहा । वहाँ जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष या अमृतत्व की प्राप्ति हो गया और देव अवस्था को नश्वर बताया गया । वहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है—“क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति” अर्थात् देवता भी पुण्यक्षीण हो जाने पर मर्त्यलोक में आ जाते हैं । इतना ही नहीं, वहाँ देवत्व प्राप्ति के साधन रूप यज्ञ आदि कर्मानुष्ठान को दुर्बल नौकाएँ बताया गया है, अर्थात् वे मानव को जीवन के चरम लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकतीं “प्लावह्येते अदृढाः यज्ञरूपाः अप्यादशोक्तमवरमेषु कर्म ।” अर्थात् यज्ञ रूपी नौकाएँ जिनमें अठारह प्रकार का कर्म बताया गया है दृढ़ नहीं हैं ।

दूसरी बात महाविदेह क्षेत्र की है, पहले यह बताया जा चुका है कि विश्व एक कालचक्र के अनुसार घूमता रहता है । उत्थान के पश्चात् पतन और पतन के पश्चात् उत्थान का अनवरत क्रम चल रहा है । जैन परम्परा में उत्थान काल उत्सर्पिणी और पतन काल को अवसर्पिणी काल कहा गया है । प्रत्येक काल

के छः विभाग किए गए हैं, जिन्हें आरा कहा जाता है। उत्सर्पिणी काल में प्रथम आरा अत्यन्त पाप पूर्ण होता है। उस समय मनुष्यों के विचार अत्यन्त क्रूर होते हैं, श्रावक अथवा साधु किसी प्रकार की धार्मिक मर्यादा का अस्तित्व नहीं होता। द्वितीय आरे में पापवृत्ति अपेक्षाकृत न्यून होती है, फिर भी उस समय कोई जीव मोक्ष का अधिकारी नहीं होता। तृतीय तथा चतुर्थ आरे में उत्तरोत्तर धार्मिक भावना बढ़ती जाती है। उसी समय तीर्थङ्कर एवं अन्य महापुरुष उत्पन्न होते हैं और वे मोक्ष मार्ग का उपदेश करते हैं। पाँचवां आरा आने पर यह क्षेत्र कर्मभूमि के स्थान पर भोग भूमि बन जाता है, अर्थात् उस समय लोग कल्पवृक्षों से स्वयं प्राप्त वस्तुओं पर अपना निर्वाह करते हैं। आजीविका के लिए खेती, युद्ध आदि किसी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती। परिणामस्वरूप पापवृत्ति भी उत्तरोत्तर घटती चली जाती है। छठे आरे में यह और भी कम हो जाती है।

अवसर्पिणी काल का प्रथम आरा उत्सर्पिणी काल के छठे आरे के समान होता है। इसी प्रकार अवसर्पिणी का द्वितीय उत्सर्पिणी के पंचम के समान अर्थात् अवसर्पिणी के प्रथम दोनों आरे भोग भूमि के माने जाते हैं। तृतीय, चतुर्थ में ही तीर्थङ्करादि उत्पन्न होते हैं और धर्मोपदेश होता है। पञ्चम में पुनः धर्म का हास होने लगता है और छठे में वह सर्वथा लुप्त हो जाता है। वर्तमान समय अवसर्पिणी का पंचम आरा माना जाता है, इस समय भरत क्षेत्र से कोई व्यक्ति मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

किन्तु महाविदेह क्षेत्र में इस प्रकार परिवर्तन नहीं होता। वहाँ सदा चौथा आरा बना रहता है। तीर्थङ्कर विचरते रहते हैं, जिन्हें विहरमाण कहा जाता है और मोक्ष का द्वार सदा खुला रहता है। भरत क्षेत्र में धर्मानुष्ठान द्वारा आत्म विकास करने वाले अनेक व्यक्तियों के लिए शास्त्रों में बताया गया है कि वे स्वर्ग लोक में जीवन पूरा करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होंगे और वहाँ मोक्ष प्राप्त करेंगे। आनन्द श्रमणोपासक भी महाविदेह क्षेत्र में सिद्धि-मोक्ष को प्राप्त करेगा।

प्रस्तुत अध्ययन की समाप्ति पर सुधर्मास्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—“हे जम्बू! मैंने भगवान् से जैसा सुना वैसा तुम्हें बता रहा हूँ। जिस प्रकार उपनिषदों में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी, जनक, श्वेतकेतु, जाबाल, यमनचिकेता संवाद मिलते हैं और उनमें आत्म तत्त्व एवं जगत् के गम्भीर रहस्यों का प्रतिपादन किया गया है, तथा बौद्ध साहित्य में भगवान् बुद्ध तथा उनके प्रधान शिष्य आनन्द के परस्पर संवाद मिलते हैं, उसी प्रकार जैन आगमों में सर्वप्रथम भगवान् महावीर तथा गौतम स्वामी के परस्पर संवाद हैं। गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं और भगवान् उत्तर के रूप में सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं। दूसरे संवाद, सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी के बीच हैं। भगवान् महावीर की परम्परा सुधर्मा स्वामी से प्रारम्भ होती है। वे श्रुतकेवली और चौथे गणधर थे, उनके शिष्य जम्बू स्वामी तथा जम्बू स्वामी के शिष्य प्रभव स्वामी हुए। वर्तमान जैन आगम सुधर्मास्वामी की रचना माने जाते हैं, क्योंकि उन्होंने ही भगवान् महावीर से उन्हें अर्थ के रूप में सुना और शब्दों के रूप में स्वयं गुम्फन करके जम्बू स्वामी को उपदेश किया।

॥ सप्तम अंग उपासकदशाङ्ग-सूत्र का आनन्द अध्ययन समाप्त ॥

बीयं अज्झयणं

द्वितीय अध्ययन

द्वितीय अध्ययन के विषय में प्रश्न—

मूलम्—जइ णं भंते! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते दोच्चस्स णं, भंते! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ॥ ६१ ॥

छाया—यदि खलु भदन्त! श्रमणेन भगवता महावीरेण यावत् सम्प्राप्तेन सत्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां प्रथमाध्ययनस्यायमर्थः प्रज्ञप्तः, द्वितीयस्य खलु भदन्त! अध्ययनस्य कोऽर्थः प्रज्ञप्तः?

शब्दार्थ—जइ णं—यदि, भंते!—भगवन्!, समणेणं भगवया महावीरेणं—श्रमण भगवान् महावीर ने, जाव—यावत्, संपत्तेणं—जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं—उपासकदशा नामक सातवें अंग के, पढमस्स अज्झयणस्स—प्रथम अध्ययन का, अयमट्ठे—यह अर्थ, पण्णत्ते—प्रतिपादन किया है तो, भंते!—हे भगवन्!, दोच्चस्स णं अज्झयणस्स—द्वितीय अध्ययन का, के अट्ठे—क्या अर्थ, पण्णत्ते—प्रतिपादन किया है?

भावार्थ—आर्य जम्बूस्वामी ने पूछा—भगवन्! यावत् मोक्ष को प्राप्त हुए श्रमण भगवान् महावीर ने यदि सातवें अंग उपासकदशा के प्रथम अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है तो हे भगवन्! दूसरे अध्ययन का क्या अर्थ बताया है?

टीका—प्रस्तुत सूत्र द्वितीय अध्ययन की उत्थानिका है जिसमें कामदेव श्रावक का वर्णन है। आर्य जम्बूस्वामी प्रथम आनन्द विषयक अध्ययन समाप्त होने पर द्वितीय अध्ययन के विषय में पूछते हैं।

बीयं कामदेवज्झयणं

कामदेव का जीवनवृत्त और पौषधशाला गमन—

मूलम्—एवं खलु जम्बू! तेणं कालेणं तेणं समएणं चम्पा नामं नयरी होत्था।

पुण्णभद्दे चेइए। जियसत्तू राया। कामदेवे गाहावई। भद्दा भारिया। छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ बुद्धि-पउत्ताओ, छ पवित्थर-पउत्ताओ, छ व्वया दस-गो-साहस्सिएणं वएणं। समोसरणं। जहा आणंदो तहा निग्गओ, तहेव सावय-धम्मं पडिवज्जइ।

सा चेव वत्तव्वया जाव जेद्ध-पुत्तं-मित्त-नाइं आपुच्छित्ता, जेणेव पोसहसाला, तेणेव उवागच्छइ, २ ता जहा आणंदो जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ ६२ ॥

छाया—एवं खलु जम्बू! तस्मिन् काले तस्मिन् समये चम्पा नाम नगर्यासीत् । पूर्णभद्रश्चैत्यः । जितशत्रू राजा । कामदेवो गाथापतिः । भद्रा भार्या । षड् हिरण्यकोट्यो निधानप्रयुक्ताः, षड् वृद्धिप्रयुक्ताः, षड् प्रविस्तरप्रयुक्ताः, षड् व्रजा दश गोसाहस्रिकेणं व्रजेन । समवसरणम् । यथानन्दस्तथानिर्गतः । तथैव श्रावक धर्मं प्रतिपद्यते, सा चैव वक्तव्यता । यावज्ज्येष्ठपुत्रं, मित्र-ज्ञातिमापृच्छ्य येनैव पौषधशाला तेनैवोपागच्छति, उपागत्य यथानन्दो यावत् श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरित ।

शब्दार्थ—एवं खलु जम्बू !—हे जम्बू! इस प्रकार, तेणं कालेणं—उस काल, तेणं समएणं—उस समय, चम्पा नामं—चम्पा नामक, नयरी—नगरी, होत्था—थी, पुण्णभद्दे चेइए—पूर्णभद्र नामक चैत्य था, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा था, कामदेवे गाहावई—कामदेवे गाथापति था और उसकी, भद्दा भारिया—भद्रा भार्या थी, छ हिरण्ण कोडीओ—छ हिरण्य कोटि अर्थात् सुवर्ण मुद्राएँ, निहाण पउत्ताओ—उसके खजाने में रखे थे, छ बुद्धि पउत्ताओ—छह करोड़ व्यापार में लगे थे, छ पवित्थर पउत्ताओ—छह करोड़ प्रविस्तर अर्थात् गृह एवं तत्सम्बन्धी उपकरणों में लगे हुए थे, छ व्वया—छह व्रज थे, दसगोसाहस्सिएणं वएणं—एक व्रज में दस हजार गौएँ थीं, अर्थात् साठ हजार गौएँ थीं । समोसरणं—भगवान् आए और उनका समवसरण हुआ, जहा—जिस प्रकार, आणंदे तहा—आनन्द घर से निकला था वह भी घर से उसी प्रकार, निग्गए—निकला, तहेव—उसी तरह, सावय धम्मं—श्रावक धर्म को, पडिवज्जइ—ग्रहण किया, सा चेव—वही, वत्तव्वया—वक्तव्यता यहाँ भी समझनी चाहिए, जाव—यावत्, जेद्धपुत्तं—ज्येष्ठ पुत्र, मित्त-नाइं—और मित्रों तथा ज्ञातिजनों को, आपुच्छित्ता—पूछकर, जेणेव—जहाँ, पोसहसाला—पौषधशाला थी, तेणेव—वहाँ, उवागच्छइ—आया, उवागच्छित्ता—आकर, जहा आणंदो—आनन्द के समान, जाव—यावत्, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के, अंतियं—समीप स्वीकृत, धम्मपण्णत्तिं—धर्म प्रज्ञप्ति को, उवसंपज्जित्ताणं—ग्रहण करके, विहरइ—विचरने लगा ।

भावार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी जी ने उत्तर दिया हे जम्बू ! उस काल उस समय चम्पा नामक नगरी थी, वहाँ पूर्णभद्र चैत्य और जितशत्रु राजा था। वहीं कामदेव गाथापति था और उसकी भद्रा नाम वाली भार्या थी। छह करोड़ हिरण्य उसके खजाने में थे। छह करोड़ व्यापार में लगे थे। छह करोड़ गृह, तत्सम्बन्धी उपकरण, वस्त्र, रथ, पोत आदि में लगे हुए थे। छह व्रज थे, प्रत्येक व्रज में दस हजार गाएँ थीं, अर्थात् साठ हजार पशुधन था। भगवान् महावीर पधारे और उनका समवसरण हुआ। कामदेव भी आनन्द की तरह घर से निकला और श्रमण भगवान् महावीर के पास आया। उसी प्रकार श्रावकधर्म स्वीकार किया। यह सब वृत्तान्त आनन्द के समान समझना चाहिए यावत् कामदेव भी ज्येष्ठ पुत्र, मित्रवर्ग तथा जाति बन्धुओं से पूछकर पौषधशाला में गया। वहाँ जाकर आनन्द की तरह श्रमण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्मप्रज्ञप्ति अङ्गीकार करके विचरने लगा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में कामदेव गाथापति का वर्णन है, व्रत ग्रहण से लेकर पौषधशाला में जाकर निरन्तर धर्मानुष्ठान तक की घटनाएँ इसकी भी आनन्द के समान हैं।

मिथ्यादृष्टि देव का उपसर्ग—

मूलम्—तए णं तस्स कामदेवस्स समणोवासगस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे मायी मिच्छ-दिट्ठी अंतियं पाउब्भूए ॥ ६३ ॥

छाया—ततः खलु तस्य कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापरत्रकालसमये एको देवो मायी मिथ्यादृष्टिरन्तिकं प्रादुरभूत् ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, तस्स कामदेवस्स समणोवासगस्स—उस कामदेव श्रमणोपासक के, अंतियं—समीप, पुव्वरत्तावरत्तकाल समयंसि—मध्य रात्रि में, एगे देवे-मायी मिच्छदिट्ठी—एक देव जो कि मायावी और मिथ्या दृष्टि था, पाउब्भूए—प्रकट हुआ।

भावार्थ—तदनन्तर मध्यरात्रि में कामदेव श्रमणोपासक के समीप एक मायावी और मिथ्यादृष्टि देव प्रकट हुआ।

टीका—धर्मनिष्ठ पुरुषों को साधना से विचलित करने तथा उनके अनुष्ठान में विघ्न डालने के लिए दुष्ट प्रकृति वाले यक्ष-राक्षस आदि का प्रकट होना भारत की समस्त परम्पराओं में मिलता है। वैदिक परम्परा में ऋषियों द्वारा किए गए यज्ञों में विघ्न डालने के लिए राक्षस आते हैं। इसी प्रकार विविध व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली तपस्या में भी यक्ष, राक्षस, असुर आदि विघ्न डालते हैं। इसी प्रकार जैन परम्परा में भी इनका वर्णन मिलता है।

प्रस्तुत पाठ में देवता को मिथ्यात्वी अर्थात् मिथ्यादृष्टि बताया गया है। इसका अर्थ है कि वह जैन धर्म का विरोधी था। जैन शास्त्रों में बताया गया है कि बहुत से तापस जैन धर्म न मानने पर भी

तपस्या के कारण अमुक जाति के देव बन जाते हैं और उनकी धर्म सम्बन्धी विद्वेष भावना वहाँ भी बनी रहती है।

देव द्वारा विकराल रूप धारण—

मूलम्—तए णं से देवे एगं महं पिसाय-रूवं-विउव्वइ । तस्स णं देवस्स पिसाय-रूवस्स इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते—सीसं से गो-कलिंज-संठाणसंठियं, सालिभसेल्लसरिसा केसा कविलतेएणं दिप्पमाणा, महल्ल-उट्टिया-कभल्ल-संठाण-संठियं निडालं, मुगुंस पुञ्चं व तस्स भुमगाओ फुग्ग-फुग्गाओ विगय-बीभच्छ-दंसणाओ, सीस-घडि-विणिग्गयाइं अच्छीणी विगय-बीभच्छ-दंसणाइं, कण्णा जह सुप्प-कत्तरं चेव विगय-बीभच्छ-दंसणिज्जा, उरब्भ-पुड-सन्निभा से नासा, झुसिरा-जमल-चुल्ली-संठाण-संठिया दोवि तस्स नासा पुडया, घोडय-पुञ्चं व तस्स मंसूइं कविल-कविलाइं विगय-बीभच्छ-दंसणाइं, उट्टा उट्टस्स चेव लंबा, फालसरिसा से दंता, जिब्भा जह सुप्प-कत्तरं चेव-विगय-बीभच्छ-दंसणिज्जा, हल-कुद्दाल-संठिया से हणुया, गल्ल-कडिल्लं च तस्स खडुं फुडुं कविलं फरुसं महल्लं, मुडुंगाकारोवमे से खंधे, पुर-वर-कवाडोवमे से वच्छे, कोट्टिया-संठाण-संठिया दोवि तस्स बाहा, निसापाहाण-संठाण-संठिया दो वि तस्स अग्ग-हत्था, निसा-लोढ-संठाण-संठियाओ हत्थेसु अंगुलीओ, सिप्पिपुडग-संठिया से नक्खा, ण्हावियं-पसेवओ व्व उरंसि लंबंति दो वि तस्स थणया, पोडुं अयकोडुओ व्व वडुं, पाण-कलंद सरिसा से नाही, सिक्कग संठाण संठिए से नेत्ते, किण्ण पुड संठाण संठिया दो वि तस्स वसणा, जमल कोट्टिया-संठाण-संठिया दो वि तस्स ऊरु, अज्जुण-गुडुं व तस्स जाणूइं कुडिल-कुडिलाइं विगय-बीभच्छ-दंसणाइं, जंघाओ कक्खडीओ लोमेहिं उवचियाओ, अहरी-संठाण-संठिया दोऽवि तस्स पाया, अहरी-लोढ-संठाण-संठियाओ पाएसु अंगुलीओ, सिप्पि-पुड-संठिया से नक्खा ॥ ६४ ॥

छाया—ततः खलु स देव एकं महान्तं पिशाचरूपं विकुरुते । तस्य खलु देवस्य पिशाच रूपस्यायमेतद्रूपं वर्णकव्यासः प्रज्ञप्तः,—शीर्षं तस्य गोकलिञ्ज संस्थान संस्थितं, शालिभसेल्ल-सदृशास्तस्य केशाः कपिलतेजसा दीप्यमानाः, महदुष्ट्रिकाकभल्लं संस्थान संस्थितं ललाटं, मुगुंसपुच्छ-वत्तस्य भ्रुवौ फुग्गफुग्गौ विकृत बीभत्सदर्शनौ, शीर्षघटी विनिर्गते अक्षिणी विकृतबीभत्सदर्शनि, कर्णौ यथा शूर्प कर्तरी इव विकृतबीभत्स दर्शनीयौ, उरभ्रपुट्टसन्निभा तस्य नासा शुषिरा, यमलचुल्ली संस्थान संस्थिते द्वे अपि तस्य नासापुटे, घोटकपुच्छ वत्तस्य श्मश्रूणि कपिलकपिलानि विकृत बीभत्सदर्शनानि,

ओष्ठौ उष्ट्रस्येव लम्बी, फालसदृशास्तस्य दन्ताः, जिह्वा यथा सूर्पकर्त्तरमेव विकृत बीभत्सदर्शनीया, हलकुदाल संस्थिता तस्य हनुका, गल्लकडिल्लं च तस्य गर्तं स्फुटं कपिलं परुषं महत् मृदङ्गाकारोपमौ तस्य स्कन्धौ, पुरवरकपाटोपमं तस्य वक्षः, कोष्ठिकासंस्थानसंस्थितौ द्वावपि बाहू, निशापाषाण-संस्थान-संस्थितौ द्वावपि तस्याग्रहस्तौ, निशालोष्ट संस्थानसंस्थिता हस्तयोरंगुल्यः, शुक्तिपुटक संस्थितास्तस्य नखाः, नापितप्रसेवकाविवोरसि लम्बेते द्वावपि स्तनकौ, उदरमयः कोष्ठकवद्वृत्तं, पानकलन्दसदृशी तस्य नाभिः, शिष्यक संस्थानसंस्थिते तस्य नेत्रे, किण्वपुट संस्थान संस्थितौ द्वावपि तस्य वृषणौ, यमल कोष्ठिका संस्थानसंस्थितौ द्वावपि तस्योरु, अर्जुनगुच्छ वत्तस्य जानुनी कुटिल कुटिले विकृतबीभत्सदर्शने, जंघे करकटी रोमभिरुपचिते, अधरी संस्थानसंस्थितौ द्वावपि तस्य पादौ, अधरी लोष्टसंस्थानसंस्थिताः पादेष्वंगुल्यः, शुक्तिपुटसंस्थितास्तस्य नखाः।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे—उस देव ने, एगं महं—एक महान् विकराल, पिसायरूवं विउव्वइ—पिशाच रूप धारण किया, तस्स णं—उस, देवस्स—देव के, पिसायरूवस्स—पिशाच रूप का, इमे एयारूवे—इस प्रकार से, वण्णावासे—सविस्तर वर्णन, पण्णत्ते—किया गया है—से—उसका, सीसं—सिर, गोकलिंसंठाण संठियं—गोकलिज—(बांस की टोकरी अथवा धातु आदि से बना हुआ पात्र जिसमें गाय को चारा दिया जाता है) के समान था, सालिभसेल्ल सरिसा—शालिभसेल्ल अर्थात् चावल आदि की मंजरी के तन्तुओं के समान रूखे और मोटे, कविल तेएणं दिप्पमाणा—भूरे रंग के चमक वाले, से—उसके, केसा—केश थे, महल्ल-उट्टिया-कभल्ल-संठाण-संठियं निडालं—उसका ललाट बड़े मटके के कपाल जैसा था, तस्स—उसकी, भुग्गाओ—भींहे, मुगुंसपुञ्जं वा—गिलहरी की पूंछ के समान, फुग्गफुग्गाओ—बिखरी हुई और, विगयबीभच्छदंसणाओ—विकृत और बीभत्स दिखाई देती थी, अच्छीणी—आंखें, सीसघडिविणिग्गयाइं—मटकी के समान सिर से बाहर निकली हुई थीं, विगयबीभच्छदंसणाइं—विकृत और बीभत्स दीखती थीं, कण्णा—कान, जह सुप्प कत्तरं चेव—टूटे हुए छाज के समान, विगयबीभच्छदंसणिज्जा—देखने में विकृत और भयंकर थे, से नासा—उसकी नाक, उरब्भपुडसन्निभा—मेढे की नाक जैसी थी। दोवि तस्स नासा पुडया—उसकी नाक के दोनों छेद, झुसिरा—गड्डे के समान और जमलचुल्लीसंठाणसंठिया—जुड़े हुए दो चूल्हों के समान थे, तस्स मंसूइं—उसकी मूछें, घोडय-पुञ्जं व—घोड़े की पूंछ जैसी और, कविल कविलाइं—भूरे रंग की तथा, विगयबीभच्छदंसणाइं—विकृत और बीभत्स थीं, उट्टा—ओष्ठ, उट्टस्स चेव—ऊंट के ओठ की तरह, लंबा—लम्बे थे, से—उसके, दंता—दान्त, फालसरिसा—हल की लोहे की फाल के समान तीखे थे, जिब्भा—जिह्वा, जह सुप्पकत्तरं चेव—छाज के टुकड़े के समान, विगयबीभच्छदंसणिज्जा—विकृत और देखने में बीभत्स थीं, से हणुया—उसकी टुड्डी, हलकुदालसंठिया—हल के अग्र भाग के समान बाहर उभरी हुई थी, गल्लकडिल्लं च तस्स—कढाही के समान अन्दर धँसे हुए उसके गाल, खड्डं—गड्डे

वाले, फुट्टं—फटे हुए अर्थात् घाव वाले, कविलं फरुसं—भूरे कठोर, महल्लं—तथा विकराल थे, से खंधे—उसके कंधे, मुडंगाकारोवमे—मृदङ्ग के समान थे, से वच्छे—उसका वक्षःस्थल छाती, पुरवरकवाडोवमे—नगर के फाटक के समान चौड़ा था, दो वि तस्स बाहा—उसकी दोनों भुजाएँ, कोट्टिया संठाण संठिया—कोष्ठिका (हवा रोकने के या इकट्टी करने के लिए भस्त्रा-धौकनी के मुँह के सामने बनी हुई मिट्टी की कोठी) के समान थीं, दोवि तस्स अग्गहत्था—उसकी दोनों हथेलियाँ, निसापाहाणसंठाणसंठिया—चक्की के पाट के समान मोटी थीं, हत्थेसु अंगुलीओ—हाथों की अंगुलियाँ, निसालोड संठाणसंठियाओ—लौड़ी के समान थीं, से नक्खा—उसके नख, सिप्पि पुडगसंठिया—सीपियों के समान थे, दोवि तस्स थणया—उसके दोनों स्तन, ण्हावियपसेवओ व्व—नाई की गुच्छी (उस्तरे आदि रखने के चमड़े की थैलियों) के समान, उरंसि लंबंति—छाती से लटक रहे थे, पोहं—पेट, अयकोड्डओ व्व वडुं—लोहे के कुसूल, कोठे—के समान गोल था, से नाही—उसकी नाभि, पाणकलंदसरिसा—जुलाहों द्वारा वस्त्र में लगाए जाने वाले आटे के जल (माँड बनाने के बर्तन के समान गहरी थी, से नेत्ते—उसके नेत्र, सिक्कगसंठाण संठिए—छींके के समान थे, दोवि तस्स वसणा—उसके दोनों अण्डकोष, किण्ण पुडसंठाणसंठिया—बिखरे हुए दो थैलों के समान थे, दोवि तस्स ऊरू—उसकी दोनों जंघाएँ, जफल कोट्टियासंठाणसंठिया—समान आकार वाली दो कोठियों के समान थीं, तस्स जाणूइं—उसके घुटने, अज्जुणगुडुं व—अर्जुन वृक्ष के गुच्छे के समान, कुडिल कुडिलाइं विगयबीभच्छदंसणाइं—टेढ़े-मेढ़े विकृत और वीभत्स भयानक दर्शन वाले थे, जंघाओ—उसकी पिण्डलियाँ, कक्खडीओ—कठोर और, लोमेहिं उवचियाओ—बालों से भरी हुई थीं, दोऽवि तस्स पाया—उसके दोनों पैर, अहरी संठाण संठिया—दाल पीसने की शिला की तरह थे। पाएसु अंगुलीओ—पैरों की अंगुलियाँ, अहरी लोड संठाण संठियाओ—लोड़ी की आकृति वाली थी, से नक्खा—उन अंगुलियों के नख, सिप्पिपुडसंठिया—सीपियों के समान थे।

भावार्थ—उस मायावी, मिथ्यादृष्टि देव ने एक विकराल पिशाच का रूप धारण किया। उसका मस्तक गोकर्लिज अर्थात् गाय को चारा डालने के उपयोग में आने वाली टोकरी या कुण्ड के सदृश था। शालिभसेल्ल—अर्थात् धान्य आदि की मंजरी के तन्तुओं के समान रूखे और मोटे भूरे रंग के केश थे। ललाट मटके के समान लम्बा-चौड़ा था। भौहें गुलहरी की पूँछ के समान बिखरी हुई, और वीभत्स थीं। आंखें अत्यंत विकृत टेढ़ी-मेढ़ी थीं, ऐसा प्रतीत होता था जैसे मटके में दो छेद हों। कान टूटे हुए छाज के समान थे। नाक मेंढे जैसी थी और उसमें गड्ढे के समान छेद थे। नाक के छेद जुड़े हुए दो चूल्हों के समान थे। मूँहें घोड़े की पूँछ के समान रूखी, भूरी तथा विकृत थीं। होंठ ऊँट के होंठों के समान लम्बे थे। दांत फाल के समान तीखे थे। जीभ छाज के टुकड़े के समान विकृत और वीभत्स थी। उसकी ठुड़ी (जबड़े) हल कुदाल के समान उभरी थी। गाल कड़ाही के समान अन्दर को

धँसे हुए गढ़े जैसे थे और फटे हुए भूरे और वीभत्स थे। कंधे ढोल के समान थे। छाती नगर-कपाट के समान चौड़ी थी। भुजाएँ कोष्ठिका (फूँकनी) के समान थीं। हथेलियाँ चक्की के पाट के समान मोटी थीं। हाथों की अंगुलियाँ लोढ़ी के समान थीं। नाखून सीप के समान थे। स्तन छाती पर से लटक रहे थे, जैसे नाई के उपकरण रखने की थैलियाँ हों। पेट लोहे के कोठे (कुसूल) के समान गोल था। नाभि ऐसी गहरी थी जैसा जुलाहे का आटा-मांड घोलने का कुंडा हो। नेत्र छींके के समान थे। अण्डकोष भरे हुए दो थैलों (बोरियों) के समान थे। जंघाएँ समान आकार वाली दो कोठियों के समान थीं। घुटने अर्जुन वृक्ष के गुच्छ के समान टेढ़े-मेढ़े, विकृत और वीभत्स थे। पिण्डलियाँ कठोर और बालों से भरी थीं, पैर दाल पीसने की शिला की तरह थे। पैरों की अंगुलियाँ लोढ़ी जैसी आकृति वाली और पैरों के नख सीप के समान थे।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में पिशाच के भयंकर रूप का वर्णन है। उसके प्रत्येक अंग की जो उपमाएं दी गई हैं वे बड़ी विचित्र हैं। साहित्य शास्त्र में प्रायः ऐसी नहीं मिलतीं। रामायण तथा अन्य काव्यों में राक्षसों के भयंकर रूप का वर्णन है। ताडका, शूर्पनखा आदि राक्षसियों ने भी अनेक विकराल रूप धारण किए थे किन्तु वह वर्णन दूसरे प्रकार का है। प्रस्तुत वर्णन में जो चित्रण है वह मानव वंश विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पिशाच का रूप धारण करने वाले इस देवता को मिथ्यात्वी कहा गया है, जो जैन साधक कामदेव को उसकी साधना से विचलित करने आया है। जैन परम्परा के साथ इस प्रकार का धार्मिक विद्वेष किस परम्परा में था, यह भी विचारणीय है। प्रतीत होता है कि पिशाच का सम्बन्ध किसी तापस परम्परा से है जिसका विरोध भगवान् पार्श्वनाथ ने किया था। उनके जीवन में भी कमठ नाम के तापस का वर्णन मिलता है।

पिशाच का विकराल रूप और कामदेव को तर्जना

मूलम्—लडह-मडह-जाणुए विगय-भग्ग-भुग्ग-भुमए अवदालिय-वयणविवर-
 निल्लालियग्गजीहे, सरड-कय-मालियाए, उंदुर-माला-परिणद्ध-सुकय चिंधे,
 नउल-कय-कण्ण-पूरे, सप्प-कय-वेगच्छे, अप्फोडंते, अभिगज्जंते, भीम-मुक्कट्टहासे,
 नाणा-विह-पंच-वण्णेहिं लोमेहिं उवचिए एगं महं नीलुप्पलगवल-गुलिय-अयसि-कुसुम-
 प्पगासं असिं खुर-धारं गहाय, जेणेव पोसहसाला, जेणेव कामदेवे समणोवासए, तेणेव
 उवागच्छइ, २ ता आसु-रत्ते रुट्ठे-कुविए चंडिक्किए मिसिमिसियमाणे कामदेवं
 समणोवासयं, एवं वयासी—“हं भो कामदेवा! समणोवासया! अपत्थिय-पत्थिया!
 दुरंत-पंत-लक्खणा! हीण-पुण्ण-चाउहसिया! हिरि-सिरी-धिइ-कित्ति-परिवज्जिया!
 धम्मकामया! पुण्णकामया! सग्गकामया! मोक्खकामया! धम्मकंखिया! पुण्णकंखिया!

सगकंखिया! मोक्खकंखिया! धम्म पिवासिया! पुण्ण पिवासिया! सगपिवासिया!
मोक्खपिवासिया! नो खलु कप्पइ तव देवाणुप्पिया! जं सीलाइं वयाइं वेरमणाइं
पच्चक्खाणाइं पोसहोववासाइं चालित्तए वा, खोभित्तए वा, खंडित्तए वा, भंजित्तए वा,
उज्झित्तए वा, परिच्चइत्तए वा, तं जइ णं तुमं अज्ज सीलाइं जाव पोसहोववासाइं न
छट्टेसि न भंजेसि, तो ते अहं अज्ज इमेणं नीलुप्पल जाव असिणा खंडा-खंडिं करेमि, जहा
णं तुमं देवाणुप्पिया, अइ-दुहइ-वसइे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ ६५ ॥

छया—लडह-मडह-जानुकः, विकृतभग्न-भुग्न भ्रूः, अवदारित-वदन-विवर-निर्लालिताग्र जिह्वः,
सरटकृतमालिकः, उन्दुरुमाला परिणद्धसुकृतचिन्हः, नकुलकृत कर्णपूरः, सर्पकृतवैकक्षः, आस्फोटयन्,
अभिगर्जन, भीममुक्ताद्वाद्दहासः, नानाविध-पञ्चवर्णे रोमैरुपचितः एकं महान्तं नीलोत्पलगवल
गुलिकाऽतसी कुसुमप्रकाशमसिं क्षुर-धारं गृहीत्वा येनैव पौषधशाला येनैव कामदेवः
श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति । उपागत्य आशुरक्तः, रुष्टः, कुपितः, चाण्डिक्रियत, मिसमिसांयमानः
कामदेवं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“हं भो कामदेव! श्रमणोपासक! अप्रार्थित-प्रार्थक!
दुरन्तप्रान्तलक्षण! हीनपुण्यचातुर्दीशिक! ही-श्री-धृति-कीर्ति परिवर्जित! धर्मकाम! पुण्यकाम! स्वर्गकाम!
मोक्षकाम! धर्मकांक्षिन्! पुण्यकांक्षिन्! स्वर्गकांक्षिन्! मोक्षकांक्षिन्! धर्मपिपासित! पुण्यपिपासित!
स्वर्गपिपासित! मोक्षपिपासित! नो खलु कल्पते तव देवानुप्रिय! यत् शीलानि, व्रतानि, विरमणानि,
प्रत्याख्यानानि, पौषधोपवासानि, चालयितुं वा, क्षोभयितुं वा, खण्डितुं वा, भङ्गितुं वा, उज्झितुं वा,
परित्यक्तुं वा, तद् यदि खलु त्वमद्य शीलानि यावत्पौषधोपवासानि न त्यक्ष्यसि न भंक्ष्यसि
तर्हितेऽहमद्यानेन नीलोत्पल यावदसिना खण्डाखण्डिं करोमि यथा खलु त्वं देवानुप्रिय! आर्तदुःखार्त्त
वशात्तोऽकाल एव जीविताद् व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—लडह मडह जाणुए—उसके घुटने लम्बे और लडखड़ा रहे थे,
विगय-भग्ग-भुग्ग-भुमए—भ्रू भौंहे-विकृत, खण्डित तथा कुटिल थीं, अवदालिय वयण विवर
निल्लालियग्गजीहे—मुख फाड़ रखा था, जीभ बाहर निकाल रखी थी । सरडकय मालियाए—सरटों
की माला सिर पर लपेट रखी थी, उंदुरमालापरिणद्ध सुकयचिंधे—बँधी हुई चूहों की माला उसकी
पहचान थी । नउलकयकण्णपूरे—कर्ण फूल के स्थान पर नेवले लटक रहे थे, सप्पकयवेगच्छे—साँपों
का वैक अर्थात् दुपड़ा बना रखा था, अप्फोडंते—करास्फोट हाथ फटकारता हुआ, अभिगज्जंते—
गर्जना करता हुआ, भीममुक्कइद्दहासे—भयंकर अद्दहास करता हुआ, नाणाविह पंचवण्णेहिं लोमेहिं
उवचिए—नानाविध पांचवर्ण के रोमों से आवृत्त शरीर वह पिशाच, एणं महं—एक महान्,
नीलुप्पल—नील उत्पल, गवलगुलिय—महिष के सींग के समान नीले, अयसि कुसुम प्पगासं—अलसी
के फूल जैसी, असिं खुरधारं—तीक्ष्ण धार वाली तलवार को, गहाय—लेकर, जेणेवं—जहाँ,

पोसहसाला—पौषधशाला थी, जेणेव—और जहाँ, कामदेवे समणोवासए—कामदेव श्रमणोपासक था, तेणेव—वहाँ, उवागच्छइ—आया। उवागच्छिता—आकर, आसुरत्ते रुट्ठे कुविए चंडिकिए मिसिमिसीयमाणे—क्रूरता से रुष्ट, कुपित, क्रोधोन्मत्त तथा हाँफता हुआ, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—हं भो! कामदेवा समणोवासया!—अरे कामदेव श्रमणोपासक!, अपत्थिय-पत्थिया—अप्रार्थित अर्थात् मृत्यु के प्रार्थी!, दुरंत-पंत-लक्खणा! दुष्टपर्यवसान तथा अशुभ लक्षणों वाले!, हीणपुण्णचाउद्दसिया! दुर्भाग्यपूर्ण चतुर्दशी को जन्मे, हिरि-सिरि-धिइ-कित्ति परिवज्जिया—लज्जा, लक्ष्मी, धैर्य तथा कीर्ति से रहित, धम्मकामया!—धर्म की कामना करने वाले!, पुण्णकामया! पुण्य की कामना करने वाले!, सग्गकामया! स्वर्ग की कामना करने वाले!, मोक्खकामया! मोक्ष को चाहने वाले!, धम्मकंखिया—धर्माकांक्षी, पुण्णकंखिया!—पुण्य की इच्छा करने वाले, सग्गकंखिया!—स्वर्ग की आकांक्षा करने वाले, मोक्खकंखिया!—मोक्ष को चाहने वाले, धम्मपिवासिया—धर्म पिपासु, पुण्णपिवासिया—पुण्य के पिपासु!, सग्गपिवासिया—स्वर्ग की पिपासा करने वाले!, मोक्खपिवासिया—मोक्ष के पिपासो!, देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रिय!, नो खलु कप्पइ तव—तुझे नहीं कल्पता है, जं सीलाइं—शीलों, वयाइं—व्रतों, वेरमणाइं—विरमणों, पच्चक्खाणाइं—प्रत्याख्यानों, पोसहोववासाइं—तथा पौषधोपवासों से, चालित्तए वा—विचलित होना, खोभित्तए वा—विशुब्ध होना, खंडित्तए वा—इन्हें खण्डित करना, भंजित्तए वा—तथा भंग करना, उज्झित्तए वा—त्यागना, परिच्छित्तए वा—इनका परित्याग करना, तं जइ णं—तो यदि, तुमं अज्ज—तू आज, सीलाइं जाव पोसहोववासाइं—शीलों यावत् पौषधोपवास को, न छड्ढिसि—नहीं छोड़ेगा, न भंजेसि—नहीं भङ्ग करेगा, तो—तो, ते—तुझे, अहं—मैं, अज्ज—आज, इमेणं नीलुप्पल जाव असिणा—इस नील कमल आदि के समान श्याम रंग की तीखी तलवार से, खंडा-खंडिं करेमि—टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा, जहा णं—जिससे, तुमं देवाणुप्पिया! हे देवानुप्रिय! तू, अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे—आर्त्तध्यान के दुख के वशीभूत होता हुआ—अति विकट दुख भोगता हुआ, अकाले चेव—अकाल में ही, जीवियाओ—जीवन से, ववरोविज्जसि—पृथक् कर दिया जाएगा।

भावार्थ—उस पिशाच के घुटने लम्बे और लड़खड़ा रहे थे। भौंहें विकृत, अस्त-व्यस्त तथा कुटिल थीं। मुँह फाड़ रखा था और जीभ बाहर निकाल रखी थी। सरटों (गिरगिटों) और चूहों की मालाएँ पहन रखी थीं। यही उसका मुख्य चिह्न था। नेवले कर्ण भूषण बने हुए थे। साँप उत्तरीय की तरह गले में डाल रखे थे। हाथ-पैर फटकार कर भयंकर गर्जना करते हुए उसने अट्टहास किया। उसका शरीर पाँच वर्ण के बालों से आच्छादित था। नीले उत्पल (नील कमल) के समान नीलवर्ण, भैंसे के सींग के समान टेढे तथा अलसी के फूल के समान चमकते हुए तीक्ष्ण धार वाले खड़ग को लेकर पौषधशाला में कामदेव के पास पहुँचा और क्रूरता पूर्वक रुष्ट, कुपित तथा प्रचण्ड होकर हाँफता हुआ बोला—“अरे कामदेव! तू मौत की इच्छा कर रहा है। तू दुष्टपर्यवसान (दुखान्त) और

अशुभ लक्षणों वाला है। अशुभ चतुर्दशी को पैदा हुआ है। लज्जा, लक्ष्मी, धैर्य तथा कीर्ति रहित है। धर्म, स्वर्ग, तथा मोक्ष की कामना करता है। धर्म तथा स्वर्ग की आकांक्षा करता है, धर्म पिपासु है। हे देवानुप्रिय ! तुझे अपने शील, व्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से विचलित होना, क्षुब्ध होना, उनको खंडित करना, भङ्ग करना, त्याग और परित्याग करना नहीं कल्पता। किन्तु यदि तू आज शील आदि यावत् पौषधोपवासों को नहीं छोड़ेगा, भङ्ग नहीं करेगा तो इस नील-कमल आदि के समान श्याम रंग की तीखी तलवार से तेरे टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा, जिससे तू दुख भोगता हुआ, अकाल में ही जीवन से पृथक् हो जाएगा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में प्रारम्भ की कुछ पंक्तियाँ पिशाच की वेश-भूषा का वर्णन करती हैं। तत्पश्चात् कामदेव के पास उसके पहुँचने और उसे भयभीत करने का वर्णन है। पिशाच ने गिरगिट तथा चूहों की मालाएँ पहन रखी थीं। कर्णाभूषण के स्थान पर नेवले लटक रहे थे और उत्तरीय के स्थान पर साँप। जहाँ तक साँपों का प्रश्न है उन्हें गले में पहनने का वर्णन अन्यत्र भी मिलता है। पौराणिक देवता साँपों को आभूषण के रूप में धारण किए रहते थे तथा हाथी की खाल पहनते थे। उनके अनुचर अन्य भयंकर जंतुओं को भी धारण करते थे, जिनका वर्णन पिशाच के प्रस्तुत वर्णन से मिलता है।

लडहमडहजाणुए—इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—लडहमडह जाणुए ति इह प्रस्तावे लडह शब्देन गन्त्र्याः पश्चाद्भागवति तदुत्तराङ्गरक्षणार्थं यत्काष्ठं तदुच्यते, तच्च गन्त्र्यां श्लथबन्धनं भवति, एवं च श्लथसन्धि बन्धनत्वान्नलडह इव लडहे मडहे च स्थूलत्वात्पदीर्घत्वाभ्यां जानुनी यस्य तत्तथा” यहाँ लडह का अर्थ है—लकड़ी का वह लड्डा जो बैलगाड़ी का सन्तुलन रखने के लिए उसके पीछे लटकता रहता है। वह मोटा तथा शिथिल होता है। पिशाच की जंघाएँ भी उसी प्रकार मोटी और ढीली-ढाली लड़-खड़ा रही थीं।

‘सप्प कय वेगच्छे’—इसकी वृत्ति निम्नलिखित है—सर्पाभ्यां कृतं वैकक्षम्-उत्तरासङ्गो येन तत्तथा, पाठान्तरेण ‘भूसगकयभुंभलए विच्छुय कयवेगच्छे सप्पकय-जण्णोवइए’ तत्र भुंभलये ति-शेखरः ‘विच्छुय’ ति-वृश्चिकाः, यज्ञोपवीतं-ब्राह्मणकण्ठसूत्रम्, तथा ‘अभिन्नमुहनयणनक्खवरवग्घचित्तकत्ति-नियंसणे’ अभिन्नाः-अविशीर्णा मुखनयननखा यस्यां सा तथा सा चासौ वरव्याघ्रस्य चित्रा-कर्बुरा-कृत्तिश्व-चर्मैति कर्मधारयः, सा निवसनं-परिधानं यस्य तत्तथा, ‘सरसरुहिरमंसाव-लित्तगत्ते’ सरसाभ्यां रुधिरमांसाभ्यामवलित्तं गात्रं यस्य तत्तथा।”

वैकक्ष्य का अर्थ है—वह दुपट्टा जो बगलों के नीचे से ले जाकर कन्धों पर डाला जाता है, पिशाच ने साँप को इस प्रकार पहन रखा था। यहाँ पाठान्तर में कुछ और बातें भी बताई गई हैं। उसने चूहों का मुकुट, विच्छुओं की अक्षमाला तथा साँप का यज्ञोपवीत बना रखा था। चीते की खाल को, जिससे नाखून, आँखें और मुंह अलग नहीं हुए थे, वस्त्र के समान पहन रखा था। ताजे रुधिर और मांस से शरीर को लीप रखा था।

अप्यत्थिय-पत्थिया—(अप्रार्थित प्राथकः) 'अप्रार्थित' का अर्थ है—मृत्यु, जिसे कोई नहीं चाहता। समस्त शब्द का अर्थ है, अरे! मौत को चाहने वाले! यह शब्द संस्कृत साहित्य में बहुत अधिक मिलता है।

हीणपुण्यचाउद्दसिया—(हीनपुण्यचातुर्दशीक!) चतुर्दशी को पुण्य तिथि माना जाता है किन्तु यदि उसका क्षय हो और उस दिन किसी का जन्म हो तो वह अशुभ माना जाता है। यहाँ वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—“हीणपुण्यचाउद्दसिया, ति हीना—सम्पूर्णा पुण्या चतुर्दशी तिथिर्जन्मकाले यस्य स हीनपुण्यचतुर्दशीकः, तदामन्त्रणं, तथा नूतनवृत्तिः—“हीनेति-हीना अपूर्णा या पुण्या पावनी चतुर्दशी (तिथिः) सा हीनपुण्यचतुर्दशी, तस्यां जातो हीन-पुण्य चातुर्दशीकस्तत्सम्बोधने, पुण्य चतुर्दश्यामनुत्पन्नत्वेन भाग्यहीनः” तथा “जं-सीलाइं-वयाइं-वेरमणाइं-पच्चखाणाइं-पोसहोववासाइं” यह पद दिए हैं—इसका अर्थ वृत्तिकार ने ऐसे दिया है—शीलानि—अणुव्रतानि, व्रतानि—दिग्व्रतादीनि, विरमणानि-रागादि विरतयः, प्रत्याख्यानानि—नमस्कारसहि-तादीनि, पौषधोपवासान्—आहारादिभेदेन चतुर्विधान्।”

यहाँ चार प्रकार के अनुष्ठान बताए गए हैं—

१. शील—पांच अणुव्रत।
२. विरमण—दिशाव्रत आदि तीन गुणव्रत।
३. प्रत्याख्यान—नवकारसी, पोरिंसी आदि।
४. पौषधोपवास—धर्मस्थानादि एकान्त स्थान में सावध व्यापार से निवृत्त होकर उपवास-रूप तप; साधना का अनुष्ठान करना।

कामदेव की दृढ़ता—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं पिसाय-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे, अभीए, अत्तत्थे, अण्णुच्चिग्गे, अक्खुभिए, अचलिए, असंभंते, तुसिणीए धम्म-ज्झाणोवगए विहरइ ॥ ६६ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तेन देवेन पिशाचरूपेणैवमुक्तः सन् अभीतोऽत्रस्तोऽनुद्विग्नोऽक्षुब्धोऽचलितोऽसम्भ्रान्तस्तूष्णीको धर्मध्यानोपगतो विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक, तेणं देवेणं पिसाय रूवेणं—पिशाच रूप धारी उस देव के द्वारा, एवं वुत्ते-समाणे—इस तरह कहे जाने पर भी, अभीए—भयरहित, अत्तत्थे—त्रास रहित, अण्णुच्चिग्गे—उद्वेग रहित, अक्खुभिए—क्षोभ रहित, अचलिए—अचलित, असंभंते—असम्भ्रान्त, तुसिणीए—और शान्त, धम्मज्झाणोवगए विहरइ—रहकर

धर्म ध्यान में स्थिर रहा।

भावार्थ—पिशाचरूप धारी देवता के ऐसा कहने पर भी कामदेव श्रावक को न भय हुआ, न त्रास हुआ, न उद्वेग हुआ, न क्षोभ हुआ, न चंचलता आई और न संभ्रम हुआ। वह चुपचाप धर्मध्यान में स्थिर बना रहा।

टीका—पिशाचरूप धारी देव की भयंकर गर्जना सुनकर भी कामदेव विचलित नहीं हुआ। सूत्रकार ने उसकी दृढ़ता का वर्णन अभीत, अत्रस्त, अक्षुब्ध, अचलित, असंभ्रान्त तूषणीक, धर्मध्यानोपगत शब्दों द्वारा किया है। इसका अर्थ है उसके मन में भी किसी प्रकार की घबराहट या दुर्भावना नहीं आई। इससे उसके सम्यग् दर्शन अर्थात् धर्म विश्वास की दृढ़ता प्रकट होती है। जिस व्यक्ति के मन में आत्मा की अमरता तथा शरीर एवं बाह्य भोगों की नश्वरता रम गई है, वह किसी भी भय या प्रलोभन के सामने नहीं झुकेगा।

पिशाच की पुनः तर्जना—

मूलम्—तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव धम्म-ज्झाणोवगयं विहरमाणं पासइ, पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि कामदेवं एवं वयासी—“हं भो! कामदेवा! समणोवासया! अपत्थियपत्थिया! जइ णं तुमं अज्ज जाव ववरोविज्जसि ॥ ६७ ॥

छाया—ततः खलु स देवः पिशाचरूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावद्धर्मध्यानोपगतं विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि कामदेवमेवमवादीत्—“हं भोः! कामदेव! श्रमणोपासक! अप्रार्थितप्रार्थक! यदि खलु त्वमद्य यावद् व्यपरोपयिष्यसे।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे पिसायरूवे—वह पिशाचरूप धारी देव, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, अभीयं—भय रहित, जाव—यावत्, धम्मज्झाणोवगयं विहरमाणं—धर्मध्यान में लगे हुए, पासइ—देखता है, पासित्ता—देखकर, दोच्चंपि तच्चंपि—दूसरी बार और तीसरी बार भी, कामदेवं—कामदेव को, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—हं भो! कामदेवा! समणोवासया! अपत्थियपत्थिया! अरे मृत्यु को चाहने वाले कामदेव श्रमणोपासक!, जइ णं तुमं अज्ज—यदि तू आज शीलादि का परित्याग नहीं करेगा, जाव—यावत्, ववरोविज्जसि—तू प्राणों से अलग कर दिया जाएगा।

भावार्थ—पिशाचरूप धारी देव ने श्रावक कामदेव को निर्भय यावत् धर्मध्यान में स्थिर देखा तो वह क्रमशः तीन बार इस प्रकार बोला—“अरे मृत्यु के इच्छुक कामदेव! यदि आज तू शीलादि का परित्याग नहीं करेगा तो यावत् मारा जाएगा।”

कामदेव का अविचलित रहना—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे, अभीए जाव धम्म-ज्झाणोवगए विहरइ ॥ ६८ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तः सन् अभीतो यावद्धर्मध्यानोपगतो विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक, तेणं देवेणं—उस देव द्वारा, दोच्चंपि तच्चंपि—दूसरी बार तीसरी बार, एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी, अभीए—भय रहित, जाव—यावत्, धम्मज्झाणोवगए विहरइ—धर्म ध्यान में स्थिर रहा ।

भावार्थ—देव के द्वारा दूसरी और तीसरी बार कहे जाने पर भी कामदेव निर्भय होकर यावत् धर्म ध्यान में स्थिर रहा ।

पिशाच का हिंसक आक्रमण--

मूलम्—तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासित्ता आसुरत्ते ५ ति-वलियं भिउडिं निडाले साहट्टु कामदेवं समणोवासयं नीलुप्पल जाव असिणा खंडाखंडिं करेइ ॥ ६९ ॥

छाया—ततः खलु स देवः पिशाचरूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावद्विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा, आशुरक्तः ५ त्रिवलिकां भ्रु कुटिं ललाटे संहत्य कामदेवं श्रमणोपासकं नीलोत्पल यावदसिना खंडाखंडिं करोति ।

शब्दार्थ—तए णं—इस पर भी, से देवे पिसायरूवे—उस पिशाचरूप धारी देव ने, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, अभीयं जाव विहरमाणं—भय रहित धर्म-ध्यान में स्थित, पासइ—देखा, पासित्ता—देखकर, आसुरत्ते ५—अत्यन्त क्रुद्ध होकर, त्रिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु—मस्तक पर तीन भ्रुकुटियाँ चढ़ाकर, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, नीलुप्पल जाव असिणा—नील कमल के समान तलवार से, खंडाखंडिं करेइ—टुकड़े-टुकड़े कर दिया ।

भावार्थ—पिशाचरूपी देव ने फिर भी देखा कि कामदेव श्रमणोपासक निर्भय यावत् धर्मध्यान में स्थिर है । यह देखकर वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और ललाट पर तीन भ्रुकुटियाँ चढ़ाकर नील कमल के समान खड्ग से कामदेव श्रावक पर प्रहार करने लगा ।

टीका—खंडाखंडिं करेइ—यहाँ एक प्रश्न होता है कि टुकड़े-टुकड़े करने पर भी कामदेव जीवित कैसे रहा । इसका समाधान यह है कि—यह देवता द्वारा की गई विकुर्वणा थी । कामदेव को यह लग रहा था कि मेरा शरीर काटा जा रहा है, और वह सारी पीड़ा धैर्यपूर्वक सहन कर रहा था । अगले

अध्ययनों से यह स्पष्ट हो जाता है। चुलनीपिता को ऐसा लगता है जैसे उसके पुत्र मार डाले गए हैं और उन्हें गरम तेल के कड़ाहों में पकाया गया। किन्तु जब वह पिशाच को पकड़ने के लिए उठा और कोलाहल सुनकर माता सामने आई तो उसने बताया कि तेरे सभी पुत्र सुख से सो रहे हैं। उन्हें किसी ने नहीं मारा। इसी प्रकार कामदेव को भी विचलित करने के लिए भयंकर दृश्य उपस्थित किए गए। वे सच्ची घटना नहीं थे।

कामदेव का शांत रहना—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं जाव दुरहियासं वेयणं सम्मं सहइ जाव अहियासेइ ॥ १०० ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वलां दुरध्यासां वेदनां सम्यक् सहते यावदध्यास्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक, तं—उस, उज्जलं जाव दुरहियासं वेयणं—तीव्र यावत् दुःसह वेदना को, सम्मं सहइ जाव अहियासेइ—सम्यक् प्रकार से सहन करता हुआ, यावत् धर्मध्यान में स्थित रहा ।

भावार्थ—कामदेव श्रावक ने उस तीव्र और असह्य वेदना को शान्त चित्त होकर सहन किया और वह धर्म ध्यान में स्थिर रहा ।

पिशाच द्वारा हाथी का रूप धारण करना—

मूलम्—तए णं से देवे पिसाय-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासित्ता जाहे नो संचाएइ कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा, ताहे संते तंते परितंते सणियं सणियं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता, पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्वं पिसाय-रूवं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एगं महं दिव्वं हत्थि-रूवं विउव्वइ, सत्तंग-पइट्टियं सम्मं संठियं सुजायं, पुरओ उदगं, पिट्ठओ वराहं, अया-कुच्छिं अलंब-कुच्छिं पलंब-लंबोदराधर-करं अब्भुग्गय-मउल-मल्लिया-विमल-धवल-दंतं कंचणकोसी-पविट्ठ-दंतं, आणामि-यचाव-ललिय-संवेल्लियग्ग-सोण्डं कुम्मपडिपुण्ण-चलणं वीसइ-नक्खं अल्लीण-पमाण- जुत्त-पुच्छं ॥ १०१ ॥

छाया—ततः खलु स देवः पिशाचरूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावद्विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा यदा नो शक्नोति कामदेवं श्रमणोपासकं नैर्ग्रन्थ्यात्प्रवचनाच्चालयितुं वा क्षोभयितुं वा

विपरिणामयितुं वा तदा श्रान्तस्तान्तः परितान्तः शनैः शनैः प्रत्यवष्वष्कते प्रत्यवष्वष्क्य पौषधशालातः प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य दिव्यं पिशाचरूपं विप्रजहाति विप्रजहायैकं महद् दिव्यं हस्तिरूपं विकुरुते। सप्ताङ्ग प्रतिष्ठितं सम्यक् संस्थितं सुजातं पुरत उदग्रं पृष्ठतो वराहम्, अजाकुक्षि, अवलम्बकुक्षि, प्रलम्बलम्बोदराधरकरम्, अभ्युद्गतमुकुलमल्लिका विमल-धवल-दन्तं, काञ्चनकोशी प्रविष्ट दन्तम्, आनामितचापललितसंवेल्लिताग्रशुण्डं, कूर्म प्रतिपूर्णचरणं, विंशतिनखम्, आलीनप्रमाणयुक्तपुच्छम्।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे पिसायरूवे—उस पिशाचरूप धारी देव ने, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, अभीयं जाव विहरमाणं—भय रहित यावत् धर्म ध्यान में स्थित, पासइ—देखा, पासित्ता—देखकर, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, निग्गंथाओ पावयणाओ—निर्ग्रन्थ प्रवचन से, चालित्तए वा—विचलित करने, खोभित्तए वा—सुबुद्ध करने, विपरिणाभित्तए वा—उसके मनोभावों को पलटने में, जाहे नो संचाएइ—जब समर्थ न हो सका, ताहे—तब, संते—श्रान्त हो गया अर्थात् थक गया, तंते—खेद अनुभव करने लगा, परितंते—ग्लानि अनुभव करने लगा, सणियं सणियं पच्चोसक्कइ—धीरे-धीरे पीछे को लौटा, पच्चोसक्किता—लौटकर, पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ—पौषधशाला से बाहर निकला, पडिणिक्खमित्ता—बाहर निकलकर, दिव्वं पिसायरूवं—दिव्य पिशाच रूप, विप्पजहइ—त्याग दिया, विप्पजहित्ता—त्यागकर, एगं महं दिव्वं हत्थिरूवं—एक विकराल दिव्य हस्ती रूप की, विउव्वइ—विकुर्वणा की, सत्तंग पइड्डियं—सात अत्यन्त स्थूल अङ्गों से युक्त, सम्मं संठियं—सम्यक् प्रकार से संस्थित, सुजायं—सुजात, पुरओ उदग्गं—आगे से ऊँचा, पिड्डओ वराहं—और पीछे से सुअर के आकार का रूप बनाया, अयाकुच्छिं अलंबकुच्छिं—उसकी कुक्ष बकरी की कुक्षि-पेट के समान लम्बी और नीचे लटकती हुई थी, पलंब लंबोदराधर करं—पेट, अधर-होंठ और सूण्ड नीचे लटक रहे थे। अब्भुग्गयमउलमल्लियाविमल-धवलदंतं—दाँत मुंह से बाहर निकले हुए मुकुलित मल्लिका पुष्प की भाँति निर्मल और सफेद थे, कंचण कोसीपविड्डदंतं—और दोनों दाँत ऐसे थे मानो सोने की म्यान में रखे हुए हों, आणामिय-चावललियसंवेल्लियग्गसोंडं—सूण्ड का अग्र भाग झुके हुए धनुष की भाँति मुड़ा हुआ था, कुम्मपडिपुण्ण चत्तणं—चैर कछुए के समान स्थूल और चपटे थे, वीसइनक्खं—बीस नाखून थे, अल्लीणपमाणजुत्तपुच्छं—पूँछ उठी हुई तथा प्रमाणोपेत थी।

भावार्थ—पिशाचरूपी देव ने तब भी श्रावक कामदेव को निडर एवं ध्यान मग्न देखा। वह उसे निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित करने, विस्बुद्ध करने और मनो-भावों में परिवर्तन करने में समर्थ न हो सका तो श्रान्त, खिन्न एवं ग्लान होकर धीरे-धीरे पीछे लौटा। पौषधशाला से बाहर निकला और पिशाच के रूप को त्याग दिया। तत्पश्चात् विकराल हाथी का रूप धारण किया। उसके सातों अङ्ग

(चार पैर, सूण्ड, लिङ्ग और पूच्छ) सुडौल थे। शरीर की रचना दृढ़ तथा सुन्दर थी। आगे से उभरा हुआ और पीछे से वराह के समान झुका हुआ था। कुक्षि बकरी के समान लम्बी और लटकी हुई थी। पेट, होंठ और सूण्ड नीचे लटक रहे थे, दाँत मुँह से बाहर निकले हुए मुकुलित मल्लिका पुष्प की भाँति निर्मल और सफेद थे। उनके ऊपर सोने का वेष्टन था मानों सोने की म्यान में रखे हुए हों। सूण्ड का अग्रभाग झुके हुए धनुष के समान मुड़ा हुआ था, पैर कछुए के समान स्थूल और चपटे थे। पूँछ सटी हुई तथा यथा-प्रमाण थी।

मूलम्—मत्तं मेहमिव गुल-गुलेतं, मण-पवण-जङ्गण-वेगं, दिव्यं हस्तिरूपं विउव्वइ, विउव्वित्ता जेणेव पोसह-साला, जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—“हं भो! कामदेवा! समणोवासया! तहेव भणइ जाव न भंजेसि, तो ते अज्ज अहं सोँडाए गिण्हामि, गिण्हित्ता पोसहसालाओ नीणेमि, नीणित्ता उड्डं वेहासं उव्विहामि, उव्विहित्ता तिक्खेहिं दंत-मुसलेहिं पडिच्छामि, पडिच्छित्ता अहे धरणितलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेमि, जहा णं तुमं अट्ट दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ १०२ ॥

छाया—मत्तं मेहमिव गुडगुडायमानं, मनःपवनजयिवेगं, दिव्यं हस्तिरूपं विकुरुते, विकृत्य येनैव पौषधशाला येनैव कामदेवः श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य कामदेवं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—हंभोः! कामदेव! श्रमणोपासक! तथैव भणति यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्याहं शुण्डया गृह्णामि, गृहीत्वा पौषधशालातो नयामि, नीत्वोर्ध्वं विहायसमुद्वहामि, उदुह्य तीक्ष्णाभ्यां दन्तमुसलाभ्याम् प्रतीच्छामि प्रतीष्याधो धरणितले त्रिःकृत्यः पादयोर्लोलयामि, यथा खलु त्वमार्तं दुःखार्तवशातोऽकाल एव जीवितादव्यपरोपयिष्यसे।

शब्दार्थ—मत्तं मेहमिव गुलगुलेतं—वह मदोन्मत्त और मेघ के समान गर्जना कर रहा था, मणपवणजङ्गण वेगं—उसका वेग मन और पवन से भी तीव्र था, दिव्यं हस्तिरूपं—दिव्य हाथी के रूप की, विउव्वइ—विक्रिया की, विउव्वित्ता—विक्रिया करके, जेणेव पोसहसाला—जहाँ पौषधशाला थी, जेणेव कामदेवे समणोवासए—जहाँ कामदेव श्रमणोपासक था, तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आया, उवागच्छित्ता—आकर, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—हं भो! कामदेवा! समणोवासया!—अरे कामदेव श्रमणोपासक!, तहेव भणइ—उसी प्रकार कहा, जाव—यावत्, न भंजेसि—यदि तू शील-व्रतादि का त्याग नहीं करेगा, तो ते अज्ज अहं—तो तुझे मैं आज, सोँडाए गिण्हामि—सूण्ड से पकड़ूँगा, गिण्हित्ता—पकड़कर, पोसहसालाओ नीणेमि—पौषधशाला से बाहर ले जाऊँगा, नीणित्ता—ले जाकर, उड्डं वेहासं उव्विहामि—ऊपर आकाश में उछालूँगा, उव्विहित्ता—उछालकर, तिक्खेहिं दंतमुसलेहिं पडिच्छामि—तीक्ष्ण दन्त मूसलों में

उठा लूँगा, पडिच्छिता—उठाकर, अहे धरणितलंसि—नीचे पृथ्वी तल पर, तिक्खुत्तो—तीन बार, पाएसु लोलेभि—पैरों से कुचलूँगा, जहा णं तुमं—जिससे तू, अड्डुहड्डवसट्टे—अत्यन्त दुखी तथा चिन्ता मग्न होकर, अकाले चेव—असमय में ही, जीवियाओ ववरोविज्जसि—जीवन से रहित कर दिया जाएगा।

भावार्य—वह हाथी मदोन्मत्त था। मेघ के समान गर्जन कर रहा था। उसका वेग मन और पवन से भी तीव्र था। देवता ने ऐसे दिव्य हाथी के रूप की विक्रिया की और पौषधशाला में कामदेव श्रावक के पास पहुँचा और बोला—अरे कामदेव श्रावक! यदि तू शील-व्रत आदि का भङ्ग न करेगा तो मैं तुझे अपनी सूण्ड से पकड़कर पौषधशाला के बाहर ले जाऊँगा। आकाश में उछालूँगा फिर अपने तीक्ष्ण मूसल समान दान्तों पर उठा लूँगा। तीन बार नीचे भूमि तल पर पटककर पैरों से कुचलूँगा, जिसके कारण तू अत्यन्त दुख से आर्त होकर असमय में ही जीवन से हाथ धो बैठेगा।

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं हत्थि-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे, अभीए जाव विहरइ ॥ १०३ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तेन देवेन हस्तिरूपेणैवमुक्तः सन्नभीतो यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक, तेणं देवेणं हत्थिरूवेणं—उस हस्तिरूप धारी देव द्वारा, एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी, अभीए जाव विहरइ—भयभीत न हुआ और यावत् ध्यान में स्थिर रहा।

भावार्य—हाथी रूपधारी देवता के ऐसा कहने पर भी श्रावक कामदेव भयभीत न हुआ और यावत् ध्यान में स्थिर रहा।

मूलम्—तए णं से देवे हत्थि-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ २ ता दोच्चंपि तच्चंपि कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—“हं भो ! कामदेवा ! तहेव जाव सो वि विहरइ ॥ १०४ ॥

छाया—ततः खलु स देवो हस्तिरूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावद्विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि कामदेवं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—हं भोः ! कामदेव ! तथैव यावत्स विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे हत्थिरूवे—उस हस्तिरूप धारी देव ने, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, अभीयं जाव विहरमाणं पासइ—भयरहित यावत् ध्यान मग्न देखा, पासिता—देखकर, दोच्चंपि तच्चंपि—दूसरी और तीसरी बार, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, एवं वयासी—इस प्रकार कहा, हं भो ! कामदेवा !—अरे कामदेव !, तहेव जाव सोवि विहरइ—उसी प्रकार यावत् वह कामदेव भी विचरता रहा।

भावार्थ—हाथीरूप धारी देवता ने कामदेव श्रावक को निर्भय यावत् ध्यान से अविचलित देखा तो दूसरी और तीसरी बार उसने कामदेव श्रावक से फिर कहा परन्तु वह पूर्ववत् ध्यान में स्थिर रहा।

मूलम्—तए णं से देवे हत्थि-रूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, २ ता आसुरुते ४, कामदेवं समणोवासयं सोंडाए गिण्हेइ, २ ता उड्डं वेहासं उव्विहइ २ ता तिक्खेहिं दंत-मुसलेहिं पडिच्छइ, २ ता अहे धरणि-तलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेइ ॥ १०५ ॥

छाया—ततः खलु स देवो हस्तिरूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावद्विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा आशुरक्तः ४ कामदेवं श्रमणोपासकं शुण्डया गृह्णाति, गृहीत्वा ऊर्ध्वं विहायसि समुद्रहति, उदुह्य तीक्ष्णैर्दन्तमुसलैः प्रतीच्छति, प्रतिष्याधो धरणितले त्रिःकृत्वः पादयोर्लोलयति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे हत्थिरूवे—हस्तिरूप धारी उस देव ने, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, अभीयं जाव विहरमाणं—निर्भय यावत् (ध्यानस्थ) विचरते, पासइ—देखा, पासित्ता—देखकर, आसुरुते ४—अत्यन्त रुष्ट लाल पीला होकर, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, सोंडाए गिण्हेइ—सूण्ड से पकड़ा, गिण्हित्ता—पकड़कर, उड्डं वेहासं उव्विहइ—ऊपर आकाश में उछाल दिया, उव्विहित्ता—उछाल कर, तिक्खेहिं दंतमुसलेहिं पडिच्छइ—तीक्ष्ण मूसल के समान दाँतों पर झेला (धारण) किया, पडिच्छित्ता—झेलकर, अहे धरणितलंसि—नीचे पृथ्वी तल पर, तिक्खुत्तो—तीन बार, पाएसु लोलेइ—पैरों से रौंदा।

भावार्थ—फिर भी हाथी रूप धारी देव ने कामदेव श्रावक को निर्भय यावत् ध्याननिष्ठ देखा। और लाल-पीला होकर उसे सूण्ड से पकड़ा और ऊपर आकाश में उछालकर तीखे दाँतों पर झेला फिर नीचे पृथ्वी पर पटककर पैरों से रौंदा।

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं जाव अहियासेइ ॥ १०६ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वलां यावदध्यास्ते।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक, तं उज्जलं जाव अहियासेइ—असह्य वेदना को सहन करता है।

भावार्थ—कामदेव श्रावक उस असह्य वेदना को शान्तिपूर्वक सहन करता रहा।

पिशाच द्वारा सर्प रूप धारण—

मूलम्—तए णं से देवे हत्थि-रूवे कामदेवं समणोवासयं जाहे नो संचाएइ जाव सणियं-सणियं पच्चोसक्कइ, २ ता पोसह-सालाओ पडिणिक्खमइ, २ ता दिव्वं हत्थि-रूवं विप्पजहइ, २ ता एगं महं दिव्वं सप्प-रूवं विउव्वइ, उग्ग-विसं चंड-विसं घोर-विसं

महाकायं मसी-मूसा-कालगं नयण-विस-रोस-पुण्णं, अंजण-पुंज-निगरप्पगासं, रत्तच्छं लोहिय-लोयणं जमल-जुयल-चंचल-जीहं, धरणी-यल-वेणीभूयं, उक्कुड-फुड-कुडिल-जडिल-कक्कस-वियड-फुडाडोव-करण-दच्छं, लोहागर-धम्ममाण-धमधमेत-घोसं, अणागलिय-तिव्व-चंड रोसं सप्प-रूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता जेणेव पोसहसाला जेणेव कामदेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—“हं भो! कामदेवा! समणोवासया! जाव न भंजेसि, तो ते अज्जेव अहं सर-सरस्स कायं दुरुहामि, दुरुहित्ता पच्छिमेणं भाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेमि वेढित्ता तिक्खाहिं विस-परिगयाहिं दाढाहिं उरंसि चेव निकुट्टेमि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसटे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ १०७ ॥

छाया—ततः खुल स देवो हस्तिरूपः कामदेवं श्रमणोपासकं यदा नो शक्नोति यावत् शनैः-शनैः प्रत्यवष्वक्कति, प्रत्यवष्वक्क्य पौषधशालातः प्रतिनिष्कामति, प्रतिनिष्कम्य दिव्यं हस्तिरूपं विप्रजहाति, विप्रहायैकं महद् दिव्यं सर्परूपं विकुरुते, उग्रविषं चण्डविषं घोरविषं महाकायं मसीमूषाकालकं नयनविषरोषपूर्णम्, अञ्जनपुञ्जनिकरप्रकाशं रक्ताक्षं, लोहितलोचनं यमल युगल चंचल जिह्वं धरणी तलवेणी भूतम्, उत्कट स्फुट कुटिल जटिल कर्कश विकटस्फुटाटोपकरण दक्षं, लोहाकर ध्यायमान धमधमद्-घोषम् अनाकलित-तीव्र चण्डरोषं सर्परूपं विकुरुते, विकृत्य येनैव पौषधशाला येनैव कामदेवः श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य कामदेवं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“हं भो! कामदेव! श्रमणोपासक! यावत् न भनक्षि तर्हि तेऽधैवाहं सरसरेति कायं दूरोहामि., दूरुह्य पश्चिमेन भागेन त्रिःकृत्वा ग्रीवां वेष्टयामि, वेष्टयित्वा तीक्ष्णाभिर्विषपरिगताभिर्दष्ट्राभिरुरस्येव निकुट्टामि यथा खलु त्वमार्तदुःखार्तं वशातोऽकाल एव जीविताद् व्यपरोपयिष्यसे ।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे हत्थिरूवे—वह हस्तिरूपधारी देव, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, जाहे नो संचाएइ—जब विचलित करने में समर्थ न हुआ, जाव—यावत्, सणियं सणियं पच्चोसक्कइ—धीरे-धीरे लौट गया, पच्चोसक्कित्ता—लौटकर, पोसहसालाओ—पौषधशाला से, पडिणिक्खमइ—निकला, पडिणिक्खमित्ता—निकलकर, दिव्वं हत्थिरूवं विप्पजहइ—दिव्य हस्तिरूप को छोड़ा, विप्पजहित्ता—छोड़कर, एणं महं दिव्वं—एक महान् विकराल, सप्परूवं—सांप का रूप, विउव्वइ—धारण किया, उग्गविसं—वह सर्प उग्र विष वाला, चंडविसं—चंड विष वाला, घोरविसं—घोर विष वाला, महाकायं—महाकाय, मसीमूसाकालगं—लोहे की ऐरन के समान काला था, नयणविसरोसपुण्णं—नेत्र विष और रोष से भरे थे, अंजणपुञ्जनिगरप्पगासं—वर्ण काजल के पुञ्ज के समान था, रत्तच्छं—आखें लाल थीं, लोहिय

लोयणं—लोचन लाल थे, जमल जुयल चंचल जीहं—जुड़ी हुई दोनों जिह्वाएँ बाहर लपक रही थीं, धरणीयल वेणीभूयं—वह अत्यन्त काला होने के कारण पृथ्वी की वेणी के समान प्रतीत हो रहा था, उक्कुड फुड कुडिलजडिल कक्कस वियड फुडाडोवकरण दच्छं—उत्कृष्ट-प्रकट-कुटिल-जटिल-कठोर तथा भयंकर फण फैलाए हुए था, लोहागर धम्ममाण धमधमेत घोसं—लोहे की धमन भट्टी के समान फुफकार कर रहा था, अणागलिय तिव्व चंडरोसं—दुर्दान्त, तीव्र रोष से भरा था, सप्परूवं विउव्वइ—(उस देव ने) ऐसे सर्प का रूप बनाया, विउव्वित्ता—बना कर, जेणेव पोसहसाला—जहाँ पौषधशाला थी, जेणेव कामदेवे समणोवासए—जहाँ कामदेव श्रमणोपासक था, तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आया, उवागच्छित्ता—आकर, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, एवं वयासी—इस प्रकार बोला, हं भो! कामदेवा! समणोवासया! अरे कामदेव श्रमणोपासक!, जाव—यावत, न भंजेसि—यदि तू (शील आदि व्रतों को) नहीं छोड़ेगा, तो ते अज्जेव अहं सरसरस्स कायं दुरूहामि—तो मैं अभी तेरे शरीर पर सर-सर करता हुआ चढ़ता हूँ, दुरूहित्ता—चढ़कर, पच्छिमेणं भाएणं—पिछले भाग से, तिक्खुत्तो—तीन बार, गीवं वेढेमि—गले को लपेट लूँगा, वेढित्ता—लपेटकर, तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं—तीक्ष्ण विषैली दाढ़ाओं से, उरंसि चेव निकुट्टेमि—वक्षस्थल में डसूँगा, जहा णं तुमं—जिस से तू, अट्टदुहट्टवसट्टे—अत्यन्त दुख से पीड़ित होकर, अकाले चेव—असमय में ही, जीवियाओ ववरोविज्जसि—जीवन से रहित हो जाएगा।

भावार्थ—जब हस्तिरूप धारी पिशाच कामदेव श्रावक को धर्म से विचलित न कर सका तो धीरे-धीरे लौट गया। पौषधशाला से बाहर निकला और हाथी का रूप त्याग दिया। उसने एक विकराल सर्प का रूप धारण किया जो उग्र विष, चंड विष, घोर विष तथा महाकाय था। स्याही और ऐरन के समान काला था। नेत्र विष और रोष से भरे हुए थे, मानों काजल का पिंड हो। नेत्र रक्त एवं अरुण थे। जिह्वा युगल लपलपा रहा था। ऐसा मालूम होता था जैसे कि पृथ्वी की वेणी हो। काला, अत्यन्त प्रकट, कुटिल, जटिल, कठोर और भयङ्कर फण फैलाए हुए था। लुहार की धमनी के समान फुँफकार कर रहा था। वह दुर्दान्त, तीव्र और भयङ्कर क्रोध से भरा हुआ था। इस प्रकार सर्प का रूप बनाकर वह देव पौषधशाला में कामदेव के पास पहुँचा और बोला—“अरे कामदेव श्रावक! यदि तू शील आदि व्रतों को भङ्ग नहीं करेगा तो मैं अभी तेरे ऊपर सर-सर करता हुआ चढ़ जाऊँगा। गले को लपेट लूँगा और तीक्ष्ण विषैली दाढ़ाओं में वक्षस्थल में डसूँगा जिससे तू दारुण दुख से पीड़ित होकर असमय में ही जीवन से रहित हो जाएगा।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में देव द्वारा उपस्थापित तीसरे उपसर्ग का वर्णन है। हाथी के रूप में अनेक कष्ट देने पर भी जब कामदेव श्रावक साधना से विचलित न हुआ तो पिशाच धीरे-धीरे बाहर निकला और उसने भयंकर सांप का रूप धारण किया। उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार ने विष के तीन विशेषण दिए हैं—

१. उग्र-विष—अर्थात् वह विष जो असह्य वेदना उत्पन्न करने वाला होता है।

२. चण्ड-विष—अर्थात् वह विष जो तुरन्त सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है और अपना प्रभाव शीघ्र दिखाता है।

३. घोर विष—अर्थात् वह प्रभावशाली, अत्यन्त भयंकर विष जिससे तुरन्त मृत्यु हो जाती है।

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं देवेणं सप्प-रूवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ । सो वि दोच्चंपि तच्चंपि भणइ, कामदेवोवि जाव विहरइ ॥ १०८ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तेन देवेन सर्परूपेणैवमुक्तः सन् अभीतो यावद्विहरति । सोऽपि द्विवारमपि त्रिवारमपि भणति, कामदेवोऽपि यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक, तेणं देवेणं सप्परूवेणं—उस सर्प रूपधारी देव द्वारा, एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर, अभीए जाव विहरइ—निर्भय, यावद् ध्याननिष्ठ—स्थिर रहा, सो वि—उस देव ने भी, दोच्चंपि तच्चंपि भणइ—दूसरी और तीसरी बार कहा, कामदेवो वि—कामदेव भी, जाव—यावत्, विहरइ—ध्यान में स्थिर रहा।

भावार्थ—सर्प रूपधारी देव के ऐसा कहने पर भी कामदेव निर्भय यावत् ध्यानस्थ रहा। देव ने दूसरी और तीसरी बार कहा परन्तु कामदेव विचलित न हुआ।

मूलम्—तए णं से देवे सप्परूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता आसुरुत्ते ४ कामदेवस्स समणोवासयस्स सरसरस्स कायं दुरूह, दुरूहिता पच्छिम-भाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेइ, वेढित्ता तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं उरंसि चेव निककुट्टेइ ॥ १०९ ॥

छाया—ततः खलु स देवः सर्परूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावत्पश्यति, दृष्ट्वा आशुरुप्तः ४ कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य सरसरेति कायं दूरोहति, दूरुह्य पश्चिमभागेन त्रिकृत्वो ग्रीवां वेष्टयति वेष्टयित्वा तीक्ष्णाभिर्विषपरिगताभिर्दंष्ट्राभिरुरस्येव निकुट्टति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे सप्परूवे—सर्प रूपधारी उस देव ने, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, अभीयं जाव पासइ—निर्भय यावत् ध्यानस्थ देखा, पासित्ता—देखकर, आसुरुत्ते—अत्यन्त रुष्ट होकर, कामदेवस्स समणोवासयस्स सरसरस्स कायं दुरूहइ—कामदेव श्रमणोपासक के शरीर पर सरसर करता हुआ चढ़ गया, दुरूहिता—चढ़कर, पच्छिम भाएणं—पीछे की ओर से, तिक्खुत्तो—तीन बार, गीवं वेढेइ—(उसकी) गर्दन को लपेट लिया, वेढित्ता—लपेटकर, तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं—तीक्ष्ण और विषैली दाढ़ों से, उरंसि चेव निकुट्टेइ—वक्षस्थल में डंक मारा।

शब्दार्थ—जब सर्प रूपधारी देव ने कामदेव श्रावक को निर्भय यावत् ध्यान में स्थिर देखा तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर, सरसर करता हुआ उसके शरीर पर चढ़ गया, उसकी ग्रीवा को लपेट लिया। विषैली तीक्ष्ण दाढ़ों से उसके वक्षस्थल पर डंक मारा।

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं जाव अहियासेइ ॥ ११० ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकस्तामुज्ज्वलां यावदध्यास्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कामदेवे समणोवासए—उस कामदेव श्रमणोपासक ने; तं उज्जलं जाव अहियासेइ—उस तीव्र वेदना को सहन किया।

भावार्थ—कामदेव श्रावक उस असह्य वेदना को शान्तिपूर्वक सहन करता रहा।

देव का पराजित होकर निजी रूप धारण करना—

मूलम्—तए णं से देवे सप्परूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता जाहे नो संचाएइ कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा ताहे संते तंते परितंते सणियं-सणियं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्किता पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता दिव्वं सप्परूवं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता एगं महं दिव्वं देवरूवं विउव्वइ ॥ १११ ॥

छाया—ततः खलु स देवः सर्परूपः कामदेवं श्रमणोपासकमभीतं यावत्प्रशयति, दृष्ट्वा यदा नो शक्नोति कामदेवं श्रमणोपासकं नैर्ग्रन्थ्यात्प्रवचनाच्चाालयितुं वा क्षोभयितुं वा विपरिणामयितुं वा तदा शान्तः, तान्तः, परितान्तः शनैः शनैः प्रत्यवष्वष्कति, प्रत्यवष्वष्क्य पौषधशालातः प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य दिव्यं सर्परूपं विप्रजहाति, विप्रजहायैकं महद्दिव्यं देवरूपं विकुरुते ।

शब्दार्थ—तए णं—इस पर भी, से देवे सप्परूवे—उस सर्प रूपधारी देव ने, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, अभीयं जाव पासइ—निर्भय यावत् (ध्यान में स्थिर देखा), पासित्ता—देखकर, जाहे नो संचाएइ—जब समर्थ न हो सका, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, निग्गंथाओ पावयणाओ—निर्ग्रन्थ प्रवचन से, चालित्तए वा—विचलित करने, खोभित्तए वा—क्षुब्ध करने, विपरिणामित्तए वा—परिवर्तित करने में, ताहे—तब, संते-तंते परितन्ते—श्रान्त, ग्लान और अत्यन्त दुखी होकर, सणियं सणियं पच्चोसक्कइ—धीरे धीरे लौटा, पच्चोसक्किता—लौटकर पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ—पोषधशाला से निकला, पडिणिक्खमित्ता—निकलकर, दिव्वं सप्परूवं विप्पजहइ—दिव्य सर्प का रूप त्याग दिया, विप्पजहित्ता—त्यागकर, एगं महं दिव्वं—एक महान् दिव्य, देवरूवं विउव्वइ—देव रूप को धारण किया।

भावार्थ—जब सर्प रूपधारी देव ने देखा कि कामदेव श्रमणोपासक निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित या क्षुब्ध नहीं हुआ और उसके विचार नहीं बदले तो वह धीरे-धीरे वापिस लौटा। पौषधशाला से निकलकर उसने सांप का रूप छोड़ दिया और देवता का रूप धारण कर लिया।

देव द्वारा कामदेव की प्रशंसा और क्षमा प्रार्थना—

मूलम्—हार-विराड्य-वच्छं जाव दस दिसाओ उज्जोवेमाणं (पभासेमाणं) पासाईयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं दिव्वं देवरूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता कामदेवस्स समणोवासयस्स पोसहसालं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता अंतलिक्ख-पडिवन्ने सखिंखिणियाइं पंच-वण्णाइं वत्थाइं पवर-परिहिए कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—‘हं भो! कामदेवा समणोवासया! धन्नेसि णं तुमं, देवाणुप्पिया! संपुण्णे कयत्थे कय-लक्खणे सु-लद्धे णं तव, देवाणुप्पिया! माणुस्सए जम्मजीवियफले, जस्स णं तव निग्गंथे पावयणे इमेयारूवा पडिवत्ति लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया। एवं खलु देवाणुप्पिया! सक्के देविदे देवराया जाव सक्कंसि सीहासणंसि चउरासीईए सामाणिय-साहस्सीणं जाव अन्नेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य मज्झगए एवमाइक्खइ ४—‘एवं खलु देवाणुप्पिया! जंबुद्वीवे दीवे भारहे वासे चम्पाए नयरीए कामदेवे समणोवासए पोसहसालाए पोसहिए बंभयारी जाव दब्भसंधारोवगए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। नो खुल से सक्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा जाव गंधव्वेण वा निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा।’ तए णं अहं सक्कस्स देविदस्स देवरण्णो एयमट्ठं असद्दहमाणे ३ इहं हव्वमागए। तं अहोणं, देवाणुप्पिया! इड्ढी ६ लद्धा ३, तं दिट्ठाणं देवाणुप्पिया! इड्ढी जाव अभिसमन्नागया। तं खामेमि णं, देवाणुप्पिया! खमंतु मज्झ देवाणुप्पिया! खंतुमरहंति णं देवाणुप्पिया! नाइं भुज्जो करणयाए’ ति कट्टु पाय-वडिए पंजलिउडे एयमट्ठं भुज्जो-भुज्जो खामेइ, खामित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए ॥ ११२ ॥

छाया—हारविराजित वक्षो यावद् दशदिश उद्घोतयत् प्रासादीयं दर्शनीयमभिरूपं प्रतिरूपं दिव्यं देवरूपं विकुरुते, विकृत्य कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य पौषधशालामनुप्रविशति, अनुप्रविश्यान्त-रिक्षप्रतिपन्नः सकिङ्किणीकानि पञ्चवर्णानि वस्त्राणि प्रवरपरिहितः कामदेवं श्रमणोपासक-मेवमवादीत्—‘हंभोः कामदेव! श्रमणोपासक! धन्योऽसि खलु त्वं देवानुप्रिय! सम्पूर्णः, कृतार्थः, कृतलक्षणः, सुलभं खलु तव देवानुप्रिय! मानुष्यकं जन्मजीवितफलं, यस्य खलु तव नैर्ग्रन्थे प्रवचने

इयमेतद्रूपा प्रतिपत्तिर्लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता । एवं खलु देवानुप्रिय! शक्रो देवेन्द्रो देवराजो यावत् शक्रे सिंहासने चतुरशीतेः सामानिकसाहस्रीणां यावदन्येषां च बहूनां देवानां देवीनां च मध्यगत एवमाख्याति ४—“एवं खलु देवानुप्रियाः! जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे चम्पायां नगर्यां कामदेवः श्रमणोपासकः पौषधशालायां पौषधिको ब्रह्मचारी यावत् दर्भसंस्तारोपगतः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसंपद्यविहरति । नो खलु स शक्यः केनापि देवेन वा दानवेन वा गन्धर्वेण वा नैर्ग्रन्थ्यास्त्रवचनाच्चालयितुं वा क्षोभयितुं वा विपरिणामयितुं वा । ततः खलु अहं शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्यैतमर्थमश्रद्धानः ३ इह हव्यमागतः, तदहो खलु देवानुप्रियाः! ऋद्धि ६ लब्धा ३ तद् दृष्ट्वा खलु देवानुप्रियाः! ऋद्धिर्यावदभिसमन्वागता, तत् क्षामयामि देवानुप्रियाः! क्षम्यन्तां मम देवानुप्रियाः! क्षन्तुमर्हन्ति देवानुप्रियाः! न भूयः करणतया” इति कृत्वा पादपतितः प्राञ्जलिपुट एतदर्थं भूयो भूयः क्षमापयति क्षमापयित्वा यामेवदिशं प्रादुर्भूतस्तामेवदिशं प्रतिगतः ।

शब्दार्थ—(उस देव ने) हारविराइयवच्छं—हारों से विभूषित वक्षस्थल वाला, जाव—यावत्, दसदिसाओ उज्जोवेमाणं—दश दिशाओं को प्रकाशित करने वाला, पासाईयं—मन को प्रसन्न करने वाला, दरिसणिज्जं—दर्शनीय, अभिरूवं—अभिरूप, पडिरूवं—प्रतिरूप, दिव्वं देवरूवं—दिव्य देव रूप, विउव्वइ—धारण किया, विउव्वित्ता—धारण करके, कामदेवस्स समणोवासयस्स—कामदेव श्रमणोपासक की, पोसहसालं अणुप्पविसइ—पौषधशाला में प्रवेश किया, अणुप्पविसित्ता—प्रवेश करके, अंतलिक्ख पडिवन्ने—आकाश में अवस्थित होकर, संखिखिणियाइं पंचवण्णाइं वत्थाइं पवरपरिहिए—क्षुद्र घंटिकाओं से मण्डित पञ्चवर्ण के वस्त्र धारण किए हुए, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, एवं वयासी—इस प्रकार कहा—हं भो कामदेवा समणोवासया! हे कामदेव श्रमणोपासक!, धन्नेसि णं तुमं देवाणुप्पिया! हे देवानुप्रिय! तुमं धन्य हो, संपुण्णे—तुम पुण्यशील हो, कयत्ये—कृतार्थ हो, कयलक्खणे—कृत लक्षण अर्थात् शुभ लक्षणों वाले हो, सुलद्धेणं तव देवाणुप्पिया! माणुस्सए जम्मजीवियफले—हे देवानुप्रिय! तुम्हारे लिए मनुष्य जन्म और जीवन का फल सुलभ है, जस्स णं—क्योंकि, तव णिग्गंथे पावयणे—तुम्हें निर्ग्रन्थ प्रवचन में, इमेयारूवा पडिवत्ती—यह इस प्रकार की प्रतिपत्ति विश्वास, लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया—उपलब्ध हुई—प्राप्त हुई और जीवन में उत्तर गई! एवं खलु देवाणुप्पिया! इस प्रकार हे देवानुप्रिय!, सक्के देविंदे देवराया—शक्र देवेन्द्र देवराज ने, जाव—यावत्, सक्कंसि सीहासणंसि—शक्रासन से, चउरासीईए सामाणियसाहस्रीणं—चौरासी हजार सामानिक, जाव—यावत्, अन्नेसिं च बहूणं—अन्य बहुत से, देवाण य देवीण य मज्झगए—देवों और देवियों के मध्य में, एवमाइक्खइ—इस प्रकार कहा—एवं खलु देवाणुप्पिया! इस प्रकार हे देवो!, जंबुद्वीवे दीवे—जम्बूद्वीप में, भारहे वासे—भारत वर्ष की, चम्पाए नयरीए—चम्पा नगरी में, कामदेवे समणोवासए—कामदेव श्रमणोपासक,

पोसहसालाए पोसहिए—पौषधशाला में पौषध अङ्गीकार करके, बंभयारी जाव—ब्रह्मचारी यावत्, दम्भसंधारोवगए—डम्भ के संधारे (शय्या) पर बैठा हुआ, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं—श्रमण भगवान् महावीर से प्राप्त हुई, धम्मपण्णत्तिं—धर्मप्रज्ञप्ति को, उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—स्वीकार कर विचर रहा है। नो खलु से सक्का—यह शक्य नहीं कि उसे, केणइ देवेण वा—कोई देव, दाणवेण वा—कोई दानव, जाव—यावत्, गंधव्वेण वा—गन्धर्व, निग्गंथाओ पावयणाओ—निर्ग्रन्थ प्रवचन से, चालित्तए वा—विचलित, खोभित्तए वा—अथवा क्षुब्ध कर सके, विपरिणामित्तए वा—अथवा उसके भावों को बदल सके, तएणं अहं—तब मैं, सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो—देवेन्द्र देवराज शक्र की, एयमट्ठं—इस बात पर, असद्दहमाणे—विश्वास न करता हुआ, इहं हव्वमागए—तत्काल यहां आया, तं अहो णं देवाणुप्पिया—अहो देवानुप्रिय !, इट्ठी ६ लद्धा ३—तुमने ऐसी ऋद्धि प्राप्त की, तं दिट्ठा णं देवाणुप्पिया!, इट्ठी जाव अभिसमन्नागया—हे देवानुप्रिय! तुमने ऐसी ऋद्धि का साक्षात्कार किया यावत् वह तुम्हारे सन्मुख आई, तं खामेभि णं देवाणुप्पिया! हे देवानुप्रिय! मैं तुम से क्षमा की याचना करता हूँ, खमंतु मज्झ देवाणुप्पिया—हे देवानुप्रिय! मुझे क्षमा करो, खंतुमरिहंति णं देवाणुप्पिया—देवानुप्रिय! आप क्षमा करने योग्य हैं, नाइं भुज्जो करणयाए—फिर कभी ऐसा नहीं किया जाएगा, त्ति कट्टु—ऐसा कहकर, पायवडिए—पावों पर गिर पड़ा, पंजलिउडे—हाथ जोड़कर, एयमट्ठं भुज्जो २ खामेइ—इस बात के लिए बार-बार क्षमा याचना करने लगा, खामित्ता—क्षमा याचना करके, जामेव दिसं पाउब्भूए—जिस दिशा से प्रकट हुआ था, तामेव दिसं पडिगए—उसी दिशा में चला गया।

भावार्थ—उसने वक्षस्थल पर हार पहने हुए दश दिशाओं को प्रकाशित करने वाले चित्ताह्लादक, दर्शनीय, अभिरूप, प्रतिरूप तथा दिव्य देवरूप को धारण किया, पौषधशाला में प्रविष्ट हुआ, और आकाश में खड़ा हो गया। उसने पांच वर्णों वाले सुन्दर वस्त्र पहन रखे थे, जिनमें घुँगरू लगे हुए थे। तत्पश्चात् वह कामदेव श्रमणोपासक से इस प्रकार बोला—“देवानुप्रिय! तुम धन्य हो, पुण्यशील हो, कृतार्थ हो, कृत लक्षण हो। तुम्हारा जीवन और मनुष्यत्व सफल हुआ। क्योंकि तुम्हारी निर्ग्रन्थ प्रवचन में दृढ़ श्रद्धा है। हे देवानुप्रिय! देवराज शक्र ने चौरासी हजार सामानिक तथा अन्य देवी देवताओं के बीच भरी सभा में यह घोषणा की थी—“हे देवानुप्रियो! जम्बूद्वीप नामक द्वीप, भारत क्षेत्र में चम्पा नगरी है वहां कामदेव श्रमणोपासक पौषधशाला में भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म की आराधना कर रहा है, उसे कोई देव, असुर, या गन्धर्व धर्म से विचलित करने में समर्थ नहीं है। कोई भी उसे निर्ग्रन्थ प्रवचन से स्वलित नहीं कर सकता। उसके विचारों को नहीं बदल सकता।” देवेन्द्र देवराज शक्र की इस बात पर मुझे विश्वास न हुआ और मैं तत्काल यहाँ आया। अहो देवानुप्रिय! तुमने ऐसी ऋद्धि प्राप्त की। देवानुप्रिय! मैं क्षमा याचना करता हूँ। मुझे क्षमा कीजिए। आप मुझे क्षमा करने में समर्थ हैं। फिर कभी ऐसा काम नहीं किया जाएगा।”

इतना कहकर दोनों हाथ जोड़कर चरणों पर गिर पड़ा और बारम्बार क्षमा याचना करने लगा । तत्पश्चात् जिस दिशा से आया था उसी दिशा में चला गया ।

टीका—देव ने धर्म साधना से विचलित करने के लिए अनेक प्रयत्न किए किन्तु सफल नहीं हो सका । अन्त में अपने स्वाभाविक सुन्दर रूप में प्रकट हुआ और कामदेव से क्षमा याचना की । साथ ही उसने यह भी बताया—देवराज शक्रेन्द्र ने भरी सभा में तुम्हारी दृढ़ता की प्रशंसा की थी । मुझे उस पर विश्वास नहीं हुआ और परीक्षा लेने के लिए यहाँ चला आया । अब मुझे विश्वास हो गया है कि शक्रेन्द्र ने जो कहा था वह अक्षरशः ठीक है । तुम धन्य हो, पुण्यशाली हो, तुम्हारा जीवन सफल है क्योंकि निर्ग्रन्थ प्रवचन में तुम्हारी अटूट श्रद्धा है ।

प्रस्तुत सूत्र में देवता के स्वरूप का वर्णन करते हुए यावत् शब्द का प्रयोग किया गया है, इसका अर्थ है—थोड़ा-सा वर्णन यहां देकर शेष अन्यत्र अनुसन्धान के लिए छोड़ दिया गया है । वह वर्णन इस प्रकार है—“कडगतुडियथम्भियभुयं अङ्गदकुण्डलमङ्गण्डतलकण्णपीढधारं विचित्तहत्थाभरणं विचित्तमालामउल्लि कल्लाणगपवरवत्थपरिहियं कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरं भासुरबोन्दिं पलम्बवण-मालाधरं दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गन्धेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इह्णीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाएत्ति”, कण्ठयम् । नवरं कटकानि—कड्ढुणविशेषाः, तुटितानि—बाहुरक्षकास्ताभिरतिबहुत्वा-स्तम्भितौ—स्तम्भीकृतौ भुजौ यस्य तत्तथा, अङ्गदे च—केयूरे, कुण्डले च—प्रतीते मृष्टगण्डतले—घृष्टगण्डे ये कर्णपीठाभिधाने-कर्णाभरणे ते च धारयति यत्तत्तथा, तथा विचित्रमालाप्रधानो मौलिमुकुटं मस्तकं वा यस्य तत्तथा, कल्याणकम्-अनुपहतं प्रवरं वस्त्रं परिहितं येन तत्तथा, कल्याणकानि-प्रवराणि माल्यानि—कुसुमानि अनुलेपनानि च धारयति यत्तत्तथा, भास्वर बोन्दीकं—दीप्तशरीरम्, प्रलंबा या वनमाला—आभरण-विशेषस्तां धारयति यत्तत्तथा, दिव्वेणं वर्णेन युक्तमिति गम्यते, एवं सर्वत्र, नवरं ऋद्ध्या—विमानवस्त्रभूषणादिकया, युक्त्या—इष्टपरिवारादियोगेन, प्रभया-प्रभावेन, छायाया—प्रतिबिम्बेन, अर्चिषा—दीप्तिज्वालया, तेजसा—कान्त्या, लेशयया—आत्मपरिणामेन, उद्योतयत्—प्रकाशयत्-प्रभासयत्-शोभयदिति, प्रासादीयं- चित्ताह्लादकं, दर्शनीयं-यत्पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति, अभिरूपं-मनोज्ञं, प्रतिरूपं-द्रष्टारं २ प्रतिरूपं यस्य ‘विकुर्व्यं’—वैक्रियं कृत्वा अन्तरिक्षप्रतिपन्नः—आकाशस्थितः । ‘सकिङ्किणीकानि’—क्षुद्रघण्टिकोपेतानि ।”

उपरोक्त सूत्र पाठ में ‘सक्कंसि’ के पहले भी ‘जाव’ अर्थात् यावत् शब्द है । उस का पूरक नीचे लिखा पाठ है—

‘सक्के देविन्दे’ इत्यादौ यावत्करणादिदं दृश्यम्—“वज्जपाणी पुरन्दरे सयक्कऊ सहस्सक्खे मघवं

पागसासणे दाहिणह्लोगाहिर्वई बत्तीस विमाणसयसहस्साहिर्वई एरावणवाहणे सुरिन्दे अयरम्बरवत्थधरे आलइयमालमउडे नवहेमचारुचित्त चञ्चल कुण्डलविलिहिज्जमाणगण्डे भासुरबोन्दी पलम्बवणमाले सोहम्मे क्रप्पे सोहम्मवडिंसए विमाणे सभाए सोहम्माएत्ति” शक्रादिशब्दानां च व्युत्पत्त्यर्थभेदेन भिन्नार्थता द्रष्टव्या, तथाहि—शक्तियोगाच्छक्रः, देवानां च परमेश्वरत्वाद्देवेन्द्रः, देवानां मध्ये राजमानत्वाच्छोभमानत्वाद्देवराजः, वज्रपाणिः—कुलिशकरः, पुरं—असुरादिनगरविशेषस्तस्य दारणात्पुरन्दरः, तथा क्रतुशब्देनेह प्रतिमा विवक्षिताः, तथा कार्तिकश्रेष्ठित्वे शतं क्रतूनाम्—अभिग्रह विशेषाणां यस्यासौ शतक्रतुरिति चूर्णिकारव्याख्या, तथा पञ्चानां मन्त्रिशतानां सहस्रमक्षणां भवतीति तद्योगादसौ सहस्राक्षः, तथा मघ शब्देनेह मेघा विवक्षितास्ते यस्य वशवर्तिनः सन्ति स मघवान्, तथा पाको नाम—बलवांस्तस्य रिपुस्तच्छासनात्पाकशासनः, लोकस्यार्द्धम्—अर्द्धलोको दक्षिणो योऽर्द्धलोकः तस्य योऽधिपतिः स तथा, ऐरावणवाहणे—ऐरावतो—हस्ती स वाहनं यस्य स तथा, सुष्ठु राजन्ते ये ते सुरास्तेषामिन्द्रः—प्रभुः, सुरेन्द्रः, सुराणां—देवानां वा इन्द्रः सुरेन्द्रः, पूर्वत्र देवेन्द्रत्वेन प्रतिपादितत्वाद्—न्यथा वा पुनरुक्तपरिहारः कार्यः, अरजांसि—निर्मलानि अम्बरं—आकाशं तद्वदच्छत्वेन यानि तान्यम्बराणि तानि च वस्त्राणि तानि धारयति यः स तथा, आलगितमालम्—आरोपितं—स्नग्मुकूटं यस्य स तथा, नवे इव नवे हेमः—सुवर्णस्य सम्बन्धिनी चारुणी—शोभने चित्रे चित्रवती चञ्चले ये कुण्डले ताभ्यां विलिख्यमानौ गण्डौ यस्य स तथा शेषं प्रागिवेति।”

प्रस्तुत पाठ में देवराज शक्र के बहुत से नाम दिए गए हैं। टीकाकार ने व्युत्पत्ति द्वारा उनका अर्थ प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है—

१. शक्रः—इसका अर्थ है शक्तिशाली। यह शब्द संस्कृत की शक् धातु से बना है।
२. देवेन्द्रः—देवों के परमेश्वर अर्थात् स्वामी।
३. देवराजः—देवों के बीच विराजमान अर्थात् सुशोभित।
४. वज्रपाणी—जिसके हाथ में वज्र है।

५. पुरन्दरः—पुर अर्थात् असुरों के नगरों का दारण अर्थात् ध्वंस करने वाला।

६. शतक्रतुः—क्रतु का अर्थ है प्रतिमाएं अर्थात् श्रावक द्वारा किए जाने वाले अभिग्रह विशेष। कहा जाता है इन्द्र ने अपने पूर्व जन्म में, जब वह कार्तिकश्रेष्ठि के रूप में उत्पन्न हुआ था, सौ बार श्रावक की प्रतिमाएं अङ्गीकार की थीं।

तुलना—वैदिक परम्परा में क्रतु का अर्थ यज्ञ है, और यह माना जाता है कि सौ यज्ञ करने वाला इन्द्रासन का अधिकार बन जाता है।

७. सहस्राक्षः—इसका शब्दार्थ है हजार आंखों वाला। इन्द्र के पांच सौ मंत्री होते हैं और उनकी हजार आंखें होती हैं, अतः वह हजार आंखों वाला माना जाता है। वैदिक साहित्य में शत् शब्द का अर्थ है असंख्य और सहस्र का अर्थ है अनन्त। इन्द्र स्वर्ग का राजा है और उसकी दृष्टि चारों ओर फैली रहती है। अतः वह सहस्राक्ष माना जाता है।

८. मघवान्—मघ शब्द का अर्थ है मेघ या बादल, उन पर नियन्त्रण करने वाला मघवान् कहलाता है।

९. पाकशासनः—पाक का अर्थ है बलवान् शत्रु, उसका शासन अर्थात् दमन करने वाला पाकशासन कहलाता है।

१०. दक्षिणाद्धाधिपतिः—लोक का आधा भाग दक्षिण है और आधा उत्तर। दक्षिण भाग के अधिपति को दक्षिणाद्धाधिपति कहा जाता है।

११. ऐरावतवाहनः—इन्द्र के हाथी का नाम ऐरावत है। इस सवारी के कारण वह ऐरावतवाहन कहा जाता है।

१२. सुरेन्द्रः—सुर अर्थात् देवताओं का राजा।

सूत्र में देव सभा का वर्णन करते हुए ८० हजार सामानिक देवों का निर्देश आया है। इसका अर्थ है वे देव जो शासन का अधिकार न होने पर भी इन्द्र के समान वैभवशाली हैं। इन्द्र की सभा में उनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के लब्ध-प्रतिष्ठ देवी-देवता विद्यमान होते हैं। उनका संग्रह 'यावत्' शब्द से किया गया है। अन्यत्र उनका वर्णन नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

“तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं अट्टण्हं अग्गमहिस्सीणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणियाहिर्वईणं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, ति’ तत्र त्रयस्त्रिंशाः—पूज्या महत्तरकल्पाः, चत्वारो लोकपालाः पूर्वादिदिगधिपतयः सोमयमवरुण-वैश्रवणाख्याः, अष्टौ अग्रमहिष्यः—प्रधाना भार्याः, तत्परिवारः प्रत्येकं पञ्चसहस्राणि, सर्वमीलने चत्वारिंशत्सहस्राणि, तिस्रः परिषदोऽभ्यन्तरामध्यमाबाह्या च, सप्तानीकानि-पदातिगजाश्वरथवृषभ-भेदात्पञ्च साङ्ग्रामिकाणि, गन्धर्वानीकं नाट्यानीकं चेति सप्त, अनीकाधिपतयश्च सप्तं वै— प्रधानः पत्तिः प्रधानो गज एवमन्येऽपि, आत्मरक्षा—अङ्गरक्षास्तेषां चतस्रः सहस्राणां चतुरशीत्यः। आख्याति—सामान्यतो, भाषते विशेषतः, एतदेव प्रज्ञापयति प्ररूपयतीति पदद्वयेन क्रमेणोच्यत इति।”

उपरोक्त पाठ में इन्द्र के परिवार सम्बन्धी देवी-देवताओं का वर्णन है। वह इस प्रकार है—

१. त्रयस्त्रिंश—इसका अर्थ है ३३ देवताओं का समूह जिन्हें इन्द्र सन्मान की दृष्टि से देखता है और पूज्य मानता है।

२. चार लोकपाल—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर दिशा के अधिपति—सोम, यम, वरुण वैश्रवण। वैदिक पस्म्यरा में दिक्पालों की संख्या आठ है, उसमें चार विदिशाओं के अधिपति भी गिने जाते हैं।

३. आठ अग्र महिषियां—अर्थात् पटरानियां। प्रत्येक का परिवार पाँच हजार माना जाता है। इस प्रकार इन्द्र के अन्तःपुर में चालीस हजार देवियाँ हैं। कहीं-कहीं प्रत्येक अग्रमहिषी का परिवार सोलह हजार माना जाता है।

४. तीन परिषदें—आभ्यन्तर, मध्यम और बाह्य।

५. सात प्रकार की अनीक अर्थात् सेनाएँ—पैदल, घोड़े, रथ, हाथी तथा बैल, इस प्रकार पाँच युद्ध सम्बन्धी सेनाएँ तथा गन्धर्वानीक अर्थात् गाने-बजाने वालों का दल और नाट्यानीक अर्थात् नाटक करने वालों का दल।

६. सात सेनापति—उपरोक्त सातों प्रकार की सेनाओं के संचालक।

७. अङ्गरक्षक—इन्द्र की चार प्रकार की अङ्गरक्षक सेनाएँ हैं। प्रत्येक में ८४ हजार सैनिक होते हैं। यह इन्द्र की ऋद्धि का सामान्य वर्णन है।

उपरोक्त सूत्र में 'देव' शब्द के पहले भी 'जाव' शब्द आया है। वह नीचे लिखे पाठ की ओर निर्देश देता है—“जक्खेण वा रक्खसेण वा किन्नेरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गन्धव्वेण वा” अर्थात् कामदेव श्रमणोपासक को यक्ष, राक्षस, किन्नर किम्पुरुष, महोरग तथा गन्धर्व कोई भी धर्म से विचलित करने में समर्थ नहीं है।

सूत्र में 'नाइं' पद 'नैव' अर्थ का द्योतक है, इस पर वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—“नाइं भुज्जो करणयाए' न-नैव, आइं ति निपातो वाक्यालङ्कारे अवधारणे वा, भूयः करणतायां पुनराचरणे न प्रवर्तिष्य इति गम्यते” अर्थात् नाईं शब्द का अर्थ है 'नहीं'। यहाँ 'न' के साथ लगा हुआ 'आइं' केवल वाक्य का अलङ्कार है। किसी विशेष अर्थ को प्रकट नहीं करता अथवा इसका अर्थ है अवधारण या निश्चय और इसका प्रयोग 'नैव' के अर्थ में हुआ है। देव यह निश्चय प्रकट करता है कि मैं इस कार्य को भविष्य में नहीं करूँगा। क्षमायाचना करके देव पीछे लौट गया।

कामदेव द्वारा प्रतिमा की पूर्ति—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए “निरुवसग्गं” इइ कट्टु पडिमं पारेइ ॥ ११३ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकः 'निरुपसर्गम्' इति कृत्वा प्रतिमां पारयति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कामदेवे समणोवासए—उस कामदेव श्रमणोपासक ने, निरुवसग्गं इइ कट्टु—अब उपसर्ग नहीं रहा यह समझकर, पडिमं पारेइ—प्रतिमा-अभिग्रह का पारण किया।

भावार्थ—तदनन्तर उस कामदेव श्रमणोपासक ने निरुपसर्ग—‘उपसर्ग नहीं रहा’ यह जानकर प्रतिमा (अभिग्रह) का पारणा किया।

भगवान् महावीर का चम्पा में पदार्पण—

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ ॥ ११४ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, जाव विहरइ—यावत् विचर रहे थे।

भावार्थ—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर चम्पा नगरी के बाहर उद्यान में ठहरे हुए थे।

कामदेव का दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे “एवं खलु समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ, तं सेयं खलु मम समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता तओ पडिणियत्तस्स पोसहं पारित्तए” ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपहित्ता सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं जाव अप्प-महग्घ जाव मणुस्स-वग्गुरा परिक्खित्ते सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता चम्पं नगरिं मज्झं-मज्झेणं निगच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जहा संखो जाव पज्जुवासइ ॥ ११५ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकोऽस्यां कथायां लब्धार्थः सन् “एवं खलु श्रमणो भगवान् महावीरो यावद् विहरति, तच्छ्रेयः खलु मम श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दित्वा नमस्कृत्य ततः प्रतिनिवृत्तस्य पौषधं पारयितुम्” इति कृत्वा एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्य शुद्धप्रवेष्ट्यानि वस्त्राणि यावद्-अल्पमहार्थं—यावद्-मनुष्य वागुरा परिक्षिप्तः स्वस्मात् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य चम्पां नगरीं मध्यं-मध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव पूर्णभद्रश्चैत्यो यथा शंखो यावत् पर्युपास्ते।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक, इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—यह बात सुनकर कि, एवं खलु समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, जाव विहरइ—यावद् विचर रहे हैं, (सोचने लगा कि), तं सेयं खलु मम—मेरे लिए यह उचित है कि, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार कर, तओ पडिणियत्तस्स—वहाँ से लौटकर, पोसहं पारित्तए—पौषध का पारणा करूं। ति कट्टु एवं संपेहेइ—इस प्रकार विचार किया, संपेहित्ता—विचार कर, सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं—शुद्ध प्रवेश योग्य

वस्त्र (धारण कर), जाव—यावत्, अप्पमहग्घ जाव मणुस्स वग्गुरा परिक्वित्ते—अल्प भार बहुमूल्य (आभूषण धारण कर) यावत् जन समुदाय से वेष्टित होकर, सयाओ गिहाओ—अपने घर से, पडिणिक्खमइ—निकला, पडिणिक्खमिता—निकलकर, चम्पं नगरिं—चम्पा नगरी के, मज्झं मज्झेणं—मध्य में होता हुआ, निगच्छइ—निकला, निग्गच्छित्ता—निकलकर, जेणेव पुण्णभद्रे चेइए—जिधर पूर्णभद्र चैत्य था, जहा संखो—शंख की तरह, जाव—यावत् पज्जुवासइ—पर्युपासना की।

भावार्थ—कामदेव श्रावक ने जब सुना कि “श्रमण भगवान् महावीर यावत् विचर रहे हैं” तो मन में विचार किया कि “अच्छा होगा यदि मैं श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार करके लौटकर पौषध का पारणा करूं।” यह विचार कर परिषद् आदि में प्रवेश करने योग्य शुद्ध वस्त्र यावत् अल्प भार बहुमूल्य आभूषण धारण करके यावत् जन समुदाय से परिवृत्त होकर घर से निकला। चम्पा नगरी के बीच होता हुआ पूर्णभद्र चैत्य में पहुंचा और शंख के समान पर्युपासना की।

टीका—उपसर्ग समाप्त होने पर कामदेव को ज्ञात हुआ कि भगवान् महावीर नगरी के बाहर उद्यान में आए हुए हैं। उसने उन्हें वन्दना नमस्कार करने और तत्पश्चात् पौषध पारणे का निश्चय किया। व्रत समाप्त करने से पहले यथा सम्भव धर्मगुरु के दर्शन करने की परिपाटी उस समय से चली आ रही है। इससे यह भी प्रकट होता है कि पारणे के पहले कामदेव में किसी प्रकार की आतुरता नहीं थी। उसने उत्साह तथा शान्ति के साथ प्रत्येक धर्म क्रिया का पालन किया।

शुद्धप्पावेसाइं—इसका अर्थ है शुद्ध अर्थात् पवित्र एवं सभा में प्रवेश करने योग्य वस्त्र। ज्ञात होता है कि धर्म क्रिया के लिए उस समय भी बाह्य-शुद्धि का ध्यान रखा जाता था। शुद्ध तथा निर्मल वस्त्र मन पर भी प्रभाव डालते हैं। गृहस्थों के लिए व्यवहार-शुद्धि आवश्यक है।

मणुस्सवग्गुरापरिक्वित्ते—कामदेव जब भगवान् के दर्शनार्थ निकला तो उसके साथ बहुत से मनुष्य और भी थे। प्रतीत होता है वह पैदल ही भगवान् के दर्शनार्थ गया।

अप्पमहग्घाभरणालंकिय सरीरे—उसने अपने शरीर को अल्प—किन्तु बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत किया। इससे प्रकट होता है कि उसके मन में उत्साह एवं उमंग थी। भगवान् के आगमन को उसने एक उत्सव समझा और हर्षित होता हुआ वन्दनार्थ गया।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे कामदेवस्स समणोवासयस्स तीसे य जाव धम्मकहा समत्ता ॥ ११६ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः कामदेवस्य श्रमणोपासकस्य तस्यां च यावद्धर्मकथा समाप्ता।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, कामदेवस्स समणोवासयस्स—कामदेव श्रमणोपासक, तीसे य—और परिषद् को धर्मोपदेश किया, जाव धम्मकहा सम्मत्ता—यावत् धर्म कथा समाप्त हुई।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर ने कामदेव श्रमणोपासक और उस महती परिषद् को धर्मोपदेश किया, यावत्—धर्मोपदेश समाप्त हुआ।

भगवान् महावीर द्वारा कामदेव की प्रशंसा—

मूलम्—“कामदेवा” इ समणे भगवं महावीरे कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी—“से नूणं, कामदेवा! तुब्भं पुच्चरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतिए पाउब्भूए। तएणं से देवे एगं महं दिव्वं पिसायरूवं विउव्वइ, विउव्वित्ता आसुरुत्ते ४ एगं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय तुमं एवं वयासी—हंभो कामदेवा! जाव जीवियाओ ववरोविज्जसिं, तं तुमं तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरसि। एवं वण्णग-रहिया तिण्णि वि उवसग्गा तहेव पडिउच्चारेयव्वा जाव देवो पडिगओ। “से नूणं कामदेवा! अट्ठे समट्ठे?” “हंता, अत्थि” ॥ ११७ ॥

छाया—‘कामदेव!’ इति श्रमणो भगवान् महावीरः कामदेवं श्रमणोपासक-मेवमवादीत्—“अथ नूनं कामदेव! तव पूर्वरात्रापररात्रकालसमये एको देवोऽन्तिके प्रादुर्भूतः ततः खुल स देव एकं महद्दिव्यं पिशाचरूपं विकुरुते, विकृत्य आशुरुत्तः ४ एकं महान्तं नीलोत्पल-यावदसिं गृहीत्वा त्वामेवमवादीत्—“हंभोः कामदेव! यावत् जीविताद् व्यपरोपयिष्यसे” ततस्त्वं तेन देवेनैवमुक्तः सन् अभीतो यावद् विहरसि।” एवं वर्णक रहितास्त्रयोऽप्युपसर्गास्तथैवोच्चारितव्या यावद् देवः प्रतिगतः।” “स नूनं कामदेव! अर्थः समर्थः?” “हन्त! अस्ति।”

शब्दार्थ—कामदेवा इ—हे कामदेव! समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, कामदेवं समणोवासयं—कामदेव श्रमणोपासक को, एवं वयासी—इस प्रकार कहा—से नूणं कामदेवा—हे कामदेव! निश्चित ही, तुब्भं—तुम्हारे पास, पुच्चरत्तावरत्तकालसमयंसि—मध्य-रात्रि के समय, एगे देवे—एक देव, अंतिए पाउब्भूए—प्रकट हुआ था, तएणं—तदनन्तर, से देवे—उस देव ने, एगं महं दिव्वं पिसायरूवं—एक विकराल पिशाचरूप की, विउव्वइ—विक्रिया की, विउव्वित्ता—विक्रिया कर, आसुरुत्ते ४—आशुरुत्त-अत्यन्त क्रुद्ध होकर, एगं महं—एक महान्, नीलुप्पल—नीलोत्पल के समान, जाव—यावत्, असिं गहाय—तलवार लेकर, तुमं एवं वयासी—तुम्हें इस प्रकार कहने लगा, हं भो कामदेवा!—अरे कामदेव!, जाव—यावत्, जीवियाओ ववरोविज्जसिं—जीवन से रहित कर दिया जाएगा, तं तुमं—तो तू, तेणं देवेणं—उस देव द्वारा, एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी,

अभीए—निर्भय, जाव—यावत्, विहरसि—ध्यानावस्थित रहा, एवं—इस प्रकार, वण्णगरहिया—वर्णन रहित, तिण्णि वि उवसग्गा—तीनों उपसर्ग, तहेव पडिउच्चारेयव्वा—तथैव उच्चारण करने चाहिएं, जाव—यावत्, देवो पडिगओ—देव लौट गया, से नूणं कामदेवा—हे कामदेव ! निश्चय से ही क्या, अट्ठे समट्ठे—यह बात ठीक है?, हंता, अत्थि—हाँ, भगवन् ! यह ऐसे ही है।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने कामदेव श्रमणोपासक से पूछा—“हे कामदेव! मध्यरात्रि के समय एक देव तुम्हारे पास प्रकट हुआ था! तदनन्तर उस देव ने एक विकराल पिशाचरूप की विक्रिया की और एक भयंकर नीलोत्पल के समान चमकती हुई तलवार लेकर तुम्हें इस प्रकार कहा—“हे कामदेव! यदि तू शीलादि व्रतों को भङ्ग नहीं करेगा यावत् प्राण रहित कर दिया जाएगा।” तू उस देव द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर भी निर्भय यावत् ध्यान में स्थिर रहा। इसी प्रकार वर्णन रहित-बिना किसी विशेष के तीनों उपसर्ग उसी प्रकार कहने चाहिएँ। यावद् देव वापिस लौट गया। हे कामदेव! क्या यह बात ठीक है?” कामदेव ने कहा—“हाँ, भगवन् ! जो आपने फरमाया है वह ठीक है।”

टीका—भगवान् ने कामदेव तथा समस्त परिषद् को धर्मोपदेश दिया। अन्त में पूछा—“कामदेव! मध्यरात्रि के समय जब तुम धर्म-जागरण कर रहे थे, क्या तुम्हारे पास एक देव आया था?” भगवान् ने देवकृत तीनों उपसर्गों का वर्णन किया। उत्तर में कामदेव ने विनयपूर्वक स्वीकृति प्रदान की।

मूलम्—“अज्जो” इ समणे भगवं महावीरे बहवे समणे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी—“जइ ताव, अज्जो! समणोवासगा गिहिणो गिहमज्झावसंता दिव्व-माणुस-तिरिक्ख-जोणिए उवसग्गे सम्मं सहंति जाव अहियासेंति, सक्का पुणाइं, अज्जो! समणेहिं निग्गंथेहिं दुवालसंगं गणि-पिडगं अहिज्जमाणेहिं दिव्व-माणुस-तिरिक्ख-जोणिए उवसग्गे सम्मं सहित्तए जाव अहियासित्तए ॥ ११८ ॥”

छाया—हे आर्याः! इति श्रमणो भगवान् महावीरो बहून् श्रमणान् निर्ग्रन्थैश्च निर्ग्रन्थीश्चाऽऽमन्त्रैवमवादीत्—“यदि तावदार्याः! श्रमणोपासकाः गृहिणो गृहमध्याऽऽवसन्तो दिव्यमानुष्यैर्यग्योनिकानुपसर्गान् सम्यक् सहन्ते यावदध्यासन्ते, शक्याः पुनरार्याः! श्रमणैर्निर्ग्रन्थैर्द्वादशाङ्गणपिटकमधीयानैर्दिव्यमानुष्यैर्यग्योनिकारूपसर्गाः सम्यक् सोढुं यावदध्यासितुम्।

शब्दार्थ—अज्जो इ—हे आर्यो! (इस प्रकार सम्बोधन कर), समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, बहवे समणे निग्गंथे य निग्गंथीओ य—बहुत से श्रमण निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को, आमंतेत्ता—आमन्त्रित करके, एवं वयासी—इस प्रकार कहा—जइ ताव अज्जो—हे आर्यो! यदि, समणोवासगा—श्रमणोपासक, गिहिणो—गृहस्थ, गिहमज्झावसंता—गृहस्थ में निवास करते हुए भी,

दिव्य माणुस तिरिक्ख जोणिए उवसग्गे—देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्गों को, सम्मं सहंति—सम्यक् प्रकार से सहन करते हैं, जाव अहियासेंति—यावत् दृढ़ता से सहन करते हैं, सक्का पुणाइं अज्जो—हे आर्यों! पुनः शक्य ही है, समणेहिं निग्गंधेहिं—श्रमण निर्ग्रन्थ, दुवालसंगं गणिपिडगं—द्वादशाङ्गरूप गणिपिटक को, अहिज्जमाणेहिं दिव्य माणुस्स तिरिक्खजोणिए उवसग्गे—अध्ययन करने वालों द्वारा देव, मनुष्य, तिर्यच सम्बन्धित उपसर्गों का, सम्मं—सम्यक्ताया, सहित्तए जाव अहियासित्तए—सहन करना यावत् विचलित न होना।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ और निर्गन्धिनियों को आमन्त्रित करके इस प्रकार कहा—हे आर्यों! यदि श्रमणोपासक गृहस्थ गृह में निवास करते हुए भी दिव्य-देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहन करते हैं यावत् दृढ़ रहते हैं, तो फिर श्रमण निर्ग्रन्थ और गणिपिटकरूप द्वादशाङ्ग का अध्ययन करने वालों को उपसर्गों का भली प्रकार सहन करना यावत् दृढ़ रहना क्यों शक्य नहीं?

मूलम्—तओ ते बहवे समणा निग्गंधा य निग्गंधीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स “तह” ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेति ॥ ११६ ॥

छाया—ततस्ते बहवः श्रमणाः निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ‘तथेति’ एतमर्थं विनयेन प्रतिशृण्वन्ति ।

शब्दार्थ—तओ—तदनन्तर, ते बहवे समणा निग्गंधा य निग्गंधीओ य—उन बहुसंख्यक श्रमणों अर्थात् साधु-साध्वियों ने, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर-के, तहत्ति—तथेति हे भगवन्! यह इसी प्रकार है ऐसे कहते हुए, एयमट्ठं—इस वचन को, विणएणं पडिसुणेति—विनय पूर्वक अङ्गीकार किया।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर के इस वचन को साधु तथा साध्वियों ने ‘तथेति’ कहकर विनय पूर्वक स्वीकार किया।

टीका—भगवान् ने साधु तथा साध्वियों को सम्बोधित करते हुए कहा—हे आर्यों! यदि श्रावक गृहस्थ में रहकर भी धर्म में इस प्रकार की दृढ़ता रख सकता है और मारणान्तिक कष्ट एवं असह्य वेदना होने पर भी अपनी साधना से विचलित नहीं होता तो आप सभी का क्या कर्त्तव्य है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। उपसर्ग एवं कष्टों के सहन करने से हमारी आत्मा उत्तरोत्तर दृढ़ एवं निर्मल होती है अतः उनका स्वागत करना चाहिए।

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए हट्ट जाव समणं भगवं महावीरं पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्टमादियइ अट्ठमादिइत्ता, समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए ॥ १२० ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासको हृष्टो—यावत् श्रमणं भगवन्तं महावीरं प्रश्नान् पृच्छति, पृष्ट्वा अर्थमाददाति, अर्थमादाय श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिकृत्यो वदन्ते नमस्यति, वं. न. यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतस्तामेव दिशां प्रतिगतः ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक, हड्ड—प्रसन्न हुआ, जाव—यावत् (उसने), समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर से, पसिणाइं पुच्छइ—प्रश्न पूछे, पुच्छित्ता—पूछकर अड्डमादियइ—अर्थ ग्रहण किया, अड्डमादिइत्ता—अर्थ ग्रहण करके, समणं भगवं महावीरं वं.नं.—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना, नमस्कार कर, जामेव दिसं पाउब्भूए—जिस दिशा से आया था, तामेव दिसं पडिगए—उसी दिशा में वापिस चला गया ।

भावार्थ—कामदेव श्रमणोपासक ने प्रसन्न होकर भगवान् महावीर से प्रश्न पूछे, अर्थ ग्रहण किया, पुनः भगवान् को नमस्कार की और जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में वापिस चला गया ।

भगवान् का चम्पा से विहार—

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ चम्पाओ पडिणिकखमइ पडिणिकखमित्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ ॥ १२१ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचिच्चम्पातः प्रतिनिष्कामति, प्रतिनिष्कम्य बहिर्जनपदविहारं विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, अन्नया कयाइ—एक दिन, चम्पाओ पडिणिकखमइ—चम्पा से प्रस्थान कर गए, पडिणिकखमित्ता—प्रस्थान करके, बहिया जणवय विहारं विहरइ—अन्य जनपदों में विहार करने लगे ।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने अन्य किसी दिन चम्पा से प्रस्थान कर दिया और अन्य जनपदों में विचरने लगे ।

कामदेव द्वारा प्रतिमा ग्रहण—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए पढमं उवासग-पडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १२२ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासकः प्रथमामुपासकप्रतिमामुपसंपद्य विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक, पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—प्रथम उपासक प्रतिमा को ग्रहण करके विचरने लगा ।

भावार्थ—तत्पश्चात् कामदेव श्रमणोपासक ने प्रथम उपासक प्रतिमा ग्रहण की ।

जीवन का उपसंहार—

मूलम्—तए णं से कामदेवे समणोवासए बहूहिं जाव भावेत्ता वीसं वासाइं समणोवासग-परियागं पाउणित्ता, एक्कारस उवासग-पडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता, मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइय-पडिक्कंते, समाहिपत्ते, कालमासे कालं किच्चा, सोहम्मे कप्पे सोहम्म-वडिंसयस्स महा-विमाणस्स उत्तर-पुरत्थिमेणं अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, कामदेवस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥ १२३ ॥

छाया—ततः खलु स कामदेवः श्रमणोपासको बहुभिर्यावद् भावयित्वा विंशतिं वर्षाणि श्रमणोपासक पर्यायं पालयित्वा, एकादशोपासकप्रतिमाः, सम्यक् कायेन स्पृष्ट्वा मासिक्या संलेखनयाऽऽत्मानं जोषयित्वा, षष्टिं भक्तानि अनशनेन छित्वा, आलोचितप्रतिक्रान्तः, समाधिप्राप्तः, कालमासे कालं कृत्वा सौधर्मे कल्पे सौधर्मावतंसकस्य महाविमानस्योत्तरपौरस्त्येऽरुणाभे विमाने देवतयोपपन्नः। तत्र खलु अस्येकेषां देवानां चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता। कामदेवस्यापि देवस्य चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कामदेवे समणोवासए—वह कामदेव श्रमणोपासक, बहूहिं जाव भावेत्ता—बहुत सी प्रतिमाओं-अभिग्रहों द्वारा आत्मा को भावित कर, वीसं वासाइं—बीस वर्ष तक, समणोवासग परियागं पाउणित्ता—श्रमणोपासक पर्याय को पाल कर, एक्कारस्स उवासग पडिमाओ—ग्यारह उपासक प्रतिमाओं को, सम्मं काएणं फासित्ता—काय द्वारा सम्यक् प्रकार से स्पर्श कर, मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता—मासिकी संलेखना द्वारा आत्मा को जोषित कर, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता—अनशन द्वारा साठ भक्तों का छेदन करके, आलोइय पडिक्कंते—आलोचना करके तथा पाप कर्म से निवृत्त होकर, समाहिपत्ते—समाधि को प्राप्त करके, काल मासे कालं किच्चा—मृत्यु काल आने पर काल करके, सोहम्मे कप्पे—सौधर्म कल्प में, सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स—सौधर्मावतंसक महाविमान के, उत्तर पुरत्थिमेणं—उत्तरपूर्व दिशा में स्थित, अरुणाभे विमाणे—अरुणाभ नामक विमान में, देवत्ताए उववन्ने—देवरूप से उत्पन्न हुआ। तत्थणं—वहां पर, अत्थेगइयाणं देवाणं—बहुत से देवों की, चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता—चार पल्योपम की स्थिति कही गई है, कामदेवस्स वि देवस्स—देव रूप में उत्पन्न कामदेव की भी, चत्तारि पलिओवमाइं—चार पल्योपम की, ठिई—स्थिति, पण्णत्ता—कही गई है।

भावार्थ—तदनन्तर वह कामदेव श्रमणोपासक बहुत से अभिग्रहों द्वारा यावत् आत्मा को भावित

करता हुआ बीस वर्ष तक श्रमणोपासक पर्याय पालकर, ग्यारह उपासक प्रतिमाओं (अभिग्रहों) को सम्यक् प्रकार से काय द्वारा स्पर्श करके मासिकी संलेखना द्वारा आत्मा को जोषित कर अनशन द्वारा साठ भक्तों का छेदन करके अर्थात् एक मास तक संथारा करके, आलोचना करके तथा पापों से निवृत्त होकर के यथावसर समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त कर सौधर्म कल्प के सौधर्मावतंसक महाविमान के उत्तरपूर्व में अरुणाभ नामक विमान में देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ पर बहुत से देवों की चार पत्न्योपम की स्थिति है, कामदेव की स्थिति भी चार पत्न्योपम बताई गई है।

कामदेव का भविष्य—

मूलम्—“से णं, भंते ! कामदेवे देवे ताओ देव-लोगाओ आउ-क्खएणं भव-क्खएणं ठिइ-क्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता, कहिं गमिहिइ, कहिं उववज्जिहिइ?”

“गोयमा! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ” ॥ निकखेवो ॥ १२४ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं बिइयं कामदेवज्जयणं समत्तं ॥

छाया—“स खलु भदन्त ! कामदेवो देवस्तस्माद्देवलोकादायुःक्षयेण भवक्षयेण स्थितिक्षयेणानन्तरं चयं च्युत्वा कुत्र गमिष्यति । कुत्रोत्पत्स्यते? “गौतम ! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति” । निक्षेपः ।

॥ सप्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां द्वितीयं कामदेवमध्ययनं समाप्तम् ॥

शब्दार्थ—से णं भंते! कामदेवे देवे—हे भगवान् वह कामदेव नामक देव, ताओ देव लोगाओ—उस देवलोक से, आउक्खएणं—आयु क्षय, भवक्खएणं—भवक्षय, ठिइक्खएणं—स्थिति क्षय के, अणंतरं चयं चइत्ता—अनन्तर च्यवकर, कहिं गमिहिइ—कहाँ जाएगा?, कहिं उववज्जिहिइ—कहाँ उत्पन्न होगा? गोयमा ! हे गौतम!, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—महा विदेह नामक वर्ष में सिद्ध होगा। निक्षेप।

भावार्थ—(गौतम ने पूछा) “हे भगवन् ! वह कामदेव नामक देव उस देवलोक से आयु क्षय, स्थिति क्षय और भव क्षय होने पर च्यवकर कहाँ जाएगा ? कहाँ उत्पन्न होगा ?” भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! महाविदेह नामक वर्ष में उत्पन्न होकर सिद्धि प्राप्त करेगा।” निक्षेप पूर्ववत् ।

टीका—उपसर्ग की घटना के पश्चात् कामदेव ने प्रतिमाएँ अङ्गीकार कीं, आत्मशुद्धि के मार्ग पर उत्तरोत्तर बढ़ता गया और बीस वर्ष तक श्रावक के रूप में धर्मानुष्ठान करके स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यवन करके वह भी महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और मोक्ष प्राप्त करेगा।

सूत्र में नीचे लिखे तीन पद ध्यान देने योग्य हैं—आलोइय, पडिक्कंते और समाहिपत्ते—कामदेव ने सर्व प्रथम आलोचना की। इसका अर्थ है अच्छी तरह देखना। उसने अपने जीवन का सूक्ष्म

निरीक्षण किया और यह पता लगाया कि दुर्बलता, विचारों की मलिनता अथवा अन्य दोष कहाँ छिपे हुए हैं? आलोचना के बाद प्रतिक्रमण किया। इसका अर्थ है 'वापिस आया।' आत्मा रागद्वेष तथा कषायों के कारण बाहर की ओर भटकता रहता है। इन्द्रियों के विषयों एवं अन्य सुखों की ओर भागता है। उसे वहाँ से हटाकर पुनः अपनी स्वाभाविक स्थिति में लाना ही प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण आलोचना के पश्चात् होता है क्योंकि आत्म-दोषों का पता लगे बिना उनसे हटना सम्भव नहीं है। अपनी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त होने पर आत्मा क्लेशों से मुक्त हो जाता है और आन्तरिक आनन्द का अनुभव करता है। इसी को समाधि कहते हैं। प्रतिक्रमण के पश्चात् कामदेव ने इस अवस्था को प्राप्त किया।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का द्वितीय कामदेव अध्ययन समाप्त ॥

तइयमञ्जयणं

तृतीय अध्ययन

मूलम्—उक्खेवो तइयस्स अञ्जयणस्स—एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नयरी । कोट्टए चेइए । जियसत्तू राया ॥ १२५ ॥

छाया—उत्क्षेपस्तृतीयस्याध्ययनस्य—एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वाराणसी नाम नगरी कोष्ठकश्चैत्यम्, जितशत्रु राजा ।

शब्दार्थ—तृतीय अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत्—एवं खलु जम्बू ! हे जम्बू ! इस प्रकार, तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय, वाणारसी नामं नयरी—वाराणसी नाम की नगरी थी, कोट्टए चेइए—कोष्ठक नाम का चैत्य था, जियसत्तूराया—जितशत्रु राजा था ।

भावार्थ—हे जम्बू ! उस काल उस समय वाराणसी नामक नगरी थी, वहाँ कोष्ठक नामक चैत्य था और जितशत्रु राजा राज्य करता था ।

टीका—तृतीय अध्ययन में चुलनीपिता नामक श्रमणोपासक का वर्णन है । अध्ययन के प्रारम्भ में उपक्षेप का निर्देशन किया गया है । इसका अर्थ है जैसे द्वितीय अध्ययन श्री जम्बू स्वामी के प्रश्न और श्री सुधर्मा स्वामी के उत्तर के साथ प्रारम्भ हुआ, उसी प्रकार यहाँ पर भी प्रश्न आदि की योजना कर लेनी चाहिए । जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से पूछा—भगवन् ! यदि द्वितीय अध्ययन का भगवान् महावीर ने उपरोक्त अर्थ बताया है तो तृतीय अध्ययन का क्या अर्थ है ? सुधर्मा स्वामी जी ने उत्तर दिया, हे जम्बू ! मैंने तृतीय अध्ययन को नीचे लिखे अनुसार सुना है । यहाँ वृत्तिकार के नीचे लिखे शब्द हैं—

‘उक्खेवो’ ति उपक्षेपः—उपोद्घातः तृतीयाध्ययनस्य वाच्यः, स चायम्—जइ णं भन्ते ! समणेणं भगवया जाव सम्पत्तेणं उवासगदसाणं दोच्चस्स अञ्जयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते तच्चस्स णं भन्ते ! अञ्जयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ? इति कण्ठ्यश्चायम् ।’

वाराणसी नगरी में जितशत्रु नाम का राजा था । प्राकृत में वाराणसी का वाणारसी हो जाता है । इसी आधार पर हिन्दी में बनारस कहा जाता रहा है । भारत के स्वतन्त्र होने पर पुनः संस्कृत नाम को महत्व दिया गया और उसे फिर वाराणसी कहा जाने लगा है ।

कोट्टए चेइए—वहां कोष्ठक नाम का चैत्य था। कहीं-कहीं इसके स्थान पर महाकाम वन का निर्देश मिलता है।

चुलणीपिता का परिचय और पौषधग्रहण—

मूलम्—तत्थ णं वाणारसीए नयरीए चुलणीपिया नामं गाहावई परिवसइ, अइडे, जाव अपरिभूए । सामा भारिया । अइ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, अइ वुद्धि पउत्ताओ, अट्ठ पवित्थर-पउत्ताओ, अइ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं । जहा आणंदो राईसर जाव सव्व-कज्ज-वइढावए यावि होत्था । सामी समोसडे । परिसा निग्गया । चुलणीपियावि, जहा आणंदो तहा, निग्गओ । तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ । गोयम पुच्छा । तहेव सेसं जहा कामदेवस्स जाव पोसह-सालाए पोसहिए बंभयारी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १२६ ॥

छाया—तत्र खलु वाराणस्यां नगर्यां चुलनीपिता नाम गाथापतिः परिवसति, आदयो, यावदपरिभूतः । श्यामा भार्या । अष्ट हिरण्यकोट्यो निधानप्रयुक्ताः, अष्ट वृद्धिप्रयुक्ताः, अष्ट प्रविस्तरप्रयुक्ताः अष्टव्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन । यथा आनन्दो राजेश्वर-यावत्सर्वकार्यवर्द्धा—पकश्चासीत् । स्वामी समवसृतः । परिषन्निर्गता, चुलनीपिताऽपि यथाऽऽनन्दस्तथा निर्गतः । तथैव गृहधर्मं प्रतिपद्यते । गौतम पृच्छा तथैव । शेषं यथा कामदेवस्य यावत् पौषधशालायां पौषधिको ब्रह्मचारी, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति ।

शब्दार्थ—तत्थ णं वाणारसीए नयरीए—उस वाराणसी नगरी में, चुलणीपिया नामं गाहावई परिवसइ—चुलणीपिता नामक गाथापति रहता था, अइडे जाव अपरिभूए—वह आढ्य-धनाढ्य यावत् अपरिभूत था, सामा भारिया—उसकी श्यामा नामक भार्या थी, अइ हिरण्णकोडीओ—आठ करोड सुवर्ण, निहाण पउत्ताओ—कोष में रखे हुए थे, अइ वुद्धि पउत्ताओ—आठ कोटि व्यापार में लगे हुए थे, अइ पवित्थर पउत्ताओ—आठ करोड भवन तथा अन्य उपकरणों में लगे हुए थे, अइ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं—दस हजार गायों के एक गोकुल के हिसाब से आठ गोकुल थे अर्थात् अस्सी हजार गौएं थीं। जहा आणंदो राईसर जाव सव्व कज्ज वइढावए यावि होत्था—आनन्द की तरह, वह भी राजा-ईश्वर आदि का आधार यावत् सब कार्यों का वर्धक था, सामी समोसडे—भगवान् महावीर स्वामी पधारे, परिसा निग्गया—परिषद् निकली, चुलणीपियावि—चुलनीपिता भी, जहा आणंदो तहा निग्गओ—आनन्द के समान घर से निकला, तहेव गिहि धम्मं पडिवज्जइ—उसी प्रकार गृहस्थ धर्म स्वीकार किया, गोयम पुच्छा तहेव—उसी प्रकार भगवान् गौतम ने प्रश्न किया, सेसं जहा कामदेवस्स—शेष वृत्तान्त कामदेव के समान जानना चाहिए।, जाव—यावत् वह,

पोसहसालाए—पौषधशाला में, पोसहिए बंभयारी—पौषध तथा ब्रह्मचर्य स्वीकार कर के, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के, अंतियं—पास प्राप्त, धम्मपण्णतिं—धर्म प्रज्ञप्ति को, उवसंपज्जित्ता णं विहरइ—स्वीकार करके विचरने लगा ।

भावार्थ—उस वाराणसी नगरी में चुलनीपिता नामक गाथापति रहता था । वह सब प्रकार सम्पन्न यावत् अपरिभूत (अजेय) था । उसकी श्यामा नामक भार्या थी । आठ करोड़ सुवर्ण कोष में जमा थे, आठ करोड़ व्यापार में लगे हुए थे, और आठ करोड़ घर तथा समान में लगे हुए थे । दस हजार गायों के एक गोकुल के हिसाब से आठ गोकुल थे अर्थात् अस्सी हजार पशुधन था । वह भी आनन्द की तरह राजा-ईश्वर आदि का आधार यावत् सब कार्यों में प्रोत्साहन देने वाला था । महावीर स्वामी पधारे, उपदेश श्रवण के लिए परिषद् निकली । चुलनीपिता भी आनन्द श्रावक की भाँति घर से निकला और उसी तरह गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया । उसी प्रकार गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछे । शेष वृत्तान्त कामदेव के समान जानना चाहिए । यावत् वह भी पौषधशाला में पौषध तथा ब्रह्मचर्य को स्वीकार करके भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित धर्मप्रज्ञप्ति को अङ्गीकार करके विचरने लगा अर्थात् तदनुसार मध्य-रात्रि के समय धर्मसाधना करने लगा ।

उपसर्ग के लिए देव का आगमन

मूलम्—तए णं तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्त-कालसमयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भूए ॥ १२७ ॥

छाया—ततः खलु तस्य चुलनीपितुः श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापरत्रकालसमये एको देवोऽन्तिकं प्रादुर्भूतः ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स—उस चुलनीपिता श्रमणोपासक के, अंतियं—समीप, पुव्वरत्तावरत्त कालसमयंसि—मध्यरात्रि के समय, एगे देवे पाउब्भूए—एक देव प्रकट हुआ ।

चुलनीपिता को धमकी—

मूलम्—तए णं से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—“हं भो चुलणीपिया! समणोवासया! जहा कामदेवो जाव न भंजेसि, तो ते अहं अज्ज जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणित्ता तव अग्गओ घाएमि, घाइत्ता तओ मंससोल्ले करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहित्ता तव गायं मंसेण य सोणिण्ण य आयंचामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्ठे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥ १२८ ॥

छाया—ततः खलु स देव एकं महव्रीलोत्पल यावदसिं गृहीत्वा चुलनीपितरं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—हंभो चुलनीपितः ! श्रमणोपासक ! यथा कामदेवो यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽहमद्य ज्येष्ठं पुत्रं स्वकात् गृहात् नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा, त्रिणि मांसशूल्यकानि करोमि, कृत्वा आदहनभृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्रं मांसेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चामि यथा खलु त्वमार्त्त-दुःखार्त्त-वशात्तोऽकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे—वह देव, एगं—एक, महं नीलुप्पल—महान् नीलोत्पल के समान, जाव—यावत्, असिं—तलवार को, गहाय—ग्रहण करके, चुलणीपियं—चुलनीपिता; समणोवासयं—श्रमणोपासक को, एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा, हं भो—हे, चुलणीपिया ! चुलनीपिता ! समणोवासया—श्रमणोपासक! जहा—जैसे, कामदेवो—कामदेव श्रमणोपासक से कहा था, जाव—यावत् तू, न भंजेसि—नियमादि को नहीं छोड़ता, तो ते—तो तेरे, अहं—मैं, अज्ज—आज, जेट्ठं पुत्तं—ज्येष्ठ पुत्र को, साओ गिहाओ—अपने घर से, नीणेमि—लाता हूँ, नीणित्ता—लाकर, तव अग्गओ—तेरे सामने, घाएमि—मारता हूँ, घाइत्ता—मार कर के, तओ मंससोल्ले करेमि—तीन माँस खंड करता हूँ, करेत्ता—करके, आदाण भरियंसि कडाहयंसि—आदान (तेल) से भरी हुई कडाही में, अद्दहेमि—तलूंगा, अद्दहित्ता—तलकर, तय गायं—तेरे शरीर को, मंसेण य—मांस और, सोणिएण य—रुधिर से, आयंचामि—छींटे देता हूँ, जहा णं—जिससे, तुमं—तू, अद्द-दुहद्द वसट्ठे—अति चिन्ता मग्न दुःखार्त्त होता हुआ, अकाले चेव—अकाल में ही, जीवियाओ—जीवन से, ववरोविज्जसि—पृथक् हो जाएगा ।

भावार्थ—वह देव नील कमल के समान यावत् तलवार लेकर चुलनीपिता श्रावक को बोला—“हे चुलनीपिता श्रावक! यावत् कामदेव की तरह कहा” यावत् शील आदि को भंग नहीं करेगा तो तेरे बड़े लड़के को घर से लाकर तुम्हारे सामने मार डालूंगा। उसके तीन टुकड़े करूंगा और शूल में पिसोकर तेल से भरी हुई कढ़ाई में पकाऊंगा। तुम्हें उसके मांस और खून से छींटूंगा। परिणामस्वरूप तुम चिन्ता मग्न, दुखी तथा विवश होकर अकाल में जीवन से हाथ धो बैठोगे।

चुलनीपिता का शान्त रहना—

मूलम्—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ १२६ ॥

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेन देवेनैवमुक्तः सन्नभीतो यावत् विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से चुलणीपिया—वह चुलनीपिता, समणोवासए—श्रमणोपासक, तेणं देवेणं—उस देव के, एवं—ऐसा, वुत्ते समाणे—कहने पर भी, अभीए जाव—यावत् निर्भय, विहरइ—बना रहा ।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रमणोपासक देवता के ऐसा कहने पर भी निर्भय यावत् शान्त रहा ।

मूलम्—तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—“हंभो चुलणीपिया! समणोवासया!” तं चेव भणइ, सो जाव विहरइ ॥ १३० ॥

छाया—ततः खलु स देवश्चुलनीपितरं श्रमणोपासकमभीतं यावत् पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि चुलनीपितरं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—हंभो चुलनीपितः! श्रमणोपासक! तदेव भणति स यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे—उस देव ने, चुलणीपियं समणोवासयं—चुलनीपिता श्रमणोपासक को, अभीयं जाव पासइ—निर्भय यावत् शान्त देखा, पासित्ता—देखकर, दोच्चंपि तच्चंपि—द्वितीय तथा तृतीय बार, चुलणीपियं समणोवासयं—चुलनीपिता श्रमणोपासक को, एवं वयासी—इस प्रकार कहा—हं भो चुलणीपिया—हे चुलनीपिता!, समणोवासया! श्रमणोपासक!, तं चेव भणइ—पुनः वही वचन कहे, सो जाव विहरइ—वह भी यावत् निर्भय विचरता रहा ।

भावार्थ—जब देव ने चुलनीपिता श्रमणोपासक को निर्भय यावत् शान्त देखा तो दूसरी बार तथा तीसरी बार वही बात कही । चुलनीपिता भी निर्भय यावत् शान्त बना रहा ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में देव कृत 'उपसर्ग' का वर्णन है जो कामदेव से भिन्न प्रकार का है, आदाणं भरियंसि—आदाण का अर्थ है तैल या पानी आदि आर्द्र वस्तुएँ । यहां टीकाकार के निम्नलिखित शब्द हैं—“आद्रहणं यदुदत्तक तैलादिकमन्यतर द्रव्य पाकायाग्नावुत्ताप्यते तद्भूते, 'कडाहयंसि' ति कटाहेद्यलोहमयभाजनविशेष आद्रहयाभि उत्क्वाथयामि ।”

हिन्दी में इसके लिए अदहन शब्द का प्रयोग होता है, यह आर्द्रदहन से बना है । इसका अर्थ है—धी, तैल, पानी आदि वे वस्तुएँ जो गीली होने पर भी जलाती हैं ।

पुत्रों का वध और चुलनीपिता का अविचलित रहना—

मूलम्—तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव पासित्ता आसुरुत्ते ४ चुलणीपियस्स समणोवासयस्स जेड्ढं पुत्तं गिहाओ नीणेइ, नीणित्ता अग्गओ घाएइ, घाइत्ता तओ मंससोल्लए करेइ, करेत्ता आदाण भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेइ, अद्दहित्ता, चुलणीपियस्स समणोवासयस्स गायं मंसेण य सोणिणएण य आयंचइ ॥ १३१ ॥

छाया—ततः खलु स देवश्चुलनीपितरं श्रमणोपासकमभीतं यावद् दृष्ट्वा आशुरुत्त ४ चुलनीपितुः श्रमणोपासकस्य ज्येष्ठं पुत्रं गृहान्नयति, नीत्वाऽग्रतो घातयति, घातयित्वा त्रीणि

मांसशूल्यकानि करोति, कृत्वा, आदहनभृते कटाहे आदहति, आदह्य चुलनीपितुः श्रमणोपासकस्य गात्रं मांसेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे—उस देव ने, चुलणीपियं समणोवासयं—चुलनीपिता श्रमणोपासक को, अभीयं जाव पासित्ता—अभय यावत् देखकर, आसुरुत्ते ४—क्रोधित होकर, चुलणीपियस्स समणोवासयस्स—चुलनीपिता श्रमणोपासक के, जेट्ठं पुत्तं—बड़े पुत्र को, गिहाओ—घर से, नीणेइ—निकाला, नीणित्ता—निकालकर के, अग्गओ घाएइ—उसके सामने मार डाला, घाइत्ता—मार कर के, तओ—तीन, मंससोल्लए करेइ—मांस के तीन टुकड़े किए, करेत्ता—करके, आदाण भरियंसि कडाहयंसि—अदहन से भरे हुए कड़ाहे में, अहहेइ—तला, अहहिता—तलकर के, चुलणीपियस्स समणोवासयस्स—चुलनीपिता श्रमणोपासक के, गायं—शरीर पर, मंसेण य—मांस और, सोणिण य—शोणित से, आयंचइ—छींटे दिए ।

भावार्थ—तब तो वह देव क्रोधित होकर चुलनीपिता श्रावक के बड़े लड़के को घर से निकाल लाया । उसके सामने लाकर मार डाला, और तीन टुकड़े किए । उन्हें तेल से भरे कड़ाहे में तला और उसके मांस और रुधिर से चुलनीपिता के शरीर पर छींटे मारे ।

मूलम्—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तं उज्जलं जाव अहियासेइ ॥ १३२ ॥

छाया—ततः खलु च चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तामुज्जवलां यावदध्यास्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, चुलणीपिया समणोवासए—चुलनीपिता श्रमणोपासक ने, तं उज्जलं—उस तीव्र, जाव—यावत् वेदना को, अहियासेइ—सम्यक् प्रकार से सहन किया ।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रावक ने देव द्वारा दिए हुए कष्ट की उस असह्य वेदना को शान्तिपूर्वक सहन किया ।

मूलम्—तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—“हं भो चुलणीपिया समणोवासया! अपत्थिय-पत्थया! जाव न भंजेसि, तो ते अहं अज्ज मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणित्ता तव अग्गओ घाएमि” जहा जेट्ठं पुत्तं तहेव भणइ, तहेव करेइ । एवं तच्चंपि कणीयसं जाव अहियासेइ ॥ १३३ ॥

छाया—ततः खलु स देवश्चुलनीपितरं श्रमणोपासकमभीतं यावत् पश्यति, दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि चुलनीपितरं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“हंभो! चुलनीपितः! श्रमणोपासक! अप्रार्थितप्रार्थक! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽहमद्य मध्यमं पुत्रं स्वस्माद् गृहात्रयामि, नीत्वा तवाऽग्रतो घातयामि” यथा ज्येष्ठं पुत्रं तथैव भणति, तथैव करोति, एवं तृतीयमपि कनीयांसं यावदध्यास्ते ।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे—उस देव ने, चुलणीपियं समणोवासयं—चुलनीपिता श्रमणोपासक को, अभीयं जाव पासइ—अभय यावत् देखा, पासित्ता—देखकर के, दोच्चंपि तच्चंपि—द्वितीय तथा तृतीय बार, चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—चुलनीपिता श्रमणोपासक के प्रति इस प्रकार कहा—हं भो—हे, चुलणीपिया समणोवासया!—चुलनीपिता! श्रमणोपासक ! अपत्थिय पत्थया !—अप्रार्थित प्रार्थक अर्थात् मृत्यु की प्रार्थना करने वाले, जाव न भंजेसि—यावत् तू नियमों को नहीं तोड़ेगा, तो ते—तो तेरे, अज्ज—आज, अहं—मैं, मज्झिमं पुत्तं—मंझले पुत्र को, साओ गिहाओ नीणेमि—घर से लाता हूं, नीणित्ता—ला कर, तव अग्गओ घाएमि—तेरे आगे मारता हूं, जहा—जैसे, जेट्ठं पुत्तं—ज्येष्ठ पुत्र के विषय में कहा था, तहेव भणइ—वैसे ही कहा, तहेव करेइ—और वैसे ही किया। एवं—इसी प्रकार, तच्चंपि—तृतीय, कणीयसं—छोटे पुत्र को भी किया, जाव—यावत्, अहियासेइ—चुलनीपिता ने उस उपसर्ग को सम्यक् प्रकार से सहन किया।

भावार्थ—तब भी जब देव ने चुलनीपिता श्रावक को निर्भय यावत् देखा, तो पुनः उससे कहा—अरे मृत्यु की प्रार्थना करने वाले! यदि तू शीलादि को भंग नहीं करता तो मैं आज तेरे मंझले पुत्र को घर से लाकर तेरे सामने मारता हूं। इस प्रकार उसने ज्येष्ठ पुत्र के सम्बन्ध में जैसा कहा और किया था वैसा ही कहा और किया। चुलनीपिता ने उस असह्य वेदना को अन्त तक सहन किया। देव ने तृतीय पुत्र के विषय में भी उसी प्रकार कहा और चुलनीपिता के समाने लाकर मार डाला। किन्तु वह विचलित न हुआ।

माता के वध की धमकी—

मूलम्—तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता चउत्थंपि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—“हंभो चुलणीपिया! समणोवासया! अपत्थिय-पत्थया! ४, जइ णं तुमं जाव न भंजेसि, तओ, अहं अज्ज जा इमा तव माया भद्दा सत्थवाही देवय-गुरु-जणणी दुक्कर-दुक्करकारिया, तं ते साओ गिहाओ नीणेमि नीणित्ता तव अग्गओ घाएमि घाइत्ता तओ मंससोल्लए करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि अद्दहित्ता तव गायं मंसेण य सोणिण्ण य आयंचामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि” ॥ १३४ ॥

छाया—ततः खलु स देवश्चुलनीपितरं श्रमणोपासकमभीतं यावत्पश्यति, दृष्ट्वा चतुर्थमपि चुलनीपितरं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—हंभो! चुलनीपितः! श्रमणोपासक! अप्रार्थितप्रार्थक! यदि खलु त्वं यावन्न भनक्षि ततोऽहमद्य येयं तव माता भद्रा सार्थवाही दैवतगुरु-जननी दुष्करदुष्करकारिका तां ते स्वस्माद् गृहान्नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा त्रीणि मासशूल्यकानि करोमि,

कृत्वाऽऽदानभृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्रं मांसेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चामि यथा खलु त्वमार्त्त दुःखार्त्त वशार्त्तोऽकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए णं से देवे—तदनन्तर उस देव ने, चुलणीपियं समणोवासयं—चुलनीपिता श्रमणोपासक को, अभीयं जाव पासइ—निर्भय यावत् देखा, पासित्ता—देखकर, चउत्थं पि—चौथी बार, चुलणीपियं समणोवासयं—चुलनीपिता श्रमणोपासक को, एवं वयासी—इस प्रकार कहा—हं भो चुलणीपिया! समणोवासया!—हे चुलनीपिता श्रमणोपासक! अपत्थियपत्थिया—मृत्यु की प्रार्थना करने वाले, जइ णं—यदि, तुमं—तू, जाव—यावत्, न भंजेसि—शीलादि गुणों को भंग न करेगा, तं तओ अहं—तो मैं, अज्ज—आज, जा इमा—जो यह, तव माया—तेरी माता, भद्दा सत्थवाही—भद्रा सार्थवाही, देवय-गुरु-जणणी—देवता तथा गुरु के समान जननी है, दुक्कर-दुक्करकारिया—जिसने तेरा (लालन पालनादि) अति दुष्कर कार्य किया है, तं ते—उसको, साओ गिहाओ—अपने घर से, नीणेमि—लाता हूं, नीणित्ता—लाकर, तव अग्गओ घाएमि—तेरे सामने मारता हूं, घाइत्ता—मार करके, तओ—तीन, मंससोल्लए—मांस खंड, करेमि—करता हूं, करेत्ता—करके, आदाण भरियंसि कडाहयंसि—अदहन भरे कडाहे में, अद्दहेमि—तलता हूं, अद्दहित्ता—तलकर तव गायं—तेरे शरीर को, मंसेण य—मांस और सोणिणण य—शोणित से, आयंचामि—सिञ्चन करता हूं, जहा णं तुमं—जिससे तू, अद्द दुहद्द वसद्दे—आर्त्त, दुखी तथा विवश होकर, अकाले चेव—अकाल में ही, जीवियाओ ववरोविज्जसि—जीवन से रहित हो जाएगा ।

भावार्थ—उसने चौथी बार चुलनीपिता से कहा—“अरे चुलनीपिता! अनिष्ट के कामी ! यदि तू व्रतों को भंग नहीं करता तो मैं तेरी भद्रा नाम की माता को जो तेरे लिए देवता तथा गुरु के समान पूज्य है तथा जिसने तेरे लिए अनेक कष्ट उठाए हैं, घर से निकाल लाऊंगा, और तेरे सामने मार डालूंगा । उसके तीन टुकड़े करके तेल से भरे कडाहे में तलूंगा । उसके मांस और रुधिर से तेरे शरीर को छिटूंगा । जिससे तू चिन्ता-मग्न तथा विवश होकर अकाल में ही जीवन से हाथ धो बैठेगा ।

मूलम्—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ १३५ ॥

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेन देवेनैवमुक्तः सन्नभीतो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं से—तदनन्तर वह, चुलणीपिया समणोवासए—चुलनीपिता श्रमणोपासक, तेणं देवेणं—उस देव के, एवं वुत्ते समाणे—ऐसा कहने पर भी, अभीए जाव—यावत् निर्भय होकर, विहरइ—धर्माराधन में लगा रहा ।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रावक देव के ऐसा कहने पर भी निर्भय बना रहा ।

मूलम्—तए णं से देवे चुलणीपियं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासित्ता चुलणीपियं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—“हंभो चुलणीपिया! समणोवासया! तहेव जाव ववरोविज्जसि” ॥ १३६ ॥

छाया—ततः खलु स देवश्चुलनीपितरं श्रमणोपासकमभीतं यावद् विहरमाणं पश्यति, दृष्ट्वा चुलनीपितरं श्रमणोपासकं द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्—“हंभो चुलनीपितः! श्रमणोपासक! यावद् व्यपरोपयिष्यसे !”

शब्दार्थ—तए णं से देवे—तदनन्तर वह देव, चुलणीपियं समणोवासयं—चुलनीपिता श्रमणोपासक को, अभीयं जाव—निर्भय यावत्, विहरमाणं—धर्म साधना में स्थिर, पासइ—देखता है, पासित्ता—देखकर, चुलणीपियं समणोवासयं—चुलणीपिता श्रमणोपासक को, दोच्चंपि तच्चंपि—द्वितीय बार और तृतीय बार, एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हं भो—हे, चुलणीपिया समणोवासया!—चुलनीपिता श्रमणोपासक! तहेव—उसी प्रकार पहले की भांति कहा, जाव ववरोविज्जसि—यावत् मृत्यु को प्राप्त करेगा।

भावार्थ—देवता ने उसे निर्भय एवं स्थिर देखा तो दूसरी और तीसरी बार वही बात कही—“चुलनीपिता श्रावक! उसी प्रकार यावत् मारा जाएगा।”

चुलनीपिता का क्षुब्ध होना और पिशाच को पकड़ने का प्रयत्न—

मूलम्—तए णं तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ५—“अहो णं इमे पुरिसे अणारिए अणारिय-बुद्धी अणारियाइं पावाइं कम्माइं समायरइ, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता ममं अग्गओ घाएइ, घाइत्ता जहा कयं तहा चिंतेइ, जाव गायं आयंचइ, जेणं मम मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ जाव सोणिणं य आयंचइ, जेणं मम कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ तहेव जाव आयंचइ, जा वि य णं इमा मम माया भद्दा सत्थवाही देवय-गुरु-जणणी दुक्कर-दुक्करकारिया, तं पि य णं इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता मम अग्गओ घाएत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए” ति कट्टु उद्धाइए, से वि य आगासे उप्पइए, तेणं च खम्भे आसाइए, महया-महया सद्देणं कोलाहले कए ॥ १३७ ॥

छाया—ततः खलु तस्य चुलणीपितुः श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ५—“अहो! खलु अयं पुरुषोऽनार्यः, अनार्यबुद्धिरनार्याणि पापानि कर्माणि समाचरति, येन मम ज्येष्ठं पुत्रं स्वस्माद् गृहान्नयति, नीत्वा ममाग्रतो घातयति, घातयित्वा यथा

कृतं तथा चिन्तयति, यावद् गात्रमासिञ्चति, येन मम मध्यमं पुत्रं स्वस्माद् गृहाद् यावच्छ्रेणितेनाचाऽऽसिञ्चति, येन मम कनीयांसं पुत्रं स्वस्माद् गृहात्तथैव यावद् आसिञ्चति, याऽपि च खलु इयं मम माता भद्रा सार्थवाही दैवत-गुरु-जननी दुष्कर-दुष्कर कारिका तामपि च खलु इच्छति स्वस्माद् गृहान्नीत्वा ममाग्रतो घातयितुम् । तच्छ्रेयः खलु ममैवं पुरुषं ग्रहीतुम्” इति कृत्वोत्थितः, सोऽपि चाकाशे उत्पतितः, तेन च स्तम्भ आसादितः महता २ शब्देन कोलाहलः कृतः ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, तस्स—उस, चुलणीपियस्स समणोवासयस्स—चुलनीपिया श्रमणोपासक के, तेणं देवेणं—उस देव के द्वारा, दोच्चंपि तच्चंपि—द्वितीय तथा तृतीय बार, एवं वुत्तस्स समाणस्स—इस प्रकार कहे जाने पर, इमेयारूवे—ये इस प्रकार के, अज्झत्थिए ५—विचार यावत् उत्पन्न हुए, अहो णं—अहो! इमे पुरिसे—यह पुरुष, अणारिए अणारियबुद्धी—अनार्य तथा अनार्यबुद्धि है, अणारियाइं पावाइं कम्माइं—अनार्योचित पाप कर्मों का, समायरइ—आचरण करता है, जेणं—जिसने, ममं—मेरे, जेट्ठं पुत्तं—ज्येष्ठ पुत्र को, साओ गिहाओ—अपने घर से, नीणेइ—निकाला, नीणेत्ता—निकाल कर, ममं अग्गओ—मेरे सामने, घाएइ—मार दिया, घाइत्ता—मार करके, जहा कयं—जैसे उस देव ने किया, तथा चित्तेइ—उसी प्रकार सोचने लगा, जाव गायं आयंचइ—यावत् उस देव ने मेरे शरीर को मांस और रुधिर से सींचा, जेणं मम—उसने मेरे, मज्झिमं पुत्तं—मंझले पुत्र को, साओ गिहाओ—घर से, जाव—यावत्, सोणिएण य आयंचइ—शोणित से सिंचन किया, जेणं मम—जिसने मेरे, कणीयसं पुत्तं—कनिष्ठ पुत्र को, साओ गिहाओ—घर से निकालकर, तहेव जाव आयंचइ—उस प्रकार यावत् सिंचन किया । जा वि य णं—और जो, इमा—यह, मम माया—मेरी माता, भद्दा सत्थवाही—भद्रा सार्थवाही, देवय गुरु जणणी—जो कि देवता, गुरु तथा जननी है, दुक्कर-दुक्करकारिया—दुष्कर से भी दुष्कर क्रियाओं के करने वाली है, तं पि य णं—उसको भी यह, इच्छइ—चाहता है, साओ गिहाओ—अपने घर से, नीणेत्ता—लाकर, मम अग्गओ घाएत्तए—मेरे सामने मारना चाहता है, तं सेयं खलु—तो यह ठीक होगा कि, ममं—मैं, एयं पुरिसं गिण्हित्तए—इस पुरुष को पकड़ लूँ, त्ति कट्टु—ऐसा विचार करके, उद्धाइए—उठा, से वि य आगासे उप्पइए—और वह देव आकाश में उड़ गया, तेणं च खम्भे आसाइए—चुलनीपिता के हाथ में खम्भा आ गया और वह, महया २—सद्देणं कोलाहले कए—उच्च स्वर में पुकारने लगा ।

भावार्थ—देव के द्वितीय तथा तृतीय बार ऐसा कहने पर चुलनीपिता श्रावक विचारने लगा—“यह पुरुष अनार्य है, इसकी बुद्धि अनार्य है । अनार्योचित पाप कर्मों का आचरण करता है, इसने मेरे बड़े पुत्र को घर से उठा लिया और मेरे सामने लाकर मार डाला । इसी प्रकार मध्यम और कनिष्ठ पुत्र को भी मार डाला । चुलनीपिता के मन में देव द्वारा किए गए क्रूर कार्य आने लगे । उसने फिर सोचा अब यह मेरी माता को जो देवता और गुरु के समान पूजनीय है तथा जिसने मेरे लिए

कठोर कष्ट उठाए हैं, मेरे सामने लाकर मार डालना चाहता है। अतः यही उचित है कि मैं इसको पकड़ लूं।” यह सोचकर वह पकड़ने के लिए उठा तो देव आकाश में उड़ गया। चुलनीपिता के हाथ में खम्बा लगा। वह उसे पकड़कर जोर-जोर से चिल्लाने लगा।

टीका—देवय-गुरु-जणणी—यहां माता के लिए तीन शब्द आये हैं—

१. देवय—देवता का अर्थ है पूज्य। माता देवता के समान पूजा और सत्कार के योग्य होती है। सन्तान के मन में उसके प्रति सदा भक्ति-भाव रहना चाहिए।

२. गुरु—गुरु का कार्य है—अच्छी शिक्षा देकर बालक को योग्य बनाना। माता भी बालक में अच्छे संस्कार डालती है उसे अच्छी बातें सिखाती है और उसके शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक सभी गुणों का विकास करती है अतः माता गुरु भी है।

३. जणणी—वह जन्म देती है और सन्तान के लिए अनेक कष्ट उठाती है। अतः उसके प्रति कृतज्ञ होना सन्तान का कर्तव्य है। माता के प्रति यह भावना एक आदर्श श्रावक ने प्रकट की है। उसके प्रति श्रद्धा को मिथ्यात्व कहकर हेय बताना अनुचित और दुर्मति है।

माता का आगमन और चुलनीपिता को शिक्षण—

मूलम्—तए णं सा भद्दा सत्थवाही तं कोलाहल-सद्दं सोच्चा निसम्म जेणेव चुलणीपिया समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—“किण्णं पुत्ता तुमं महया महया सद्देणं कोलाहले कए?” ॥ १३८ ॥

छाया—ततः खलु सा भद्रा सार्थवाही तं कोलाहलशब्दं श्रुत्वा निशम्य येनैव चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य चुलनीपितरं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“किं खलु पुत्र ! त्वया महता २ शब्देन कोलाहलः कृतः?”

शब्दार्थ—तए णं सा भद्दा सत्थवाही—तदनन्तर वह भद्रासार्थवाही, तं—उस, कोलाहल-सद्दं सोच्चा—कोलाहल शब्द को सुनकर, निसम्म—तथा विचार कर, जेणेव—जहाँ, चुलणीपिया समणोवासए—चुलनीपिता श्रमणोपासक था, तेणेव—वहाँ, उवागच्छइ—आई, उवागच्छित्ता—आकर, चुलणीपियं समणोवासयं—चुलनीपिता श्रमणोपासक को, एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगी—किण्णं पुत्ता !—क्यों पुत्र !, तुम—तुमने, महया २ सद्देणं—जोर-जोर के शब्दों से, कोलाहले कए ?—कोलाहल किया ?

भावार्थ—भद्रा सार्थवाही चिल्लाहट सुनकर चुलनीपिता श्रावक के पास आई और पूछा—“बेटा तुम जोर-जोर से क्यों चिल्लाए।”

मूलम्—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए, अम्मयं भद्दं सत्थवाहिं एवं वयासी—“एवं खलु अम्मो ! न जानामि के वि पुरिसे आसुरुत्ते ५ एणं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय ममं एवं वयासी—“हं भो चुलणीपिया ! समणोवासया ! अपत्थिय-पत्थया ! ४ वज्जिया, जइ णं तुमं जाव ववरोविज्जसि” ॥ १३६ ॥

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता, श्रमणोपासकोऽम्बिकां भद्रां सार्थवाहीमेवमवादीत्—“एवं खलु अम्ब ! न जानामि कोऽपि पुरुष आशुरुत्तः ५ एकं महान्तं नीलोत्पल असिं गृहीत्वा मामैवमवादीत्—हंभो चुलनीपितः! श्रमणोपासक! अप्रार्थितप्रार्थक! ४ वर्जित! यदि खलु त्वं यावद्व्यपरोपयिष्यसे।”

शब्दार्थ—तए णं से—तदनन्तर वह, चुलणीपिया समणोवासए—चुलनीपिता श्रमणोपासक, अम्मयं भद्दं—माता भद्रा, सत्थवाहिं—सार्थवाही को, एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा—एवं खलु अम्मो—इस प्रकार हे माता !, न जानामि—मैं नहीं जानता, के वि पुरिसे—कोई पुरुष, आसुरुत्ते ५—क्रोधित होकर, एणं महं—एक महान्, नीलुप्पल असिं—नीलोत्पल के समान वर्ण वाली तलवार को, गहाय—ग्रहण कर के, ममं—मुझ से, एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हं भो चुलणीपिया ! समणोवासया—हे चुलनीपिता श्रमणोपासक!, अपत्थिय पत्थया!—अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाले, जाव वज्जिया—यावत् पुण्यवर्जित अर्थात् अभागे, ज इ णं—यदि, तुमं—तू शीलादि व्रतों को न तोड़ेगा, जाव ववरोविज्जसि—यावत् मार दिया जाएगा।

भावार्थ—चुलनीपिता श्रावक माता भद्रा सार्थवाही से कहने लगा “हे मां ! न जाने क्रोध से भरा हुआ कोई पुरुष हाथ में नीली तलवार लेकर मुझ से कहने लगा—“हे चुलनीपिता श्रावक! अनिष्ट के कामी ! यदि तू शीलादि का त्याग न करेगा तो मैं तेरे ज्येष्ठ पुत्र को मार डालूंगा।”

मूलम्—तए णं अहं तेणं पुरिसेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरामि ॥ १४० ॥

छाया—ततः खल्वहं तेन पुरुषेणैवमुक्तः सन्नभीतो यावद्विहरामि।

शब्दार्थ—तए णं अहं—तदनन्तर मैं, तेणं पुरिसेणं—उस पुरुष द्वारा, एवं वुत्ते समाणे—ऐसा कहने पर भी, अभीए जाव विहरामि—निर्भय यावत् शान्त रहा।

भावार्थ—उसके ऐसा कहने पर भी मैं भयभीत नहीं हुआ और धर्मसाधना में स्थिर रहा।

मूलम्—तए णं से पुरिसे ममं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासित्ता ममं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—“हंभो चुलणीपिया! समणोवासया! तहेव जाव गायं आयंचइ” ॥ १४१ ॥

छाया—ततः खलु स पुरुषो मामभीतं यावद् विहरमाणं पश्यति दृष्ट्वा माम् द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्—“हंभो चुलनीपितः! श्रमणोपासक! तथैव यावद् गात्रमासिञ्चति । ”

शब्दार्थ—तए णं से पुरिसे—तदनन्तर उस पुरुष ने, ममं अभीयं—मुझे अभीत, जाव विहरमाणं—यावत् विचरते हुए, पासइ—देखा, पासित्ता—देखकर, ममं—मुझे, दोच्चंपि तच्चंपि—द्वितीय और तृतीय बार, एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा, हं भो चुलणीपिया!—हे चुलनीपिता! समणोवासया! श्रमणोपासक! तहेव—सर्व उसी प्रकार, जाव—यावत् (उसने), गायं आयंचइ—मेरे शरीर पर छीटें मारे ।

भावार्थ—तब भी उसने मुझे निर्भय तथा शान्त देखा । और दूसरी तथा तीसरी बार वैसा ही कहा—हे चुलनीपिता श्रावक! पहले की तरह यावत् मांस और रुधिर से मेरे शरीर को सींचा ।

मूलम्—तए णं अहं तं उज्जलं जाव अहियासेमि, एवं तहेव उच्चारयेय्वं सव्वं जाव कणीयसं जाव आयंचइ, अहं तं उज्जलं जाव अहियासेमि ॥ १४२ ॥

छाया—ततः खल्वहं तामुज्ज्वलां यावद् अध्यासे । एवं तथैवोच्चारयितव्यं, सर्वं यावत्कनीयंसं यावद् आसिञ्चति । अहं तामुज्ज्वलां यावद् अध्यासे ।

शब्दार्थ—तए णं अहं—तदनन्तर मैंने, तं उज्जलं जाव अहियासेमि—उस उज्ज्वल यावत् वेदना को शान्त रहकर सहन किया । एवं—इसी प्रकार, तहेव उच्चारयेय्वं सव्वं—वैसे ही सब उच्चारण करना चाहिए, जाव कणीयसं—यावत् लघु पुत्र को, जाव आयंचइ—मारा यावत् मेरे शरीर (चुलनीपिता को) सींचा ।

भावार्थ—मैंने उस असह्य वेदना को सह लिया । इसी प्रकार पूर्वोक्त सारा वृत्तान्त कहा । यावत् छोटे लड़के को मारकर मेरे शरीर को उसके मांस और रुधिर के छीटे मारे । मैंने इस असह्य वेदना को भी सहन किया । ”

मूलम्—तए णं से पुरिसे ममं अभीयं जाव पासइ, पासित्ता ममं चउत्थंपि एवं वयासी—“हंभो चुलणीपिया समणोवासया! अपत्थिय-पत्थया! जाव न भंजेसि, तो ते अज्ज जा इमा माया देवय गुरु जाव ववरोविज्जसि” ॥ १४३ ॥

छाया—ततः खलु स पुरुषो मामभीतं यावत्पश्यति, दृष्ट्वा माम् चतुर्थमप्येवमवादीत्—“हंभोः चुलनीपितः! श्रमणोपासक! अप्रार्थित प्रार्थक! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्य या इयं माता दैवत गुरु यावद् व्यपरोपयिष्यसे । ”

शब्दार्थ—तए णं से पुरिसे—तदनन्तर उस पुरुष ने, ममं अभीयं जाव—मुझे निर्भय यावत् शान्त, पासइ—देखा, पासित्ता—देखकर, ममं चउत्थंपि—मुझे चतुर्थ बार, एवं वयासी—इस प्रकार कहा—हं

भो चुलणीपिया! हे चुलनीपिता!, समणोवासया! श्रमणोपासक!, अपत्थिय पत्थया! अनिष्ट के कामी!, जाव न भंजेसि—यावत् नहीं भङ्ग करेगा, तो ते—तो तेरी, अज्ज—आज, जा—जो, इमा—यह, माया—माता, देवय गुरु जाव ववरोविज्जसि—देव, गुरु है यावत् काल-धर्म को प्राप्त होगा।

भावार्थ—जब उसने मुझे निर्भय देखा तो चौथी बार बोला—“हे चुलनीपिता श्रावक! अनिष्ट के कामी! यावत् तू भंग नहीं करता तो जो यह तेरी माता देव, गुरु-स्वरूप है उसे भी मार डालूंगा। यावत् तू मर जाएगा।”

मूलम्—तए णं अहं तेणं पुरिसेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरामि ॥ १४४ ॥

छाया—ततः खल्वहं तेन पुरुषेणैवमुक्तः सन्नभीतो यावद् विहरामि।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, अहं—मैं, तेणं पुरिसेणं एवं वुत्ते समाणे—उस पुरुष के ऐसा कहने पर भी, अभीए जाव विहरामि—निर्भय यावत् विचरता रहा।

भावार्थ—तब उसके ऐसा कहने पर भी मैं निर्भय विचरता रहा।

मूलम्—तए णं से पुरिसे दोच्चंपि तच्चंपि ममं एवं वयासी—“हंभो चुलणीपिया! समणोवासया! अज्ज जाव ववरोविज्जसि” ॥ १४५ ॥

छाया—ततः खलु स पुरुषो द्वितीयमपि तृतीयमपि माभैत्रमवादीत्—हंभोः चुलनीपितः! श्रमणोपासक! अद्य यावद् व्यपरोपयिष्यसे।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से पुरिसे—वह पुरुष, दोच्चंपि तच्चंपि—दूसरी और तीसरी बार, ममं—मुझे, एवं वयासी—ऐसा कहने लगा, हं भो! चुलणीपिया!—समणोवासया! हे चुलनीपिता! श्रमणोपासक!, अज्ज जाव ववरोविज्जसि—आज यावत् मारा जाएगा।

भावार्थ—उस देव ने दूसरी बार और तीसरी बार उसी प्रकार कहा कि चुलनीपिता! आज यावत् मारा जाएगा।

मूलम्—तए णं तेणं पुरिसेणं दोच्चंपि तच्चंपि ममं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्जत्थिए ५, “अहो णं! इमे पुरिसे अणारिए जाव समायरइ, जेणं मम जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ तहेव जाव कणीयसं जाव आयंचइ,” तुब्भे वि य णं इच्छइ साओ गिहाओ नीणेत्ता मम अग्गओ घाएत्तए, तं सेयं खुल ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए ति कट्टु उब्बाइए। सेवि य आगासे उप्पइए, मए वि य खम्भे आसाइए, महया महया सद्देणं कोलाहले कए” ॥ १४६ ॥

छाया—ततः खलु तेन पुरुषेण द्वितीयमपि तृतीयमपि मभैवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः
 ५—अहो खल्वयं पुरुषोऽनार्यो यावत्समाचरति येन मम ज्येष्ठं पुत्रं स्वस्माद् गृहात्तथैव यावत्कनीयांसं
 यावदासिञ्चति, युष्मानपि च खल्विच्छति स्वस्माद् गृहान्नीत्वा ममाग्रतो घातयितुम्, तच्छ्रेयः खलु ममैतं
 पुरुषं ग्रहीतुमिति कृत्वोत्थितः, सोऽपि चाऽऽकाशे उत्पतितः, मयाऽपि च स्तम्भ आसादितः, महता २
 शब्देन कोलाहलः कृतः ।

शब्दार्थ—तए णं तेषं पुरिसेणं—तदनन्तर उस पुरुष द्वारा, दोच्वंपि तच्चंपि—दूसरी बार और
 तीसरी बार, ममं—मुझे, एवं वुत्तस्स समाणस्स—इस प्रकार कहे जाने पर, इमेयारूवे—इस प्रकार,
 अज्झत्थिए—विचार आया, अहो णं इमे पुरिसे—अहो! यह पुरुष, अणारिए—अनार्य है,
 जाव—यावत्, समायरइ—पाप कर्मों का समाचरण करता है, जेणं मम जेट्ठं पुत्तं—जिसने मेरे ज्येष्ठ
 पुत्र को, साओ गिहाओ—अपने घर से, तहेव—उसी प्रकार कहा, जाव—यावत्, कणीयसं जाव
 आयंचइ—लघु पुत्र को मारकर मुझे सिञ्चन किया, तुब्भे वि य णं इच्छइ—तुम्हें भी यह चाहता है,
 साओ गिहाओ—अपने घर से, नीणेत्ता—निकालकर, ममं अग्गओ—मेरे आगे, घाएत्तए—मार डालना,
 तं सेयं खलु ममं—तो मुझे उचित होगा कि, एयं पुरिसं गिण्हित्तए—इस पुरुष को पकड़ लूँ, ति
 कट्टु—ऐसा विचार करके मैं, उद्धाइए—उठा, से वि य आगासे उप्पइए—और वह भी आकाश में
 उड़ गया । मए वि य खम्भे आसाइए—और मैंने भी यह खंभा पकड़ लिया, महया २ सद्देणं कोलाहले
 कए—और जोर-जोर से चिल्लाने लगत ।

भावार्थ—उसके दूसरी और तीसरी बार ऐसा कहने पर मुझे विचार आया—यह पुरुष अनार्य है,
 इसकी बुद्धि भी अनार्य है, और आचरण भी अनार्य है । इसने मेरे बड़े, मंजले और छोटे पुत्र को मार
 डाला है और मेरा शरीर उनके खून से सींचा । अब यह तुम्हें भी मेरे सामने लाकर मार डालना चाहता
 है, अतः इसे पकड़ लेना ही उचित है । ऐसा विचार कर ज्यों ही मैं उठा तो वह आकाश में उड़ गया,
 मेरे हाथ में खंभा आ गया और मैं जोर-जोर से चिल्लाने लगा ।

मूलम्—तए णं सा भद्दा सत्थवाही चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी—“नो खलु
 केइ पुरिसे तव जाव कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएइ,
 एस णं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ,, एस णं तुमे विदरिसणे दिट्ठे । तं णं तुमं इयाणिं
 भग्ग-व्वए भग्ग-नियमे भग्ग-पोसहे विहरसि । तं णं तुमं पुत्ता! एयस्स ठाणस्स आलोएहि
 जाव पडिवज्जाहि” ॥ १४७ ॥

छाया—ततः खलु सा भद्रा सार्थवाही चुलनीपितरं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“नो खलु कोऽपि
 पुरुषस्तव यावत् कनीयांसं पुत्रं स्वस्माद् गृहान्नयति, नीत्वा तवाग्रतो घातयति, एष खलु कोऽपि

पुरुषस्तवोपसर्गं करोति, एतत् खलु त्वया विदर्शनं दृष्टम्, तत् खलु त्वमिदानीं भग्न-व्रतो, भग्न-नियमो, भग्न-पौषधो विहरसि, तत्खलु त्वं पुत्र ! एतस्य स्थानस्य आलोचय यावत्प्रतिपद्यस्व ।”

शब्दार्थ—तए णं सा भद्रा सत्यवाही—तदनन्तर वह भद्रा सार्थवाही, चुलनीपियं समणोवासयं एवं वयासी—चुलनीपिता! श्रमणोपासक को इस प्रकार कहने लगी—नो खलु केइ पुरिसे—ऐसा कोई पुरुष नहीं था जिसने, तव—तेरे, जाव—यावत्, कणीयसं पुत्तं—कनिष्ठ पुत्र को, साओ गिहाओ नीणेइ—अपने घर से निकाला हो, नीणेत्ता—निकाल कर, तव अग्गओ घाएइ—तुम्हारे सामने मारा हो, एस णं केइ पुरिसे—यह किसी पुरुष ने, तव उवसग्गं करेइ—तुझे उपसर्ग किया है, एस णं तुमे—यह तुमने, विदरिसणे दिट्ठे—मिथ्या घटना देखी है। तं णं तुमं इयाणिं—इस लिए हे पुत्र! तुम्हारा, भग्गव्वए—व्रत टूट गया है, भग्गनियमे—नियम टूट गया है, भग्गपोसहे—पौषध भग्न हो गया है, तं णं तुमं पुत्ता—इसलिए, तुम हे पुत्र! एयस्स ठाणस्स आलोएहि—इस भूल की आलोचना करो, जाव पडिवज्जाहि—यावत् आत्म-विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

भावार्थ—तब भद्रा सार्थवाही चुलनीपिता श्रावक से बोली—“हे पुत्र! कोई भी पुरुष यावत् तुम्हारे कनिष्ठ पुत्र को घर से नहीं लाया, न तेरे सामने मारा है। यह किसी ने तुझे उपसर्ग किया है। तू ने मिथ्या घटना देखी है। कषाय के उदय से चलित-चित्त होकर, तुम उस पुरुष को पकड़ने के लिए उठे, इससे तुम्हारा व्रत, नियम और पौषधोपवास टूट गया है। इस भूल के लिए आलोचना करो और प्रायश्चित्त लेकर आत्म-शुद्धि करो।”

टीका—चुलनीपिता का चिल्लाना सुनकर माता आई तो उसने सारी घटना कह सुनाई। माता ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—बेटा! तेरे तीनों पुत्र आराम से सोए हुए हैं। तुम्हारे साथ कोई दुर्घटना नहीं हुई, तुझे भ्रम हुआ है। किसी मिथ्या-दृष्टि देव ने तेरे सामने यह भयंकर दृश्य उपस्थित किया है। टीकाकार ने विदर्शन शब्द का अर्थ नीचे लिखे अनुसार किया है—

‘एस णं तुमे विदरिसणे’ एतच्च त्वया विदर्शनं—विरूपाकारं विभीषिकादि दृष्टं—अवलोकितमिति।

‘भग्गव्वए ति’ भग्नव्रतः—स्थूलप्राणातिपातविरतेर्भावतो भग्नत्वात्, तद्विनाशार्थं कोपेनोद्धावनात्, सापराधस्यापि व्रतविषयीकृतत्वात्, भग्ननियमः—कोपोदयेनोत्तरगुणस्य क्रोधाभिग्रहरूपस्य भग्नत्वात्, भग्नपौषधोऽव्यापारपौषधभङ्गत्वात्।

भग्गव्वए-भग्गपोसहे—माता ने पुनः कहा—तुम क्रोध में आकर उस मायावी को पकड़ने के लिए उठे, इससे तुम्हारा व्रत, नियम और पौषधोपवास टूट गया। यहां व्रत का अर्थ है—स्थूल प्राणातिपातविरमण रूप प्रथम व्रत। नियम का अर्थ है—उत्तर गुण। क्रोध आने के कारण उत्तर गुणों

का भङ्ग हुआ और हिंसात्मक चेष्टा के कारण पौषधोपवास का भङ्ग हुआ। टीकाकार के नीचे लिखे शब्द हैं।

एयस्स त्ति—माता ने फिर कहा—हे चुलनीपिता! तुम इस भूल के लिए आलोचना तथा प्रायश्चित्त करो। यहां मूल पाठ में यावत् शब्द दिया गया है जिससे टीकाकार ने नीचे लिखी बातों का अनुसन्धान किया है।

‘अलोएहि—आलोचय, गुरुभ्यो निवेदय’—अर्थात् गुरु के सामने अपनी भूल को निवेदन करो।

‘पडिक्कमाहि-निवर्त्तस्व’—अर्थात् वापिस लौटो, भूल के समय तुम बहिर्मुख हो गए, इसलिए पुनः आत्म-चिन्तन में लीन हो जाओ।

‘निन्दाहि—आत्मसाक्षिकां कुत्सां कुरु’—आत्मा को साक्षी बनाकर इस भूल की निन्दा करो, मन में यह विचार करो कि मैंने बुरा कार्य किया है।

‘गरिहाहि—गुरु साक्षिकां कुत्सां विदेहि’—गुरु को साक्षी बनाकर उस भूल की प्रकट रूप में निन्दा करो।

‘विउट्टाहि-वित्रोटय तद्भावानुबन्धच्छेदं विदेहि’—तुम्हारे मन में उस कार्य के सम्बन्ध में जो विचारधारा चल रही है उसे समाप्त कर दो, तोड़ डालो।

‘विसोहेहि-अतिचारमलक्षालनेन’—अतिचार अर्थात् दोषरूपी मैल को धोकर अपनी आत्मा को शुद्ध कर लो।

‘अकरणयाए अब्भुट्ठेहि-तदकरणाभ्युपगमं कुरु’—पुनः ऐसा न करने का संकल्प करो।

‘अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिक्कमाहि-यथाहं तपः कर्म प्रायश्चित्तं प्रति पद्यस्व’—शुद्धि के लिए यथा-योग्य तपस्या तथा प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

कुछ लोगों का मत है कि श्रावक के लिए निशीथ सूत्र में प्रायश्चित्त का विधान नहीं है, अतः उसे इसकी आवश्यकता नहीं है। यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि उपरोक्त पाठ में चुलनीपिता श्रावक को भी प्रायश्चित्त लेने का आदेश किया गया है। यहां वृत्तिकार के शब्द निम्नलिखित हैं—“एतेन च निशीथादिषु गृहिणं प्रति प्रायश्चित्तस्याप्रतिपादनान्न तेषां प्रायश्चित्तमस्तीति ये प्रतिपद्यन्ते, तन्मतमपास्तं। साधूद्देशेन गृहिणोऽपि प्रायश्चित्तस्य जीतव्यवहारानुपातित्वात्।”

कुछ लोगों का मत है कि चुलनीपिता माता की रक्षा करने के लिए उठा, इसी कारण उसका व्रत भङ्ग हो गया, क्योंकि साधु को छोड़कर किसी अन्य प्राणी को बचाना पाप है। यह धारणा ठीक नहीं है। श्रावक के व्रतों में यह स्पष्ट है कि उसे केवल निरपराध को मारने का त्याग होता है। अपराधी

को दण्ड देने का त्याग नहीं होता। उपरोक्त मिथ्यात्वी देव अपराधी था। उसे पकड़ने और दण्ड देने के लिए उठने में श्रावक का अहिंसा व्रत नहीं टूटता, किन्तु चुलनीपिता पौषध में था। उसने दो करण तीन योग से समस्त हिंसा का त्याग कर रखा था। माता या पुत्र ही नहीं अपने शरीर पर भी यदि कोई प्रहार करने आता है तो पौषधधारी को शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिए। उस समय उसकी अवस्था एक साधु के समान होती है। इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि खुली अवस्था में भी माता-पिता आदि की रक्षा करना पाप है। प्रायश्चित्त तो व्रत के भंग होने के कारण से है, माता की रक्षा के लिए प्रायश्चित्त नहीं है।

चुलनीपिता द्वारा भूल स्वीकार और प्रायश्चित्त ग्रहण—

मूलम्—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए अम्मगाए भद्दाए सत्यवाहीए “तह” त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ ॥ १४८ ॥

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकोऽम्बिकायाः भद्रायाः सार्थवाह्याः तथेति एतमर्थं विनयेन प्रतिश्रुणोति, प्रतिश्रुत्य तस्य स्थानस्य आलोचयति, यावत्प्रतिपद्यते।

शब्दार्थ—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए—तदनन्तर उस चुलनीपिता श्रमणोपासक ने, अम्मगाए भद्दाए सत्यवाहीए तह त्ति एयमट्ठं—माता भद्रा सार्थवाही की इस बात को तथेति पूर्वक, विणएणं पडिसुणेइ—विनयपूर्वक स्वीकार किया, पडिसुणेत्ता—स्वीकार करके, तस्स ठाणस्स—उस भूल की, आलोएइ—आलोचना की, जाव पडिवज्जइ—यावत् प्रायश्चित्त अङ्गीकार किया।

भावार्थ—तब चुलनीपिता श्रावक ने माता की बात विनयपूर्वक स्वीकार की, और उस भूल की आलोचना की यावत् प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि की।

चुलनीपिता द्वारा प्रतिमा ग्रहण—

मूलम्—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ, पढमं उवासग-पडिमं अहासुत्तं जहा आणंदो जाव एक्कारसमं पि ॥ १४९ ॥

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकः प्रथमामुपासकप्रतिमामुपसम्पद्य विहरति। प्रथमामुपासक-प्रतिमां यथा सूत्रं यथाऽऽनन्दो यावदेकादशीमपि।

शब्दार्थ—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए—तदनन्तर उस चुलनीपिता श्रमणोपासक ने, पढमं उवासग पडिमं—प्रथम उपासक प्रतिमा को, उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—अङ्गीकार किया, पढमं उवासग पडिमं—प्रथम उपासक प्रतिमा को, अहासुत्तं—तथा सूत्र, जहा आणंदो—आनन्द के समान पालन किया, जाव एक्कारसमं पि—यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा का पालन किया।

भावार्थ—तदनन्तर चुलनीपिता ने श्रावक की पहली प्रतिमा स्वीकार की और आनन्द के समान यथा-सूत्र पालन किया। इसी प्रकार क्रमशः ग्यारहवीं प्रतिमा स्वीकार की।

जीवन का उपसंहार और भविष्य—

मूलम्—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए तेणं उरालेणं जहा कामदेवो जाव सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसगस्स महा-विमाणस्स उत्तर-पुरत्थिमेणं अरुणप्पभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ ५। निक्खेवो ॥ १५० ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं तइयं चुलणीपियाज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु स चुलनीपिता श्रमणोपासकस्तेनोदारेण यथा कामदेवो यावत्सौधर्मे कल्पे सौधर्मावतंसकस्यौत्तरपौरस्त्येऽरुणप्रभे विमाने देवतयोपपन्नः। चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता। महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति। निक्षेपः।

॥ सप्तमस्यांगस्योपासकदशानां तृतीयं चुलनीपिता अध्ययनं समाप्तम् ॥

शब्दार्थ—तए णं से चुलणीपिया समणोवासए—तदनन्तर वह चुलनीपिता श्रमणोपासक, तेणं उरालेणं—उग्र तपश्चरण द्वारा, जहा कामदेवो—कामदेव के समान, जाव—यावत् अन्त में, सोहम्मे कप्पे—सौधर्म कल्प में, सोहम्मवडिंसगस्स—सौधर्मावतंसक के, उत्तरपुरत्थिमेणं—उत्तर पूर्व ईशानकोण में, अरुणप्पभे विमाणे—अरुणप्रभ विमान में, देवत्ताए उववन्ने—देव रूप में उत्पन्न हुआ, चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता—वहां उसकी चार पल्योपम की स्थिति प्रतिपादन की गई है। महाविदेहे वासे—वह चुलनीपिता देव महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर, सिज्झिहिइ—सिद्ध होगा।

भावार्थ—कामदेव की भांति चुलनीपिता भी कठोर तपश्चरण द्वारा सौधर्म कल्प, सौधर्मावतंसक के उत्तरपूर्व ईशान कोण में स्थित अरुणप्रभ विमान में देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहां उसकी चार पल्योपम आयु है। वह भी महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा।

टीका—उपरोक्त तीन सूत्रों में चुलनीपिता अध्ययन का उपसंहार है। माता के कथनानुसार उसने आलोचना, प्रायश्चित्त आदि द्वारा आत्मशुद्धि की। तपश्चात् ग्यारह प्रतिमाएं स्वीकार कीं। संलेखना द्वारा शरीर का परित्याग करके सौधर्म देवलोक के अरुणप्रभ विमान में उत्पन्न हुआ। वहां से च्यव कर वह देव महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और मोक्ष प्राप्त करेगा। निक्षेप—उपसंहार पूर्व की भांति ही जान लेना चाहिए।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशासूत्र का तृतीय चुलनीपिता अध्ययन समाप्त ॥

चउत्थमज्झयणं

चतुर्थ अध्ययन

मूलम्—उक्खेवओ चउत्थस्स अज्झयणस्स, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नामं नयरी । कोट्टए चेइए । जियसत्तू राया । सुरादेवे गाहावई अड्ढे । छ हिरण्ण-कोडीओ जाव छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं । धन्ना भारिया । सामी समोसढे । जहा आणंदो तहेव पडिवज्जइ गिहिधम्मं । जहा कामदेवो जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिय धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १५१ ॥

छाया—उत्क्षेपकश्चतुर्थस्याध्ययनस्य, एवं खलु जम्बू! तस्मिन् काले तस्मिन् समये वाराणसी नाम नगरी, कोष्ठकश्चैत्यः । जितशत्रु राजा, सुरादेवो गाथापतिः आद्यः । षड् हिरण्यकोटयो यावत् षड् व्रजा दसगोसाहस्रिकेण व्रजेन, धन्या भार्या, स्वामी समवसृतः, यथाऽऽनन्दस्तथैव प्रतिपद्यते गृहिधर्मम् । यथा कामदेवो यावत्—श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिक्रीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति ।

शब्दार्थ—उक्खेवओ चउत्थस्स अज्झयणस्स—तृतीय अध्ययन की भांति ही अब चतुर्थ अध्ययन का आरम्भ होता है—इस अध्ययन के प्रारम्भ में भी जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया और सुधर्मस्वामी ने उत्तर देते हुए कहा—एवं खलु जम्बू! हे जम्बू! इस प्रकार, तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय, वाणारसी नामं नयरी—वाराणसी नामक नगरी थी, कोट्टए चेइए—कोष्ठक नाम का चैत्य था, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा था, सुरादेवे गाहावई—वहाँ सुरादेव नामक गाथापति रहता था, अड्ढे—वह समृद्ध था, छ हिरण्ण कोडीओ—उसके पास छः करोड़ मोहरें कोष में थीं, छः करोड़ व्यापार में लगी हुई थीं और छः करोड़ घर तथा सामान में लगी थीं, छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं—प्रत्येक व्रज में दस हजार के हिसाब से छः व्रज अर्थात् ६० हजार गाएँ थीं, धन्ना भारिया—धन्या नाम की भार्या थी, सामी समोसढे—भगवान् महावीर स्वामी समवसृत हुए, जहा आणंदो तहेव पडिवज्जइ गिहिधम्मं—आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार किया, जहा कामदेवो—कामदेव के समान, जाव—यावत्, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं—श्रमण भगवान्

महावीर स्वामी के समीप स्वीकृत, धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—धर्मप्रज्ञप्ति को ग्रहण करके विचरने लगा।

भावार्थ—अब चतुर्थ अध्ययन का आरम्भ होता है। सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी के उत्तर में इस प्रकार कहते हैं कि हे जम्बू! उस काल और उस ही समय वाराणसी नाम की नगरी थी। वहां कोष्ठक नामक चैत्य था। जितशत्रु राजा था। सुरादेव गाथापति था जो अतीव समृद्ध था। उसकी धन्या नाम की पत्नी थी। उसके पास छः करोड़ सुवर्ण कोष में जमा थे, छः करोड़ व्यापार में लगे हुए थे और छः करोड़ सामान में। प्रत्येक व्रज में दस हजार गायों के हिसाब से ऐसे छः व्रज थे अर्थात् ६० हजार पशु-धन था। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् महावीर वाराणसी आए और कोष्ठक उद्यान में ठहर गए। सुरादेव भी आनन्द के समान दर्शनार्थ आया और गृहस्थधर्म स्वीकार करके उसका पालन करने लगा। समय बीतने पर उसने भी कामदेव के समान पौषधोपवास किया और भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मप्रज्ञप्ति के अनुसार जीवन बिताने लगा।

पिशाच का उपद्रव—

मूलम्—तए णं तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्त कालसमयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था, से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय सुरादेवं समणोवासयं एवं वयासी—“हंभो सुरादेवा समणोवासया! अपत्थियपत्थया! ४, जइ णं तुमं सीलाइं जाव न भंजेसि, तो ते जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएत्ता पंच सोल्लए करेमि, करित्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि, अद्दहेत्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आयंचामि, जहाणं तुमं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि।” एवं मज्झिमयं, कणीयसं एक्के-क्के पंच सोल्लया। तहेव करेइ, जहा चुलणीपियस्स, नवरं एक्के-क्के पंच सोल्लया ॥ १५२ ॥

छाया—ततः खलु तस्य सुरादेवस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापरत्रकालसमये एको देवोऽन्तिकं प्रादुरभूत्, स देव एकं महान्तं नीलोत्पल यावदसिं गृहीत्वा सुरादेवं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“हंभो ! सुरादेव! श्रमणोपासक! अप्रार्थित प्रार्थक! यदि खलु त्वं शीलानि यावन्न भनक्षि तर्हि ते ज्येष्ठं पुत्रं स्वस्माद् गृहान्नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा पञ्च शूल्यकानि करोमि, कृत्वा, आदहनभृते कटाहे आदहामि, आदह्य तव गात्रं मांसेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चामि यथा खलु त्वमकाल एव जीविताद्व्यपरोपयिष्यसे। एवं मध्यमकं, कनीयांसम्, एकैकस्मिन् पञ्च शूल्यकानि तथैव करोति यथा चुलनीपितुः। नवरमेकैकस्मिन् पञ्च शूल्यकानि।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स—उस सुरादेव श्रमणोपासक के,

अंतियं—पास, पुर्वरात्रि कालसमयसि—अर्धरात्रि के समय, एगे देवे पाउब्भवित्था—एक देव प्रकट हुआ, से देवे—वह देव, एगं महं—एक बड़ी, नीलुप्पल जाव असिं गहाय—नील कमल के समान यावत् तलवार लेकर, सुरादेवं समणोवासयं—सुरादेव श्रमणोपासक से, एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हं भो सुरादेवा समणोवासया!—अरे सुरादेव श्रमणोपासक! अपत्थियपत्थया!—अनिष्ट को चाहने वाले! जइ णं—यदि, तुमं—तू, सीलाइं जाव न भंजेसि—शीलादि व्रतों को यावत् नहीं छोड़ेगा, तो ते जेइं पुत्तं—तो तेरे बड़े पुत्र को, साओ गिहाओ नीणेमि—अपने घर से लाता हूं, नीणेत्ता—लाकर, तव अग्गओ घाएमि—तुम्हारे सामने मारता हूं, घाएत्ता—मारकर, पंच सोल्लए करेमि—पाँच टुकड़े करूंगा, करित्ता—करके, आदाण भरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि—तेल से भरे हुए कड़ाह में तलता हूं, अद्दहेत्ता—तलकर, तव गायं—तेरे शरीर को, मंसेण य—मांस और, सोणिएण य—रुधिर से, आयंचामि—छींटूंगा, जहा णं तुमं—जिससे तू, अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि—अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त होगा। एवं मज्झिमयं कणीयसं—इस प्रकार मंजले तथा कनिष्ठ पुत्र के, एक्के-क्के पंच सोल्लया—एक-एक के पाँच-पाँच मांस खण्ड, तहेव करेइ—उसी प्रकार किए, जहा चुलणीपियस्स—जैसे चुलनीपिता के। नवरं एक्के-क्के पंच सोल्लया—इतना ही भेद है यहाँ एक-एक के पाँच-पाँच मांस खण्ड किए।

भावार्थ—सुरादेव श्रमणोपासक के पास अर्धरात्रि के समय एक देव हाथ में नीली तलवार लेकर बोला—“अरे सुरादेव! श्रमणोपासक! अनिष्ट के कामी! यदि तू शीलादि व्रतों का त्याग नहीं करता तो मैं तेरे बड़े पुत्र को घर से लाकर तेरे सामने मारता हूँ। उसके शरीर के पाँच टुकड़े करके तेल से भरे हुए कड़ाहे में तलता हूँ, तथा तेरे शरीर को उसके मांस और रुधिर से छींटूंगा जिससे तू अकाल में ही जीवन से रहित हो जाएगा!” यावत् पिशाच ने वैसा ही किया। इसी प्रकार मंजले तथा कनिष्ठ पुत्र के साथ किया। चुलनीपिता के समान उनके शरीर के टुकड़े किए। विशेष बात यही है कि यहाँ पर एक-एक के पाँच-पाँच टुकड़े किए हैं।

सुरादेव के शरीर में १६ रोग उत्पन्न करने की धमकी—

मूलम्—तए णं से देवे सुरादेवं समणोवासयं चउत्थं पि एवं वयासी—“हंभो! सुरादेवा! समणोवासया! अपत्थियपत्थया ! ४ जाव न परिच्चयसि, तो ते अज्ज सरिंसि जमग-समगमेव सोलस रोगायंके पक्खिवामि, तं जहा—सासे, कासे जाव कोढे, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि” ॥ १५३ ॥

छाया—ततः खलु स देवः सुरादेवं श्रमणोपासकं चतुर्थमप्येवमवादीत्—“हंभो! सुरादेव! श्रमणोपासक! अप्रार्थित प्रार्थक! यावन्नपरित्यजसि तर्हि तेऽद्य शरीरे यमक-समकमेव षोडश

रोगातङ्गान् प्रक्षिपामि, तद्यथा—श्वासः, कासो यावत्कुष्ठम्, यथा खलु त्वमार्त्तं दुखार्त्तं यावद्व्यपरोपयिष्यसि ।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे—वह देव, सुरादेवं समणोवासयं—सुरादेव श्रमणोपासक को, चउत्थंपि एवं वयासी—चौथी बार भी इस प्रकार कहने लगा—हं भो सुरादेवा ! समणोवासया !—अरे सुरादेव ! श्रमणोपासक ! अपत्थियपत्थया—अनिष्ट की कामना करने वाले, जाव—यावत्, न परिच्चयसि—यदि शीलादि व्रतों को नहीं छोड़ता, तो ते—तो तेरे, अज्ज सरीरंसि—शरीर में आज, जमगसमगमेव सोलस—एक साथ ही सोलह, रोगायंके पक्खिवामि—रोग और आतंक को डालता हूं, तं जहा—जैसे कि, सासे कासे—श्वास, खांसी, जाव—यावत्, कोढे—कोढ़ ! जहा णं तुमं—जिससे तू, अट्ट दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि—आर्त्त, दुखी तथा विवश होता हुआ यावत् अकाल में मारा जाएगा ।

भावार्थ—तदनन्तर वह देव सुरादेव श्रमणोपासक को चौथी बार इस प्रकार कहने लगा—“अरे सुरादेव ! अनिष्ट के कामी ! यावत् यदि तू शीलादि व्रतों को भंग नहीं करेगा तो आज तेरे शरीर में एक साथ सोलह रोगों को डालता हूं, जैसे श्वास, खांसी यावत् कोढ़ जिससे तू आर्त्त, दुखी, विवश होकर अकाल में ही मर जाएगा ।”

मूलम्—तए णं से सुरादेवे समणोवासए जाव विहरइ । एवं देवो दोच्चंपि तच्चंपि भणइ, जाव ववरोविज्जसि ॥ १५४ ॥

छाया—ततः खलु स सुरादेवः श्रमणोपासको यावद्विहरति । एवं देवो द्वितीयमपि तृतीयमपि भणति, यावद् व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए णं से सुरादेवे समणोवासए—तदनन्तर वह सुरादेव श्रमणोपासक, जाव विहरइ—यावत् धर्म-ध्यान में स्थिर रहा, एवं देवो दोच्चंपि तच्चंपि—देव ने दूसरी और तीसरी बार उसी प्रकार, भणइ—कहा, जाव ववरोविज्जसि—यावत् मारा जाएगा ।

भावार्थ—सुरादेव श्रमणोपासक फिर भी धर्म ध्यान में स्थिर रहा । देव ने दूसरी और तीसरी बार भी उसी प्रकार कहा—यावत् मारा जाएगा ।

सुरादेव का विचलित होना और पिशाच को पकड़ने का प्रयत्न—

मूलम्—तए णं तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स, इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—“अहो णं इमे पुरिसे अणारिए जाव समायरइ, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं जाव कणीयसं जाव आयंचइ, जे वि य इमे सोलसं रोगायंका, ते वि य इच्छइ मम सरीरंगंसि पक्खिवित्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं

गिण्हित्तए” ति कट्टु उद्धाइए । से वि य आगासे उप्पइए । तेण यं खम्भे आसाइए, महया-महया सद्देणं कोलाहले कए ॥ १५५ ॥

छाया—ततः खलु तस्य सुरादेवस्य श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ४—“अहो खल्वयं पुरुषोऽनार्यो यावत्समाचरति येन मम ज्येष्ठं पुत्रं यावत्कनीयांसं यावदासिञ्चति येऽपि इमे षोडश रोगातङ्कास्तानपि चेच्छति मम शरीरे प्रक्षेप्तुं, तच्छ्रेय खलु ममैतं पुरुषं ग्रहीतुम्” इति कृत्वोत्थितः, सोऽपि चाऽऽकाशे उत्पतितः तेन च स्तम्भ आसादितः, महता-महता शब्देन कोलाहलः कृतः ।

शब्दार्थ—ताए णं—तदनन्तर, तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स—सुरादेव श्रमणोपासक को, तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स—उस देव द्वारा दूसरी तथा तीसरी बार कहने पर, इमेयारूवे—इस प्रकार, अज्झत्थिए—विचार उत्पन्न हुआ। अहो णं—अहो! इमे पुरिसे—यह पुरुष, अणारिए—अनार्य, जाव—यावत्, समायरइ—(अनार्य कर्मों का) आचरण करता है, जेणं ममं जेढं पुत्तं—जिसने मेरे बड़े पुत्र, जाव—यावत्, कणीयसं—कनिष्ठ पुत्र के, जाव आयंचइ—रुधिरादि से सींचा, जे वि य इमे सोलस रोगायंका—तथा जो ये सोलह रोगातंक हैं, ते वि य इच्छइ—उनको भी यह चाहता है, ममं सरीरगंसि पक्खित्तिए—मेरे शरीर में डालना। तं सेयं खलु—तो उचित होगा, ममं—मुझे, एयं पुरिसं—इस पुरुष को पकड़ लेना, ति कट्टु उद्धाइए—ऐसा विचार करके (उस देव को पकड़ने के लिए) उठा, से वि य आगासे उप्पइए—वह पुरुष आकाश में उड़ गया, तेण यं खंभे आसाइए—सुरादेव ने खम्भे को पकड़ लिया, महया महया सद्देणं कोलाहले कए—और जोर-जोर से कोलाहल करने लगा।

भावार्थ—सुरादेव उस देव के द्वारा दूसरी और तीसरी बार ऐसा कहने पर, सोचने लगा—“अहो! यह पुरुष अनार्य है, अनार्य कर्मों का आचरण करता है। इसने मेरे बड़े तथा छोटे पुत्र को मारकर मेरे शरीर को उनके रुधिर से छीटे दिए हैं। अब यह श्वास, खांसी तथा, कोढ़ादि सोलह रोगों को मेरे शरीर में डालना चाहता है। अतः इसको पकड़ लेना ही उचित है।” यह विचार कर देव को पकड़ने के लिए उठा। परन्तु देव आकाश में उड़ गया। सुरादेव ने एक स्तम्भ पकड़ लिया और जोर-जोर से चिल्लाने लगा।

टीका—जब देव पुत्रों की हत्या करके भी सुरादेव को विचलित नहीं कर सका तो उसने पुनः प्रयत्न किया और सुरादेव के शरीर में सोलह भयंकर रोग डालने की धमकी दी। इस पर वह विचलित हो गया और देव को पकड़ने के लिए उठा।

सूत्र में ‘यमगं-समगं’ शब्द आया है। यह संस्कृत के ‘यम’ और ‘सम’ शब्दों के साथ ‘क’ प्रत्यय लगाने पर बना है। इसका अर्थ है ‘एक साथ’।

प्राचीन समय में सोलह भयंकर रोग प्रचलित थे, इनका वर्णन आगमों एवं प्रकरण ग्रन्थों में यत्र-तत्र मिलता है वह इस प्रकार है—

- | | |
|--|--|
| १. श्वास—दमा । | २. कास—खांसी । |
| ३. ज्वर—बुखार । | ४. दाह—पित्त-ज्वर अर्थात् शरीर में जलन । |
| ५. कुक्षी—कमर में पीड़ा । | ६. शूल—पेट में रह-रह कर दर्द उठना । |
| ७. भगन्दर—गुदा पर फोड़ा । | ८. अर्श—बवासीर । |
| ९. अजीर्ण—बदहजमी—खाना न पचना । | |
| १०. दृष्टि-रोग—नजर का फटना आदि आंख की बीमारी । | |
| ११. मस्तक-शूल—सिर दर्द । | १२. अरुचि—भूख न लगना । |
| १३. कर्ण-वेदना—कानों के रोग, दुखना आदि । | |
| १४. कण्डू—खुजली । | १५. उदर-रोग—पेट की बीमारी । |
| १६. कुष्ठ—कोढ़ । | |

पत्नी द्वारा धर्म में पुनः संस्थापन—

मूलम्—तए णं सा धन्ना भारिया कोलाहलं सोच्चा निसम्म, जेणेव सुरादेवे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता एवं वयासी—“किण्णं देवाणुप्पिया! तुम्भेहिं महया-महया सद्देणं कोलाहले कए?” ॥ १५६ ॥

छाया—ततः खलु सा धन्या भार्या कोलाहलं श्रुत्वा निशम्य, येनैव सुरादेवः श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्यैवमवादीत्—“किं खलु देवानुप्रियाः! युष्माभिर्महता महता शब्देन कोलाहलः कृतः ।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, सा धन्ना भारिया—बह धन्या भार्या, कोलाहलं—कोलाहल, सोच्चा—सुन करके, निसम्म—विचार करके, जेणेव सुरादेवे—जहां सुरादेव, समणोवासए—श्रमणोपासक था, तेणेव उवागच्छइ—वहां आई, उवागच्छित्ता—आकर, एवं वयासी—इस प्रकार बोली, किण्णं—क्या, देवाणुप्पिया—देवानुप्रिया!, तुम्भेहिं महया महया सद्देणं कोलाहले—तुमने जोर-जोर से कोलाहल, कए? किया?

भावार्थ—सुरादेव की धन्या नाम की पत्नी कोलाहल सुनकर वहां आई और बोली—हे देवानुप्रिय—क्या तुम चिल्लाए थे?

मूलम्—तए णं से सुरादेवे समणोवासए धन्नं भारियं एवं वयासी—“एवं खुल देवाणुप्पिए! के वि पुरिसे तहेव कहेइ जहा चुलणीपिया । धन्ना वि पडिभणइ, जाव कणीयसं । नो खुल देवाणुप्पिया! तुम्भं के वि पुरिसे सरीरंसि जमगं-समगं सोलस रोगायं-

भणइ, एवं निरवसेसं जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकंते कप्पे विमाणे उववन्ने । चत्तारि पलिओवमाइं ठिई । महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ निक्खेवो ॥ १५७ ॥

॥ सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं चउत्थं सुरादेवज्जयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु स सुरादेवः श्रमणोपासको धन्यां भार्यामेवमवादीत्—“एवं खलु देवानुप्रिये! कोऽपि पुरुषस्तथैव कथयति यथा चुलनीपिता ।” धन्यापि प्रतिभणति, यावत्कनीयांसं, “नो खलु देवानुप्रियाः! युष्माकं कोऽपि पुरुषः शरीरे यमक-समकं षोडश रोगातङ्गान् प्रक्षिपति, एवं खलु कोऽपि पुरुषो युष्माकमुपसर्गं करोति”, शेषं यथा चुलनीपित्रे भद्रा भणति । एवं निरवशेषं यावत्सौधर्मं कल्पेऽरुणकान्ते विमाने उपपन्नः । चत्वारि पत्योपमानि स्थितिः महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति । निक्षेपः ।

॥ सत्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां चतुर्थं सुरादेवं अध्ययनं समाप्तम् ॥

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सुरादेवे—वह सुरादेव, समणोवासए—श्रमणोपासक, धन्नं भारियं—(अपनी) धन्या पत्नी से, एवं वयासी—इस प्रकार बोला । एवं खलु देवाणुप्पिए!—हे देवानुप्रिय! इस प्रकार, के वि पुरिसे—कोई पुरुष, तहेव कहेइ जहा चुलणीपिया—सब वृत्तान्त उसी प्रकार कहा जैसे चुलनीपिता ने कहा था, धन्ना वि पडिभणइ—धन्या ने भी उसी प्रकार उत्तर दिया, (भद्रा के समान), जाव—यावत्, कणीयसं—कनिष्ठ पुत्रादि (सब घर पर कुशल हैं), नो खलु देवाणुप्पिया—निश्चय ही हे देवानुप्रिय! केवि पुरिसे—कोई पुरुष, तुब्भं—तुम्हारे, सरीरंसि—शरीर में, जमग समगं—एक साथ ही, सोलस रोगायंके पक्खिवइ—सोलह रोगातङ्क डालता । (ऐसा कोई पुरुष नहीं है), एस णं के वि पुरिसे तुब्भं—यह किसी पुरुष ने तुम्हारे साथ, उवसगं करेइ—उपसर्ग किया है । सेसं जहा चुलणीपियस्स भद्रा भणइ—शेष जैसे चुलनीपिता को भद्रा माता ने कहा था वैसे कहा, एवं निरवसेसं—इस प्रकार निरविशेष, जाव—यावत्, सोहम्मे कप्पे—सौधर्म कल्प में, अरुणकंते कप्पे—अरुणकान्त कल्प, विमाणे उववन्ने—विमान में वह उत्पन्न हुआ, चत्तारि पालिओवमाईं ठिई—वहां पर सुरादेव की चार पत्योपम स्थिति है, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा । निक्खेवो—निक्षेप ।

भावार्थ—सुरादेव ने अपनी भार्या धन्या को कहा—हे देवानुप्रिय! निश्चय ही यहां कोई पुरुष आया । और सब वृत्तान्त उसी प्रकार कहा, जैसे चुलनीपिता ने अपनी भद्रा माता को कहा था । धन्ना भार्या ने भी सुरादेव को कहा—कि तेरे कनिष्ठ पुत्रादि सब सकुशल हैं । तुम्हारे शरीर में एक साथ सोलह रोग डालने का किसी पुरुष ने उपसर्ग किया है । शेष चुलनीपिता को माता भद्रा के समान कहा! इस प्रकार यावत् सुरादेव भी सौधर्म-कल्प में अरुणकान्त विमान में उत्पन्न हुआ । वहां पर इस की चार पत्योपम स्थिति है और वह भी महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा । निक्षेप—पूर्ववत् जान लेना चाहिए ।

॥ सत्तम अङ्ग उपासकदशा-सूत्र का चतुर्थं सुरादेव अध्ययन समाप्त ॥

पंचमऽङ्गयणं

पंचम अध्ययन

मूलम्—उक्खेवो पञ्चमस्स अज्झयणस्स, एवं खलु, जम्बू! तेणं कालेणं तेणं समएणं आलभिया नामं नयरी । संखवणे उज्जाणे । जियसत्तू राया । चुल्लसए गाहावई अइडे जाव छ हिरण्ण-कोडीओ जाव छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं । बहुला भारिया । सामी समोसडे । जहा आणन्दो तहा गिहि-धम्मं पडिवज्जइ । सेसं जहा कामदेवो जाव धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १५८ ॥

छाया—उत्क्षेपः पञ्चमस्याध्ययनस्य, एवं खलु जम्बू! तस्मिन् काले तस्मिन् समये आलभिका नाम नगरी, शङ्खवनमुद्यानम् जितशत्रू राजा, चुल्लशतको गाथापतिराद्यो यावत् षड् हिरण्यकोट्यो यावत् षड् व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेन । बहुला भार्या । स्वामी समवसृतः, यथाऽऽनन्दस्तथा गृहिधर्मं प्रतिपद्यते । शेषं यथा कामदेवो यावद् धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति ।

शब्दार्थ—उक्खेवो पंचमस्स अज्झयणस्स—पांचवें चुल्लशतक अध्ययन का उपक्षेप, जम्बूस्वामी ने प्रश्न किया और सुधर्मा स्वामी ने उत्तर देते हुए कहा—एवं खलु जम्बू—हे जम्बू! इस प्रकार, तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और समय, आलभिया नामं नयरी—आलभिका नाम की नगरी, संखवणे उज्जाणे—शंखवन उद्यान, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा, चुल्लसए गाहावई—और चुल्लशतक गाथापति था, अइडे जाव—वह समृद्ध यावत् अपरिभूत था, छ हिरण्ण कोडीओ—छः करोड सुवर्ण मुद्राएं कोष में थीं, छः करोड व्यापार में लगी हुई थीं, और छः करोड घर तथा सामान में लगी हुई थीं । जाव छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं—यावत् प्रत्येक व्रज में दस हजार गायों के गणित से छः व्रज अर्थात् ६० हजार गाएँ थीं । बहुला भारिया—बहुला भार्या थी, सामी समोसडे—भगवान् महावीर समवसृत हुए, जहा आणंदो तहा गिहिधम्मं पडिवज्जइ—आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया, सेसं जहा कामदेवो—शेष कामदेव के समान है, जाव धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—यावत् धर्मप्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा ।

भावार्थ—सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न के उत्तर में इस प्रकार कहा—हे

जम्बू! उस काल उस समय आलभिका नाम की नगरी थी। वहां शंखवन उद्यान था, जितशत्रु राजा राज्य करता था और चुल्लशतक नामक गाथापति था, वह अति समृद्ध यावत् अपरिभूत था। उसकी छः करोड़ सुवर्ण मुद्राएं कोष में थीं, छः करोड़ व्यापार में लगी हुई थीं, और छः करोड़ घर तथा सामान में। दस हजार गायों के प्रत्येक व्रज के गणित से छः व्रज अर्थात् ६० हजार पशु-धन था। बहुला भार्या थी। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् महावीर वहां आलभिका नगरी में पधारे। आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ-धर्म को स्वीकार किया। यावत् कामदेव के समान धर्मप्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा।

पिशाच का उपद्रव—

मूलम्—तए णं तस्स चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्त कालसमयंसि एगे देवे अंतियं जाव असिं गहाय एवं वयासी—“हंभो! चुल्लसयगा ! समणोवासया! जाव न भंजसि तो ते अज्ज जेट्ठं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेमि । एवं जहा चुलणीपियं, नवरं एक्के-क्के सत्त मंससोल्लया जाव कणीयसं जाव आयंचामि” ॥ १५६ ॥

तए णं से चुल्लसयए समणोवासए जाव विहरइ ॥ १६० ॥

छाया—ततः खलु तस्य चुल्लशतकस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापरत्र कालसमये एको देवोऽन्तिकं यावदसिं गृहीत्वैवमवादीत्—“हंभो चुल्लशतक! श्रमणोपासक! यावन्न भनक्षि तर्हि तेऽद्य ज्येष्ठं पुत्रं स्वस्माद् गृहान्नयामि, एवं यथा चुलनीपितरं, नवरमेकैकस्मिन् सप्त मांसशूल्यकानि यावत्कनीयांसं यावदासिञ्चामि ।

ततः खलु स चुल्लशतकः श्रमणोपासको यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, तस्स चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स अंतियं—उस चुल्लशतक श्रमणोपासक के पास, पुव्वरत्तावरत्त कालसमयंसि—अर्धरात्रि में, एगे देवे—एक देवता, जाव असिं गहाय—यावत् तलवार (हाथ में लेकर), एवं वयासी—इस प्रकार बोला—हं भो चुल्लसयगा समणोवासया!—अरे चुल्लशतक श्रमणोपासक! जाव न भंजसि—यावत् तू यदि शीलादि व्रतों को नहीं छोड़ेगा, तो ते—तो तेरे, अज्ज जेट्ठं पुत्तं—आज तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को, साओ गिहाओ—अपने घर से, नीणेमि—निकाल लाता हूं, एवं जहा चुलणीपियं—इस प्रकार चुलनीपिता के समान (करता है), नवरं एक्के-क्के सत्त मंस सोल्लया—विशेष यही है कि यहां एक-एक के सात-सात मांस खंड किए, जाव कणीयसं जाव आयंचामि—यावत् कनिष्ठ पुत्र के रुधिर और मांस से छीटूंगा।

तए णं से चुल्लसयए समणोवासए—तदनन्तर चुल्लशतक श्रमणोपासक, जाव—यावत्, विहरइ—शान्त एवं ध्यान में स्थिर रहा।

भावार्थ—चुल्लशतक श्रमणोपासक के पास अर्धरात्रि के समय एक देव हाथ में तलवार लेकर आया और कहने लगा—अरे चुल्लशतक श्रमणोपासक! यदि तू शीलादि व्रतों को नहीं छोड़ेगा तो मैं तेरे ज्येष्ठ पुत्र को घर से लाकर तेरे सामने मारूंगा। इस प्रकार चुल्लनीपिता के समान कहा। विशेष यही है कि यहां पर एक-एक के सात-सात टुकड़े—मांस खंड करने को कहा यावत् कनिष्ठ के रुधिर और मांस से छींटे दूंगा।

चुल्लशतक फिर भी शान्त एवं ध्यानावस्थित रहा।

मूलम्—तए णं से देवे चुल्लसयगं समणोवासयं चउत्थं पि एवं वयासी—“हं भो! चुल्लसयगा समणोवासया! जाव न भंजसि तो ते अज्ज जाओ इमाओ छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, छ वुड्ढि-पउत्ताओ, छ पवित्थर पउत्ताओ, ताओ साओ गिहाओ नीणेमि, नीणेत्ता आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव पहेसु सव्वओ समंता विप्पइरामि, जहा णं तुमं अट्ट-दुहट्ट-वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि” ॥ १६१ ॥

छाया—ततः खलु स देवश्चुल्लशतकं श्रमणोपासकं चतुर्थमप्येवमवादीत्—“हं भो चुल्लशतक! श्रमणोपासक! यावन्न भ्नक्षि तर्हि तेऽद्य या इमाः षड् हिरण्य-कोट्यो निधान-प्रयुक्ताः, षड् वृद्धि-प्रयुक्ताः षड् प्रविस्तर-प्रयुक्तास्ताः स्वस्माद् गृहान्नयामि, नीत्वाऽऽलभिकायां नगर्यां शृङ्गाटक यावत्पथेषु सर्वतः समन्ताद् विप्रकिरामि यथा खलु त्वमार्तो वशार्तोऽकाल एव जीवितादव्यपरोपयिष्यसे।

भावार्थ—तए णं से देवे—तदनन्तर वह देव, चुल्लसयगं समणोवासयं—चुल्लशतक श्रमणोपासक को, चउत्थं पि—चुत्थं बार भी, एवं वयासी—इस प्रकार कहने लगा—हं भो चुल्लसयगा! समणोवासया—अरे चुल्लशतक! श्रमणोपासक! जाव न भंजसि—यावत् यदि तू शीलादि व्रतों का त्याग नहीं करता, तो ते अज्ज—तो तुम्हारी आज, जाओ इमाओ—जो यह, छ हिरण्ण कोडीओ निहाणपउत्ताओ, छ वुड्ढिपउत्ताओ, छ पवित्थर पउत्ताओ—छः करोड़ मुद्राएं कोष में हैं, छः करोड़ व्यापार में लगी हुई हैं और छः करोड़ गृह तथा उपकरणों में लगी हुई हैं, ताओ साओ गिहाओ नीणेमि—उनको घर से लाता हूं, नीणेत्ता—लाकर, आलभियाए नयरीए—आलभिका नगरी में, सिंघाडग जाव पहेसु—शृङ्गाटक तथा यावत् मार्गों में, सव्वओ समंता विप्पइरामि—चारों ओर बिखेर दूंगा। जहा णं तुमं—जिस से तू, अट्ट दुहट्ट वसट्टे अकाले चेव जीवियाओ—जिससे तू अत्यन्त चिन्तामग्न तथा विवश हो कर अकाल में ही जीवन से, ववरोविज्जसि—पृथक् हो जाएगा।

भावार्थ—देव ने चुल्लशतक श्रमणोपासक को चौथी बार कहा—हे चुल्लशतक! यदि तू शीलादि व्रतों को भंग नहीं करता है तो यह जो तेरे छः करोड़ सुवर्ण-मुद्राएं कोष में हैं, छः करोड़ व्यापार में

लगी हुई हैं तथा छः करोड़ गृह तथा उपकरणों में लगी हैं, उन सबको चौराहों पर बिखेर दूंगा जिससे तू चिन्तामग्न तथा दुखी होकर अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त करेगा।

मूलम्—तए णं से चुल्लसयए समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ १६२ ॥

छाया—ततः खलु स चुल्लशतकः श्रमणोपासकस्तेन देवेनैवमुक्तः सन्नभीतो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं से चुल्लसयए समणोवासए—तदनन्तर वह चुल्लशतक श्रमणोपासक, तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे—उस देव के इस प्रकार कहने पर भी, अभीए जाव विहरइ—निर्भय यावत् ध्यान में स्थिर रहा।

भावार्थ—चुल्लशतक देव द्वारा इस प्रकार कहने पर भी ध्यान में स्थिर रहा।

मूलम्—तए णं से देवे चुल्लसयगं समणोवासयं अभीयं जाव पासित्ता दोच्चंपि तच्चंपि भणइ, जाव ववरोविज्जसि ॥ १६३ ॥

छाया—ततः खलु स देवश्चुल्लशतकं श्रमणोपासकमभीतं यावद् दृष्ट्वा द्वितीयमपि तृतीयमपि तथैव भणति यावद्व्यपरोपयिष्यसे ।

शब्दार्थ—तए णं से देवे चुल्लसयगं समणोवासयं—तदनन्तर वह देव चुल्लशतक श्रमणोपासक को, अभीयं जाव पासित्ता—निर्भय यावत् देखकर, दोच्चं पि तच्चं पि तहेव भणइ—द्वितीय तथा तृतीय बार उसी तरह कहा, जाव ववरोविज्जसि—यावत् मारा जाएगा।

भावार्थ—देव ने चुल्लशतक को निर्भय यावत् ध्यान में स्थिर देखकर दूसरी तथा तीसरी बार उसी प्रकार कहा—यावत् मारा जाएगा।

चुल्लशतक का विचलित होना और पत्नी द्वारा समाशवासन—

मूलम्—तए णं तस्स चुल्लसयगस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए ४—“अहो णं इमे पुरिसे अणारिए जहा चुलणीपिया तहा चित्तेइ, जाव कणीयसं जाव आयंचइ, जाओ वि य णं इमाओ ममं छ हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ छ वुट्ठि-पउत्ताओ छ पवित्थर-पउत्ताओ, ताओ वि य णं इच्छइ ममं साओ गिहाओ नीणेत्ता, आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव विप्पइरित्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए” त्ति कट्टु उद्धाइए, जहा सुरादेवो । तहेव भारिया पुच्छइ, तहेव कहेइ ॥ १६४ ॥

छाया—ततः खलु तस्य चुल्लशतकस्य श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि

तृतीयमप्येवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ४—“अहो! खल्वयं पुरुषोऽनार्यो यथा चुलनीपिता तथा चिन्तयति, यावत्कनीयांसं यावदासिञ्चति, या अपि च खलु इमा मम षड् हिरण्यकोटयो निधानप्रयुक्ताः षड् वृद्धिप्रयुक्ताः षड् प्रविस्तरप्रयुक्तास्ता अपि च खलु इच्छति मम स्वस्माद् गृहान्नीत्वाऽलभिकाया नगर्याः शृङ्गाटक यावद् विप्रकिरितुं तच्छ्रेयः खलु ममैतं पुरुषं ग्रहीतुमिति” कृत्वोथितो यथा सुरादेवः । तथैव भार्या पृच्छति तथैव कथयति ।

शब्दार्थ—तए णं तस्स चुल्लसयस्स समणोवासयस्स—तदनन्तर उस चुल्लशतक श्रमणोपासक को, तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स—उस देव द्वारा दूसरी तथा तीसरी बार इस प्रकार कहे जाने पर, अयमेयारूवे अज्झत्थिए—इस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए—अहो णं इमे पुरिसे अणारिए—अहो! यह पुरुष अनार्य है, जहा चुलणीपिया तहा चिंतेइ—चुलनीपिता के समान वह भी विचार करने लगा, जाव कणीयसं जाव आयंचइ—यावत् कनिष्ठ पुत्र के खून से भी मुझे सींचा, जाओ वि य णं—और जो यह, ममं—मेरी, छ हिरण्यकोडीओ निहाणपउत्ताओ छ बुद्धिपउत्ताओ छ पवित्थर पउत्ताओ—छः करोड़ सुवर्ण मुद्राएं कोष में हैं, छः करोड़ व्यापार में लगी हुई हैं और छः करोड़ गृह तथा उपकरणों में लगी हुई हैं, ताओ वि य णं इच्छइ ममं साओ गिहाओ नीणेत्ता—उन सबको भी यह मेरे घर से निकालकर, आलभियाए नयरीए सिंघाडग जाव विपइरित्तए—आलभिका नगरी में चौराहों पर यावत् बिखेरना चाहता है, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए—तो मेरे लिए यही उचित है कि इस पुरुष को पकड़ लूं, त्ति कट्टु—ऐसा विचार करके, उद्धाइए—उठा, जहा सुरादेवो—सुरादेव के समान (उसके साथ भी हुआ), तहेव भारिया पृच्छइ—उसी प्रकार से पत्नी ने पूछा, तहेव कहेइ—उसने भी उसी प्रकार उत्तर दिया ।

भावार्थ—चुल्लशतकं देव द्वारा दूसरी तथा तीसरी बार कहे जाने पर सोचने लगा—“यावत् यह पुरुष अनार्य है । यावत् इसने मेरे कनिष्ठ पुत्र को मार कर मेरे शरीर को रुधिर और मांस में सींचा है! और अब मेरी जो छः करोड़ सुवर्ण मुद्राएं कोष में हैं, छः करोड़ व्यापार में लगी हुई हैं और छः करोड़ घर तथा सामान में लगी हुई हैं, आज यह उन्हें भी चौराहों पर बिखेरना चाहता है । अतः इसको पकड़ लेना ही उचित है ।” यह सोचकर उसने भी सुरादेव की भांति किया, उसकी भार्या ने उसी प्रकार उससे कोलाहल का कारण पूछा । उसने भी सब वृत्तान्त उसी प्रकार अपनी पत्नी को कहा ।

उपसंहार—

मूलम्—सेसं जहा चुलणीपियस्स जाव सोहम्मे कप्पे अरुणसिट्ठे विमाणे उववन्ने । चत्तारि पलिओवमाइं ठिई । सेसं तहेव जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ । निक्खेवो ॥ १६२ ॥

॥ सत्तमस्स अज्झस्स उवासगदसाणं पज्चमं चुल्लसयगज्झयणं समत्तं ॥

छाया—शेषं यथा चुलनीपितुर्यावत्सौधर्मं कल्पेऽरुणश्रेष्ठे विमाने उत्पन्नः । चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः, शेषं तथैव यावन्महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति । निक्षेपः ।

॥ सप्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां पंचमं चुल्लशतकमध्ययनं समाप्तम् ॥

भावार्थ—सेसं जहा चुलणीपियस्स जाव सोहम्मे कप्पे—शेष सब चुलनीपिता के समान है यावत् सौधर्म-कल्प में, अरुणसिट्टे विमाणे उववन्ने—अरुणश्रेष्ठ नामक विमान में उत्पन्न हुआ, चत्वारि पलिओवमाइं ठिई—(वहां उसकी भी) चार पल्योपम स्थिति है, सेसं तहेव—शेष पूर्ववत् है, जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—यावत् महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा ।

शब्दार्थ—शेष सब चुलनीपिता के समान यावत् सौधर्म-कल्प के अरुणश्रेष्ठ विमान में वह उत्पन्न हुआ । वहां उसकी भी चार पल्योपम स्थिति है, महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध होगा । निक्षेप पूर्ववत् समझे ।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा-सूत्र का पञ्चम् चुल्लशतक अध्ययन समाप्त ॥

छट्ठमञ्जयणं

षष्ठम अध्ययन

मूलम्—उक्खेवओ छट्ठस्स कुण्डकोलियस्स अज्झयणस्स, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं कम्पिल्लपुरे नयरे, सहस्सम्बवणे उज्जाणे । जियसत्तू राया । कुण्डकोलिए गाहावई । पूसा भारिया । छ हिरण्ण-कोडीओ निहाणपउत्ताओ छ बुद्धि-पउत्ताओ छ पवित्थर-पउत्ताओ, छ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं । सामी समोसढे, जहा कामदेवो तहा सावयधम्मं पडिवज्जइ । सच्चैव वत्तव्वया जाव पडिलाभेमाणे विहरइ ॥ १६६ ॥

छाया—उत्क्षेपकः षष्ठस्य कुण्डकौलिकस्याध्ययनस्य, एवं खलु जम्बू! तस्मिन् काले तस्मिन् समये काम्पिल्यपुरं नगरं सहस्राग्रवनमुद्यानम्, जितशत्रू राजा । कुण्डकौलिको गाथापतिः । पूषा भार्या षड् हिरण्यकोट्यो निधान-प्रयुक्ताः, षड् वृद्धि-प्रयुक्ताः, षड् प्रविस्तर-प्रयुक्ताः, षड् ब्रजा दशगोसाहस्रिकेण ब्रजेन । स्वामी समवसृतः । यथा कामदेवस्तथा श्रावकधर्मं प्रतिपद्यते । सा चैव वक्तव्यता यावत् प्रतिलाभयन् विहरति ।

शब्दार्थ—छट्ठस्स कुण्डकोलियस्सअज्झयणस्स—छठे कुण्डकौलिक अध्ययन का, उक्खेवओ—उपक्षेप अर्थात् आरम्भ इस प्रकार है—एवं खलु जम्बू! इस प्रकार हे शिष्य जम्बू!, तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस कालं उस समय में, कम्पिल्लपुरे नयरे—काम्पिल्यपुरं नगर, सहस्सम्बवणे उज्जाणे—सहस्राग्रवन उद्यान था, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा, कुण्डकोलिए गाहावई—और कुण्डकौलिक गाथापति था, पूसा भारिया—(उसकी) पूषा नामक पत्नी थी, छ हिरण्णकोडीओ निहाणपउत्ताओ—छह करोड़ सुवर्ण मुद्राएं कोष में थीं, छ बुद्धिपउत्ताओ—छह करोड़ व्यापार में लगी हुई थीं और, छ पवित्थरपउत्ताओ—छह गृह तथा उपकरण में लगी हुई थीं । छह वया दस-गोसाहस्सिएणं वएणं—प्रत्येक ब्रज में दस हजार गायों के हिसाब से छह ब्रज अर्थात् पशु-धन था । सामी समोसढे—भगवान् पधारे । जहा कामदेवो तहा सावयधम्मं पडिवज्जइ—कामदेव के समान उसने भी श्रावकधर्म अङ्गीकार किया । सच्चैव वत्तव्वया जाव पडिलाभेमाणे विहरइ—सारी वक्तव्यता उसी प्रकार है यावत् श्रमण-निर्ग्रन्थों को भक्तपान प्रतिलाभ अर्थात् आहार-पानी आदि बहराता हुआ विचरने लगा ।

भावार्थ—उपक्षेप पूर्ववत् है। हे जम्बू! उस काल और उस समय काम्पिल्यपुर नगर था। उस नगर के बाहर सहस्राम्रवन नामक रमणीय उद्यान था। वहां पर जितशत्रु राजा राज्य करता था। उस नगर में कुण्डकौलिक नामक प्रसिद्ध गाथापति था। उस गाथापति की पूषा नामक धर्मपत्नी थी। कुण्डकौलिक के पास छह करोड़ सुवर्ण मुद्राएं कोष में सुरक्षित थीं, छह करोड़ सुवर्ण मुद्राएं व्यापार में लगी हुई थीं और छह करोड़ धर तथा गृहोपकरण में प्रयुक्त थीं। उस गाथापति के पास छह ब्रज पशु-धन था। उसी काल और समय में श्रमण भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम धर्मोपदेश देते हुए काम्पिल्यपुर नगर के बाहर सहस्राम्रवन उद्यान में पधारे। आनंद गाथापति के समान कुण्डकौलिक भी भगवान् का धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए गया। फलस्वरूप उसने भी द्वादश व्रतरूप गृहस्थधर्म अंगीकार किया। यावत् श्रमण-निर्ग्रन्थों को आहार-पानी बहराते हुए सेवा-भक्ति से अपना जीवन यापन करने लगा।

कुण्डकौलिक द्वारा अशोकवनिका में धर्मानुष्ठान—

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए अन्नया कयाइ पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव असोगवणिया, जेणेव पुढवि-सिला-पट्टए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता नाम-मुद्दगं च उत्तरिज्जगं च पुढवि-सिला-पट्टए ठवेइ, ठवित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १६७ ॥

छाया—ततः खलु स कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकोऽन्यदा कदाचित्पूर्वापराहकालसमये येनैवाऽशोकवनिका येनैव पृथिवी-शिला-पट्टकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य नाममुद्रिकां चोत्तरीयकं च पृथिवी-शिला-पट्टके स्थापयति, स्थापयित्वा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुसम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए अन्नया कयाइ—तदनन्तर वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक अन्य किसी दिन, पुव्वावरण्हकालसमयंसि—मध्याह्नकाल के समय, जेणेव असोगवणिया—जहां अशोक-वनिका थी, जेणेव पुढविसिलापट्टए—जहां पृथ्वी-शिला-पट्ट था, तेणेव उवागच्छइ—वहां पर आया, उवागच्छित्ता—आकर, नाम मुद्दगं च—नामाङ्कित मुद्रिका (अंगूठी) तथा, उत्तरिज्जगं च—उत्तरीय अर्थात् दुपट्टे को, पुढविसिलापट्टए ठवेइ—पृथ्वी शिला पट्ट पर रखा, ठवित्ता—रख करके, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं—श्रमण भगवान् महावीर के पास स्वीकार की हुई, धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—धर्मप्रज्ञप्ति को अङ्गीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—तत्पश्चात् किसी दिन कुण्डकौलिक श्रमणोपासक मध्याह्न के समय अशोकवनिका (वाटिका) में गया, वहां पृथ्वी-शिला-पट्ट पर अपने नाम से अङ्कित हाथ की अंगूठी और ऊपर ओढ़ने

वाले उत्तरीय वस्त्र को रख दिया। तत्पश्चात् श्रमण भगवान् से प्राप्त की हुई धर्म-प्रज्ञप्ति का आराधन करने लगा।

देव का आगमन—

मूलम्—तए णं तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स एगे देवे अंतियं पाउब्भ-
वित्था ॥ १६८ ॥

छाया—ततः खलु तस्य कुण्डकौलिकस्य श्रमणोपासकस्यैको देवोऽन्तिके प्रादुरभूत् ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स—उस कुण्डकौलिक श्रमणोपासक के पास, एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था—एक देव प्रकट हुआ।

भावार्थ—जिस समय कुण्डकौलिक श्रमणोपासक भगवान् महावीर के धर्म की आराधना कर रहा था उस समय वहां पर एक देव प्रकट हुआ।

देव द्वारा नियतिवाद की प्रशंसा—

मूलम्—तए णं से देवे नाममुद्दं च उत्तरिज्जं च पुढवि-सिला-पट्टयाओ गेण्हइ, गिण्हित्ता सखिंखिणिं अंतलिक्ख-पडिवन्ने कुण्डकोलियं समणोवासयं एवं वयासी—“हं भो कुण्डकोलिया! समणोवासया! सुन्दरी णं देवाणुप्पिया! गोशालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्म-पण्णत्ती,—नत्थि उट्ठाणे इ वा, कम्मै इ वा, बल्ले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कार-परक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे इ वा, जाव परक्कमे इ वा, अणियया सव्वभावा” ॥ १६९ ॥

छाया—ततः खलु स देवो नाममुद्रां चोत्तरीयं च पृथिवी-शिला-पट्टकाद् गृह्णाति, गृहीत्वा सकिकिणिकः अंतरिक्षप्रतिपन्नः कुण्डकौलिकं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“हं भोः कुण्डकौलिक! श्रमणोपासक! सुन्दरी खलु देवानुप्रिय! गोशालस्य मंखलि-पुत्रस्य धर्मप्रज्ञप्तिः नास्ति उत्थानमिति वा, कर्मेति वा, बलमिति वा, वीर्यमिति वा, पुरुषकार-पराक्रमौ इति वा, नियताः सर्वभावाः । मंगुली खलु श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्मप्रज्ञप्तिः, अस्ति उत्थानमिति वा, यावत्पराक्रम इति वा अनियताः सर्वभावाः ।

शब्दार्थ—तए णं से देवे—तदनन्तर उस देव ने, नाममुद्दं च उत्तरिज्जं च—नाम-मुद्रिका और उत्तरीय को, पुढवि-सिला-पट्टयाओ गेण्हइ—पृथ्वी-शिला-पट्टक से उठाया, गिण्हित्ता—उठाकर, सखिंखिणिं—धुंधरु का शब्द करते हुए, अंतलिक्ख-पडिवन्ने—उड़कर अन्तरिक्ष में रुक गया, कुण्डकोलियं समणोवासयं एवं वयासी—कुण्डकौलिक श्रावक को इस प्रकार कहने लगा—हं भो

कुण्डकोलिया! समणोवासया!—हे कुण्डकौलिक! श्रमणोपासक!, सुन्दरी णं देवानुप्पिया! गोशालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती—हे देवानुप्रिय! मंखलिपुत्र गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर हैं, नत्थि उट्ठाणे इ वा कम्मे इ वा बले इ वा—(उसमें) उत्थान, कर्म, बल, (शारीरिक शक्ति), वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा—वीर्य, पुरुषकार तथा पराक्रम स्वीकार नहीं किया गया, नियया सव्वभावा—अर्थात् विश्व के समस्त परिवर्तन नियत अर्थात् निश्चित हैं, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती—श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति मिथ्या है। अत्थि उट्ठाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा—क्योंकि उसमें उत्थान और पराक्रमादि को स्वीकार किया गया है। अणियया सव्वभावा—वहां सब भाव अनियत हैं।

भावार्थ—उस देव ने नामांकित मुद्रिका और उत्तरीय वस्त्र को शिलापट पर से उठा लिया और घुंघरू बजाते हुए आकाश में उड़कर कुण्डकौलिक से कहने लगा—“हे कुण्डकौलिक श्रावक! देवानुप्रिय मंखलिपुत्र गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है। उसमें उत्थान (कर्म के लिए उद्यत होना) कर्म (गमनादि क्रियाएं) बल (शारीरिक बल) वीर्य (आत्मतेज) पुरुषकार (पौरुष) तथा पराक्रम को स्वीकार नहीं किया गया। विश्व के समस्त परिवर्तन नियत हैं अर्थात् जो कुछ होना है होकर रहेगा। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इसके विपरीत श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति असुन्दर अथवा मिथ्या है। उसमें उत्थान पराक्रमादि को स्वीकार किया गया है तथा जगत के परिवर्तन अनियत हैं अर्थात् पुरुषार्थ आदि के द्वारा उनमें परिवर्तन किया जा सकता है।”

टीका—पिछले पांच अध्ययनों की अपेक्षा प्रस्तुत कुण्डकौलिक-अध्ययन भिन्न प्रकार का है। इसमें देवता उपसर्ग उपस्थित नहीं करता किन्तु कुण्डकौलिक के सामने भिन्न धार्मिक परम्परा का प्रतिपादन करता है, जो महावीर के समय अत्यन्त प्रचलित थी और उसके अनुयायियों की संख्या महावीर से भी अधिक थी। प्रस्तुत सूत्र में दोनों का परस्पर भेद दिखाया गया है। गोशालक नियतिवादी था। उसके मत में विश्व के समस्त परिवर्तन नियत अर्थात् निश्चित हैं। उन्हें कोई बदल नहीं सकता। प्रत्येक जीव को ८४ लाख योनियों में घूमना पड़ेगा और उसके पश्चात् अपने-आप मुक्ति प्राप्त हो जाएगी। इन योनियों में जो सुख-दुख हैं वे भोगने ही पड़ेंगे। कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थ, पराक्रम द्वारा उसमें परिवर्तन नहीं कर सकता। अतः समस्त साधनाएं, तपस्याएं तथा भाग-दौड़ व्यर्थ हैं। इस मत का दूसरा नाम आजीविक भी है और इसका उल्लेख अशोक की धर्मलिपियों में मिलता है, तत्पश्चात् सम्प्रदाय के रूप में उल्लेख न मिलने पर भी भारतीय जीवन पर उसका प्रभाव अब भी अक्षुण्ण है। अब भी इस देश में पुरुषार्थ छोड़कर भाग्य के भरोसे बैठे रहने वालों की संख्या कम नहीं है। मलूकदास का नीचे लिखा दोहा साधु संन्यासी तथा फकीरों में ही नहीं, गृहस्थों में भी घर किए हुए है—

“अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम ।

दास मलूका कह गए सब के दाता राम ॥

संस्कृत साहित्य में भी इस प्रकार के अनेक श्लोक मिलते हैं, जो पुरुषार्थ को व्यर्थ बताते हैं—

“प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽर्थः,

सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ।

भूतानां महति कृतेऽपीह प्रयत्ने,

नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥”

पुरुषों को नियति अर्थात् होनहार के आधीन जो शुभ अथवा अशुभ प्राप्त करना होता है वह अवश्यमेव प्राप्त होता है अर्थात् जैसा भाग्य में लिखा है वह होकर ही रहता है। प्राणी कितना ही प्रयत्न करे, जो बात नियति में नहीं है, नहीं हो सकती। इसी प्रकार जो होनी है वह टल नहीं सकती।

“नहि भवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं बिनाऽपि यत्नेन ।

करतलगतमपि नश्यति, यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥”

होनहार नहीं है वह कभी नहीं हो सकता और जो होनहार है वह बिना ही प्रयत्न के हो जाता है। जिसकी होनहार अथवा भाग्य समाप्त हो गया है उसकी हाथ में आई हुई संपत्ति भी नष्ट हो जाती है।

इसके विपरीत महावीर की परंपरा में पुरुषार्थ के लिए पर्याप्त स्थान है। वहां यह माना है कि व्यक्ति पुरुषार्थ द्वारा अपने भविष्य को बदल सकता है। उसका बनाना या बिगाड़ना स्वयं उसके हाथ में है। पूर्व जन्म के सञ्चित कर्मों को भी इस जन्म के पुरुषार्थ द्वारा बदला जा सकता है। इसी आशय का एक श्लोक योग-वशिष्ठ में भी आया है—

“द्वौ हुडाविव युद्ध्येते, पुरुषार्थो परस्परम् ।

प्राक्तनोऽद्यतनश्चैव, जयत्यधिकवीर्यवान् ॥”

पुराना और नया पुरुषार्थ मेंटों की तरह आपस में टकराते रहते हैं, जिसमें अधिक शक्ति होती है वही जीत जाता है।

इस विषय की विशेष चर्चा के लिए जैन कर्म-सिद्धान्त का मनन करना चाहिए।

सूत्र में पुरुषार्थ का अभिप्राय प्रकट करने के लिए कई शब्द दिए हैं, उनका सूक्ष्म आशय नीचे लिखे अनुसार है—

१. उत्थान—किसी काम को करने के लिए उठना अर्थात् खड़े होना। मानसिक दृष्टि से इसका अर्थ है उत्साह।

२. कर्म—क्रिया, जाना-आना, हाथ-पैर हिलाना आदि शारीरिक व्यापार ।
३. बल—शारीरिक शक्ति ।
४. वीर्य—आत्म-बल अर्थात् हिम्मत न हारना, उत्साह को स्थिर रखना ।
५. पुरुषकार—पुरुषत्व का अभिमान, संकटों के सामने पराजित न होना, कठिनाइयां आने पर भी हार न मानना ।
६. पराक्रम—सफलता प्राप्त करने की शक्ति ।

कुण्डकौलिक का उत्तर और देव का पराजित होना—

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी—“जइ णं देवा! सुन्दरी गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव निययां सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे इ वा जाव अणियया सव्वभावा । तुमे णं देवा ! इमा एयारूवा दिव्वा देविद्धी, दिव्वा देवज्जुई, दिव्वे देवाणुभावे किणा लद्धे, किणा पत्ते, किणा अभिसमन्नागए ? किं उट्ठाणेणं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेणं ? उदाहु अणुट्ठाणेणं, अकम्मेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं ?” ॥ १७० ॥

छाया—ततः खलु स कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकस्तं देवमेवमवादीत्—“यदि खलु देव! सुन्दरी गोशालस्य मंखलिपुत्रस्य धर्मप्रज्ञप्तिः—नास्त्युत्थानमिति वा यावन्नियताः सर्वभावाः, मंगुली खलु श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्मप्रज्ञप्तिः—अस्त्युत्थानमिति वा यावदनियताः सर्वभावाः । त्वया खलु देवानुप्रिय ! इयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिः, दिव्या देवद्युतिः, दिव्यो देवानुभावः केन लब्धः ? केन प्राप्तः, केनाभि समन्वागतः ? किमुत्थानेन यावत्पुरुषकारपराक्रमेण ? उताहो! अनुत्थानेनाऽकर्मणा यावदपुरुषकार पराक्रमेण ?”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कुण्डकोलिए समणोवासए—वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक, तं देवं—उस देव को एवं वयासी—इस प्रकार बोला—जइ णं देवा!—हे देव! यदि, सुन्दरी गोसालस्स मंखली-पुत्तस्स धम्म-पण्णत्ती—मंखलीपुत्र गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति समीचीन है, नत्थि उट्ठाणे इ वा—क्योंकि इसमें उत्थान नहीं है, जाव नियया सव्वभावा—यावत् सर्वभाव नियत हैं, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ती—तथा श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति असमीचीन है । अत्थि उट्ठाणे इ वा—क्योंकि उसमें उत्थान है, जाव अणियया सव्वभावा—यावत् सब भाव अनियत हैं, तुमे णं देवा!—हे देव! तुम्हें, इमा एयारूवा दिव्वा देविद्धी—इस प्रकार की दिव्य दैवी सम्पत्ति, दिव्वा देवज्जुई—दिव्य कान्ति, दिव्वे देवाणुभावे—दिव्य अनुभाव (अलौकिक प्रभाव), किणा

लब्धे—कैसे मिला? किणा पत्ते—कैसे प्राप्त हुआ? किणा अभिसमन्नागए—कैसे समन्वागत हुआ, किं उट्ठाणेणं—क्या उत्थान से, जाव पुरिसक्कारपरक्कमेणं—यावत् पुरुषकार-पराक्रम से, उदाहु—अथवा, अणुट्ठाणेणं—बिना उत्थान, अकम्मेणं जाव अपुरिसक्कार परक्कमेणं—बिना कर्म से यावत् बिना पुरुषकार और पराक्रम के प्राप्त हुआ ?

भावार्थ—कुण्डकौलिक ने उत्तर दिया, हे देव!” यदि मंखलिपुत्र गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति समीचीन है क्योंकि उसमें उत्थान नहीं है, यावत् सब पदार्थ नियत हैं और श्रमण भगवान महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति समीचीन नहीं है क्योंकि उसमें उत्थान है यावत् समस्त पदार्थ अनियत हैं तो हे देव! तुम्हें यह दिव्य-अलौकिक देव ऋद्धि, अलौकिक कान्ति, अलौकिक अनुभाव कहां से मिला ? कैसे प्राप्त हुआ ? और कैसे समन्वागत हुआ? क्या यह उत्थान यावत् पराक्रम अथवा पुरुषकार से प्राप्त हुआ ? या उनके बिना ?”

मूलम्—तए णं से देवे कुण्डकोलियं समणोवासयं एवं वयासी—“एवं खलु देवानुप्पिया ! मए इमेयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं लब्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया” ॥ १७१ ॥

छाया—ततः खलु स देवः कुण्डकौलिकं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“एवं खलु देवानुप्रिय! मयैतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिः ३ अनुत्थानेन यावद् अपुरुषकारपराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे—उस देव ने, कुण्डकोलियं समणोवासयं—उस कुण्डकौलिकं श्रमणोपासक को, एवं वयासी—इस प्रकार कहा—एवं खलु देवानुप्पिया!—हे देवानुप्रिय! मए—मुझे, इमेयारूवा—इस प्रकार की, दिव्वा देविड्ढी—अलौकिक देव-ऋद्धि, अणुट्ठाणेणं—बिना उत्थान, जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं—यावत् बिना पुरुषकार और पराक्रम के, लब्धा—मिली है, पत्ता—प्राप्त हुई है, अभिसमन्नागया—पास आई है ।

भावार्थ—तदनन्तर देव ने उत्तर दिया, हे देवानुप्रिय! “मुझे यह अलौकिक देव ऋद्धि बिना उत्थान, पुरुषकार-पराक्रम के मिली है ।”

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी—“जइ णं देवा! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं लब्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया ? जेसिं णं जीवाणं नत्थि उट्ठाणेइ वा, परक्कमे इ वा, ते किं न देवा ? अह णं, देवा! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी ३ उट्ठाणेणं जाव परक्कमेणं लब्धा, पत्ता, अभिसमन्नागया, तो जं वदसि—सुन्दरी णं गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्म-पण्णती-नत्थि

उद्वाणे इ वा, जाव नियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ती-अत्थि उद्वाणे इ वा, जाव अणियया सव्वभावा, तं ते मिच्छा” ॥ १७२ ॥

छाया—ततः खलु स कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकस्तं देवमेवमवादीत्—“यदि खलु देव! त्वयेयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिरनुत्थानेन यावद् अपुरुषकारपराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता? येषां खलु जीवानां नास्त्युत्थानमिति वा, यावत् पराक्रम इति वा, ते किं न देवाः? अथ खलु देव! त्वयेयमेतद्रूपा दिव्या देवर्द्धिरुत्थानेन यावत्पराक्रमेण लब्धा, प्राप्ता, अभिसमन्वागता, ततो यद्वदसि-सुन्दरी खलु गोशालस्य मङ्गलिपुत्रस्य धर्म-प्रज्ञप्तिः, नास्त्युत्थानमिति वा यावन्नियताः सर्वभावाः, मंगुली खलु श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्म-प्रज्ञप्तिः अस्त्युत्थानमिति वा, यावदनियताः सर्वभावास्तत्ते मिथ्या।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कुण्डकोलिए समणोवासए—वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक, तं देवं—उस देव को, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—जइ णं देवा!—हे देव! यदि, तुमें इमा एयारूवा—तुम्हें यह इस प्रकार की, दिव्वा देविट्ठी—अलौकिक देव ऋद्धि, अणुद्वाणेणं—उत्थान, जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं—यावत् अपुरुषकार पराक्रम के बिना ही, लब्धा—मिली है, पत्ता—प्राप्त हुई है, अभिसमन्नागया—आई है, तो, जेसिं णं जीवाणं—जिन जीवों के, नत्थि—नहीं है, उट्ठाणे इ वा—उत्थान, परक्कमेइ वा—अथवा पराक्रम, ते किं न देवा—वे देव क्यों नहीं बने ? अहं णं देवा !—हे देव चूंकि, तुमे—तुमने, इमा एयारूवा—यह इस प्रकार की, दिव्वा देविट्ठी—अलौकिक देवर्द्धि, उद्वाणेणं जाव परक्कमेणं—उत्थान यावत् पराक्रम से, लब्धा, पत्ता—लब्ध की है, प्राप्त की है, अभिसमन्नागया—तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हुई है, तो जं वंदसि—जो तू कहता है कि, सुन्दरी णं गोशालस्स मंखलि-पुत्तस्स धम्मपण्णत्ती—गोशाल मंखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है, क्योंकि उसमें, नत्थि उद्वाणे इ वा—उत्थान नहीं है, जाव—यावत्, नियया सव्वभावा—सब भाव नियत हैं, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती—श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति असुन्दर है क्योंकि उस में, अत्थि उद्वाणे इ वा—उत्थान है, जाव अणियया सव्वभावा—यावत् सब भाव अनियत हैं, तं ते मिच्छा—तो तेरा यह कथन मिथ्या है।

भावार्थ—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक ने उस देव से पुनः पूछा—‘हे देव! यदि तुम्हें इस प्रकार की अलौकिक देव ऋद्धि उत्थान यावत् पुरुषकार-पराक्रम के बिना ही मिली है, तो जिन जीवों के उत्थान यावत् पराक्रम नहीं है तो वे देव क्यों न बने? हे देव! यदि तू ने यह ऋद्धि उत्थान यावत् पराक्रम से प्राप्त की है, तो तुम्हारा यह कथन मिथ्या है कि मंखलिपुत्र गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति समीचीन है और श्रमण भगवान् महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति समीचीन नहीं है।

टीका—देव द्वारा की गई महावीर के सिद्धान्त की निन्दा तथा गोशालक के सिद्धान्त की प्रशंसा

सुनकर कुण्डकौलिक ने देव से पूछा—आपको जो यह दैवी शक्ति तथा सम्पत्ति प्राप्त हुई है, क्या इसके लिए किसी प्रकार की तपस्या या धर्मानुष्ठान नहीं करना पड़ा? यदि ऐसा है, तो समस्त प्राणी तुम्हारे सरीखे देव क्यों नहीं बन गए? उनमें परस्पर भेद क्यों है? कोई सुखी है, कोई दुखी, कोई दुर्बल, कोई बलवान। कोई सम्पन्न, कोई दरिद्र! इस विषमता का एक मात्र कारण है—पुरुषार्थ। जिसने जैसा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम किया है उसने तदनुसार फल प्राप्त किया है। कुण्डकौलिक ने पुरुषार्थ के आधार पर कर्मवाद की ओर संकेत किया है। कुण्डकौलिक ने देव के समक्ष दो विकल्प उपस्थित किए और उससे पूछा—तुमने यह समृद्धि पुरुषार्थ आदि के द्वारा प्राप्त की है या उनके बिना? यदि उनके बिना, तो विश्व के समस्त जीव तुम्हारे सरीखे क्यों नहीं हैं? इसके विपरीत यदि पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त की है, तो महावीर का सिद्धान्त असमीचीन कैसे हो सकता है?” यहां टीकाकार के नीचे लिखे शब्द हैं—

“ततोऽसौ कुण्डकौलिकः तं देवमेवमवादीत्—यदि गोशालकस्य सुन्दरो धर्मो, नास्ति कर्मादीत्यतो नियताः सर्वभावा इत्येवंरूपो, भंगुलश्च महावीरधर्मोऽस्ति कर्मादीत्यनियताः सर्वभावा इत्येवं स्वरूपः, तन्मतमनूद्य कुण्डकौलिकस्तन्मतदूषणाय विकल्पद्वयं कुर्वन्नाह—“तुमे णमित्यादि, पूर्ववाक्ये यदीति पदोपादानादेतस्य वाक्यस्यादौ तदेति पदं द्रष्टव्यं इति, त्वयायं दिव्यो-देवध्यादिगुणः केन हेतुना लब्धः? किमुत्थानादिना ‘उदाहु ति’ अहोशिवित् अनुत्थानादिना?’ तपोब्रह्मचर्यादीनामकरणेनेति भावः, यद्युत्थानादेरभावेनेति पक्षो गोशालकमताश्रितत्वाद् भवतः तदा येषां जीवानां नास्त्युत्थानादि—तपश्चरणकरणमित्यर्थः, ‘ते’ इति जीवाः किं न देवाः? पृच्छतोऽयमभिप्रायः—यथा त्वं पुरुषकारं बिना देवः संवृतः स्वकीयाभ्युपगमतः एवं सर्वजीवा ये उत्थानादिवर्जितास्ते देवाः प्राप्नुवन्ति, न चैतदेवमिष्टमित्युत्थानाद्यपलापपक्षे दूषणम् । अथ त्वयेयं ऋद्धिरुत्थानादिना लब्धा ततो यद्वदसि—सुन्दरा गोशालक-प्रज्ञप्तिरसुन्दरा महावीरप्रज्ञप्तिः इति, तत्ते—तव मिथ्यावचनं भवति, तस्य व्यभिचारादिति ।”

देव का निरुत्तर होकर वापिस लौटना—

मूलम्—तए णं से देवे कुण्डकोलिएणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे संकिए जाव कलुससमावन्ने नो संचाएइ कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स किंचि पामोक्खमाइक्खित्तएः नाम-मुद्दयं च उत्तरिज्जयं च पुढवि-सिलापट्टए ठवेइ, ठवित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए, तामेव दिसिं पडिगए ॥ १७३ ॥

छाया—ततः खलु स देवः कुण्डकौलिकश्रमणोपासकेनैवमुक्तः सन् शङ्कितो यावत् कलुषसमापन्नो नो शक्नोति कुण्डकौलिकस्य श्रमणोपासकस्य किञ्चित् प्रातिमुख्यमाख्यातुम् । नाम-मुद्रिकां चोत्तरीयकं च पृथ्वी-शिला-पट्टके स्थापयति, स्थापयित्वा यामेव दिशं प्रादुर्भूतस्तामेव दिशं प्रतिगतः ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे—वह देव, कुण्डकोलिएणं समणोवासएणं—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक द्वारा, एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर, संकिए—शङ्कित हो गया, जाव—यावत्, कलुससमावन्ने—कलुष (हतप्रभ) हो गया, कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को, किंचि—कुछ भी, पामोक्खमाइक्खित्तए—उत्तर में नहीं कह सका, नाम-मुद्दयं च उत्तरिज्जयं च—उसने नाम मुद्रा और उत्तरीय वस्त्र को, पुढवि-सिला-पट्टए ठवेइ—पृथ्वी-शिलापट्ट पर रख दिया, ठवित्ता—रखकर, जामेव दिसिं पाउब्भूए—जिस दिशा से प्रकट हुआ था, तामेव दिसिं पडिगए—उसी दिशा को चला गया।

भावार्थ—कुण्डकौलिक के इस प्रकार कहने पर देव के मन में शङ्का उत्पन्न हो गई यावत् वह हतप्रभ हो गया और कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को कुछ भी उत्तर न दे सका। तब नाम मुद्रिका और उत्तरीय-वस्त्र को पृथ्वी-शिला-पट्ट पर रखकर जिधर से आया था उधर चला गया।

भगवान् महावीर का आगमन—

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे ॥ १७४ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये स्वामी समवसृतः ।

शब्दार्थ—तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय, सामी समोसढे—भगवान् महावीर स्वामी समवसृत हुए।

भावार्थ—उस काल और उस समय भगवान् महावीर स्वामी पधारे।

कुण्डकौलिक का दर्शनार्थ जाना—

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे हड्ड जहा कामदेवो तथा, निग्गच्छइ, जाव पज्जुवासइ, धम्मकहा ॥ १७५ ॥

छाया—ततः खलु स कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकोऽस्यां कथायां लब्धार्थः सन् हृष्टो यथा कामदेवस्तथा निर्गच्छति, यावत् पर्युपास्ते । धर्मकथाः ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कुण्डकोलिए समणोवासए—वह कुण्डकौलिक श्रमणोपासक, इमीसे कहाए लद्धट्ठे—इस समाचार को सुनकर, हड्ड—प्रसन्न हुआ, जहा कामदेवो तथा निग्गच्छइ—कामदेव की तरह दर्शनार्थ निकला, जाव पज्जुवासइ—यावत् पर्युपासना की, धम्मकहा—भगवान् का धर्म उपदेश हुआ।

भावार्थ—कुण्डकौलिक भी भगवान् के आने की बात सुनकर प्रसन्न हुआ और कामदेव के समान दर्शनार्थ गया, भगवान् की पर्युपासना की। भगवान् का धर्मोपदेश हुआ।

भगवान् द्वारा कुण्डकौलिक की प्रशंसा और साधु-साध्वियों को उद्बोधन—

मूलम्—“कुण्डकोलिया”! इ समणे भगवं महावीरे कुण्डकोलियं समणोवासयं एवं वयासी—“से नूणं कुण्डकोलिया! कल्लं तुब्भ पुव्वावरण्हकाल-समयंसि असोग-वणियाए एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था । तए णं से देवे नाममुद्दं च तहेव जाव पडिगाए । से नूणं कुण्डकोलिया! अट्ठे समट्ठे?” “हन्ता! अत्थि।” “तं धन्नेसि णं तुमं कुण्डकोलिया!” (जहा कामदेवो) “अज्जो”! इ समणे भगवं महावीरे समणे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वयासी—“जइ ताव, अज्जो! गिहिणो गिहिमज्झावसंता णं अन्न-उत्थिए अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य कारणेहि य वागरणेहि य निष्पट्ठ-पसिणवागरणे करेति, सक्का पुणाइं, अज्जो! समणेहिं निग्गंथेहिं दुवालसङ्गं गणि-पिडगं अहिज्जमाणेहिं अन्न-उत्थिया अट्ठेहि. य जाव निष्पट्ठ-पसिणवागरणा करित्तए” ॥ १७६ ॥

छाया—“कुण्डकौलिक”! इति श्रमणो भगवान् महावीरः कुण्डकौलिकं श्रमणोपासकमेवम-वादीत्—‘अथ नूनं कुण्डकौलिक!’ कल्पे तव पूर्वापराहकालसमये अशोकवनिकायामेको देवोऽन्तिके प्रादुरासीत् । ततः खलु स देवो नाम-मुद्रां च तथैव यावन्निर्गतः । स नूनं कुण्डकौलिक! ‘अर्थः समर्थः? ‘हन्तास्ति!’ ‘तद्धन्योऽसि खलु त्वं कुण्डकौलिक!’ यथा कामदेवः । ‘आर्याः’ ! इति श्रमणो भगवान् महावीरः श्रमणान्निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थीश्चाऽऽमन्त्र्यैवमवादीत्—‘यदि तावदार्याः! गृहिणो गृहमध्यावसन्तः खलु अन्ययूथिकान् अर्थेश्च हेतुभिश्च प्रश्नैश्च कारणैश्च व्याकरणैश्च निःस्पष्ट (निष्पिष्ट) प्रश्नव्याकरणान् कुर्वन्ति, शक्याः पुनरार्याः! श्रमणैर्निर्ग्रन्थैर्द्वादशाङ्गं गणिपिटकमधीयानैरन्ययूथिका अर्थेश्च यावन्निः स्पष्टप्रश्नव्याकरणाः कर्तुम् ।’

शब्दार्थ—कुण्डकोलिया!—हे कुण्डकौलिक! इ समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, कुण्डकोलियं समणोवासयं—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को, एवं वयासी—इस प्रकार कहा—से नूणं कुण्डकोलिया!—हे कुण्डकौलिक! कल्लं पुव्वावरण्ह कालसमयंसि—कल दोपहर के समय, असोगवणियाए—अशोक वनिका में, एगे देवे—एक देव, अंतियं—तुम्हारे पास, पाउब्भवित्था—प्रकट हुआ था, तए णं—तदनन्तर, से देवे—उस देव ने, नाम मुद्दं च—नाम मुद्रिका उठाई, तहेव जाव पडिगाए—उसी प्रकार सारा वृत्तान्त कहा यावत् चला गया, से नूणं कुण्डकोलिया!—हे कुण्डकौलिक! अट्ठे समट्ठे?—क्या यह बात ठीक है? हंता अत्थि—हां भगवन् ठीक है, तं धन्नेसि णं तुमं कुण्डकोलिया!, महावीर स्वामी ने कहा—हे कुण्डकौलिक! तुम धन्य हो, जहा कामदेवो—इत्यादि कथन कामदेव की तरह समझना । अज्जो!—हे आर्यो! इ समणे भगवं महावीरे—इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर ने, समणे निग्गंथे य—श्रमण निर्ग्रन्थ, निग्गंथीओ य—और निर्ग्रन्थियों को,

आमंतिता—बुलाकर, एवं वयासी—इस प्रकार कहा—जइ ताव अज्जो!—हे आर्यो! यदि, गिहिणो गिहिमज्जावसंता णं—घर में रहने वाले गृहस्थ भी, अन्नउत्थिए—अन्य यूथियों को, अट्ठेहि य—अर्थों से, हेऊहि य—हेतुओं से, पसिणेहि य—प्रश्नों से, कारणेहि य—युक्तियों से, वागरणेहि य—और व्याख्याओं से, निष्पट्टपसिणवागरणे करेति—निरुत्तर कर सकते हैं तो, सक्का पुणाइं अज्जो!—हे आर्यो! तुम भी समर्थ हो, अतः, समणेहिं निग्गंथेहिं—तुम श्रमण निर्ग्रन्थों को, दुवालसंगं गणिपिडगं अहिज्जमाणेहिं—जो द्वादशाङ्ग-गणिपिटक का अध्ययन करते हैं, अन्नउत्थिया—अन्य यूथियों को, अट्ठेहि य जाव निष्पट्टपसिणवागरणा करित्तए—अर्थ से, हेतु से, यावत् युक्ति के द्वारा निरुत्तर करना।

भावार्थ—भगवान् महावीर ने कुण्डकौलिक को सम्बोधित करते हुए कहा—हे कुण्डकौलिक श्रमणोपासक! कल अशोकवनिका (वाटिका) में एक देव तुम्हारे पास आया था। उसने तुम्हारी नाम मुद्रा और उत्तरीय को उठाकर कहा यावत् भगवान् ने देव प्रकट होने से लेकर अन्तर्धान तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया और उससे पूछा—कुण्डकौलिक! क्या यह ठीक है? हां भगवन्! यह ठीक है (कुण्डकौलिक ने उत्तर दिया) भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को सम्बोधित करके कहा—आर्यो! यदि घर में रहने वाला एक गृहस्थ भी विविध अर्थों, हेतुओं, युक्तियों एवं व्याख्याओं द्वारा अन्य-यूथियों को निरुत्तर कर सकता है तो हे आर्यो! आप लोग तो समर्थ हैं। द्वादशाङ्ग-गणिपिटक का अध्ययन करते हैं। आपको भी चाहिए कि इसी प्रकार अन्य यूथियों को अर्थ, हेतु तथा युक्ति के द्वारा निरुत्तर करें।

मूलम्—तए णं समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स “तह” ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेति ॥ १७७ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणा निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ‘तथेति’ एतमर्थं विनयेन प्रतिशृण्वन्ति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणा निग्गंथा य—श्रमण निर्ग्रन्थ, निग्गंथीओ य—और निर्ग्रन्थिनियों ने, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के, एयमट्ठं—इस कथन को, तहत्ति—तथेति कहकर, विणएणं पडिसुणेति—विनयपूर्वक स्वीकार किया।

भावार्थ—निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों ने श्रमण भगवान् महावीर का यह कथन विनयपूर्वक स्वीकार किया।

टीका—पिछले चार सूत्रों में भगवान् महावीर के आगमन और उनके द्वारा कुण्डकौलिक की प्रशंसा का वर्णन है। इसमें कई बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१. कुण्डकौलिक श्रावक था फिर भी भगवान ने उसकी प्रशंसा की और निर्ग्रन्थ तथा निर्ग्रन्थिनियों के सामने उसे उदाहरण के रूप में उपस्थित किया। इससे यह सिद्ध होता है कि साधु के लिए गृहस्थ की प्रशंसा करना वर्जित नहीं है। सद्गुण कहीं भी हो उसकी प्रशंसा करना महानता का लक्षण है। इससे चित्त शुद्धि होती है।

सूत्र में अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण और व्याकरण पांच शब्द आए हैं। इनका उन दिनों शास्त्रार्थ में उपयोग होता था। इसका अर्थ नीचे लिखे अनुसार है—

२. अर्थ—पदार्थ अर्थात् अपने सिद्धान्त में प्रतिपादित जीव, अजीव आदि वस्तुएं अथवा प्रमाण रूप में उद्धृत आगम पाठ का अर्थ। न्यायदर्शन में प्रतिवादी दो प्रकार के बताए गए हैं—(क) समान तन्त्र अर्थात् आगम के रूप में उन्हीं ग्रन्थों को मानने वाले जिन्हें वादी मानता है अथवा एक ही परम्परा के अनुयायी। (ख) प्रतितन्त्र अर्थात् वादी से भिन्न परम्परा वाले, भिन्न आगमों को प्रमाण मानने वाले। समान तन्त्र के साथ शास्त्रार्थ करते समय प्रायः मूल पाठ का अर्थ किया जाता है और प्रतितन्त्र के साथ शास्त्रार्थ करते समय अपने सिद्धान्तों में प्रतिपादित वस्तुओं का निरूपण किया जाता है।

३. हेतु—वह वस्तु जिसके आधार पर लक्ष्य या साध्य को सिद्ध किया जाए। जैसे धुएं के आधार पर अग्नि का अस्तित्व सिद्ध करना, क्योंकि धुआं अग्नि के बिना नहीं होता।

४. प्रश्न—इसका अर्थ है—प्रतिवादी से विविध प्रकार के प्रश्न पूछना जिससे वह अपनी मिथ्या धारणा को छोड़ दे, इसे शास्त्रार्थ में विश्लेषणात्मक पद्धति (*Analytic approach*) कहते हैं।

५. कारण—युक्तियों द्वारा पक्ष का उपपादन।

६. व्याकरण—प्रतिवादी द्वारा पूछे गए प्रश्न की व्याख्या या खुलासा।

कुण्डकौलिक का प्रत्यागमन—

मूलम्—तए णं से कुण्डकोलिए समणोवासए समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता पसिणाइं पुच्छइ, पुच्छित्ता अट्टमादियइ, अट्टमादिइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। सामी बहिया जणवय विहारं विहरइ ॥ १७८ ॥

छाया—ततः खलु कुण्डकौलिकः श्रमणोपासकः श्रमणं भगवंतं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य प्रश्नान् पृच्छति, पृष्ट्वाऽर्थमाददाति, अर्थमादाय यस्याः एव दिशः प्रादुर्भूतस्तामेव दिशं प्रतिगतः। स्वामी बहिर्जनपद विहारं विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से कुण्डकोलिए समणोवासए—उस कुण्डकौलिक श्रमणोपासक ने,

समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को, वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया, वंदिसा नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके, पसिणाइं पुच्छइ—प्रश्न पूछे, पुच्छित्ता—पूछकर, अड्डमादियइ—अर्थ ग्रहण किया, अड्डमादिइत्ता—अर्थ ग्रहण करके, जामेव दिसिं पाउब्भूए—जिस दिशा से आया था, तामेव दिसिं पडिगए—उसी दिशा में वापिस चला गया। सामी बहिया जणवय विहारं विहरइ—भगवान् महावीर स्वामी भी अन्य जनपदों में प्रस्थान कर गए।

भावार्थ—कुण्डकौलिक श्रमणोपासक ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार किया, प्रश्न पूछे, अर्थ ग्रहण किया और वापिस लौट गया। भगवान् महावीर स्वामी भी देश-देशान्तरों में विहार करने लगे।

उपसंहार—

मूलम्—तए णं तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छराइं वड्क्कंताइं । पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वड्डमाणस्स अन्नया कयाइ (जहा कामदेवो तहा) जेट्ठपुत्तं ठवेत्ता तहा पोसहसालाए जाव धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ । एवं एक्कारस उवासग-पडिमाओ तहेव जाव सोहम्मे कप्पे अरुणज्झाए विमाणे जाव अंतं कानि । निक्खेवो ॥ १७६ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं छट्ठं कुण्डकोलियज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु तस्य कुण्डकौलिकस्य श्रमणोपासकस्य बहुभिः शील यावत् भावयतश्चतुर्दश संवत्सराणि व्यतिक्रान्तानि, पञ्चदशं संवत्सरमन्तरावर्तमानस्यान्यदा कदाचिद् यथा कामदेवस्तथा ज्येष्ठपुत्रं स्थापयित्वा तथा पौषधशालायां यावद्धर्मप्रज्ञप्तिमुसंपद्य विहरति । एवमेकादशोपासक-प्रतिमास्तथैव यावत्सौधर्मे कल्पेऽरुणध्वजे विमाने यावदन्तं करिष्यति । निक्षेपः ।

॥ सत्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां षष्ठं कुण्डकौलिकमध्ययनं समाप्तम् ॥

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, तस्स कुण्डकोलियस्स समणोवासयस्स—उस कुण्डकौलिक श्रमणोपासक को, बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स—बहुत से शील-व्रत आदि के पालन द्वारा आत्मा को भावित करते हुए, चोद्दस संवच्छराइं वड्क्कंताइं—चौदह वर्ष व्यतीत हो गए, पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वड्डमाणस्स—पन्द्रहवें वर्ष के बीच में, अन्नया कयाइ—एक दिन, जहा कामदेवो तहा—कामदेव की तरह, जेट्ठपुत्तं ठवेत्ता—ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार देकर, तहा पोसहसालाए—उसी प्रकार पौषधशाला में, जाव धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—धर्म-प्रज्ञप्ति स्वीकार करके विचरने लगा, एवं एक्कारस उवासगपडिमाओ—उसी प्रकार ग्यारह उपासक प्रतिमाएं अङ्गीकार कीं, तहेव जाव

सोहम्मे कप्ये—यावत् सौधर्मकल्प के, अरुणज्जाए विमाणे—अरुणध्वज विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ, जाव अंतं काहिइ—यावत् समस्त कर्मों का अन्त करेगा अर्थात् सिद्ध होगा। निक्खवो—निक्षेप पूर्ववत् है।

भावार्थ—विविध प्रकार के शील एवं व्रतों के द्वारा आत्म-विकास करते हुए कुण्डकौलिक को चौदह वर्ष बीत गए। पन्द्रहवें वर्ष में उसने कामदेव के समान घर का भार ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिया और स्वयं पौषधशाला में रहकर भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म-प्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा। क्रमशः ग्यारह प्रतिमाएं स्वीकार कीं और मरकर सौधर्म-कल्प के अरुणध्वज नामक विमान में उत्पन्न हुआ। वहां से च्यव कर वह भी महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और कर्मों का अन्त करेगा।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा-सूत्र का छठा कुण्डकौलिक अध्ययन समाप्त ॥

सप्तमऽङ्कयणं

सप्तम अध्ययन

मूलम्—सप्तमस्स उक्खेवो, पोलासपुरे नामं नयरे । सहस्संबवणे उज्जाणे । जियसत्तू राया ॥ १८० ॥

छाया—सप्तमस्योपक्षेपः, पोलासपुर नामक नगरम् । सहस्राप्रवनमुद्यानम् । जितशत्रू राजा ।

शब्दार्थ—सप्तमस्स उक्खेवो—सप्तम का उपक्षेप, पोलासपुरे नामं नयरे—पोलासपुर नामक नगर, सहस्संबवणे उज्जाणे—सहस्राप्रवन उद्यान और, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा था ।

भावार्थ—उस काल उस समय पोलासपुर नामक नगर था । उसके बाहर सहस्राप्रवन नामक उद्यान था । वहां जितशत्रु राजा राज्य करता था ।

मूलम्—तत्थ णं पोलासपुरे नयरे सद्दालपुत्ते नामं कुम्भकारे आजीविओवासए परिवसइ । आजीविय-समयंसि लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगयट्ठे, अट्ठि-मिंज-पेमाणुराग-रत्ते य “अयमाउसो! आजीवियसमए अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे” ति आजीविय समएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ १८१ ॥

छाया—तत्रः खलु पोलासपुरे नगरे सद्दालपुत्रो नाम कुम्भकार आजीविकोपासकः परिवसति । आजीविकसमये लब्धार्थः, गृहीतार्थः, पृष्टार्थः, विनिश्चितार्थः, अभिगतार्थः, अस्थिमज्जाप्रेमानुरागरक्तश्च—“अयमायुष्मन्! आजीविकसमयोऽर्थः, अयं परमार्थः, शेषोऽनर्थः” इत्याजीविकसमयेनाऽऽत्मानं भावयन् विहरति ।

शब्दार्थ—तत्थ णं पोलासपुरे नयरे—उस पोलासपुर नगर में, सद्दालपुत्ते नामं कुम्भकारे—सद्दालपुत्र नामक कुम्भकार, आजीविओवासए परिवसइ—आजीविक (गोशालक) के मत का अनुयायी रहता था, आजीवियसमयंसि—आजीविक के सिद्धान्त में, लद्धट्ठे—लब्धार्थ था अर्थात् उस सिद्धान्त को उसने अच्छी तरह समझा था, गहियट्ठे—स्वीकार किया था, पुच्छियट्ठे—प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट किया हुआ था, विणिच्छियट्ठे—उनका निश्चय अर्थात् निर्णय किया हुआ था, अभिगयट्ठे—पूरी तरह जाना था, अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते य—(आजीविक सिद्धान्तों का) प्रेम तथा अनुराग उसकी

अस्थि-हड्डियों और मज्जा में समाया हुआ था, (वह कहता था), अयमाउसो—हे आयुष्मन्!, आजीविय-समए अट्टे—यह आजीविक सिद्धान्त ही अर्थ है, अयं परमट्टे—यही परमार्थ है, सेसे अणट्टे—शेष अर्थात् दूसरे सिद्धान्त अनर्थ हैं, त्ति—इस प्रकार, आजीविय-समएणं—आजीविक सिद्धान्त के द्वारा, अप्पाणं भावेमाणे विहरइ—आत्मा को भावित करता हुआ विचर रहा था।

भावार्थ—पोलासपुर नगर में आजीविक मत का अनुयायी सद्दालपुत्र नामक कुम्भकार रहता था। उसने आजीविक सिद्धान्त को अच्छी तरह समझा हुआ था, स्वीकार किया था, प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट किया था, निश्चय किया था और सम्यक् जाना था। आजीविक सिद्धान्तों का पूर्णतया अनुराग उसकी अस्थि तथा मज्जा में प्रविष्ट हो चुका था। वह कहता था—हे आयुष्मन्! आजीविक सिद्धान्त ही अर्थ है। अन्य सिद्धान्त अनर्थ हैं। इस प्रकार आजीविक सिद्धान्त के द्वारा आत्मा को भावित करता हुआ विचर रहा था।

मूलम्—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एक्का हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता, एक्का वुट्ठि-पउत्ता, एक्का पवित्थरपउत्ता, एक्के वए दसगोसाहस्सिएणं वएणं ॥ १८२ ॥

छाया—तस्य खलु सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्यैका हिरण्यकोटिः निधानप्रयुक्ता, एका वृद्धि-प्रयुक्ता, एका प्रविस्तर-प्रयुक्ता, एको ब्रजो दशगोसाहस्रिकेण ब्रजेन ।

शब्दार्थ—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के पास, एक्का हिरण्ण कोडी—एक करोड़ सुवर्ण मुद्राएं, निहाण-पउत्ता—कोष में सञ्चित थीं, एक्का वुट्ठि-पउत्ता—एक करोड़ व्यापार में लगे हुए थे, एक्का पवित्थर-पउत्ता—और एक करोड़ गृह और उपकरणों में लगे हुए थे, एक्के वए दसगोसाहस्सिएणं वएणं—दस हजार गायों का एक वज्र था।

भावार्थ—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के पास एक करोड़ सुवर्ण कोष में सञ्चित थे, एक करोड़ व्यापार से लगे हुए थे और एक करोड़ घर तथा सामान में। दस हजार गौओं वाला एक ब्रज था।

मूलम्—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स अग्गिमित्ता नामं भारिया होत्था ॥ १८३ ॥

छाया—तस्य खलु सद्दालपुत्रस्य आजीविकोपासकस्याग्निमित्रा नाम भार्याऽऽसीत् ।

शब्दार्थ—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की, अग्गिमित्ता नामं भारिया होत्था—अग्निमित्रा नाम की पत्नी थी।

भावार्थ—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की अग्निमित्रा नाम की पत्नी थी।

मूलम्—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया पंच कुम्भकारावण-सया होत्था । तत्थ णं बहवे पुरिसा दिण्ण-भइ-भत्त-वेयणा कल्लाकल्लिं बहवे करए य वारए य पिहडए य घडए य अद्ध-घडए य कलसए य अलिंजरए य जम्बूलए य उट्टियाओ य करेति । अन्ने य से बहवे पुरिसा दिण्ण-भइ-भत्त-वेयणा कल्लाकल्लिं तेहिं बहूहिं करएहि य जाव उट्टियाहि य राय-मग्गंसि वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति ॥ १८४ ॥

छाया—तस्य खलु सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य पोलासपुरान्नगराद् बहिः पंचकुम्भकारापणशतान्यासन् । तत्र खलु बहवः पुरुषाः दत्त-भृति-भक्त वेतनाः, कल्याकल्यि बहून् करकांश्च, वारकांश्च, पिठरकांश्च घटकांश्चार्द्धघटकांश्च कलशांश्चालिञ्जरांश्च, जम्बूलकांश्चोष्ट्रिकांश्च कुर्वन्ति । अन्ये च तस्य बहवः पुरुषाः दत्त-भृति-भक्ता-वेतनाः कल्याकल्यि तैर्बहुभिः करकैश्च यावदुष्ट्रिकाभिश्च राजमार्गे वृत्तिं कल्पयन्तो विहरन्ति ।

शब्दार्थ—तस्स णं सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की, पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया—पोसालपुर नगर के बाहर, पंच कुम्भकारावणसया होत्था—पांच सौ बर्तनों के आपण थे, तत्थ णं—उनमें, बहवे पुरिसा—बहुत से पुरुष, दिण्ण-भइ-भत्त वेयणा—भृति-दैनिक मजदूरी, भक्त-भोजन और वेतन प्राप्त करके, कल्लाकल्लिं—प्रतिदिन प्रभात होते ही, बहवे—बहुत से, करए य—करक, जलघटी, वारए य—गुल्लक या मटकैने, पिहडए य—स्थालियाँ या कुंडे, घडए य—घड़े, अद्धघडए य—अर्धघटक—बड़े कुंडे, कलसए य—कलश—बड़े घड़े, अलिंजरए य—अलिञ्जर—मट्ट, जम्बूलएय—जम्बूलक—सुराहियों, उट्टियाओ य—उष्ट्रिका—छोटे मुंह लम्बी गर्दन और बड़े पेट वाले बर्तन (कुम्पी) जिनमें तेलादि डाला जाता है ।, करेति—बनाते थे, अन्ने य से बहवे पुरिसा—और बहुत से अन्य पुरुष, दिण्ण-भइ-भत्त-वेयणा—भृति, भक्त और वेतन प्राप्त करके, कल्लाकल्लिं—प्रतिदिन प्रातः, तेहिं बहूहिं करएहि य—उन करक, जल घटिकाओं, जाव—यावत्, उट्टियाहि य—उष्ट्रिकाओं को बेचकर, रायमग्गंसि—राजमार्ग पर बैठकर, वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति—आजीविका का उपार्जन करते थे ।

भावार्थ—सद्दालपुत्र के पोलासपुर नगर के बाहर ५०० आपण थे, जहाँ प्रतिदिन सैकड़ों व्यक्ति प्रातः होते ही पहुंच जाते थे और दैनिक मजदूरी, भोजन तथा वेतन प्राप्त करके तरह-तरह के बर्तन बनाते थे । इसी प्रकार बहुत से पुरुष दैनिक मजदूरी तथा वेतन पर उन बर्तनों को नगर के चौराहों पर, मार्गों पर बेचते थे । और इस प्रकार आजीविका कमाते थे ।

टीका—प्रस्तुत सूत्र में सद्दालपुत्र की सम्पत्ति का वर्णन है । उसके पास एक करोड़ सुवर्ण कोष

में सञ्चित थे, एक करोड़ व्यापार में तथा एक करोड़ गृह तथा उपकरणों में लगे हुए थे। दस हजार गायों वाला एक ब्रज था। इसके अतिरिक्त पोलासपुर नगर से बाहर ५०० आपण थे, जहां सैकड़ों व्यक्ति बर्तन बनाते थे, और सैकड़ों नगर के चौराहों पर बेचा करते थे। इन व्यक्तियों को तीन प्रकार से पारिश्रमिक मिलता था। किसी को दैनिक मजदूरी, किसी को भोजन और किसी को मासिक या साप्ताहिक वेतन मिलता था।

शास्त्रकार ने मिट्टी के बर्तनों का विस्तृत वर्णन किया है। उससे पता चलता है कि उन दिनों इस प्रकार के बर्तन बना करते थे। वर्णन में नीचे लिखे प्रकार दिए गए हैं—

१. करए—(करक) पानी ठण्डा रखने के लिए काम में आने वाला घड़ा।
२. वारए—(वारक) गुल्लक।
३. पिहडए—(पिठर) चपटे पेंदे वाली मिट्टी की परात या कठौती जिसे दुकानदार दही जमाने के काम में लेते हैं।
४. घडए—(घट) कुआ, तालाब, नदी आदि से पानी भरने के काम में आने वाला मटका।
५. अद्धघडए—(अर्धघटक) छोटा मटका।
६. जम्बूलए—(जाम्बूनद) सुराही।
७. उट्टियाए—(उष्ट्रिका) लम्बी गर्दन और बड़े पेट वाले मटके जो तेल, घी आदि भरने के काम आते हैं।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ पुब्बावरण्ह-काल-समयंसि जेणेव असोग-वणिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ १८५ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकोऽन्यदा कदाचित् पूर्वापराह-कालसमये येनैवाऽशोकवनिका तेनैवोपागच्छति, उपागत्य गोशालस्य मंखलि-पुत्रस्याऽऽन्तिकीं धर्म-प्रज्ञप्तिमुप-सम्पद्य विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्ते आजीवियोवासए—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र, अन्नया कयाइ पुब्बावरण्हकालसमयंसि—एक दिन दोपहर के समय, जेणेव असोग-वणिया—जहां अशोक-वनिका थी, तेणेव उवागच्छइ—वहां आया, उवागच्छित्ता—आकर, गोसालस्स मंखलि-पुत्तस्स अंतियं—गोशालक मंखलिपुत्र के पास से स्वीकृत, धम्मपण्णत्तिं—धर्म प्रज्ञप्ति को, उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—स्वीकार करके विचरने लगा।

भावार्थ—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र एक दिन दोपहर के समय अशोकवनिका में आया और गोशालक मंखलिपुत्र की धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा ।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था ॥ १८६ ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्यैको देवोऽन्तिके प्रादुरभूत् ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस सद्दालपुत्र आजीविकोपासक के, अंतियं—पास, एगे देवे पाउब्भवित्था—एक देव प्रकट हुआ ।

भावार्थ—तत्पश्चात् उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के समीप एक देव प्रकट हुआ ।

मूलम्—तए णं से देवे अंतलिक्ख-पडिवन्ने सखिंखिणियाइं जाव परिहिए सद्दालपुत्तं आजीविओवासगं एवं वयासी—“एहिइ णं देवाणुप्पिया! कल्लं इहं महा-माहणे, उप्पन्नणाण-दंसणधरे, तीय-पडुप्पन्न-मणागय-जाणए, अरहा जिणे केवली, सच्चण्णू, सच्च-दरिसी, तेलोक्क-वहिय-महिय-पूइए, स-देव मणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे, वंदणिज्जे, सक्कारणिज्जे, सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं जाव पज्जुवासणिज्जे, तच्चकम्म-संपया-संपउत्ते । तं णं तुमं वंदेज्जाहि जाव पज्जुवासेज्जाहि, पाडिहारिएणं पीढ-फलग-सिज्जासंधारएणं उवनिमंतेज्जाहि ।” दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयइ, वइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए ॥ १८७ ॥

छाया—ततः खलु स देवोऽन्तरिक्षप्रतिपन्नः सकिङ्किणीकानि यावत्परिहितः सद्दालपुत्रमाजीविको-पासकमेवमवादीत्—“एष्यति खलु देवानुप्रिय ! कल्पमिह महामाहनः, उत्पन्न-ज्ञान-दर्शनधरोऽतीत प्रत्युत्पन्नागतज्ञोऽर्हन् जिनः केवली-सर्वज्ञः, सर्वदर्शी, त्रैलोक्य वहित-महित-पूजितः, सदेवमनुजासुरस्य लोकस्याऽर्चनीयो वन्दनीयः, सत्करणीयः, सम्माननीयः, कल्याणं मंगलं दैवतं चैत्यो यावत्पर्युपासनीयः, तथ्यकर्मसम्पदा सम्प्रयुक्तः । तं (तत्) खलु त्वं वन्दस्व यावत् पर्युपासस्व, प्रातिहारिकेण पीठ-फलकशय्या-संस्तारकेणोपनिमन्त्रय !” द्वितीयमपि तृतीयमप्येवं वदति । उदित्वा यस्या एव दिशः प्रार्दुभूतस्तामेव दिशं प्रतिगतः ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे—वह देव, अंतलिक्खपडिवन्ने—आकाश में स्थित होकर, सखिंखिणियाइं जाव परिहिए—घुंगरुओं वाले वस्त्र पहने हुए, सद्दालपुत्तं आजीविओवासगं—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—एहिइ णं देवाणुप्पिया!—हे देवानुप्रिय! आएंगे, कल्लं इहं—कल यहाँ, महामाहणे—महामहनीय, उप्पन्न नाणदंसणधरे—अप्रतिहत

ज्ञान और दर्शन के धारक, तीयपडुप्पन्नमणागयजाणए—अतीत, वर्तमान और अनागत के जानने वाले, अरहा—अरिहन्त, जिणे—जिन, केवली—केवली, सब्बणू—सर्वज्ञ, सब्बदरिसी—सर्वदर्शी, तेलोक्क वहिय-महिय-पूइए—तीनों लोकों के द्वारा ध्यात, महित तथा पूजित, सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिज्जे—देव, मनुष्य तथा असुरों के अर्चनीय, वंदणिज्जे—वंदनीय, सब्कारणिज्जे—सत्कार करने योग्य, सम्माणणिज्जे—सम्माननीय, कल्लाणं—कल्याण स्वरूप, मंगलं—मंगल स्वरूप, देवयं—देव स्वरूप, चेइयं—ज्ञान-स्वरूप, जाव—यावत्, पज्जुवासणिज्जे—पर्युपासना करने योग्य, तच्चकम्म संपया संपउत्ते—तथ्य कर्मरूप संपत्ति से युक्त, तं णं—उनकी, तुमं वंदेज्जाहि—तुम वन्दना करना, जाव पज्जुवासेज्जाहि—यावत् पर्युपासना करना, पाडिहारिणं—प्रातिहारिक—ऐसी वस्तुएं जिन्हें साधु काम में लेकर वापिस कर देते हैं, पीठ फलग सिज्जा-संधारणं उवनिमंतेज्जाहि—पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक के लिए निमन्त्रित करना, दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयइ—इसी प्रकार दूसरी और तीसरी बार कहा, वइत्ता—कह कर, जामेव दिसं पाउब्भूए—जिस दिशा से प्रकट हुआ था, तामेव दिसं पडिगए—उसी दिशा में चला गया।

भावार्थ—वह देव जो घुंघरू वाले वस्त्र पहने हुए था, आकाश स्थित होकर सद्दालपुत्र से कहने लगा—“हे देवानुप्रिय! कल यहां महामाहन, अप्रितहत ज्ञान, दर्शन के धारक, अतीत, वर्तमान और भविष्य को जानने वाले अरिहंत, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिनका तीनों लोक ध्यान, स्तुति तथा पूजन करते हैं। देव, मनुष्य तथा असुरों के अर्चनीय, वंदनीय, सत्कारणीय तथा सम्माननीय, कल्याणस्वरूप, मंगल स्वरूप, देवता स्वरूप और ज्ञान स्वरूप यावत् पर्युपासनीय तथा तथ्य-कर्म सम्पत्ति के स्वामी कल यहां आएंगे। तुम उन्हें वन्दना यावत् पर्युपासना करना। उन्हें प्रातिहारिक पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक आदि के लिए निमन्त्रित करना।” दूसरी और तीसरी बार भी उसने इसी प्रकार कहा और जिस दिशा से आया था उसी दिशा में चला गया।

टीका—एक दिन सद्दालपुत्र अपनी अशोक-वनिका में गोशालक के कथनानुसार धर्मानुष्ठान कर रहा था। दोपहर के समय उसके पास एक देव प्रकट हुआ। उसने सूचना दी कि कल यहां सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अरिहन्त, जिन, केवली आएंगे। साथ ही सद्दालपुत्र से अनुरोध किया—तुम भगवान को वन्दना नमस्कार करने के लिए जाना। उनकी उपासना करना, उन्हें पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि के लिए निमन्त्रित करना। देव ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है वे श्रमण महावीर के लिए हैं। उसका लक्ष्य भगवान महावीर की ओर था।

वे विशेषण इस बात को प्रकट करते हैं कि उन दिनों धर्माचार्यों में किस प्रकार के गुणों की अपेक्षा की जाती थी। वे विशेषण इस प्रकार हैं—

१. ‘महामाहणे’ ति—जैन आगमों में भगवान महावीर के ‘महामाहन’, ‘महामुणी’ आदि

विशेषण मिलते हैं। माहन का शब्दार्थ है 'मत मारो'। भगवान महावीर सर्वत्र अहिंसा या 'मत मारो' का उपदेश दिया करते थे। इसलिए उनका नाम 'माहन' या 'महामाहन' पड़ गया। कई स्थानों पर इसका अर्थ ब्राह्मण भी किया जाता है, जिसका अभिप्राय है 'ज्ञानी'। टीकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—जो व्यक्ति स्वयं किसी को न मारने का निश्चय करता है, साथ ही दूसरों को न मारने का उपदेश भी देता है, जो सूक्ष्म तथा स्थूल समस्त जीवों की हिंसा से सदा के लिए निवृत्त है, वही महामाहन है—(माहन्मि—न हन्मीत्यर्थः, आत्मना व हननान्निवृत्तः परं प्रति 'मा हन' इत्यैवमाचष्टे यः स माहनः, स एव मनः प्रभृतिकरणादिभिराजन्म सूक्ष्मादिभेदभिन्नजीवहनननिवृत्तत्वात् महान्माहनो महामाहनः)।”

२. उप्पन्ननाण-दंसण-धरे—(उत्पन्न-ज्ञान-दर्शन-धरः) अव्याहत ज्ञान और दर्शन के धारक। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान तथा अनन्त दर्शन से सम्पन्न है। किन्तु उनके यह गुण कर्मों के आवरण से दबे हुए हैं। कर्म-मल दूर होते ही वे अपने आप प्रकट हो जाते हैं। ज्ञान का अर्थ है—साकार या सविकल्पक बोध और दर्शन का अर्थ है—निराकार या निर्विकल्पक प्रतीति। भगवान महावीर को पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण दर्शन प्रकट हो चुका था।

३. तीय-पडुपन्न-मणागय-जाणए—(अतीत प्रत्युत्पन्नानागतज्ञाता) भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् तीनों कालों को जानने वाले।

४. अरहा—(अर्हत्) संस्कृत में 'अर्ह' पूजायाम् धातु है, अतः अर्हत् शब्द का अर्थ पूज्य है। इसका दूसरा अर्थ है 'योग्य'। इसका तीसरा अर्थ आरि अर्थात् 'आत्म शत्रुओं को मारने वाला' भी किया जाता है।

५. जिणे—(जिन) रागद्वेष को जीतने वाला। ई. पूर्व षष्ठी शताब्दी में जिन शब्द अत्यन्त प्रतिष्ठा का सूचक था। महावीर, गोशालक, जामाली, बुद्ध आदि धर्म-प्रवर्तकों के अनुयायी अपने-अपने शास्ताओं को जिन कहने में गौरव का अनुभव करते थे। इस विषय में उनका परस्पर विवाद भी चलता रहता था और प्रत्येक अनुयायी अपने उपास्य को जिन सिद्ध करने का प्रयत्न करता था। भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में लिखा है—“सावत्थीए णयरीए अजिणे जिणप्पलावी, अजिणे जिणसहं पगासमाणे विहरइ” अर्थात् श्रावस्ती नगरी में गोशालक मंखलिपुत्र जिन न होता हुआ भी जिन, अर्हत्, केवली, सर्वज्ञ न होता हुआ भी अपने आपको अर्हत्, केवली, सर्वज्ञ कहता हुआ विचरता था।

६. केवली—इसका अर्थ है केवलज्ञान तथा केवलदर्शन के धारक। 'केवल' शब्द का अर्थ है—शुद्ध, मिश्रण से रहित। सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष के विवेक को कैवल्य कहा गया है। जैन दर्शन के अनुसार कैवल्य ज्ञान का अर्थ है—विशुद्ध एवं विश्व जगत का पूर्ण ज्ञान।

७. सव्वण्णू—(सर्वज्ञ) सब वस्तुओं को जानने वाले ।

८. सव्वदरिसी—(सर्वदर्शी) सब वस्तुओं को देखने वाले ।

९. तेलोक्कवहिय-महिए-पूइए—(त्रैलोक्यावहितमहितपूजित) तीनों लोकों के द्वारा अवहित, महित तथा पूजित । अवहित शब्द संस्कृत की धा धातु के साथ 'अव' उपसर्ग लगाने पर बना है । इसी से अवधान शब्द भी बनता है जिसका अर्थ है—ध्यान । अवहित का अर्थ है ध्यान अर्थात् तीनों लोकों के द्वारा जिनका ध्यान अथवा चिन्तन किया जाता है । महित का अर्थ है—'प्रतिष्ठित', अपनी महानता के लिए सर्व विदित । पूजित का अर्थ स्पष्ट है । वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या नीचे लिखे अनुसार की है । त्रैलोक्येन—त्रिलोकवासिना जनेन, 'वहिय ति' समग्रैश्वर्याद्यतिशयसन्दोहदर्शन-समाकुलचेतसा हर्षभरनिर्भरेण प्रबलकुतूहलबलादनिमिष लोचनेनावलोकितः, 'महिय' ति सेव्यतया वाञ्छितः, पूजितः—पूजितश्च ।

१०. सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स अच्चणिजे...सम्माणणिज्जे—देव, मनुष्य तथा असुर सभी द्वारा अर्चनीय, वन्दनीय, सत्कार करने योग्य तथा सन्मान करने योग्य ।

प्राचीन समय में देव, मनुष्य और असुर सृष्टि के प्रधान एवं शक्तिशाली अङ्ग माने जाते थे । महापुरुष का वर्णन करते समय उसे तीनों का ही पूज्य बताया जाता था ।

११. कल्लाणं—(कल्याण) कल्याण स्वरूप अर्थात् प्राणीमात्र के उद्धारक ।

१२. मंगलं—(मंगल) मंगल स्वरूप अर्थात् सच्चा सुख प्राप्त कराने वाले ।

१३. देवयं—(दैवत) दैवत का अर्थ है—अतिन्द्रिय तेज तथा शक्ति के धारक, साथ ही इष्ट देवता के रूप में पूजनीय ।

१४. चेइयं—(चैत्य) इस शब्द के अनेक अर्थ किए जाते हैं । यहां इसका अर्थ है ज्ञानस्वरूप । यह संस्कृत की चिति-संज्ञाने धातु से बना है । चिञ्-चयने धातु से भी यह शब्द बनाया जाता है । जिसका अर्थ है—ईंटों का चिना हुआ चबूतरा । इसी से 'चिता' शब्द भी बनता है । किन्तु यहां यह अर्थ नहीं लिया जा सकता ।

१५. पज्जुवासणिज्जे—(पर्युपासनीय) यह शब्द आस्—उपवेशने धातु के साथ 'परि' तथा 'उप' उपसर्ग लगाने पर बना है । उपासनीय का अर्थ है—उपासना करने या पास में बैठने योग्य । परि का अर्थ है सब तरह से किसी महापुरुष के पास बैठना, उसकी संगति करना, उपासना कहा जाता है । जो व्यक्ति सब प्रकार से उपासना करने योग्य हो उसे पर्युपासनीय कहा जाता है ।

१६. तच्च-कम्म-संपया संपउत्ते—(तथ्यकर्म-सम्पदा-सम्प्रयुक्तः) यह विशेषण महत्वपूर्ण है ।

भगवान् महावीर केवल उपदेष्टा ही नहीं थे ! कर्म-सम्पदा अर्थात् आचरण रूप सम्पत्ति के भी स्वामी थे ! कर्म-सम्पत्ति भी दो प्रकार की होती है—(१) तथ्य अर्थात् सफल—जीवन को ऊंचा उठाने वाली जो विधि के अनुसार की जाती है। (२) अतथ्य अर्थात् निष्फल—जो केवल दिखावा है, वह आत्म-शुद्धि के लिए उपयोगी नहीं है। भगवान् महावीर के समय तापस, संन्यासी, परिव्राजक आदि अनेक प्रकार की तपस्याएं—अज्ञान तप किया करते थे। कोई अपने चारों ओर आग सुलगाकर पञ्चाग्नि तप किया करता था, कोई वृक्ष से उल्टा लटका रहता था। कोई हाथ ऊपर उठाकर घूमता रहता था और कोई कांटों पर लेटता था। इस प्रकार शारीरिक कष्ट उठाने पर भी वे लोग क्रोधी एवं दम्भी हुआ करते थे। उनकी साधना केवल लोक दिखावा थी जिससे भोली जनता आकृष्ट हो जाती थी। आत्मशुद्धि के लिए उसका कोई उपयोग न था। महावीर और बुद्ध दोनों ने इस प्रकार की तपस्या को बुरा बताया है। इसके विपरीत महावीर की कर्म-सम्पदा तथ्य थी अर्थात् वह जिस उद्देश्य से की जाती थी वह वास्तव में उस पर पहुँचाने वाली थी। तथ्य शब्द एक अन्य बात को भी प्रकट करता है, गोशालक नियतिवादी था। उसकी दृष्टि में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, आदि निष्फल हैं, अर्थात् इनसे कोई लाभ नहीं, क्योंकि विश्व में समस्त परिवर्तन नियत हैं, जो होना है अवश्य होगा, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। इसके विपरीत महावीर की दृष्टि में उत्थान आदि के द्वारा घटना-चक्र में परिवर्तन लाया जा सकता है। पुरुषार्थ निष्फल नहीं होता, अतः महावीर की कर्म-सम्पदा तथ्य अर्थात् फलवती है। जबकि गोशालक की फल शून्य है। यहां वृत्तिकार के ये शब्द हैं—

“तथ्यानि सत्फलानि अव्यभिचारितया यानि कर्माणि—क्रियास्तत्सम्पदा सत्समृद्ध्या यः सम्प्रयुक्तो—युक्तः स तथा।”

देव ने सद्दालपुत्र से कहा कि तुम भगवान् की वन्दना यावत् उपासना करना, उन्हें प्रातिहारिक पीठ, फलक आदि के लिए निमन्त्रित करना।

प्रातिहारिक—इस शब्द का अर्थ है—वे वस्तुएं जिन्हें काम पूरा हो जाने पर लौटा दिया जाता है। यहां दो शब्द मननीय हैं—आहार और प्रतिहार। भोजन सामग्री को आहार कहा जाता है। ‘आ’ उपसर्ग का अर्थ है पूरी तरह, और ह धातु का अर्थ है हरण करना या लाना। जो वस्तु एक बार लाकर वापिस नहीं की जा जाती उसे आहार कहा जाता है। भोजन इसी प्रकार की वस्तु है। इसके विपरीत बैठने का पीढ़ा, सोने के लिए चौकी आदि वस्तुएं कुछ दिनों के लिए लाई जाती हैं और काम पूरा हो जाने पर वापिस कर दी जाती हैं। इन्हें प्रतिहार कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र में प्रतिहारी के रूप में चार वस्तुओं का उल्लेख है (१) पीठ अर्थात् पीढ़ा—बैठने की चौकी। (२) फलक—पट्टा या सोने की चौकी। पंजाबी में इसे फट्टा कहा जाता है। (३) शय्या—निवास स्थान तथा (४) संस्तारक—बिछौना के लिए घास या चटाई आदि।

यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है। देव ने भोजन, पानी आदि का उल्लेख नहीं किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि महावीर की परंपरा में निमंत्रित भोजन स्वीकार नहीं किया जाता था। यह परंपरा अब भी अक्षुण्ण है। निमंत्रित भोजन को साधु के लिए दोषपूर्ण माना जाता है। इसके विपरीत बुद्ध तथा गोशालक के साधु निमंत्रित भोजन स्वीकार कर लेते थे।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तेणं देवेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४ समुप्पन्ने—“एवं खलु ममं धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलि-पुत्ते, से णं महामाहणे उप्पन्नणाण-दंसणधरे जाव तच्च कम्म-संपया-संपउत्ते, से णं कल्लं इहं हव्वमागच्छिस्सइ । तए णं तं अहं वंदिस्सामि जाव पज्जुवासिस्सामि पाडिहारिएणं जाव उवनिमंतिस्सामि ॥ १८८ ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य तेन देवेनैवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ४ समुत्पन्नः—“एवं खलु मम धर्माचार्यो धर्मोपदेशको गोशालो मङ्गलिपुत्रः, स खलु महामाहन उत्पन्नज्ञानदर्शनधरो यावत्तथ्य-कर्मसम्पदा सम्प्रयुक्तः स खलु कल्पे इह हव्यमागमिष्यति, ततः खलु तमहं वन्दिष्ये, यावत्पर्युपासिष्ये प्रातिहारिकेण यावदुपनिमन्त्रयिष्यामि ।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के, तेणं देवेणं—उस देव द्वारा, एवं वुत्तस्स समाणस्स—इस प्रकार कहे जाने पर, इमेयारूवे—यह, अज्झत्थिए ४ समुप्पन्ने—विचार उत्पन्न हुआ—एवं खलु—इस प्रकार, ममं—मेरे, धम्मायरिए—धर्माचार्य, धम्मोवएसए—धर्मोपदेशक, गोसाले मंखलि-पुत्ते—गोशाल मंखलि-पुत्र हैं, से णं महामाहणे—वे महामाहन हैं, उप्पन्नणाणदंसणधरे—अप्रतिहत ज्ञान, दर्शन के धारक हैं, जाव तच्च-कम्म संपया संपेउत्ते—यावत् तथ्य-कर्म रूप संपत्ति के स्वामी हैं, सेणं कल्लं इहं हव्वमागच्छिस्सइ—वे कल यहां आएंगे, तए णं तं अहं वंदिस्सामि—तब मैं उनको वन्दना करूंगा, जाव पज्जुवासिस्सामि—यावत् पर्युपासना करूंगा, पाडिहारिएणं जाव उवनिमंतिस्सामि—प्रातिहारिक—पीठ-फलक आदि के लिए यावत् निमन्त्रित करूंगा ।

भावार्थ—उस देव के ऐसा कहने पर आजीविकोपासक सद्दालपुत्र के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि ‘मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक गोशालक मंखलि-पुत्र, महामाहन, अप्रतिहत ज्ञान, दर्शन के धारक यावत् तथ्य-कर्म रूप संपत्ति के स्वामी कल यहां आएंगे। मैं उन्हें वन्दना करूंगा यावत् उनकी पर्युपासना करूंगा। उन्हें प्रातिहारिक पीठ-फलकादि के लिए निमन्त्रित करूंगा।’

मूलम्—तए णं कल्लं जाव जलंते समणे भगवं महावीरे जाव समोसरिए । परिसा निग्गया जाव पज्जुवासइ ॥ १८९ ॥

छाया—ततः खलु कल्पे यावज्ज्वलति श्रमणो भगवान् महावीरो यावत् समवसृतः । परिषन्निर्गता, यावत् पर्युपास्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, कल्लं जाव जलंते—दूसरे दिन सूर्योदय होते ही, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, जाव समोसरिए—यावत् पधारे, परिसा निग्गया—परिषद् निकली, जाव पज्जुवासइ—यावत् पर्युपासना की ।

भावार्थ—दूसरे दिन सूर्योदय होते ही भगवान् महावीर पधारे, यावत् परिषद् धर्म श्रवण के लिए निकली । यावत् पर्युपासना हुई ।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—“एवं खलु समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि जाव पज्जुवासामि” एवं संपेहेइ, संपेहिता ण्हाए—जाव-पायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइ—जाव अप्पमहग्घाभरणालंकिअ-सरीरे मणुस्सवग्गुरा-परिगए साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमिता पोलासपुरं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जाव पज्जुवासइ ॥ १६० ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकोऽस्यां कथायां लब्धार्थः सन्—“एवं खलु श्रमणो भगवान् महावीरो यावद्विहरति, तद् गच्छामि खलु श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दे यावत् पर्युपासे” एवं सम्प्रेक्षते सम्प्रेक्ष्य स्नातो यावत् प्रायश्चित्तः शुद्धप्रवेश्यानि यावद् अल्पमहार्घाभरणालङ्कृतशरीरो मनुष्यवागुरा परिगतः स्वस्माद् गृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य पोलासपुरं नगरं मध्य-मध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव सहस्राभ्रवणमुद्यानं येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य त्रिकृत्व आदक्षिण-प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा यावत् पर्युपासते ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने, इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—इस वृत्तान्त को सुना कि, एवं खलु समणे भगवं महावीरे—इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर, जाव विहरइ—यावत् विचर रहे हैं, तं गच्छामि णं—इसलिए मैं जाता हूँ, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को, वंदामि जाव पज्जुवासामि—वन्दना करूंगा यावत् पर्युपासना करूंगा, एवं संपेहेइ—उसने इस प्रकार विचार किया, संपेहिता—विचार करके, ण्हाए—स्नान किया, जाव पायच्छित्ते—यावत् प्रायश्चित्त अर्थात् मङ्गलाचार किया, सुद्धप्पावेसाइ—शुद्ध तथा सभा में प्रवेश करने योग्य वस्त्र, जाव—यावत्, अप्पमहग्घाभरणालं-

किय-सरीरे—अल्प भार वाले बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया और, मणुस्सवग्गुरापरिगए—जन समूह के साथ, साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ—अपने घर से निकला, पडिणिक्खमिता—निकलकर, पोलासपुरं नगरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ—पोलासपुर नगर के बीचों-बीच होता हुआ बाहर निकला, निग्गच्छिता—निकलकर, जेणेव सहस्संबवणे उज्जाणे—जहां सहस्राश्रवण उद्यान था, जेणेव समणे भगवं महावीरे—जहां श्रमण भगवान् महावीर थे, तेणेव उवागच्छइ—वहां आया, उवागच्छिता—आकर, तिक्खुत्तो आयाहिणं-पयाहिणं करेइ—दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा की, करेत्ता वंदइ नमंसइ—प्रदक्षिणा करके वन्दना की, नमस्कार किया, वंदित्ता नमंसित्ता जाव पज्जुवासइ—वन्दना नमस्कार करके यावत् पर्युपासना की।

भावार्थ—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने इस वृत्तान्त को सुना कि श्रमण भगवान् महावीर यावत् विचर रहे हैं, उसके मन में आया “मैं जाता हूँ और उन्हें वन्दना नमस्कार करता हूँ यावत् पर्युपासना करता हूँ।” इस प्रकार विचार करके स्नान किया यावत् कौतुक तथा मंगलाचार किये तथा सभा में जाने योग्य शुद्ध वस्त्र पहने। अल्प भार किन्तु बहुमूल्य आभूषणों द्वारा अपने शरीर को अलंकृत किया और जन समूह के साथ घर से निकलकर पोलासपुर नगर के बीचों-बीच होता हुआ सहस्राश्रवण उद्यान में भगवान् महावीर के पास पहुंचा। उन्हें वन्दना नमस्कार करके पर्युपासना करने लगा।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य महइ जाव धम्मकहा समत्ता ॥ १६१ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य तस्यां च महति यावद् धर्मकथा समाप्ता।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र, तीसे य महइ—तथा उस विशाल परिषद् को (धर्म कथा सुनाई), जाव धम्मकहा समत्ता—यावत् धर्म कथा समाप्त हुई।

भावार्थ—तब श्रमण भगवान् महावीर ने उस विशाल परिषद् में आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को धर्मकथा कही यावत् वह समाप्त हो गई।

मूलम्—“सद्दालपुत्ता”! इ समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—“से नूणं, सद्दालपुत्ता! कल्लं तुमं पुव्वावरण्ह कालसमयंसि जेणेव असोग-वणिया जाव विहरसि । तए णं तुब्भं एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था । तए णं से देवे अंतलिक्खपडिवन्ने एवं वयासी—“हंभो सद्दालपुत्ता!” तं चेव सव्वं जाव “पज्जुवासिस्सामि” । से नूणं, सद्दालपुत्ता! अट्ठे समट्ठे?” “हंता! अत्थि” । नो खलु, सद्दालपुत्ता! तेणं देवेणं गोसालं मंखलि-पुत्तं पणिहाय एवं वुत्ते” ॥ १६२ ॥

छाया—“सद्दालपुत्र”! इति श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेवमवादीत्—“तन्नूनं सद्दालपुत्र! कल्पे त्वं पूर्वापराहकालसमये येनैवाऽशोकवनिका यावद् विहरसि । ततः खलु तवैको देवोऽन्तिके प्रादुरासीत् । ततः खलु स देवोऽन्तरिक्षप्रतिपन्न एवमवादीत्—“हंभोः सद्दालपुत्र”! तदेव सर्वं यावत् पर्युपासिष्ये”, तन्नूनं सद्दालपुत्र! अर्थः समर्थः?” “हन्तास्ति” । नो खलु सद्दालपुत्र! तेन देवेन गोशालं मंखलिपुत्रं प्रणिधायैवमुक्तम् ।”

शब्दार्थ—“सद्दालपुत्रा”!—हे सद्दालपुत्र, इ समणे भगवं महावीरे—इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर ने, सद्दालपुत्रं आजीविओवासयं एवं वयासी—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को इस प्रकार कहा—से नूणं सद्दालपुत्रा—निश्चय ही हे सद्दालपुत्र!, कल्लं तुमं पुव्वावरण्हकालसमयंसि—तुम कल दोपहर के समय, जेणेव असोग-वणिया जाव विहरसि—जहां अशोक-वनिका में बैठे थे, तए णं—तब, एगे देवे—एक देव, तुब्भं अंतियं पाउब्भवित्था—तुम्हारे पास प्रकट हुआ, तए णं—तब, से देवे—उस देव ने, अंतलिक्ख पडिवन्ने एवं वयासी—आकाश में स्थित होकर यह कहा—हं भो सद्दालपुत्रा!—हे सद्दालपुत्र!, तं चेव सव्वं—पूर्वोक्त सारा वृत्तान्त उसी प्रकार कह सुनाया, जाव पज्जुवासिस्सामि—यावत् पर्युपासना करूंगा, से नूणं सद्दालपुत्रा!—निश्चय ही हे सद्दालपुत्र! अट्ठे समट्ठे—क्या यह बात ठीक है? हंता! अत्थि—हां भगवन्!, ठीक है, नो खलु सद्दालपुत्रा! तेणं देवेणं गोशालं मंखलिपुत्रं पणिहाय एवं वुत्ते—उस देव ने मंखलिपुत्र गोशालक को लक्ष्य करके ऐसा नहीं कहा था ।

भावार्थ—इस प्रकार भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्र को सम्बोधित करते हुए कहा, हे सद्दालपुत्र ! तुम जब अशोकवनिका में थे, एक देव तुम्हारे पास आया और उसने बताया कि इस प्रकार अरिहंत केवली आएंगे । भगवान् ने सद्दालपुत्र के द्वारा पर्युपासना सम्बन्धी निश्चय तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया और अन्त में पूछा—क्या यह बात ठीक है?” हां भगवन्—ठीक है, सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया । भगवान् ने फिर कहा—“सद्दालपुत्र! देव ने यह बात गोशालक को लक्ष्य करके नहीं कही थी ।”

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासयस्स समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—“एस णं समणे भगवं महावीरे महामाहणे उप्पन्न-णाण-दंसणधरे, जाव तच्च-कम्म-संपया-संपउत्ते । तं सेयं खलु ममं समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता पाडिहारिएणं पीढ-फलग जाव उवनिमंतित्तए ।” एवं संपेहेइ, संपेहित्ता उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—“एवं खलु भंते! मम पोलासपुरस्स नयरस्स बहिया पंच कुम्भकारावणसया । तत्थ णं तुब्भे पाडिहारियं पीढ जाव संथारयं ओगिण्हित्ता णं विहरह” ॥ १६३ ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य श्रमणेन भगवता महावीरेणैवमुक्तस्य सतोऽयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ४—“एष खलु श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहन उत्पन्न-ज्ञान-दर्शनधरो

यावत्तथ्य-कर्म सम्पदा सम्प्रयुक्तस्तत् श्रेयः खलु मम श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दित्वा नमस्कृत्य प्रातिहारिकेण पीठ-फलक यावदुपनिमन्त्रयितुम्” एवं संप्रेक्षते, संप्रेक्ष्य उत्थायोत्तिष्ठति, उत्थित्वा श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—“एवं खलु भदन्त! मम पोलासपुरान्नगराद् बहिः पञ्च कुम्भकारावणशतानि, तत्र खलु यूयं प्रातिहारिकं पीठं संस्तारकमवगृह्य विहरत !”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणेणं भगवया महावीरेणं—श्रमण भगवान् महावीर के, एवं वुत्तस्स समाणस्स—इस प्रकार कहने पर, तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासयस्स—उस आजीविको-पासक सद्दालपुत्र के मन में, इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—यह विचार उत्पन्न हुआ, एस णं समणे भगवं महावीरे—यह श्रमण भगवान् महावीर, महामाहणे—महामाहन, उप्पन्नणाण-दंसणधरे—अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक, जाव तच्च-कम्म-संपया संपउत्ते—यावत् तथ्य-कर्म सम्पदा के स्वामी हैं, तं सेयं खलु ममं—इसलिए उचित है कि मैं, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके, पाडिहारिएणं पीढ फलग जाव उवनिमत्तिए—प्रातिहारिक पीठ फलक आदि के लिए निमन्त्रित करूं। एवं संपेहेइ—उसने इस प्रकार विचार किया, संपेहित्ता उट्टाए उट्टेइ—विचार कर उठा, उट्टित्ता—उठकर, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को, वंदइ नमंसइ—वन्दना की, नमस्कार किया, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा, एवं खलु भंते!—हे भगवन्!; पोलासपुरस्स नयरस्स बहिया—पोलासपुर नगर के बाहर, ममं पंच कुम्भकारावणसया—मेरे कुम्हार सम्बन्धी पांच सौ आपण हैं, तथ्य णं तुब्भे—वहां से आप, पाडिहारियं—प्रातिहारिक पीठ, जाव संधारयं—पीठ यावत् संस्तारक आदि, ओगिण्हित्ता णं विहरह—ग्रहण करके विचरें।

भावार्थ—श्रमण भगवान् की बात सुनकर आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने सोचा—“यह अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक यावत् सम्पदा और कर्म-सम्पदा के स्वामी श्रमण भगवान् महावीर हैं। मुझे इन्हें वन्दना नमस्कार करके प्रातिहारिक पीठ फलक आदि के लिए निमन्त्रित करना चाहिए। यह विचार कर उठा, श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया और निवेदन किया—हे भदन्त! पोलासपुर नगर के बाहर मेरे पांच सौ आपण हैं वहां से आप प्रातिहारिक पीठ यावत् संस्तारक ग्रहण करके मुझे अनुगृहित करें।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स पंचकुम्भकारावणसएसु फासुएसणिज्जं पाडिहारियं पीढफलग सिज्जा संधारयं ओगिण्हित्ता णं विहरइ ॥ १६४ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्यैतमर्थं प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य पञ्चसु कुम्भकारापणशतेषु प्रासुकैषणीयं प्रातिहारिकं पीठ-फलक शय्या संस्तारकमवगृह्य विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, सद्दालपुत्रस्स आजीविओवासगस्स—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की, एयमद्दं पडिसुणेइ—इस विनती को स्वीकार किया, पडिसुणेत्ता—स्वीकार करके, सद्दालपुत्रस्स आजीविओवासगस्स—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की, पंचकुम्भकारापणसएसु—पांच सौ आपणों से, फासुएसणिज्जं—प्रासुक और एषणीय, पाडिहारियं—प्रातिहारिक, पीठफलगसिज्जासंधारयं—पीठ-फलक, शय्या संस्तारक, ओगिण्हत्ता णं विहरइ—ग्रहण करके विचरने लगे ।

भावार्थ—तब श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र की इस प्रार्थना को स्वीकार किया और सद्दालपुत्र की पांच सौ दुकानों से प्रासुक, एषणीय और प्रातिहारिक पीठ-फलक, शय्या-संस्तारक ग्रहण करके विचरने लगे ।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए अन्नया कयाइ वायाहययं कोलाल-भंडं अंतो सालाहितो बहिया नीणेइ, नीणित्ता, आयवंसि दलयइ ॥ १६५ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकोऽन्यदा कदाचित् वाताहतकं कौलालभाण्ड-मन्तः शालाया बहिर्नयति, नीत्वाऽऽतपे ददाति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र, अन्नया कयाइ—एक दिन, वायाहययं कोलाल-भंडं—कुम्हार द्वारा बनाए जाने वाले हवा से शुष्क मिट्टी के बर्तनों को, अंतो सालाहितो बहिया नीणेइ—अन्दर के कोठे से बाहर लाया, नीणित्ता—लाकर आयवंसि दलयइ—धूप में रखने लगा ।

भावार्थ—एक दिन आजीविकोपासक सद्दालपुत्र हवा से कुछ सूखे हुए बर्तनों को अन्दर के कोठे से बाहर लाकर धूप में सुखाने लगा ।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—
“सद्दालपुत्ता! एस णं कोलालभंडे कओ?” ॥ १६६ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेवमवादीत्—“सद्दालपुत्र! एष खलु कौलालभाण्डः कुतः?”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को, वयं वयासी—इस प्रकार पूछा—सद्दालपुत्ता!—हे सद्दालपुत्र! एस णं कोलालभंडे कओ—यह मिट्टी के बर्तन कहां से आए अर्थात् कैसे बने?

भावार्थ—यह देखकर भगवान महावीर ने सद्दालपुत्र से पूछा—“यह बर्तन कैसे बने?”

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—“एस णं भंते! पुव्विं मट्ठिया आसी, तओ पच्छा उदएणं निमिज्जइ, निमिज्जित्ता छारेण य करिसेण य एगओ मीसिज्जइ, मीसिज्जित्ता चक्के आरोहिज्जइ, तओ बहवे करगा य जाव उट्ठियाओ य कज्जंति ॥ १६७ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकः श्रमणं भगवन्तं महावीरमेवमवादीत्—“एष खलु भदन्त! पूर्वं मृत्तिकाऽऽसीत् ततः पश्चादुदकेन निमज्जयते, निमज्ज्य क्षारेण च करीषेण चैकतो मिश्र्यते मिश्रयित्वा चक्रे आरोप्यते, ततो बहवः करकाश्च यावदुष्ट्रिकाश्च क्रियन्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—एस णं भंते!—हे भगवन्! यह, पुव्विं मट्ठिया आसी—पहले मिट्टी थी, तओ पच्छा—तत्पश्चात्, उदएणं निमिज्जइ—इन्हें पानी में भिगोया गया, निमिज्जित्ता—भिगो कर, छारेण य करिसेण य—क्षार और करीष के साथ, एगओ मीसिज्जइ—एकत्र मिलाया गया, मीसिज्जित्ता—मिलाकर, चक्के आरोहिज्जइ—चाक पर चढ़ाया, तओ बहवे करगा य—तब बहुत से करक, जाव उट्ठियाओ य कज्जंति—यावत् उष्ट्रिकाएं बनाई जाती हैं ।

भावार्थ—सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया—“भगवन्! सर्व प्रथम मिट्टी लाई गई, उसे पानी में भिगोया गया । तत्पश्चात् क्षारतत्व और गोबर के साथ मिलाकर चाक पर चढ़ाया गया । तब यह बर्तन बने ।”

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं एवं वयासी—“सद्दालपुत्ता! एस णं कोलाल-भंडे किं उट्ठाणेणं जाव पुरिसक्कार-परक्कमेणं कज्जंति उदाहु अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं कज्जंति?” ॥ १६८ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रमाजीविकोपासक-मेवमवादीत्—“सद्दालपुत्र ! एतत् खलु कौलाल-भाण्डं किमुत्थानेन यावत् पुरुषकार-पराक्रमेण क्रियते उताहो! अनुत्थानेन यावत् पुरुषकार-पराक्रमेण क्रियते?”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र से, एवं वयासी—यह पूछा—सद्दालपुत्ता!—हे सद्दालपुत्र! एस णं कोलाल-भंडे—यह मिट्टी के बर्तन, किं उट्ठाणेणं—उत्थान से, जाव पुरिसक्कार-परक्कमेणं कज्जंति—यावत् पुरुषकार-पराक्रम से बनाए जाते हैं, उदाहु—अथवा, अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं—बिना उत्थान यावत् पुरुषार्थ-पराक्रम से, कज्जंति—बनाए जाते हैं?

भावार्य—भगवान् ने फिर पूछा—“सद्दालपुत्र! यह बर्तन उत्थान यावत् पुरुषकार-पराक्रम से बने हैं अथवा उनके बिना ही बने हैं ?”

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—“भंते! अणुद्धाणेणं जाव अपुरिसक्कार-परक्कमेणं, नत्थि उद्धाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा, नियया सव्वभावा” ॥ १६६ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकः श्रमणं भगवन्तं महावीरमेवम-वादीत्—“भदन्त! अनुत्थानेन यावदपुरुषकारपराक्रमेण, नास्त्युत्थानमिति वा यावत्पराक्रमइति वा, नियताः सर्वभावाः ।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—भंते!—हे भगवन् ! अणुद्धाणेणं—उत्थान, जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं—यावत् पुरुषकार-पराक्रम के बिना बनते हैं, नत्थि उद्धाणे इ वा—उत्थान नहीं, जाव परक्कमे इ वा—यावत् पराक्रम भी नहीं है, नियया सव्वभावा—सब भाव नियत हैं।

भावार्य—सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया—“भगवन्! यह सब बर्तन उत्थान यावत् पुरुषकार-पराक्रम के बिना ही बने हैं। उत्थान आदि का कोई अर्थ नहीं है। समस्त-परिवर्तन नियत हैं।”

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं अजीविओवासयं एवं वयासी—“सद्दालपुत्ता! जइ णं तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं वा कोलाल-भंडं अवहरेज्जा वा विक्खिरेज्जा वा भिंदेज्जा वा अच्छिंदेज्जा वा परिट्ठवेज्जा वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोग-भोगाइं भुज्जमाणे विहरेज्जा, तस्स णं तुमं पुरिसस्स किं दंडं वत्तेज्जासि?” (सद्दाल०) “भंते! अहं णं तं पुरिसं आओसेज्जा वा हणेज्जा वा बन्धेज्जा वा महेज्जा वा तज्जेज्जा वा तालेज्जा वा निच्छोडेज्जा वा निब्भच्छेज्जा वा अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जा वा ।”

(भगवानुवाच) “सद्दालपुत्ता! नो खलु तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केल्लयं वा कोलाल-भंडं अवहरइ वा जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोग-भोगाइं भुज्जमाणे विहरइ, नो वा तुमं तं पुरिसं आओसेज्जसि वा हणेज्जसि वा जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जसि, जइ नत्थि उद्धाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा नियया सव्वभावा । अहं णं तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं जाव परिट्ठवेइ वा अग्गिमित्ताए वा

जाव विहरइ, तुमं ता तं पुरिसं आओसेसि वा जाव ववरोवेसि । तो जं वदसि नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव निययां सव्वभावा, तं ते मिच्छा” ॥ २०० ॥

एत्थ णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए संबुद्धे ॥ २०१ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रमाजीविकोपासकमेवमवादीत्—
“सद्दालपुत्र ! यदि खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहतं वा पक्वं वा कौलालभाण्डमपहरेद्वा, विकिरेद्वा, भिन्द्याद्वा, आच्छिद्याद्वा, परिष्ठापयेद्वा, अग्निभिन्नया भार्यया सार्द्धं विपुलान् भोग-भोगान् भुञ्जानो विहरेत्, तस्य खलु त्वं पुरुषस्य किं दण्डं वर्तयेः?” (सद्दालपुत्र उवाच) “भदन्त! अहं खलु तं पुरुषमाक्रोशयेयं वा, हन्यां वा, बध्नीयां वा, मथ्नीयां वा, तर्जयेयं वा, ताडयेयं वा, निश्छोटयेयं वा, निर्भर्त्सयेयं वा, अकाल एव जीविताद्व्यपरोपयेयं वा” । (भगवानुवाच) “सद्दालपुत्र! नो खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहतं वा पक्वं वा कौलालभाण्डमपहरति वा, यावत् परिष्ठापयति वा, अग्निभिन्नया वा भार्यया सार्द्धं विपुलान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति । नो वा त्वं तं पुरुषमाक्रोशसि वा हंसि वा यावदकाले एव जीविताद्व्यपरोपयसि । यदि नास्त्युत्थानमिति वा यावत्पराक्रम इति वा नियताः सर्वभावाः, अथ खलु तव कोऽपि पुरुषो वाताहतं यावत्परिष्ठापयति वा, अग्निभिन्नया वा यावद्विहरति, त्वं तं पुरुषमाक्रोशयसि वा यावद् व्यपरोपयसि तर्हि यद्वदसि—“नास्त्युत्थानमिति वा यावन्नियताः सर्वभावास्तते मिथ्या ।”

अत्र खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकः सम्बुद्धः ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान महावीर ने, सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को, एवं वयासी—इस प्रकार कहा—सद्दालपुत्ता—हे सद्दालपुत्र! जइ णं—यदि, केइ पुरिसे—कोई पुरुष, तुब्भं—तेरे, वायाहयं वा—हवा लगे हुए, पक्केल्लयं वा कोलालभंडं—अथवा पके हुए बर्तनों को, अवहरेज्जा वा—अपहरण करले, विकिखरेज्जा वा—बिखेर दे, भिंदेज्जा वा—फोड दे, अच्छिंदेज्जा वा—छीन ले, परिडुवेज्जा वा—फैंक दे, अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं—अथवा अग्निभिन्ना भार्या के साथ, विउलाइं भोग भोगाइं भुञ्जमाणे विहरेज्जा—विपुल भोग भोगता हुआ विचरे, तस्स णं तुमं पुरिसस्स—उस पुरुष को तुम, किं दंडं वत्तेज्जासि—क्या दण्ड दोगे? (सद्दालपुत्र उवाच) सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया, भंते!—हे भगवन्! अहं णं तं पुरिसं—मैं उस पुरुष को, आओसेज्जा वा—फटकाऊंगा, हणेज्जा वा—पीटूंगा, बंधेज्जा वा—बांध दूंगा, महेज्जा वा—कुचल दूंगा, तज्जेज्जा वा—तर्जना करूंगा, तालेज्जा वा—ताड़ना करूंगा, निच्छोडेज्जा वा—छीना-झपटी करूंगा, निब्भच्छेज्जा वा—निर्भर्त्सना करूंगा, अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जा वा—अथवा अकाल में ही मार डालूंगा । भगवानुवाच—(भगवान ने कहा), सद्दालपुत्ता!—हे सद्दालपुत्र!, नो खलु केई पुरिसे—ऐसा कोई पुरुष, तुब्भं—तेरे, वायाहयं वा—हवा

लगे हुए, पक्केल्लयं वा—अथवा पके हुए, कोलालभंडं—बर्तनों को, अवहरइ वा—नहीं चुराता, जाव परिड्वेइ वा—यावत् नहीं फैकता, अग्निमित्ताए वा भारियाए सद्धि—अथवा अग्निमित्रा भार्या के साथ, विउलाइं भोग-भोगाईं भुज्जमाणे विहरइ—विपुल भोग भोगता हुआ नहीं विचरता है, नो वा तुमं तं पुरिसं—न ही तुम उस पुरुष को, आओसेज्जसि वा—फटकारते हो, हणेज्जसि वा—मार-पीट करते हो, जाव अकाले चेव जीवियाओ ववरोवेज्जसि—यावत् प्राणापहरण करते हो, जइ—यदि, नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नहीं है, जाव परक्कमे इ वा—यावत् पराक्रम नहीं है, नियया सव्वभावा—और सब भाव नियत हैं, अह णं केइ पुरिसे—यदि कोई पुरुष, तुब्बं वायाहयं जाव परिड्वेइ वा—तेरे हवा लगे हुए बर्तनों को चुराता है यावत् बाहर फैकता है, अग्निमित्ताए वा जाव विहरइ—यावत् अग्निमित्रा भार्या के साथ विहार करता है, तुमं ता तं पुरिसं—और तुम उस पुरुष को आओसेसि वा—फटकारते हो, जाव ववरोवेसि—यावत् प्राण लेते हो, तो जं वदसि—तो फिर भी यह कहते हो कि, नत्थि उट्ठाणे इ वा—उत्थान नहीं है, जाव नियया सव्वभावा—यावत् सब भाव नियत हैं, तं ते मिच्छा—तेरा यह कहना मिथ्या है।

एत्थ णं—इस पर, से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए संबुद्धे—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र समझ गया अर्थात् उसे बोध हो गया।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र से पूछा—“हे सद्दालपुत्र! यदि कोई पुरुष हवा लगे हुए अथवा पके हुए तेरे बर्तनों को चुरा ले, कहीं बाहर ले जाकर रख दे और तुम्हारी अग्निमित्रा भार्या के साथ काम-भोग सेवन करे तो तुम उसे क्या दण्ड दोगे?” सद्दालपुत्र—“भदन्त! मैं उस पुरुष को गालियां दूंगा, फटकारूंगा, पीटूंगा, बांध दूंगा, पैरों तले कुचल दूंगा, धिक्कारूंगा, ताड़ना करूंगा, नोंच डालूंगा, भला-बुरा कहूंगा, अथवा उसके प्राण ले लूंगा।” भगवान् ने कहा—“हे सद्दालपुत्र! तुम्हारी मान्यता के अनुसार न तो कोई पुरुष बर्तनों को चुराता है, और न अग्निमित्रा भार्या के साथ दुराचार करता है। न ही तुम उस पुरुष को दण्ड देते हो या मारते हो। क्योंकि उत्थान यावत् पुरुषकार तो हैं ही नहीं—जो कुछ होता है अपने आप होता है, इसके विपरीत यदि कोई पुरुष तुम्हारे बर्तनों को वास्तव में चुराता है, या अग्निमित्रा भार्या के साथ दुराचार सेवन करता है और तुम उसे गाली-गलौच देते हो यावत् मारते हो तो तुम्हारा यह कथन मिथ्या है कि उत्थान यावत् पुरुषार्थ कुछ नहीं है, और सब भाव नियत हैं।” यह सुनकर आजीविकोपासक सद्दालपुत्र वास्तविकता को समझ गया।

टीका—पिछले तथा इन सूत्रों में भगवान् महावीर ने गोशालक के नियतिवाद का खण्डन करने के लिए युक्तियां दी हैं ! नियतिवाद का स्वरूप कुण्डकौलिक अध्ययन में बताया जा चुका है। देवता ने जब कुण्डकौलिक के सामने गोशालक के सिद्धान्त को समीचीन बताकर विश्व के समस्त परिवर्तनों को नियत बताया और कहा कि जीवन में प्रयत्न तथा पुरुषार्थ का कोई स्थान नहीं है तो कुण्डकौलिक

ने उससे पूछा—“यदि सब बातें नियत हैं तो सभी प्राणी तुम्हारी तरह देव क्यों नहीं बन गए?” इस पर देव निरुत्तर होकर चला गया।

सद्दालपुत्र भी गोशालक का अनुयायी था। एक दिन वह बर्तनों को धूप में रख रहा था। भगवान ने पूछा—यह बर्तन कैसे बने? सद्दालपुत्र ने बताया—पहले मिट्टी को पानी में भिगोते हैं, फिर उसमें क्षार और करीष मिलाते हैं, फिर चाक पर चढ़ाते हैं, तब जाकर तरह-तरह के बर्तन बनते हैं।

भगवान ने पूछा—क्या इनके लिए पुरुषार्थ या प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती? सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया, नहीं, यह पुरुषार्थ और पराक्रम के बिना ही बन जाते हैं। यद्यपि सद्दालपुत्र का उत्तर ठीक नहीं था फिर भी भगवान् ने उसे दूसरी तरह समझाने का निश्चय किया। उन्होंने देखा कि सद्दालपुत्र अपने को भी नियति का एक अङ्ग मान रहा है और स्वयं जो प्रयत्न कर रहा है उसे भी नियति ही समझ रहा है। अतः ऐसे उदाहरण देने चाहिए जो अस्वाभाविक या अनपेक्षित हों। जिसे वह प्रतिदिन के व्यवहार में सम्मिलित न कर सके। भगवान् ने पूछा—सद्दालपुत्र! यदि तुम्हारे इन बर्तनों को कोई चुरा ले, फोड़ दे या इधर-उधर फेंक दे अथवा तुम्हारी भार्या अग्निमित्रा के साथ दुर्व्यवहार करे तो उसे क्या दण्ड दोगे?

“भगवन् ! मैं उस पुरुष को धिक्कारूंगा, पीटूंगा, उसे पकड़ लूंगा, यहां तक कि उसके प्राण भी ले सकता हूं।” सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया। भगवान् ने पूछा—तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार सब भाव नियत हैं। अर्थात् जो होनहार है वही होता है, व्यक्ति कुछ नहीं करता। ऐसी स्थिति में तुम्हारे बर्तन फूटने ही वाले थे। उनके लिए कोई व्यक्ति उत्तरदायी नहीं है फिर तुम ऐसा करने वाले को दण्ड क्यों देते हो? सद्दालपुत्र ने अपने उत्तर में यह कहा था कि बर्तन आदि फोड़ने वाला व्यक्ति अकाल में ही जीवन से हाथ धो बैठेगा। यह उत्तर अपने आप नियतिवाद का खण्डन करता है।

भगवान् का उत्तर सुनकर सद्दालपुत्र समझ गया और वह नियतिवाद को छोड़कर पुरुषार्थ में विश्वास करने लगा।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—“इच्छामि णं, भंते! तुब्भं अंतिए धम्मं निसामेत्तए” ॥ २०२ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासकः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—“इच्छामि खलु भदन्त! युष्माकमन्तिके धर्मं निशामयितुम् ।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए—उस आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को, वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया, वंदित्ता

नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—इच्छामि णं भंते!—हे भगवन्! मैं चाहता हूं कि, तुभं अंतिए—आपके पास, धम्मं निसामेतए—धर्म सुनूं।

भावार्थ—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया और कहा—“हे भगवन्! मैं आपसे धर्म सुनना चाहता हूं।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स तीसे य जाव धम्मं परिकहेइ ॥ २०३ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरः सद्दालपुत्रस्याऽऽजीविकोपासकस्य तस्यां च यावद्धर्मं परिकथयति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासगस्स—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को, तीसे य जाव धम्मं परिकहेइ—उस महती परिषद् में यावत् धर्म सुनाया।

भावार्थ—इस पर श्रमण भगवान् महावीर ने आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को महती परिषद् में धर्मोपदेश किया।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते आजीविओवासए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हइ-तुइ जाव हियए जहा आणंदो तहां गिहि-धम्मं पडिवज्जइ । नवरं एगा हिरण्ण-कोडी निहाण-पउत्ता, एगा हिरण्ण-कोडी वुड्ढि-पउत्ता; एगा हिरण्ण-कोडी पवित्थर-पउत्ता, एगे वए दस गो-साहस्सिएणं वएणं जाव समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव पोलासपुरे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पोलासपुरं नयरं मज्झं-मज्झेणं जेणेव सए गिहे, जेणेव अग्गिमित्ता भारिया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता, अग्गमित्तं भारियं एवं वयासी—“एवं खलु देवाणुप्पिए! समणे भगवं महावीरे जाव समोसढे, तं गच्छाहि णं तुमं, समणं भगवं महावीरं वंदाहि जाव पज्जुवासाहि, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जाहि” ॥ २०४ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्र आजीविकोपासक-श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य हृष्टतुष्टो यावत् हृदयो यथाऽऽनन्दस्तथा गृहिधर्मं प्रतिपद्यते, नवरमेका हिरण्यकोटिर्निधान-प्रयुक्ता, एका हिरण्यकोटिर्वृद्धि-प्रयुक्ता, एका हिरण्यकोटिः प्रविस्तर-प्रयुक्ता, एको ब्रजो दशगोसाहस्रिकेण ब्रजेन यावत् श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य

येनैव पोलासपुरं नगरं तेनैवोपागच्छति, उपागत्य पोलासपुरं नगरं मध्यं-मध्येन येनैव स्वकं गृहं येनैवाग्निमित्राभार्या-तेनैवोपागच्छति, उपागत्याग्निमित्रा भार्यामिवमवादीत्—“एवं खलु देवानुप्रिये! श्रमणो भगवान् महावीरो यावत् समवसृतः, तद्गच्छ खलु त्वं श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दस्व, यावत्पर्युपास्व श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पञ्चाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं गृहिधर्मं प्रतिपद्यस्व।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्रे आजीविओवासए—वह आजीविकोपासक सद्दालपुत्र, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए—श्रमण भगवान् महावीर के समीप, धम्मं सोच्चा निसम्म—धर्म को सुनकर हृदयंगम करके, हड्ड-तुड्ड जाव हियए—मन में प्रसन्न तथा संतुष्ट हुआ, जहा आणंदो तहा गिहिधम्मं पडिवज्जइ—आनन्द की तरह गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया, नवरं—केवल इतना अन्तर है कि, एगा हिरण्ण कोडी निहाण-पउत्ता—उसके पास एक करोड़ सुवर्ण कोष में, एगा हिरण्ण-कोडी—बुद्धि-पउत्ता—एक करोड़ व्यापार में, एगा हिरण्ण-कोडी पवित्थर-पउत्ता—और एक करोड़ गृह तथा उपकरणों में रखने की मर्यादा की। एगे वए दसगोसाहसिएणं वएणं—इस प्रकार दस हजार गायों का एक ब्रज रखा, जाव—यावत्, समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके, जेणेव पोलासपुरे नयरे—जहां पोलासपुर नगर था, तेणेव उवागच्छइ—वहां आया, उवागच्छित्ता—आकर, पोलासपुर नयरं मज्झं मज्झेणं—पोलासपुर नगर के बीचों बीच होता हुआ, जेणेव सए गिहे—जहां अपना घर था, जेणेव अग्गिमित्ता भारिया—जहां अग्निमित्रा भार्या थी, तेणेव उवागच्छइ—वहां आया, उवागच्छित्ता—आकर, अग्गिमित्तं भारियं—अग्निमित्रा भार्या से, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—एवं खलु देवाणुप्पिए!—हे देवानुप्रिये! समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, जाव समोसट्ठे—यावत् समवसृत हुए हैं, तं गच्छाहि णं तुमं—इसलिए तुम जाओ, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को, वंदाहि—वन्दना करो, जाव पज्जुवासाहि—यावत् पर्युपासना करो, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए—श्रमण भगवान् महावीर के पास, पंचाणुव्वइयं—पांच अणुव्रत, सत्तसिक्खावइयं—और सात शिक्षाव्रतरूप, दुवालसविहं—बारह प्रकार के, गिहिधम्मं पडिवज्जाहि—गृहस्थ धर्म को स्वीकार करो।

भावार्थ—इस पर आजीविकोपासक सद्दालपुत्र ने हर्ष और सन्तोष का अनुभव किया। उसने भी आनन्द की भांति गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। इतना ही अन्तर है कि उसके पास एक करोड़ सुवर्ण कोष में थे, एक करोड़ व्यापार में और एक करोड़ गृह और उपकरणों में लगे हुए थे। दस हजार गायों का एक ब्रज था। सद्दालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर को पुनः वन्दना नमस्कार किया और पोलासपुर नगर में से होता हुआ अपने घर पहुंचा। वहां जाकर अग्निमित्रा भार्या से कहा—हे

देवानुप्रिये ! इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर पधारै हैं। तुम जाओ, उन्हें वन्दना-नमस्कार यावत् उनकी पर्युपासना करो। उनसे पांच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म स्वीकार करो।

मूलम्—तए णं सा अग्निमिन्ना भारिया सद्दालपुत्तस्स समणोवासगस्स 'तह' ति एयमट्ठं विणएण पडिसुणेइ ॥ २०५ ॥

छाया—ततः खलु साऽग्निमित्रा भार्या सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य तथेपि एतमर्थं विनयेन प्रतिशृणोति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, सा अग्निमित्रा भारिया—उस अग्निमित्रा भार्या ने, सद्दालपुत्तस्स समणोवासगस्स तहत्ति एयमट्ठं—सद्दालपुत्र श्रमणोपासक के वचन 'तथेति' इस प्रकार कहकर, विणएण पडिसुणेइ—विनयपूर्वक स्वीकार किए।

भावार्थ—अग्निमित्रा ने सद्दालपुत्र के कथन को 'तथेति' कहकर विनयपूर्वक स्वीकार किया।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए कोडुम्बिय-पुरिसे सद्दवेइ, सद्दवित्ता एवं वयासी—“खिप्पामेव, भो देवाणुप्पिया! लहुकरण-जुत्त-जोइय सम-खुर-वालिहाण समलिहिय-सिंगएहिं, जंबूणयामय-कलाव-जोत्त पइविसिद्धएहिं रययामय-घंट-सुत्त-रज्जुग वरकंचण-खइय-नत्था-पग्गहोग्ग-हियएहिं, नीलुप्पल-कयाभेलएहिं, पवरगोण-जुवाणएहिं नाणा-मणि-कणग-घंटिया-जाल-परिगयं सुजाय-जुग-जुत्त-उज्जुग-पसत्थ-सुविरइय-निम्मियं पवर-लक्खणोववेयं जुत्तामेव धम्मियं जाण-प्पवरं उवडुवेह, उवडुवित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह” ॥ २०६ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासकः कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दापयति, शब्दापयित्वा एवमवादीत्—“क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाः! लघुकरणयुक्तयौगिकसमखुरवालिधानसमलिखित-शृङ्गकाभ्यां जाम्बूनदमयकलापयोक्त्रप्रतिविशिष्टाभ्यां रजतमयघण्टसूत्र रज्जुकवरकाञ्चनखचितनस्ता-प्रग्रहावगृहीतकाभ्यां नीलोत्पल कृताऽऽपीडकाभ्यां प्रवरगो युवाभ्यां नानामणि-कनकघण्टिकाजाल-परिगतं सुजातयुगयुक्तर्जुकप्रशस्तसुविरचितनिर्मितं प्रवरलक्षणोपेतं युक्तमेव धार्मिकं यानप्रवरमुपस्थापयत, उपस्थाप्य ममैतामाज्ञप्तिकां प्रत्यर्पयत ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्ते समणोवासए—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने, कोडुम्बियपुरिसे सद्दवेइ—कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया, सद्दवित्ता एवं वयासी—और बुलाकर इस प्रकार कहा—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया!—हे देवानुप्रियो! शीघ्र ही, लहुकरण—शीघ्रगामी, जुत्तजोइय—ऐसे बैलों से युक्त, समखुरवालिहाण समलिहिय सिंगएहिं—जिनके खुर तथा पूंछें एक

समान हों और सींग रंगे हुए हों, जंबूणयामय कलाव जोत्त पइविसिद्धएहिं—कंठाभरण सुवर्णमय तथा रस्सियां सुनहरे तारों—से मढी हुई हों, रययामयघंट सुत्त रज्जुग वरकंचण खइय नत्थापग्गहोग्गहिय-एहिं—चांदी के घंटे सूत की डोरियों के साथ बंधे हुए तथा नकेल सुवर्ण से मढी हुए हों—नीलुप्पल-कयामेलएहिं—मस्तिष्क पर नीले कमल सजे हुए हों—पवरगोणजुवाणएहिं—तथा किशोर आयु हों, ऐसे बैलों से युक्त, नाणामणिकणग घंटिया जाल परिगयं सुजाय जुग जुत्त उज्जुग पसत्थ सुविरइय निम्मियं—नाना मणियों से मंडित और घंटियों से युक्त अच्छी लकड़ी के युग अर्थात् जुए वाले, पवरलक्खणोववेयं—उत्तम लक्षणों से युक्त, धम्मियं जाण प्पवरं—धर्म-क्रिया के योग्य श्रेष्ठ रथ को, उवड्डवेह—उपस्थित करो। उवड्डवित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह—मेरी इस प्रकार की आज्ञा को पूरी करके मुझे सूचना दो।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा—“हे देवानुप्रियो! शीघ्र ही तेज चलने वाला रथ सजाओ। उसमें नई उमर के ऐसे उत्तम बैलों की जोड़ी जोतना, जिनके खुर तथा पूंछ एक ही रंग के हों। सींग विभिन्न रंगों से रंगे हुए हों। उनके गले में आभूषण पहनाना। नाक की (नकेल) रस्सियों को भी सुवर्ण के तागों से सुशोभित करना। मस्तक नीले कमलों से सजे हों। रथ नाना प्रकार की मणियों से मंडित हो। युग (जुआ) उत्तम लकड़ी का बना हुआ हो। बनावट समीचीन, ऋजु तथा प्रशस्त हो। धर्मक्रिया के लिए उपयुक्त ऐसे उत्तम रथ को उपस्थित करो और आज्ञा का पालन करके मुझे सूचना दो।”

मूलम्—तए णं ते कोडुम्बिय-पुरिसा जाव पच्चप्पिणंति ॥ २०७ ॥

छाया—ततः खलु ते कौटुम्बिकपुरुषाः यावत्प्रत्यर्पयन्ति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, ते कोडुम्बिय-पुरिसा जाव पच्चप्पिणंति—उन कौटुम्बिक-पुरुषों—सेवकों ने आज्ञा पालन करके सूचना दी।

भावार्थ—कौटुम्बिक-पुरुषों ने आज्ञा पूरी करके सद्दालपुत्र को सूचना दी।

मूलम्—तए णं सा अग्गिमित्ता भारिया ण्हाया जाव पायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं जाव अप्पमहग्घाभरणालं कियसरीरा चेडिया-चक्कवाल-परिकिण्णा धम्मियं-जाणप्पवरं दुरुहइ, दुरुहित्ता पोलासपुरं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव सहस्सम्बवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता चेडियाचक्कवालपरिवुडा जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो जाव वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता नच्चासन्ने नाइदूरे जाव पज्जलिउडा ठिइया चेव पज्जुवासइ ॥ २०८ ॥

छाया—ततः खलु साऽग्निमित्रा भार्या स्नाता यावत् प्रायश्चित्ता शुद्धात्मवेध्याणि यावदल्प-
महार्घाभरणालंकृतशरीरा चेटिका-चक्रवाल परिकीर्णा धार्मिकं यानप्रवरं दूरोहति, दुरुह्य पोलासपुरं
नगरं मध्यमध्वेन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव सहस्राप्रवणमुद्यानं स्तेनैवोपगच्छति, उपागत्य धार्मिकाद्
यानप्रवरात् प्रत्यवरोहति, प्रत्यवरुह्य चेटिका-चक्रवालपरिवृत्ता येनैव श्रमणो भगवान्
महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य त्रिकृत्वो यावद्वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य नात्यासने
नातिदूरे यावत्प्राञ्जलिपुटा स्थितैव पर्युपास्ते ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, सा अग्निमित्रा भारिया ण्हाया—उस अग्निमित्रा भार्या ने स्नान
किया, जाव पायच्छित्ता—यावत् प्रायश्चित्त अर्थात् पाप नाशक कर्म किए, सुद्धप्पावेसाइं—शुद्ध तथा
सभा में प्रवेश करने योग्य उत्तम वस्त्र धारण किए, जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा—यावत् अल्प
भार तथा बहुमूल्य आभूषणों से अपने शरीर को आभूषित किया, चेडिया-चक्कवाल परिकिण्णा—
चेटिका चक्रवाल, दासी समूह से घिरी हुई, वह अग्निमित्रा, धम्मियं जाण-प्पवरं दुरुहइ—धार्मिक यान
श्रेष्ठ पर सवार हुई, दुरुहित्ता—सवार होकर, पोलासपुरं नगरं मज्झं-मज्झेणं—पोलासपुर नगर के
बीचों-बीच, निग्गच्छइ—निकली, निग्गच्छित्ता—निकलकर, जणेव सहससम्बवणे उज्जाणे, जहां
सहस्राप्रवण उद्यान था, तेणेव—वहां, उवागच्छइ—आई, उवागच्छित्ता—आकर, धम्मियाओ
जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ—उस धार्मिक यान-प्रवर-रथ से नीचे उतरी, पच्चोरुहित्ता—उतरकर, चेडिया
चक्कवाल परिवुडा—दासी-समूह से घिरी हुई, जेणेव समणे भगवं, महावीरे—जहां श्रमण भगवान्
महावीर थे, तेणेव उवागच्छइ—वहां आई, उवागच्छित्ता—आकर, तिक्खुत्तो जाव वंदइ नमंसइ—तीन
बार यावत् वन्दना नमस्कार किया, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके, नच्चासने नाइदूरे—न
तो बहुत समीप और न ही बहुत दूर, जाव पज्जलिउडा—यावत् प्राञ्जलिपुट होकर अर्थात् हाथ जोड़े
हुए, ठिइया चेव पज्जुवासइ—खड़ी-खड़ी पर्युपासना करने लगी ।

भावार्थ—अग्निमित्रा भार्या ने स्नान किया, शुद्ध तथा सभा में प्रवेश करने योग्य उत्तम वस्त्र
धारण किए यावत् अल्प भार किन्तु बहुमूल्य आभूषणों से अपने शरीर को आभूषित किया । दासी
समूह से घिरी हुई धार्मिक रथप्रवर पर सवार हुई तथा पोलासपुर नगर के बीच होती हुई सहस्राप्रवण
उद्यान में पहुंची । रथ से उतरकर चेटि-परिवार से घिरी हुई भगवान महावीर के पास पहुंची । भगवान्
को तीन बार वन्दना नमस्कार किया, न बहुत समीप न अति दूर खड़ी हुई और हाथ जोड़कर उपासना
करने लगी ।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे अग्निमित्राए तीसे य जाव धम्मं कहेइ ॥ २०६ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽग्निमित्रायै तस्यां च यावद् धर्मं कथयति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने,

अग्निमित्राए—अग्निमित्रा को, तीसे य जाव धम्मं कहेइ—उस महती परिषद् में यावत् धर्मोपदेश किया।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर ने अग्निमित्रा को उस महती परिषद् में धर्मोपदेश किया।

मूलम्—तए णं सा अग्निमित्रा भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हड्ड-तुड्डा समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—“सद्दहामि णं, भंते! निग्गंथं पावयणं जाव से जहेयं तुब्भे वयह, जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे उग्गा भोगा जाव पव्वइया, नो खलु अहं तहा संचाएमि देवाणुप्पियाणं अंतिए मुण्डा भवित्ता जाव अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त-सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहि-धम्मं पडिवज्जिस्सामि।” “अहासुहं, देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह” ॥ २१० ॥

छाया—ततः खलु सा अग्निमित्रा भार्या श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य हृष्ट-तुष्टा श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य एवमवादीत्—“श्रद्धामि खलु भदन्त! नैर्ग्रन्थं प्रवचनं यावत् तद् यथैतद् यूयं वदथ। यथा खलु देवानुप्रियाणामन्तिके बहव उग्रा भोगा यावत् प्रव्रजिताः, नो खल्वहं तथा शक्नोमि देवानुप्रियाणामन्तिके मुण्डा भूत्वा यावद्, अहं खलु देवानुप्रियाणामन्तिके पञ्चाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं गृहि-धर्मं प्रतिपत्त्ये।” “यथा-सुखं देवानुप्रिये! मा प्रतिबन्धं कुरु।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, सा अग्निमित्रा भारिया—वह अग्निमित्रा भार्या, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए—श्रमण भगवान् महावीर के पास, धम्मं सोच्चा निसम्म हड्ड-तुड्डा—धर्मोपदेश सुनकर हृष्ट-तुष्ट हुई और, समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार बोली—सद्दहामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं—हे भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा करती हूँ, जाव से जहेयं तुब्भे वयह—यावत् जैसे आप कहते हैं वह यथार्थ है, जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए—जिस प्रकार देवानुप्रिय के पास, बहवे उग्गा भोगा—बहुत से उग्रवंशी, भोगवंशी, जाव पव्वइया—यावत् प्रव्रजित-दीक्षित हुए हैं, नो खलु अहं तहा संचाएमि—मैं उस प्रकार समर्थ नहीं हूँ कि, देवाणुप्पियाणं अंतिए मुण्डा भवित्ता—देवानुप्रिय के पास मुण्डित हो सकूँ, जाव अह णं—यावत् मैं, देवाणुप्पियाणं अंतिए—देवानुप्रिय के पास, पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं—पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षा व्रत रूप, दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि—बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को अङ्गीकार करूंगी, अहासुहं देवाणुप्पिया!—हे देवानुप्रिये ! तुम्हें जिस तरह सुख हो, मा पडिबंधं करेह—विलम्ब मत करो।

भावार्थ—श्रमण भगवान् महावीर के धर्मोपदेश को सुनकर अग्निमित्रा भार्या अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया और कहा—हे भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करती हूँ। जिस तरह आप कहते हैं, यह उसी प्रकार है। आप देवानुप्रिय के पास जिस तरह बहुत से उग्रवंशी यावत् भोगवंशी प्रव्रजित-दीक्षित हो चुके हैं मैं उस प्रकार दीक्षित होने में समर्थ नहीं हूँ। मैं आप से पांच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रतरूप बारह प्रकार के गृहस्थ-धर्म को स्वीकार करूंगी।” भगवान् ने कहा—“जैसे तुम्हें सुख हो। विलम्ब मत करो।”

मूलम्—तए णं सा अग्निमित्रा भारिया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खा-वइयं दुवालस-विहं सावग-धम्मं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता तमेव धम्मियं जाण-प्पवरं दुरुहइ दुरुहित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ॥ २११ ॥

छाया—ततः खलु साऽग्निमित्रा भार्या श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके पंचाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं श्रावकधर्मं प्रतिपद्यते। प्रतिपद्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा, नमस्कृत्य तदेव धार्मिकं यानप्रवरं दूरोहति, दूरुह्य यामेव दिशं प्रादुर्भूता तामेव दिशं प्रतिगता।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, सा अग्निमित्रा भार्या—उस अग्निमित्रा भार्या ने, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए—श्रमण भगवान् महावीर के पास, पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं—पांच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप, दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ—बारह प्रकार के श्रावक धर्म को ग्रहण किया, पडिवज्जित्ता—ग्रहण करके, समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना नमस्कार किया, वंदित्ता नमंसित्ता—वन्दना नमस्कार करके, तमेव धम्मियं जाणप्पवरं दुरुहइ—उसी धार्मिक रथ पर सवार हुई, दुरुहित्ता—सवार होकर, जामेव दिसं पाउब्भूया—जिस दिशा से आई थी, तामेव दिसं पडिगया—उसी दिशा में चली गई।

भावार्थ—उस अग्निमित्रा भार्या ने श्रमण भगवान् महावीर के पास पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को अङ्गीकार किया। श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार किया और उसी धार्मिक रथ पर सवार होकर जिस दिशा से आई थी उसी दिशा में चली गई।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ पोलास पुराओ नयराओ सहस्संबवणाओ, पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ ॥ २१२ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचित् पोलासपुरात् नगरात् सहस्राप्रवणात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिर्जनपदविहारं विहरति।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, अत्रया कयाइ—एक दिन, पोलास पुराओ नयराओ—पोलासपुर नगर, सहस्संबवणाओ—सहस्राश्रवण से, पडिनिक्खमइ—विहार कर गए, पडिनिक्खमिन्ता—विहार करके, बहिया जणवय विहारं विहरइ—बाहर के जनपदों में विचरने लगे।

भावार्थ—उसके बाद एक दिन श्रमण भगवान् महावीर पोलासपुर के सहस्राश्रवण उद्यान से विहार कर गए और बाहर के जनपदों में विचरने लगे।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए जाए अभिगए—जीवा जीवे जाव विहरइ ॥ २१३ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासकोऽभिगतजीवाजीवो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र, अभिगय—जीवाजीवे—जीव-अजीव का ज्ञाता होकर, जाव विहरइ—यावत् विचरने लगा।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमणोपासक सद्दालपुत्र जीवाजीव का ज्ञाता बनकर जीवन व्यतीत करने लगा।

मूलम्—तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे - “एवं खलु सद्दालपुत्ते आजीविय-समयं वमिन्ता समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठिंपडिवन्ने । तं गच्छामि णं सद्दालपुत्तं आजीविओवासयं समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठिं वामेत्ता पुणरवि आजीविय-दिट्ठिं गेण्हावित्तए” ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहिन्ता आजीविय-संघ-सम्परिवुडे जेणेव पोलासपुरे नयरे, जेणेव आजीविय सभा, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आजीवियसभाए भण्डग-निक्खेवं करेइ, करित्ता कइवएहिं आजीविएहिं सद्धिं जेणेव सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छइ ॥ २१४ ॥

छाया—ततः खलु स गोसालो मंखलि-पुत्रोऽस्यां कथायां लब्धार्थः सन्—“एवं खलु सद्दालपुत्र आजीविकसमयं वमित्वा श्रमणानां निर्ग्रन्थानां दृष्टिं प्रतिपन्नः, तद् गच्छामि खलु सद्दालपुत्रमा-जीविकोपासकं श्रमणानां निर्ग्रन्थानां दृष्टिं वामयित्वा पुनरप्याजीविकदृष्टिं ग्राहयितुम्” इति कृत्वा, एवं सम्प्रेक्षते, सम्प्रेक्ष्याजीविकसंघं संपरिवृतो येनैव पोलासपुरं नगरं येनैवाऽऽजीविकसभा तेनैवोपागच्छति, उपागत्याऽऽजीविकसभायां भाण्डकनिक्षेपं करोति, कृत्वा कतिपयैराजीविकैः सार्द्धं येनैव सद्दालपुत्रः श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से गोसाले मंखलिपुत्ते—वह गोशालक मंखलिपुत्र, इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे—इस वृत्तान्त को सुनकर, एवं खलु सद्दालपुत्ते—कि इस प्रकार सद्दालपुत्र ने,

आजीवियसमयं वमिता—आजीविक सिद्धान्त को त्यागकर, समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठं पडिवन्ने—श्रमण निर्ग्रन्थों की मान्यता को अङ्गीकार कर लिया है, तं गच्छामि णं—इसलिए मैं जाता हूँ और, सद्दालपुत्ते आजीविओवासयं—आजीविकोपासक सद्दालपुत्र को, समणाणं निग्गंथाणं दिट्ठं वामेत्ता—श्रमण निर्ग्रन्थों की मान्यता छोड़कर, पुणरवि—पुनः, आजीवियदिट्ठं गेण्हावित्तए—आजीविक दृष्टि ग्रहण कराता हूँ, ति कट्टु एवं संपेहेइ—उसने इस प्रकार विचार किया, संपेहिता—विचार करके, आजीवियसंघसम्परिवुडे—आजीविक संघ के साथ, जेणेव पोलासपुरे नयरे—जहाँ पोलासपुर नगर था, जेणेव आजीवियसभा—और जहाँ आजीविक सभा थी—तेणेव उवागच्छइ—वहाँ आया, उवागच्छिता—आकर, आजीवियसभाए—आजीविक सभा में, भण्डग निक्खेवं करेइ—भाण्ड-उपकरण रख दिए, करेत्ता—ऐसा करके, कइवएहिं आजीविएहिं सद्धिं—कुछ आजीविकों के साथ, जेणेव सद्दालपुत्ते समणोवासए—जहाँ सद्दालपुत्र श्रमणोपासक रहता था, तेणेव उवागच्छइ—वहाँ पहुँचा।

भावार्थ—कुछ दिन बीतने पर मंखलिपुत्र गोशालक ने यह समाचार सुना कि सद्दालपुत्र आजीविक सिद्धान्त को छोड़कर श्रमण निर्ग्रन्थों का अनुयायी बन गया है। उसने मन ही मन विचार किया कि मुझे पोलासपुर जाकर सद्दालपुत्र को पुनः आजीविक सम्प्रदाय में लाना चाहिए। यह विचार कर आजीविक संघ के साथ वह पोलासपुर पहुँचा और आजीविक सभा में अपने भाण्डोपकरण रखकर कुछ आजीविकों के साथ सद्दालपुत्र श्रमणोपासक के पास आया।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलि-पुत्तं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता नो आढाइ, नो परिजाणाइ, अणाढायमाणे, अपरिजाणमाणे तुसिणीए संचिट्ठइ ॥ २१५ ॥

छाया : ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासको गोशालं मंखलिपुत्रमायातं घश्यति, दृष्ट्वा नो आद्रियते, नो परिजानाति, अनाद्रियमाणोऽपरिजानन् तूष्णीकः सन् तिष्ठति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्ते समणोवासए—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने, गोसालं मंखलिपुत्तं एज्जमाणं पासइ—मंखलिपुत्र गोशाल को आते हुए देखा, पासित्ता—देखकर, नो आढाइ नो परिजाणाइ—न तो आदर ही किया और न पहचाना, अणाढायमाणे अपरिजाणमाणे—बिना आदर किए तथा बिना पहचाने, तुसिणीए संचिट्ठइ—चुपचाप बैठा रहा।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मंखलिपुत्र गोशाल को आते हुए देखा किन्तु न तो उसका आदर किया और न ही पहचाना (अपरिचित के समान उपेक्षा भाव रखा) अपितु चुपचाप बैठा रहा।

मूलम्—तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तेणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणे

अपरिजाणिज्जमाणे पीढ-फलक-सिज्जा-संधारट्ठयाए समणस्स भगवओ महावीरस्स गुण-कित्तणं करेमाणे सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—“आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं मह्म-माहणे” ? ॥ २१६ ॥

छाया—ततः खलु स गोशालो मंखलिपुत्रः सद्दालपुत्रेण श्रमणोपासकेनानाद्रियमाणो-
ऽपरिज्ञायमानः पीढ-फलक-शय्या-संस्तारार्थं श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य गुण कीर्तनं कुर्वाणः
सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“आगतः खलु देवानुप्रिय ! इह महामाहनः ?”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से गोशाले मंखलिपुत्ते—वह मंखलिपुत्र गोशाल, सद्दालपुत्तेणं
समणोवासएणं—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र द्वारा, अणाढाइज्जमाणे अपरिजाणिज्जमाणे—बिना आदर
तथा परिज्ञान प्राप्त किए, पीढ-फलक-सिज्जा-संधारट्ठयाए—पीढ, फलक, शय्या और संस्तारक के
लिए, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर का, गुण-कित्तणं करेमाणे—गुण
कीर्तन करता हुआ, सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—सद्दालपुत्र श्रमणोपासक को इस प्रकार
बोला—आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महामाहणे—हे देवानुप्रिय ! क्या यहां महामाहन आए थे ?”

भावार्थ—मंखलिपुत्र गोशाल को सद्दालपुत्र की ओर से कोई सन्मान-सत्कार या परिज्ञान प्राप्त
नहीं हुआ। फिर भी उसने पीढ, फलक शय्या तथा संस्तारक आदि प्राप्त करने के लिए पूछा—“क्या
यहाँ महामाहन आए थे ?

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासाए गोशालं मंखलिपुत्त एवं वयासी—“के
णं, देवाणुप्पिया ! महामाहणे ?” ॥ २१७ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासको गोशालं मंखलिपुत्रमेवमवादीत्- ‘कः खलु
देवानुप्रिय ! महामाहनः ?”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्ते समणोवासाए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र, गोशालं
मंखलिपुत्तं—गोशाल मंखलिपुत्र से, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—के णं देवाणुप्पिया ! महामाहणे ?
—हे देवानुप्रिय ! महामाहन कौन हैं ?

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मंखलिपुत्र गोशालक से पूछा—“हे देवानुप्रिय ! महामाहन
कौन हैं ? अर्थात् आपका अभिप्राय किस से है ?”

मूलम्—तए णं से गोशाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—“समणे
भगवं महावीरे महामाहणे” । “से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ—समणे भगवं
महावीरे महामाहणे ।”

“एवं खलु, सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महामाहणे उप्पन्तणाण-दंसणधरे जाव महिय-पूइए जाव तच्चकम्म-संपया-संपउत्ते। से तेणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महामाहणे”। “आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महागोवे” ? “के णं, देवाणुप्पिया ! महागोवे” ! “समणे भगवं महावीरे महागोवे”। “से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! जाव महागोवे ?”

“एवं खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे खज्जमाणे छिज्जमाणे भिज्जमाणे लुप्पमाणे विलुप्पमाणे धम्ममएणं दण्डेण सारक्खमाणे संगोवेमाणे, निव्वाण-महावाडं साहत्थिं संपावेइ। से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे-महा-गोवे।” “आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महा-सत्थवाहे ?”

“के णं, देवाणुप्पिया ! महासत्थवाहे ?” “सद्दालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे।” “से केणट्ठेणं ?” “एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे जाव विलुप्पमाणे धम्ममएणं पंधेणं सारक्खमाणे निव्वाण-महा-पट्टणाभिमुहे साहत्थिं संपावेइ। से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे।” “आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महा-धम्मकही ?” के णं देवाणुप्पिया ! महाधम्मकही ?”

“समणे भगवं महावीरे महा-धम्मकही।” “से केणट्ठेणं समणे भगवं महावीरे महा-धम्मकही ?”

“एवं खलु, देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे महइ-महालयंसि संसारंसि बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे खज्जमाणे छिज्जमाणे भिज्जमाणे लुप्पमाणे विलुप्पमाणे उम्मग्ग-पडिवन्ने सप्पहविप्पणट्ठे मिच्छत्त-बलाभिभूए अट्ठविह-कम्म-तम-पडल-पडोच्छन्ने, बहूहिं अट्ठेहि य जाव वागरणेहि य चाउरंताओ संसारकंताराओ साहत्थिं नित्थारेइ। से तेणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ? एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही।” “आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महानिज्जामए ?”

“के णं, देवाणुप्पिया ! महा-निज्जामए ? “समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए।” “से केणट्ठेणं ?”

“एवं खलु, देवाणुष्पिया ! समणे भगवं महावीरे संसार-महा-समुद्रे बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे जाव विलुप्पमाणे ४ बुड्डमाणे निबुड्डमाणे उष्पियमाणे धम्ममईए नावाए निव्वाण-तीराभिमुहे साहत्थिं संपावेइ। से तेणट्ठेणं, देवाणुष्पिया ! एवं वुच्चइ समणे भगवं महावीरे महा-निज्जामए” ॥ २१८ ॥

छाया—ततः खलु स गोशालो मङ्गलिपुत्रः सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहनः !” “तत्केनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहनः ?” “एवं खलु सद्दालपुत्र ! श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहन उत्पन्न-ज्ञानदर्शनधरो यावन्महितपूजितो यावत्तथ्यकर्म-सम्पदा-सम्प्रयुक्तः, तत्तेनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महामाहनः।” “आगतः खलु, देवानुप्रिय ! इह महागोपः ?” “कः खलु, देवानुप्रिय !” इह महागोपः ?” “श्रमणो भगवान् महावीरो महागोपः ?” “तत्केनार्थेन देवानुप्रिय ! यावन्महागोपः ?” “एवं खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान् महावीरः संसाराटव्यां बहून् जीवान् नश्यतो विनश्यतः खाद्यमानान् छिद्यमानान् भिद्यमानान् लुप्यमानान् विलुप्यमानान् धर्ममयेन दण्डेन संरक्षन् संगोपयन् निर्वाण-महावाटं स्वहस्तेन संप्रापयति, तत्तेनार्थेन सद्दालपुत्र ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महागोपः।” “आगतः खलु देवानुप्रिय ! इह महासार्थवाहः ?” “कः खलु देवानुप्रिय ! महासार्थवाहः ?” “सद्दालपुत्र ! श्रमणो भगवान् महावीरो महासार्थवाहः।” “तत्केनार्थेन ?” “एवं खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान् महावीरः संसाराटव्यं बहून् जीवान् नश्यतो विनश्यतो यावद् विलुप्यमानान् धर्ममयेन पथा संरक्षन् निर्वाणमहापत्तनाभिमुखे स्वहस्तेन सम्प्रापयति, तत्तेनार्थेन सद्दालपुत्र ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महासार्थवाहः।” “आगतः खलु देवानुप्रिय। इह महाधर्मकथी ?” “कः खलु देवानुप्रिय ! महाधर्मकथी ?” “श्रमणो भगवान् महावीरो महाधर्मकथी।” “तत्केनार्थेन श्रमणो भगवान् महावीरो महाधर्मकथी ?” “एवं खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान् महावीरो महातिमहालये संसारे बहून् जीवान् नश्यतो विनश्यतः खाद्यमानान् छिद्यमानान् भिद्यमानान् लुप्यमानान् विलुप्यमानान् उन्मार्गप्रतिपन्नान् सत्पथविप्रनष्टान् मिथ्यात्वबलाभिभूतानष्टविधकर्मतमः पटलप्रत्यवच्छन्नान् बहुभिर- र्थैश्च यावद् व्याकरणैश्च चातुरन्तात्संसारस्कान्तारात् स्वहस्तेन निस्तारयति, तत्तेनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महाधर्मकथी।” “आगतः खलु देवानुप्रिय ! इह महानिर्यामकः ?” “कः खलु, देवानुप्रिय !” “महानिर्यामकः ?” “श्रमणो भगवान् महावीरो महानिर्यामकः।” “तत्केनार्थेन ?” एवं खलु देवानुप्रिय ! श्रमणो भगवान् महावीरः संसारमहासमुद्रे बहून् जीवान् नश्यतो विनश्यतो यावद् विलुप्यमानान् ब्रुडतो निब्रुडत उल्लवमानान् धर्ममय्या नावा निर्वाणतीराभिमुखे स्वहस्तेन सम्प्रापयति, तत्तेनार्थेन देवानुप्रिय ! एवमुच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो महानिर्यामकः।”

शब्दार्थ—ताए णं—तदनन्तर, से गोशाले मंखलिपुत्ते—वह मंखलिपुत्र गोशालक, सद्दालपुत्तं समणोवासयं—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—समणे भगवं महावीरे महामाहणे—श्रमण भगवान् महावीर महामाहन हैं, से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ—हे देवानुप्रिय ! यह किसलिए कहा जाता है कि, समणे भगवं महावीरे महामाहणे—श्रमण भगवान् महावीर महामाहन हैं ?

गोशालक ने कहा—एवं खलु सद्दालपुत्ता !—हे सद्दालपुत्र !, समणे भगवं महावीरे महामाहणे—श्रमण भगवान् महावीर ही महामाहन हैं, उप्पन्न णाणदंसणधरे—अप्रतिहत केवल ज्ञान और केवल दर्शन के धारण करने वाले, जाव—यावत्, महिय पूइए—महित तथा पूजित, जाव—यावत्, तच्च कम्म संपया संपउत्ते—सफल प्रदान करने वाली कर्तव्यरूपी सम्पत्ति से युक्त हैं, से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया !, एवं वुच्चइ—हे देवानुप्रिय ! इसी अभिप्राय से कहा जाता है कि, समणे भगवं महावीरे महामाहणे—श्रमण भगवान् महावीर महामाहन हैं।

आगए णं देवाणुप्पिया इहं महागोवे ? हे देवानुप्रिय !, क्या यहां महागोप—(गायों अर्थात् प्राणियों के रक्षकों में सबसे बड़े) आए थे ?, के णं देवाणुप्पिया ! महागोवे ?—हे देवानुप्रिय ! महागोप कौन हैं ?, समणे भगवं महावीरे महागोवे—(गोशालक ने कहा)—श्रमण भगवान् महावीर महागोप हैं।

से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया !, जाव महागोवे—(सद्दालपुत्र ने पूछां)—हे देवानुप्रिय ! किस कारण से यावत् श्रमण भगवान् महावीर महागोप हैं ?, एवं खलु देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! यह इस अभिप्राय से है, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, संसाराडवीए—संसार अटवी में, बहवे जीवे—बहुत से जीव, नस्समाणे—जो नष्ट हो रहे हैं, विणस्समाणे—विनष्ट हो रहे हैं, खज्जमाणे—खाए जा रहे हैं, छिज्जमाणे—छेदन किए जा रहे हैं, भिज्जमाणे—भेदन किए जा रहे हैं, लुप्पमाणे—विकलाङ्ग किए जा रहे हैं, विलुप्पमाणे—और घायल किए जा रहे हैं, उन सबकी, धम्ममएणं दण्डेणं—धर्म रूपी दण्ड द्वारा, सारक्खमाणे—रक्षा करते हैं, संगोवेमाणे—गोपन करते हैं, निव्वाणमहावाडं—निर्वाण रूप विशाल वाड़े में, साहत्थिं संपावेइ—अपने हाथ से पहुँचाते हैं, से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ—हे सद्दालपुत्र ! इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि, समणे भगवं महावीरे महागोवे—श्रमण भगवान् महावीर महागोप हैं।, आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महासत्थवाहे ?—हे देवानुप्रिय ! क्या महासार्थवाह यहां आए थे।

के णं देवाणुप्पिया ! महासत्थवाहे ?—हे देवानुप्रिय ! महासार्थवाह कौन हैं ? सद्दालपुत्र ने पूछा। सद्दालपुत्ता !, समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे—हे सद्दाल पुत्र ! श्रमण भगवान् महावीर महासार्थवाह हैं, से केणट्ठेणं ? एवं खलु देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! यह किस कारण से कहा

जाता है ? (गोशालक ने उत्तर दिया)—समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, संसाराडवीए—संसार अटवी में, बहवे जीवे—बहुत से जीव, नस्समाणे—जो कि नष्ट हो रहे हैं, विणस्समाणे—विनष्ट हो रहे हैं, जाव—यावत्, विलुप्पमाणे—घायल किए जा रहे हैं, (उन सब को) धम्ममएणं पंथेणं सारक्खमाणे—धर्मरूपी मार्ग द्वारा रक्षा करते हैं, निव्वाणमहापट्टणाभिमुहे—निर्वाण-मोक्षरूपी महानगर की ओर उन्मुख करते हैं, साहत्थिं संपावेइ—अपने हाथ से उन्हें वहाँ पहुँचाते हैं, से तेणट्ठेणं सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ—हे सद्दालपुत्र ! इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि, समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे—श्रमण भगवान् महावीर महासार्थवाह हैं।

आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महाधम्मकही—हे देवानुप्रिय ! क्या यहां महाधर्मकथी आए थे ? के णं देवाणुप्पिया ! महाधम्मकही ?—हे देवानुप्रिय ! महाधर्मकथी कौन हैं ?, समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही—श्रमण भगवान् महावीर महाधर्मकथी हैं, से केणट्ठेणं समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही ? किस कारण से श्रमण भगवान् महावीर महाधर्मकथी हैं ? एवं खलु देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! इस प्रकार, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, महइमहालयंसि संसारंसि—इस अत्यन्त विशाल संसार से, बहवे जीवे—बहुत से जीव, नस्समाणे—जो नष्ट हो रहे हैं, विणस्समाणे—विनष्ट हो रहे हैं, खज्जमाणे ४—खाए जा रहे हैं ४, उम्मग्गपडिवन्ने—उन्मार्ग पर चल रहे हैं, सप्पहविप्पणट्ठे—सन्मार्ग से दूर हो रहे हैं, मिच्छत्तबलाभिभूए—मिथ्यात्व में फँस रहे हैं, अट्ठविह-कम्म तम-पडल-पडोच्छन्ने—अष्टविध कर्मरूपी अन्धकार पटल से घिरे हुए हैं (उन्हें), बहूहिं अट्ठेहि य—अनेक प्रकार की बातों, जाव—यावत्, वागरणेहि य—व्याख्याओं द्वारा, चाउरंताओ संसारकंताराओ—चार गतिरूप संसाररूपी अरण्य से, साहत्थिं नित्थारेइ—अपने हाथ से पार करते हैं, से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ—हे देवानुप्रिय ! यह इसी अभिप्राय से कहा जाता है कि, समणे भगवं महावीरे महाधम्मकही—श्रमण भगवान् महावीर महाधर्मकथी हैं।

आगए णं, देवाणुप्पिया ! इहं महा-निज्जामए ?—हे देवानुप्रिय ! क्या यहां पर महानिर्यामक (महाकर्णधार) आए थे ?, के णं देवाणुप्पिया ! महानिज्जामए—हे देवानुप्रिय ! महानिर्यामक-महाकर्णधार कौन हैं ?, समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए—श्रमण भगवान् महावीर महाकर्णधार हैं, से केणट्ठेणं ? यह किस अभिप्राय से कहते हो (कि श्रमण भगवान् महावीर महानिर्यामक हैं), एवं खलु देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! यह बात इस अभिप्राय से कही जाती है, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, संसारमहासमुद्वे—संसाररूपी महान् समुद्र में, बहवे जीवे—बहुत से जीवों को, नस्समाणे—जो नष्ट हो रहे हैं, विणस्समाणे—विनष्ट हो रहे हैं, जाव विलुप्पमाणे—यावत् जो घायल किए जा रहे हैं, बुड्डमाणे—डूब रहे हैं, निबुड्डमाणे—गोते खा रहे हैं, उप्पियमाणे—तथा बह रहे हैं, धम्ममईए नावाए—धर्मरूपी नाव के द्वारा,

निव्वाणतीराभिमुहे—निर्वाणरूपी किनारे पर, साहस्यिं संपावेइ—अपने हाथ से पहुँचाते हैं, से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ—हे देवानुप्रिय ! इसी अभिप्राय से यह कहा जाता है कि, समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए—श्रमण भगवान महावीर, महानिर्यामक—महाकर्णधार हैं !

भावार्थ—मंखलिपुत्र गोशालक ने श्रमणोपासक सद्दालपुत्र से कहा—कि श्रमण भगवान् महावीर महामाहन हैं !”

सद्दालपुत्र—“हे देवानुप्रिय ! किस अभिप्राय से श्रमण भगवान महावीर महामाहन हैं ?”

गोशालक—“क्योंकि भगवान महावीर अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन के धारक हैं। महित, पूजित यावत् तथ्य अर्थात् सफल कर्मसम्पदा के स्वामी हैं। इसीलिए मैं कहता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर महामाहन हैं।”

गोशालक—“क्या यहां महागोप आए थे ?”

सद्दालपुत्र—“हे देवानुप्रिय ! महागोप कौन हैं ?

गोशालक—“श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं।

सद्दालपुत्र—तुम यह किस अभिप्राय से कहते हो कि श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं ?”

गोशालक—“श्रमण भगवान महावीर संसार अटवी में नष्ट होते हुए, भटकते हुए, विविध कष्टों से पीड़ित होते हुए, विनष्ट होते हुए, छिन्न-भिन्न, क्षत् एवं विक्षत किए जाते हुए, प्राणियों को धर्मरूपी दण्ड लेकर रक्षा करते हैं, बचाते हैं और अपने हाथ से निर्वाणरूपी विशाल बाड़े में पहुँचाते हैं। इसीलिए मैं कहता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं।”

गोशालक—“सद्दालपुत्र ! क्या यहां महासार्थवाह आए थे ?”

सद्दालपुत्र—“हे देवानुप्रिय ! महासार्थवाह कौन हैं ?”

गोशालक—“श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं ?”

सद्दालपुत्र—“आप यह किस अभिप्राय से कहते हैं कि श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं ?”

गोशालक—“श्रमण भगवान महावीर संसार अटवी में भटकते हुए विविध प्रकार के कष्टों से पीड़ित क्षत-विक्षत, छिन्न-भिन्न प्राणियों को धर्मरूपी मार्ग पर पहुँचाते हैं और निर्वाणरूपी नगर की ओर ले जाते हैं। इसी अभिप्राय से मैं कहता हूँ कि श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह हैं।”

गोशालक—“क्या यहां महाधर्मकथी आए थे ?”

सद्दालपुत्र—“हे देवानुप्रिय ! महाधर्मकथी कौन हैं ?”

गोशालक—“श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं ?”

सद्दालपुत्र—“आप यह किस अभिप्राय से कहते हैं कि श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं ?”

गोशालक—“हे देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान महावीर इस विशाल संसार में भटकते हुए, पथभ्रष्ट, कुमारगामी, सन्मार्ग से भ्रष्ट, मिथ्यात्व में फँसे हुए तथा आठ प्रकार के कर्मरूपी अन्धकार से घिरे हुए प्राणियों को अनेक प्रकार की युक्तियों, उपदेशों यावत् व्याख्याओं द्वारा भयंकर अटवी के पार पहुंचाते हैं। इसी अभिप्राय से श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी कहे जाते हैं।

गोशालक—“क्या यहाँ (तुम्हारे पास) महानिर्यामिक आए थे ?”

सद्दालपुत्र—“हे देवानुप्रिय ! महानिर्यामिक कौन हैं ?”

गोशालक—“श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामिक हैं ?”

सद्दालपुत्र—“आप यह किस अभिप्राय से कहते हैं कि श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामिक हैं ?”

गोशालक—“हे देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान महावीर संसाररूपी महासमुद्र में नष्ट होते हुए, विनष्ट होते हुए, डूबते हुए, गोते खाते हुए और बहते हुए बहुत से जीवों को धर्मरूपी नौका द्वारा निर्वाणरूपी तट पर ले जाते हैं। इसलिए श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामिक अथवा महाकर्णधार कहे जाते हैं।”

टीका—“प्रस्तुत पाठ में गोशालक द्वारा की गई भगवान् महावीर की प्रशंसा का वर्णन है। उसने पाँच विशेषण दिये हैं और प्रत्येक विशेषण की व्याख्या करते हुए उसे महावीर के साथ घटाया है। वे विशेषण हैं—महामाहन, महागोप, महासार्थवाह, महाधर्मकथी और महानिर्यामिक। प्रत्येक की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार है—

१. महामाहन—इसकी विस्तृत व्याख्या पहले आ चुकी है। इसी अध्ययन के प्रारम्भ में देव ने सद्दालपुत्र को महामाहन का वर्णन करते हुए कहा था कि वे उत्पन्न ज्ञान और दर्शन के धारक हैं। यहाँ उत्पन्न शब्द का अर्थ अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन है। क्योंकि साधारण ज्ञान और दर्शन प्रत्येक प्राणी में सदा रहते हैं। जैन दर्शन में ज्ञान के पाँच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। इनमें से मति और श्रुत ज्ञान या अज्ञान रूप से प्रत्येक प्राणी में होते हैं। किन्तु अन्तिम तीन विशेष शुद्धि द्वारा किसी-किसी को ही होते हैं। अन्तिम केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट है। यहाँ उसी से अभिप्राय है। इसी प्रकार दर्शन के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। यहाँ केवल दर्शन से अभिप्राय है। देव ने कहा था—वे अतीत, वर्तमान और अनागत के ज्ञाता हैं। अरिहन्त हैं जिन हैं, केवली हैं, सर्वज्ञ-सर्वदशी हैं, त्रिलोक द्वारा वन्दित, पूजित तथा सेवित हैं। देव, मनुष्य तथा असुरों के वन्दनीय, अर्चनीय, पूजनीय, सम्मानीय कल्याण तथा मंगल रूप हैं। देवता स्वरूप हैं। उनके उपासनीय

हैं। तथ्य अर्थात् सफल चारित्र सम्पत्ति के स्वामी हैं। इन शब्दों की व्याख्या पिछली टीका में दी जा चुकी है। यहाँ भी गोशालक ने महामाहन शब्द की व्याख्या करते हुए इन्हीं बातों की ओर संकेत किया है।

महामाहन का दूसरा अर्थ है—मा हन (मत मारो) इस प्रकार का उपदेश देने वाले निर्ग्रन्थों के अग्रणी।

तीसरा अर्थ है श्रेष्ठ ब्राह्मण। जैन-शास्त्रों में ब्राह्मण का अर्थ है वह व्यक्ति जो ब्रह्मचर्य का धारक है। स्थूल रूप से ब्रह्मचर्य का अर्थ है काम-भोग एवं वासनाओं से विरक्ति। यह इसका निषेधात्मक अर्थ है। विधेयात्मक अर्थ है 'ब्रह्म' अर्थात् आत्मा में विचरण।

जैन धर्म में दोनों अर्थ लिए गये हैं, और उन्हीं के आधार पर 'ब्राह्मण' या 'माहन शब्द की व्याख्या की गई है। 'बंधचरेण बम्हणो' (देखिये उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २५)।

२. महागोप—दूसरे विशेषण के रूप में भगवान् महावीर को महागोप कहा गया है। इसका अर्थ है ग्वाला या रक्षक। संसार के प्राणी अनेक कष्टों से पीड़ित हैं। बलवान् प्राणी दुर्बल को सता रहा है, सिंह आदि माँसाहारी अन्य प्राणियों को खा जाते हैं। कोई मारा जा रहा है, कोई बाँधा जा रहा है, कोई काटा जा रहा है, कोई छेदा जा रहा है। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है। भगवान् महावीर हाथ में धर्म रूपी दण्ड लेकर प्राणियों को बुरे कर्मों से रोकते हैं और जिस प्रकार ग्वाला अपने डण्डे से पशुओं को हांकता हुआ बाड़े में पहुँचा देता है, इसी प्रकार भगवान् महावीर भी अपने सम्पर्क में आए हुए भव्य प्राणियों को मोक्ष रूपी बाड़े में पहुँचाते हैं, इसलिए वे महागोप कहे जाते हैं।

३. महासार्थवाह—तीसरा विशेषण है। सार्थ का अर्थ है 'काफिला' और 'सार्थवाह' का अर्थ है, काफिले का संचालन करने वाला उसका नेता। प्राचीन काल में व्यापारी, यात्री तथा अन्य लोग इकट्ठे होकर यात्रा किया करते थे। क्योंकि उन्हें घने जंगल पार करने पड़ते थे और वहाँ चोर, डाकू, हिंसक जीव तथा अन्य संकटों का सामना करना पड़ता था। अतः वे इकट्ठे होकर पूरी तैयारी के साथ चलते थे। उसका संचालन तथा सारी व्यवस्था किसी एक व्यक्ति के हाथ में रहती थी। उसी को सार्थवाह कहा जाता था। धार्मिक साहित्य में संसार को विशाल अटवी की उपमा दी जाती है। उसमें अनेक यात्री रास्ता भूल जाते हैं। चोर उन्हें लूट लेते हैं, डाकू मार डालते हैं, हिंसक प्राणी खा जाते हैं। सार्थवाह उन सबकी रक्षा करता हुआ उन्हें पार ले जाता है और नगर तक पहुँचा देता है। भगवान् महावीर को भी इसी प्रकार मोक्ष रूपी नगर तक पहुँचाने वाला सार्थवाह बताया गया है।

४. महाधर्म-कथी—चौथा विशेषण है। इसका अर्थ है धर्मोपदेशक ! भगवान् महावीर महान् धर्मोपदेशक थे। धर्मोपदेशक का कार्य है पथ-भ्रष्टों को सत्यपथ दिखाना। जो मिथ्यात्वरूपी अन्धकार में पड़े हुए हैं उन्हें प्रकाश देना तथा जीवन के उलझे हुए मार्ग को सुलझाना। भगवान् महावीर विविध

प्रकार के दृष्टान्त-कथाओं, व्याख्याओं तथा प्रश्नोत्तरों द्वारा सबको धर्म का रहस्य समझाया करते थे। इसलिए उन्हें महाधर्म-कथी कहा गया है।

५.- महानिर्यामिक—पाँचवां विशेषण है। इसका अर्थ है महाकर्णधार। संसार एक समुद्र के समान है, जहाँ अनेक प्राणी डूब रहे हैं, भंवर में फंसे हुए हैं। भगवान् महावीर उन्हें धर्म रूपी नौका द्वारा पार उतारते हैं। अतः वे महा-कर्णधार हैं।

उपरोक्त पाँच विशेषणों में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को उपस्थित किया गया है। महामाहन विशेषण में उनकी ज्ञान एवं चारित्र्य सम्पत्ति का वर्णन है। वहाँ वे सर्वोच्च आदर्श के रूप में उपस्थित होते हैं। महागोप विशेषण में वे रक्षक के रूप में सामने आए हैं। अज्ञानी जीव पशुओं के समान हैं। उन्हें धर्म रूपी दण्ड द्वारा इधर-उधर भटकने से रोकने वाला तथा उन्हें अपने इष्ट स्थान पर पहुँचाने वाला महागोप है। यहाँ धर्म को दण्ड की उपमा दी गई है। दण्ड कठोरता या हिंसा का सूचक होता है। किन्तु साधक को दूसरों के प्रति मृदु किन्तु अपने प्रति सदा कठोर रहना चाहिए। इसी का नाम अनुशासन है और अनुशासन के बिना जीवन का विकास नहीं हो सकता। तीसरे विशेषण में संसार को अटवी बताया गया है और जीव को उसमें भटकने वाला पथिक। मोक्ष को वह नगर जहाँ पहुँचना है। और महावीर को वहाँ पहुँचाने वाला सार्थवाह। यहाँ वे नेता या निर्यामिक के रूप में सामने आते हैं।

चौथे विशेषण में उन्हें धर्म-कथी कहा गया है। अज्ञानी जीव मिथ्यात्व रूपी अन्धकार में फंसे हुए हैं। सन्मार्ग छोड़कर कुमार्ग को पकड़े हुए हैं। धर्मोपदेशक अन्धकार को दूर करके सन्मार्ग को आलोकित करता है। यहाँ वे पथप्रदर्शक के रूप में सामने आते हैं। पाँचवें विशेषण में निर्यामिक अर्थात् कर्णधार से उपमा दी गई है। संसार समुद्र है, प्राणी उसमें गोते खा रहे हैं, भगवान् धर्मरूपी नौका के द्वारा उन्हें पार उतारते हैं। यहाँ उनका समुद्धारक रूप सामने आता है।

मूलम—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलि-पुत्तं एवं वयासी—“तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! इय-च्छेया जाव इय-निउणा, इय-नयवादी, इय-उवएसलद्धा, इय-विण्णाण-पत्ता, पभू णं तुब्भे मम धम्मयारिएणं धम्मोवएसएणं भगवया महावीरेणं सद्धिं विवादं करत्तेए ?”

“नो तिणट्ठे समट्ठे” !

“से केणट्ठेणं, देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ-नो खलु पभू तुब्भे मम धम्मयारिएणं जाव महावीरेणं सद्धिं विवादं करत्तेए ?”

“सद्दालपुत्ता ! से जहा नामए केइ पुरिसे तरुणे बलवं जुगवं जाव निउणसिण्पोवगए एगं महं अयं वा, एलयं वा, सूररं वा, कुक्कुडं वा, तित्तिरं वा, वट्टयं वा, लावयं वा, कवोयं वा, कविंजलं वा, वायसं वा, सेणयं वा हत्थंसि वा, पायंसि वा, खुरंसि वा, पुच्छंसि वा, पिच्छंसि वा, सिंगंसि वा, विसाणंसि वा, रोमंसि वा, जहिं-जहिं गिण्हइ, तहिं-तहिं निच्चलं निष्फंदं धरेइ । एवामेव समणे भगवं महावीरे ममं बहूहि अट्ठेहि य हेऊहि य जाव वागरणेहि य जहिं-जहिं गिण्हइ, तहिं-तहिं निष्पट्ठ पसिण-वागरणं करेइ । से तेणट्ठेणं, सद्दालपुत्ता ! एवं वुच्चइ नो खलु पभू अहं तव धम्मयारिएणं जाव महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए” ॥ २१६ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासको गोशालं मङ्गलिपुत्रमेवमवादीत्—“यूयं खलु देवानुप्रियाः ! इतिच्छेकाः, यावद् इतित्रिपुणाः, इतिनयवादिनः इत्युपदेशलब्धाः, इतिविज्ञानप्राप्ताः । प्रभवः खलु यूयं मम धर्माचार्येण धर्मोपदेशकेन भगवता महावीरेण सार्द्धं विवादं कर्तुम् ?” “नायमर्थः समर्थः ।” “तत्तेनार्थेन देवानुप्रियाः ! एवमुच्यते—नो खलु प्रभवो यूयं मम धर्माचार्येण यावन्महावीरेण सार्द्धं विवादं कर्तुम् ?” “सद्दालपुत्र ! तद्यथानामकःकोऽपि पुरुषस्तरुणः, बलवान्, युगवान् यावत्रिपुणशिल्पोपगत एकं महान्तमजं वा, एडकं वा, शूकरं वा, कुक्कुटं वा, तित्तिरं वा, वर्तकं वा, लावकं वा, कपोतं वा, कर्पिजलं वा, वायसं वा, श्येनकं वा, हस्ते वा, पादे वा, खुरे वा, पुच्छे वा, पिच्छे वा, शृङ्गे वा, विषाणे वा, रोम्भि वा, यत्र-यत्र गृह्णाति तत्र-तत्र निश्चलं निःस्पन्दं धरति । एवमेव श्रमणो भगवान् महावीरो मम बहुभिरर्थैश्च, हेतुभिश्च यावद् व्याकल्पैश्च यत्र-तत्र गृह्णाति तत्र-तत्र निस्पष्टप्रश्नव्याकरणं करोति, तत्तेनार्थेन सद्दालपुत्र ! एवमुच्यते नो खलु प्रभुरहं तव धर्माचार्येण यावन्महावीरेण सार्द्धं विवादं कर्तुम् ।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र, गोशालं मंखलिपुत्तं—मंखलिपुत्र गोशालक को, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—तुब्भे णं देवाणुप्पिया !—हे देवानुप्रिय ! तुम, इयच्छेया—ऐसे विदग्ध अवसर के जानकार हो, जाव—यावत्, इय-निउणा—ऐसे निपुण हो, इय-नयवादी—इस प्रकार के नीतिज्ञ हो, इय उवएसलद्धा—उपदेश अर्थात् शिक्षा ग्रहण किये हुए हो, इय-विण्णाणपत्ता—इस प्रकार विज्ञान को प्राप्त हो, पभू णं तुब्भे—क्या तुम समर्थ हो?, मम धम्मयारिएणं—मेरे धर्माचार्य, धम्मोवएसएणं—धर्मोपदेशक, भगवया महावीरेणं सद्धिं—भगवान् महावीर के साथ, विवादं करेत्तए ?—विवाद करने में ?, नो तिणट्ठे समट्ठे—गोशालक ने कहा—नहीं यह संभव नहीं है, से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया !, एवं वुच्चइ—हे देवानुप्रिय ! यह किस कारण से कहते हो, नो खलु पभू तुब्भे—कि तुम समर्थ नहीं हो, ममं धम्मयारिएणं जाव महावीरेणं सद्धिं—मेरे धर्माचार्य यावत् श्रमण भगवान् महावीर के साथ, विवादं करेत्तए—विवाद करने में, सद्दालपुत्ता !—हे

सदालपुत्र !, से जहानामए केइ पुरिसे—जैसे अज्ञात नाम वाला कोई पुरुष, तरुणे—जवान, बलवं—बलवान, जुगवं—युग वाला अर्थात् युगपुरुष, जाव—यावत्, युवा—निरोग तथा दृढ़ कलाई, हाथ-पैर, पसवाडे, पीठ तथा जंघाओं वाला हो, निउण सिण्पोवगए—निपुण और कला कौशल का जानकार यदि, एगं महं अयं वा—एक महान् काय वाले बकरे को, एलयं वा—अथवा मेढ़े को, सूयरं वा—अथवा सूअर को, कुक्कुडं वा—अथवा मुर्गे को, तित्तिरं वा—अथवा तीतर को, वट्टयं वा—अथवा बटेर को, लावयं वा—अथवा लावक पक्षी (चिड़िया) को, कवोयं वा—अथवा कबूतर को, कविंजलं वा—कर्पिंजल को, वायसं वा—अथवा कौए को, सेणयं वा—अथवा बाज को, हत्थंसि वा—हाथ अथवा पायंसि वा—पैर को, खुरंसि वा, पुच्छंसि वा—खुर अथवा पूंछ को, पिच्छंसि वा—पंख, सिंगंसि वा—सींग अथवा विसाणंसि वा—विषाण, रोमंसि वा—अथवा रोमों को, जहिं जहिं गिण्हइ—जहाँ-जहाँ से भी पकड़ता है, तहिं तहिं निच्चलं निष्फंदं धरेइ—उसे वहीं वहीं निश्चल और निःस्पन्द कर देता है। अर्थात् उसे तनिक भी इधर-उधर हिलने नहीं देता, एवामेव—इसी तरह, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, ममं—मुझको, बहूहि अट्ठेहि य—बहुत से अर्थों, हेऊहिं य—हेतुओं, जाव—यावत्, वागरणेहि य—व्याकरण—प्रश्नोत्तरों द्वारा, जहिं जहिं गिण्हइ—जहाँ-जहाँ निगृहीत करते हैं अर्थात् पकड़ते हैं, तहिं-तहिं—वहीं मुझे, निष्पट्ठपसिण वागरणं करेइ—निरुत्तर कर देते हैं, से तेणट्ठेणं सदालपुत्ता !—इसलिए हे सदालपुत्र !, एवं वुच्चइ—मैं कहता हूँ कि, नो खलु पभू अहं—मैं समर्थ नहीं हूँ, तव धम्मायरिणं—तुम्हारे धर्माचार्य, जाव—यावत्, महावीरेणं सद्धिं विवादं करेत्तए—भगवान् महावीर के साथ विवाद करने में।

भावार्थ—श्रमणोपासक सदालपुत्र ने मंखलिपुत्र गोशालक से कहा—“हे देवानुप्रिय ! तुम इस प्रकार विदग्ध, अवसर ज्ञाता, निपुण, नीतिज्ञ तथा सुशिक्षित हो। क्या तुम मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर के साथ शास्त्रार्थ कर सकते हो ?” गोशालक ने कहा—“नहीं” “मैं नहीं कर सकता।” सदालपुत्र ने फिर पूछा—“हे देवानुप्रिय ! “क्यों ?”

“सदालपुत्र ! जैसे कोई तरुण, बलवान, भाग्यशाली, युवा, निरोग तथा दृढ़ कलाई, हाथ-पैर, पसवाडे, पीठ के मध्य भाग, जंघाओं वाला, कला-कौशल का जानकार-पुरुष किसी बकरे, मेढ़े, सूअर, कर्पिंजल, काक और बाज को हाथ, पैर, खुर, पूंछ पंख, सींग, दान्त, रोमादि जहाँ-जहाँ से भी पकड़ता है वहीं से निश्चल और निःस्पंद दबा देता है और उसे जरा भी हिलने नहीं देता। इसी प्रकार श्रमण भगवान् महावीर अनेक अर्थों, हेतुओं यावत् व्याकरणों एवं प्रश्नोत्तरों द्वारा जहाँ कहीं से भी मुझे पकड़ते हैं, वहीं-वहीं मुझे निरुत्तर कर देते हैं। हे सदालपुत्र ! इसलिये मैं कहता हूँ कि तुम्हारे धर्माचार्य भगवान् महावीर के साथ मैं शास्त्रार्थ करने में समर्थ नहीं हूँ।”

मूलम्—तए णं से सदालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—“जम्हा णं, देवाणुप्पिया! तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स संतेहिं, तच्चेहिं तहिएहिं

सम्भूएहिं भावेहिं गुणकित्तणं करेह, तम्हा णं अहं तुब्भे पाडिहारिएणं पीढ जाव संथारएणं उवनिमंतेमि ।” नो चेव णं धम्मोत्ति वा, तवोत्ति वा, तं गच्छह णं तुब्भे मम कुम्भारावणेषु पाडिहारियं पीढ-फलक जाव ओगिण्हित्ताणं विहरह” ॥ २२० ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासको गोशालं मङ्गलिपुत्रमेवमवादीत्—“यस्मात्खलु देवानुप्रियाः! यूयं मम धर्माचार्यस्य यावन्महावीरस्य सद्भिस्तत्त्वैस्तथैः सद्भूतैर्भविर्गुणकीर्तनं कुरुथ, तस्मात् खलु अहं युष्मान् प्रातिहारिकेण पीठ यावत्संस्तारकेणोपनिमन्त्रयामि ।” नो चैव खलु धर्म इति वा, तप इति वा, तद्गच्छत खलु यूयं मम कुम्भकारापणेषु प्रातिहारिकं पीठफलक यावद् अवगृह्य विहरत ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्रे समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र, गोशालं मंखलिपुत्तं—गोशाल मङ्गलिपुत्र को, एवं वयासी—इस प्रकार बोला—जम्हा णं देवाणुप्पिया!—हे देवानुप्रिय! चूँकि, तुब्भे—तुम ने, मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स—मेरे धर्माचार्य यावत् श्रमण भगवान् महावीर का, संतेहिं—सद्रूप सत्य, तच्चेहिं—तत्त्वरूप, तहिएहिं—तथ्यरूप, सम्भूएहिं भावेहिं—सद्भूत भावों द्वारा, गुणकित्तणं करेह—गुण कीर्तन किया है, तम्हा णं अहं तुब्भे—इसलिए मैं तुम्हें, पाडिहारिएणं—प्रातिहारिक, पीढ जाव संथारएणं उवनिमंतेमि—पीठ यावत् फलक, शय्या संस्तारक आदि के लिए उपनिमन्त्रणा करता हूँ, नो चेव णं धम्मोत्ति वा तवोत्ति वा—इसे धर्म या तप समझकर नहीं, तं गच्छह णं तुब्भे—इसलिए आप जाओ और, मम कुम्भारावणेषु—मेरी बर्तनों की दुकान से, पाडिहारियं पीढ फलक—प्रातिहारिक के रूप में अर्थात् वापिस लौटाने की शर्त पर पीठ-फलक, जाव—यावत् शय्या-संस्तारक आदि, ओगिण्हित्ताणं विहरह—ग्रहण करके विचरें ।

भावार्थ—इस पर श्रमणोपासक सद्दालपुत्र ने मंखलिपुत्र गोशालक से कहा—“देवानुप्रिय ! चूँकि तुमने मेरे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर का सत्य, तथ्य तथा सद्भूत गुण कीर्तन किया है इसलिए मैं तुम्हें प्रातिहारिक, पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक के लिए उपनिमन्त्रणा करता हूँ यद्यपि मैं इसमें धर्म और तप नहीं मानता। तो आप जाएं और मेरी बर्तनों की दुकानों से पीठ, फलक, शय्या संस्तारक आदि ग्रहण करके विचरें ।”

मूलम्—तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता कुम्भारावणेषु पाडिहारियं पीढ जाव ओगिण्हित्ताणं विहरइ ॥ २२१ ॥

छाया—ततः खलु स गोशालो मङ्गलिपुत्रः सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्यैतमर्थं प्रतिशृणोति, प्रतिश्रुत्य कुम्भकारापणेषु प्रातिहारिकं पीठ यावद् अवगृह्य विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से गोसाले मंखलिपुत्ते—उस मंखलिपुत्र गोशाल ने, सद्दालपुत्तस्स

समणोवासयस्स—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र की, एयमट्ठं पडिसुणेइ—इस बात को स्वीकार किया, पडिसुणेता—स्वीकार करके, कुम्भारावणेसु—बर्तनों की दुकानों से, पाडिहारियं पीढ जाव—प्रातिहारिक के रूप में पीठ यावत् फलक, शय्या, संस्तारकादि, ओगिण्हित्ताणं विहरइ—ग्रहण कर के विचरने लगा ।

भावार्थ—मंखलिपुत्र गोशालक ने श्रमणोपासक सद्दालपुत्र की इस बात को स्वीकार किया और उसकी बर्तनों की दुकानों से प्रातिहारिक रूप में पीठ आदि ग्रहण करके विचरने लगा ।

मूलम्—तए णं से गोसाले मंखलि-पुत्ते सद्दालपुत्तं समणोवासयं जाहे नो संचाएइ बहूहिं आघवणाहि य पण्णवणाहि य सण्णवणाहि य विण्णवणाहि य निर्गन्थाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा, ताहे संते तंते परितंते पोलासपुराओ नयराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता बहिया जणवय-विहारं विहरइ ॥ २२२ ॥

छाया—ततः खलु स गोशालो मंखलिपुत्रः सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकं यदा नो शक्नोति बहुभिराख्यापनाभिश्च प्रज्ञापनाभिश्च सञ्ज्ञापनाभिश्च विज्ञापनाभिश्च नैर्ग्रन्ध्यात् प्रवचनाच्चालयितुं वा, क्षोभयितुं वा, विपरिणमयितुं वा, तदा श्रान्तस्तान्तः परितान्तः पोलासपुरात्रगरात्प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिर्जनपदविहारं विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से गोसाले मंखलिपुत्ते—वह मंखलिपुत्र गोशालक, बहूहिं आघवणाहि य—अनेक प्रकार की आख्यापनाओं (सामान्य कथनों), पण्णवणाहि य—प्रज्ञापनाओं (विविध प्ररूपणाओं), सण्णवणाहि य—संज्ञापनाओं (प्रतिबोधों), विण्णवणाहि य—और विज्ञापनाओं (अनुनय वचनों के द्वारा), सद्दालपुत्तं समणोवासयं—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को, निर्गन्थाओ पावयणाओ—निर्ग्रन्थ प्रवचन से, चालित्तए वा—विचलित करने में, खोभित्तए वा—क्षुब्ध करने में, विपरिणामित्तए वा—विचार बदलने में, जाहे नो संचाएइ—जब समर्थ न हो सका, ताहे संते—तब श्रान्त, तंते—खिन्न, परितंते—अत्यन्त दुखी होकर, पोलासपुराओ नगराओ पडिणिक्खमइ—पोलासपुर नगर से बाहर निकला, पडिणिक्खमित्ता—निकलकर, बहिया जणवय-विहारं विहरइ—बाहर के जनपदों में विहार करने लगा ।

भावार्थ—जब मंखलिपुत्र गोशालक अनेक प्रकार की आख्यापनाओं—सामान्य कथनों से प्रज्ञापनाओं—प्रतिपादनों, संज्ञापनाओं—प्रतिबोधों तथा विज्ञापनाओं—अनुनय वचनों से श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को निर्ग्रन्थ प्रवचन से विचलित, क्षुब्ध और विरुद्ध न कर सका तब श्रान्त, खिन्न और अत्यन्त दुखी होकर पोलासपुर नगर से बाहर चला गया और बाहर के जनपदों में विहार करने लगा ।

टीका—किसी प्रकार की सांसारिक अभिलाषा के बिना यदि भगवान महावीर जैसे महापुरुषों का

गुण कीर्तन किया जाए तो उससे सर्वोत्कृष्ट निर्जरा रूप फल की प्राप्ति होती है। गोशालक ने जो भगवान महावीर की स्तुति की थी वह अभिलाषा रहित न थी। इसलिए उसे मुख्य फल अर्थात् निर्जरा फल की प्राप्ति न होकर गौण फल अर्थात् प्रातिहारिक रूप में पीठ फलक आदि प्राप्त हुए।

गोशालक ने सद्दालपुत्र को निर्ग्रन्थ प्रवचन से स्वलित करने के लिए अनेक प्रकार के आख्यानो, प्रज्ञापनाओं, विविध प्ररूपणाओं तथा अनुनयपूर्ण वचनों द्वारा भरसक प्रयत्न किया, किन्तु वह सफल न हो सका, इसी अभिप्राय को सूचित करने के लिए सूत्रकार ने 'संते तंते परितंते' पद दिए हैं।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स बहूहिं सील. जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा वड्ढकंता । पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले जाव पोसहसालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ २२३ ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य बहुभिः शीलव्रतानि यावद् भावयतश्चतुर्दश संवत्सरा व्युत्क्रान्ताः, पञ्चदश संवत्सरमन्तरा वर्तमानस्य पूर्वरात्रापरत्रकाले यावत् पौषधशालायां श्रमणस्य भगवतो महावीरस्याऽन्तिकीं धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र के, बहूहिं सील. जाव भावेमाणस्स—विविध प्रकार के शीलव्रत, नियम आदि के द्वारा आत्मा को भावित—संस्कारित करते हुए, चोद्दस संवच्छरा वड्ढकंता—चौदह वर्ष व्यतीत हो गए, पण्णरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स—जब पन्द्रहवां वर्ष चल रहा था, पुव्वरत्तावरत्तकाले—मध्यरात्रि के समय, जाव—यावत्, पोसहसालाए—पौषधशाला में, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर के, अंतियं धम्मपण्णत्तिं—समीप प्राप्त की हुई धर्मप्रज्ञप्ति को, उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—स्वीकार करके विचरने लगा ।

भावार्थ—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को बहुत से शील यावत् व्रतनियम आदि के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गए ! पन्द्रहवें वर्ष में अर्धरात्रि के समय यावत् पौषधशाला में श्रमण भगवान महावीर से प्राप्त की हुई धर्मप्रज्ञप्ति का आराधन करते हुए विचरने लगा ।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था ॥ २२४ ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य पूर्वरात्रापरत्रकाले एको देवोऽन्तिके प्रादुरासीत् ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स अंतियं—उस श्रमणोपासक

सद्दालपुत्र के समीप, पुष्करतावरत्त काले—आधी रात्रि के समय, एगे देवे पाउब्भविक्खा—एक देव प्रकट हुआ ।

भावार्थ—इसके बाद अर्धरात्रि में उस सद्दालपुत्र के पास एक देव प्रकट हुआ ।

मूलम्—तए णं से देवे एगं महं नीलुप्पल जाव असिं गहाय सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—(जहा चुलणीपियस्स तहेव देवो उवसग्गं करेइ । नवरं एक्केक्के पुत्ते नव मंस-सोल्लए करेइ) जाव कणीयसं घाएइ, घाइत्ता जाव आयंचइ ॥ २२५ ॥

छाया—ततः खलु स देव एकं महान्तं नीलोत्पल यावद् असिं गृहीत्वा सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—यथा चुलनीपितुस्तथैव देव उपसर्गं करोति । नवरमेकैकस्मिन् पुत्रे नव मांसशूल्यकानि करोति, यावत् कनीयांसं घातयति, घातयित्वा यावदासिञ्चति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे—उस देव ने, एगं महं नीलुप्पल—नीले कमल के समान एक बड़ी, जाव—यावत् चमकती हुई, असिं गहाय—तलवार लेकर, सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को इस प्रकार कहा—जहा चुलणीपियस्स तहेव देवो उवसग्गं करेइ—चुलनीपिता श्रावक के समान देव ने उपसर्ग किये, नवरं—विशेषता इतनी है कि, एक्केक्के पुत्ते—प्रत्येक पुत्र के, नव मंस सोल्लए करेइ—मांस के नौ-नौ टुकड़े किए, जाव कणीयसं घाएइ—यावत् सबसे छोटे पुत्र को भी मार डाला, घाइत्ता जाव आयंचइ—मारकर सद्दालपुत्र के शरीर पर मांस और रुधिर के छींटे दिए ।

भावार्थ—उस देव ने नीले कमल के समान प्रभा वाली विशाल तलवार लेकर, चुलनीपिता के समान समस्त उपसर्ग किये । केवल इतना अन्तर है कि प्रत्येक पुत्र के नौ टुकड़े किये । यावत् सबसे छोटे पुत्र को मार डाला और सद्दालपुत्र के शरीर पर मांस तथा रुधिर से छींटे दिये ।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए अभीए जाव विहरइ ॥ २२६ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासकोऽभीतो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र, अभीए जाव विहरइ—भयरहित यावत् ध्यानस्थ रहा ।

भावार्थ—फिर भी श्रमणोपासक सद्दालपुत्र निर्भय यावत् समाधिस्थ रहा ।

मूलम्—तए णं से देवे सद्दालपुत्तं समणोवासयं अभीयं जाव पासित्ता चउत्थंपि सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—“हंभो सद्दालपुत्ता! समणोवासया! अपत्थिय-पत्थया! जाव न भंजसि तओ ते जा इमा अग्गिमित्ता भारिया धम्म-सहाइया, धम्म-

विइज्जिया धम्माणुराग-रत्ता समसुह-दुक्ख-सहाइया, तं ते साओ गिहाओ नीणेमि, नीणित्ता तव अग्गओ घाएमि, घाइत्ता नव मंस-सोल्लए करेमि, करेत्ता आदाण-भरियंसि कडाहयंसि अद्देहिमि, अद्देत्ता तव गायं मंसेण य सोणिण्ण य आयंचामि, 'जहा णं तुमं अट्ट, दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि" ॥ २२७ ॥

छाया—ततः खलु स देवः सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमभीतं यावद् दृष्ट्वा चतुर्थमपि सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“हंभोः सद्दालपुत्र! श्रमणोपासक! अप्रार्थितप्रार्थक! यावन्न भनक्षि ततस्ते येयमग्निमित्रा भार्या धर्मसहायिका, धर्मवैधिका, धर्मानुरागरक्ता, समसुखदुख सहायिका, तां ते स्वस्माद् गृहान्नयामि, नीत्वा तवाग्रतो घातयामि, घातयित्वा नव मांसशूल्यकानि करोमि, कृत्वाऽऽदानभृते कष्टाहे आदहामि, आदह्य तव गात्रं मांसेन च शोणितेन चाऽऽसिञ्चामि यथा खलु त्वामार्त्तं दुखार्त्तं यावद् व्यपरोपयिष्यसे।”

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे—उस देव ने, सद्दालपुत्तं समणोवासयं—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को, अभीयं जाव पासित्ता—निर्भय यावत् समाधिस्थ देखकर, चउत्थंपि—चौथी बार भी, सद्दालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को इस प्रकार कहा—हं भो सद्दालपुत्ता! समणोवासया! अपत्थियपत्थया!—हे श्रमणोपासक! सद्दालपुत्र! मृत्यु को चाहने वाले, जाव न भंजसि—यावत् तू शीलादि व्रतों को भङ्ग नहीं करेगा, तओ—तो, ते जा इमा—तेरी जो यह, अग्निमित्रा भारिया—अग्निमित्रा भार्या है और जो, धम्मसहाइया—धर्म में सहायता देने वाली, धम्मविइज्जिया—धर्म की वैद्य अर्थात् धर्म को सुरक्षित करने वाली, धम्माणुराग-रत्ता—धर्म के अनुराग में रंगी हुई, समसुहदुक्खसहाइया—दुःख सुख में समान रूप से सहायता करने वाली है, तं—उसको, ते साओ गिहाओ—तेरे अपने घर से, नीणेमि—लाऊंगा, नीणित्ता—लाकर, तव अग्गओ घाएमि—तेरे सामने मार डालूंगा, घाइत्ता—मारकर, नव मंस-सोल्लए करेमि—मांस के नौ टुकड़े करूंगा, करेत्ता—ऐसा करके, आदाण भरियंसि कडाहयंसि अद्देहिमि—तेल से भरे हुए कडाहे में तलूंगा, अद्देत्ता—तलकर, तव गायं—तेरे शरीर को, मंसेण य सोणिण्ण य आयंचामि—मांस और रुधिर से छींटे दूंगा, जहा णं तुमं—जिससे तू, अट्ट-दुहट्ट जाव ववरोविज्जसि—अति दुखार्त्त तथा विवश होकर यावत् मर जाएगा।

भावार्थ—देव ने इस पर भी सद्दालपुत्र को निर्भय यावत् समाधिस्थ देखा तो चौथी बार बोला—अरे श्रमणोपासक सद्दालपुत्र! मृत्यु को चाहने वाले! यदि तू शीलादि व्रतों को भङ्ग नहीं करेगा तो तेरी अग्निमित्रा भार्या को जो कि धर्म में सहायता देने वाली, धर्म की वैद्य अर्थात् धर्म को सुरक्षित रखने वाली, धर्म के अनुराग में रंगी हुई, तथा दुःख-सुख में सहायक है, उसे तेरे घर से लाकर तेरे सामने मारकर नौ टुकड़े करूंगा। उन्हें तेल से भरे कडाहे में तलूंगा। उसके तपे हुए खून एवं मांस से

तेरे शरीर पर खीटे दूंगा, जिससे तू चिन्तित, दुखी तथा विवश होकर असमय में ही प्राणों से हाथ धो बैठेगा।

मूलम्—तए णं से सद्दालपुत्ते समणोवासए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ ॥ २२८ ॥

छाया—ततः खलु स सद्दालपुत्रः श्रमणोपासकस्तेन देवेनैवमुक्तः सन्नभीतो यावद् विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से सद्दालपुत्ते समणोवासए—वह श्रमणोपासक सद्दालपुत्र, तेणं देवेणं—उस देव द्वारा, एवं वुत्ते समाणे—इस प्रकार कहे जाने पर भी, अभीए जाव विहरइ—निर्भय यावत् समाधि में स्थिर रहा।

भावार्थ—देव द्वारा इस प्रकार कहने पर भी सद्दालपुत्र समाधि में स्थिर रहा।

मूलम्—तए णं से देवे सद्दालपुत्तं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—“हं भो सद्दालपुत्ता! समणोवासया!” तं चेव भणइ ॥ २२९ ॥

छाया—ततः खलु स देवः सद्दालपुत्रं श्रमणोपासकं द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्—हंभोः सद्दालपुत्र! श्रमणोपासक! तदेव भणति ।

शब्दार्थ—तए णं—तदनन्तर, से देवे—उस देव ने, सद्दालपुत्तं समणोवासयं—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र को, दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—दूसरी और तीसरी बार इसी प्रकार कहा—हं भो सद्दालपुत्ता समणोवासया!—हे श्रमणोपासक सद्दालपुत्र!, तं चेव भणइ—वही बात दुहराई।

भावार्थ—देव ने सद्दालपुत्र को दूसरी तथा तीसरी बार भी यही कहा।

मूलम्—तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स तेणं देवेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स अयं अज्झस्थिए समुप्पन्ने४ एवं जहा चुलणीपिया! तहेव चिंतेइ । “जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं, जेणं ममं मज्झिमयं पुत्तं, जेणं ममं कणीयसं पुत्तं जाव आयंचइ, जावि य णं ममं इमा अग्गिमित्ता भारिया समसुहदुक्ख-सहाइया, तंपि य इच्छइ, साओ गिहाओ नीणित्ता ममं अग्गओ घाएत्तए । तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति” कट्टु उद्धाइए । (जहा चुलणीपिया तहेव सव्वं भाणियव्वं नवरं) अग्गिमित्ता भारिया कोलाहलं सुणित्ता भणइ । सेसं जहा चुलणीपियावत्तव्वया, नवरं अरुणभूए विमाणे उववन्ने जाव महाविदेहे वासे सिज्जिहिइ । निक्खेवओ ॥ २३० ॥

॥ सत्तमस्स अज्झस्स उवासगदसाणं सत्तमं सद्दालपुत्तमज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु तस्य सद्दालपुत्रस्य श्रमणोपासकस्य तेन देवेन द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तस्य-सतोऽयमाध्यात्मिकः ४ समुत्पन्नः—“एवं यथा चुलनीपिता तथैव चिन्तयति, येन मम ज्येष्ठं पुत्रं, येन

मम मध्यमकं पुत्रं, येन मम कनीयांसं पुत्रं, यावद् आसिञ्चति, याऽपि च खलु ममेयमग्निमित्रा भार्या समसुखदुःख सहायिका, तामपि चेच्छति स्वस्माद् गृहान्नीत्वा ममाग्रतो घातयितुम्, तत् श्रेयः खलु ममैतं पुरुषं ग्रहीतुमिति” कृत्वोत्थितः, यथा चुलनीपिता तथैव सर्वं भणितव्यम्, नवरमग्निमित्रा भार्या कोलाहलं श्रुत्वा भणति। शेषं यथा चुलनीपितृवक्तव्यता, नवरमरुणभूते विमाने उपपन्नो यावन्महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति। निक्षेपः।

॥ सप्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां सप्तमं सद्दालपुत्रं अध्ययनं समाप्तम् ॥

शब्दार्थ—ताए णं—तदनन्तर, तस्स सद्दालपुत्तस्स समणोवासयस्स—उस श्रमणोपासक सद्दालपुत्र के मन में, तेणं देवेणं—उस देव द्वारा, दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्तस्स समाणस्स—दूसरी और तीसरी बार भी इस प्रकार कहे जाने पर, अयं अज्झत्थिए ४ समुप्पन्ने—यह विचार उत्पन्न हुआ, एवं जहा चुलणीपिया—जिस प्रकार चुलनीपिता ने सोचा था, तहेव चित्तेइ—उसी तरह सोचने लगा, जेणं ममं जेट्ठं पुत्तं—जिसने मेरे ज्येष्ठ पुत्र को, जेणं ममं मज्झिमयं पुत्तं—जिसने मेरे मंझले पुत्र को, जेणं ममं कणीयसं पुत्तं—जिसने मेरे कनिष्ठ पुत्र को मार डाला, जाव आयंचइ—यावत् छीटें दिए, जावि य णं ममं इमा—और जो यह मेरी, अग्गिमित्ता भारिया—अग्निमित्रा भार्या, समसुहदुक्ख सहाइया—मेरे सुख-दुख में सहायक है, तंपि य—उसको भी, साओ गिहाओ नीणेत्ता—घर से लाकर, मम अग्गओ—मेरे आगे, घाएत्तए इच्छइ—मारना चाहता है, तं सेयं खलु ममं—अतः मेरे लिए यही उचित है कि, एयं पुरिसं गिण्हित्तए—इस पुरुष को पकड़ लूं, त्ति कट्टु उद्धाइए—यह सौचकर उठा, जहा चुलणीपिया तहेव सव्वं भाणियव्वं—शेष सब बातें चुलनीपिता के समान समझना, नवरं—इतनी ही विशेषता है कि, अग्गिमित्ता भारिया—अग्निमित्रा भार्या, कोलाहलं सुणित्ता भणइ—कोलाहल सुनकर बोलती है, सेसं जहा चुलणीपिया वत्तव्वया—शेष वर्णन चुलनीपिता के समान है, नवरं—विशेषता इतनी ही है कि, अरुणभूए विमाणे उववन्ने—अरुणभूत विमान में उत्पन्न हुआ, जाव—यावत्, महाविदेहे वासे सिज्जिहिइ—महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा। निक्षेप।

भावार्थ—जब उस अनार्य पुरुष ने दूसरी और तीसरी बार इसी प्रकार कहा तो सद्दालपुत्र के मन में यह पुरुष अनार्य है इत्यादि सारी बातें आईं। उसने सोचा कि इस अनार्य ने मेरे ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ पुत्र को मार डाला है। उनके टुकड़े-टुकड़े किए और मेरे शरीर को उनके रुधिर और मांस से छींटे दिए। अब मेरी पत्नी अग्निमित्रा को जो सुख-दुख तथा धर्म-कार्यों में सहायक है, घर से लाकर मेरे सामने मारना चाहता है। इस प्रकार सारा वृत्तान्त चुलनीपिता के समान समझना चाहिए। केवल इतना फर्क है कि कोलाहल सुनकर चुलनीपिता की माता आई थी और यहां पत्नी अग्निमित्रा आई। अन्य अन्तर यह है कि सद्दालपुत्र मरकर अरुणभूत विमान में उत्पन्न हुआ। वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्धि प्राप्त करेगा।

टीका—श्रमणोपासक सद्दालपुत्र पौषधशाला में भगवान् महावीर द्वारा प्रज्ञापित धर्म की आराधना कर रहे थे। आधी रात के समय एक देव उनके समीप आया। उसके पास नील-कमल के समान चमचमाती तलवार थी। अत्यन्त क्रुद्ध होकर वह सद्दालपुत्र से बोला—यदि तू शीलादि व्रतों का परित्याग नहीं करता तो मैं तेरे पुत्रों को मार डालूंगा, इत्यादि कहकर चुलनीपिता के समान ही देव ने सद्दालपुत्र को नाना प्रकार के उपसर्ग किए। दैवी माया के कारण सद्दालपुत्र को ऐसा प्रतीत हुआ कि उसके तीनों पुत्र मार डाले गए हैं तथा उसके शरीर को रुधिर तथा मांस से छीटे दिए जा रहे हैं। यह भीषण दृश्य देखकर और देवकृत नाना उपसर्गों-कष्टों को सहकर भी सद्दालपुत्र निर्भय बना रहा और अपनी समाधि से विचलित नहीं हुआ। यह देखकर देव ने चौथी बार कहा—“यदि तू अब भी शीलादि को भंग नहीं करेगा तो मैं तेरी भार्या अग्निमित्रा जो कि धर्म में तेरी सहायिका है, धर्म-वैद्या है तथा धर्म के अनुराग में रंगी हुई है, घर से लाकर तेरे सामने मार डालूंगा। तेल से भरे कड़ाहे में तलकर उसके मांस और रुधिर से तेरे शरीर को छींटूंगा। जिससे तू अत्यन्त दुखी होकर मर जाएगा।” इस पर सद्दालपुत्र के मन में विचार हुआ कि जिसने मेरे सब पुत्रों को मार डाला, और जो मेरी धर्म तथा सुख-दुख में सहायक पत्नी को भी मार डालना चाहता है, ऐसे अनार्य पुरुष को पकड़ लेना चाहिए। यह विचार कर सद्दालपुत्र ज्यों ही देव को पकड़ने के लिए उठा, वह अदृश्य हो गया। अग्निमित्रा कोलाहल सुनकर आई और उसने सद्दालपुत्र से यथार्थ बात कही और बताया कि यह सब देव-माया थी। वास्तव में कुछ नहीं हुआ। तेरे सभी पुत्र आराम से सोए हुए हैं। इस माया के कारण तुम अपने व्रतों से विचलित हो गए हो। अतः तुम इसके लिए आलोचना तथा प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि करो। सद्दालपुत्र ने आत्मशुद्धि की और क्रमशः श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं अङ्गीकार कीं। अन्त में संलेखना द्वारा शरीर त्यागकर के अरुणभूत नामक विमान में उत्पन्न हुआ, वहां की आयुष्य पूरी करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और सिद्धि प्राप्त करेगा।

प्रस्तुत वर्णन में अग्निमित्रा भार्या के जो गुण बताए गए हैं वे महत्वपूर्ण हैं। जो इस प्रकार हैं—

१. धम्म-सहाइया—अग्निमित्रा धर्म-कार्यों में सद्दालपुत्र की सहायता करती थी। उनमें बाधा नहीं डालती थी। इतना ही नहीं, प्रत्येक धर्म-कार्य में प्रोत्साहन देती थी।

२. धम्मविइज्जिया—(धर्म-वैद्या) वह धार्मिक जीवन के लिए वैद्य के समान थी। अर्थात् किसी प्रकार की शिथिलता या दोष आने पर उसे दूर कर देती थी और धार्मिक अर्थात् आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए प्रेरणा करती रहती थी।

३. धम्माणुराग-रत्ता—(धर्मानुरागरक्ता) धर्म के प्रेम में रंगी हुई थी अर्थात् धर्म उसके बाह्य जीवन में ही नहीं, हृदय में भी उतरा हुआ था। धर्मानुष्ठान स्वयं करने में तथा दूसरों से कराने में उसे आनन्द आता था।

४. सम-सुहृदुक्ख सहाइया—(समसुख-दुःख सहायिका) वह अपने पति के सुख और दुख में बराबर हिस्सा बंटती थी और प्रत्येक अवसर पर सहायता करती थी।

भारतीय परम्परा में पत्नी को सहधर्मचारिणी कहा गया है। अग्निमित्रा अपने इस कर्तव्य का पालन कर रही थी। उसने गृहस्थी के कार्यों में पति को सदा सहायता दी और उसकी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखा। उसमें धर्म भावना जागृत रखी। जब देव द्वारा किए गए उपसर्ग के कारण संकट आया और वह विचलित हो गया, तो उसे पुनः धर्म में स्थापित किया और आत्मविकास के मार्ग पर अग्रसर किया। इस प्रकार वह सच्चे रूप में धर्म सहायिका और धर्म-वैद्या सिद्ध हुई।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का सप्तम सहालपुत्र अध्ययन समाप्त ॥

अट्ठमज्झयणं

अष्टम अध्ययन

मूलम्—अट्ठमस्स उक्खेवओ, एवं खलु, जम्बू! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे । गुणसिले चेइए । सेणिए राया ॥ २३१ ॥

छाया—अष्टमस्योत्क्षेपकः, एवं खलु जम्बू! तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नगरम्, गुणशीलश्चैत्यः, श्रेणिको राजा ।

शब्दार्थ—अट्ठमस्स उक्खेवओ—आठवें अध्ययन का उपक्षेप—प्रारम्भ पूर्ववत् है, एवं खलु, जम्बू!—इस प्रकार हे जम्बू!, तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय, रायगिहे नयरे—राजगृह नामक नगर था, गुणसिले चेइए—गुणशील नामक चैत्य था, सेणिए राया—श्रेणिक राजा था ।

भावार्थ—आठवें अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् है । श्री जम्बू स्वामी के प्रश्न करने पर श्री सुधर्मा स्वामी जी ने उत्तर दिया—हे जम्बू! उस काल जबकि चतुर्थ आरक था और श्री श्रमण भगवान महावीर स्वामी विराजमान थे, उस समय राजगृह नामक नगर था । गुणशील चैत्य उसके बाहर था । वहां पर महाराजा श्रेणिक राज्य करते थे ।

महाशतक का वर्णन—

मूलम्—तत्थ णं रायगिहे महासयए नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे, जहा आणंदो । नवरं अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकंसाओ निहाण-पउत्ताओ, अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकंसाओ वुट्ठि-पउत्ताओ, अट्ठ हिरण्ण-कोडीओ सकंसाओ पवित्थर-पउत्ताओ, अट्ठ वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं ॥ २२८ ॥

छाया—तत्र खलु राजगृहे महाशतको नाम गाथापतिः परिवसति, आद्वयो, यथाऽऽनन्दः, नवरमष्ट हिरण्यकोट्यः, सकांस्या निधान-प्रयुक्ताः, अष्ट हिरण्यकोट्यः सकांस्या वृद्धि-प्रयुक्ताः, अष्ट हिरण्यकोट्यः, सकांस्याः प्रविस्तर-प्रयुक्ताः, अष्ट ब्रजा दशगोसाहस्रिकेण ब्रजेन ।

शब्दार्थ—तत्थ णं रायगिहे—उस राजगृह नगर में, महासयए नामं गाहावई—महाशतक नाम का

गाथापति, परिवसइ—रहता था, अड्डे—वह आद्य यावत् समृद्ध था, जहा आणंदो—आनन्द श्रावक के समान सारा वृत्तान्त समझ लेना चाहिए, नवरं—इतना विशेष है, अट्ट हिरण्णकोडीओ—आठ करोड़ सुवर्ण मुद्राएं, सकंसाओ—कांस्य के साथ, निहाण-पउत्ताओ—कोष में सञ्चित थीं, अट्ट हिरण्णकोडीओ—आठ करोड़ सुवर्ण मुद्राएं, सकंसाओ—कांस्य सहित, वुट्ठि पउत्ताओ—व्यापार में प्रयुक्त थीं, अट्ठ हिरण्णकोडीओ सकंसाओ—कांस्य से नपी हुई, आठ करोड़ सुवर्ण मुद्राएं कांस्य से प्रयुक्त, पवित्थर-पउत्ताओ—घर के सामान में लगी हुई थीं, अट्ट वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं—प्रत्येक में दस हजार गायों वाले आठ ब्रज थे।

भावार्थ—राजगृह नगर में महाशतक नामक गाथापति रहता था। वह आद्य एवं आनंद श्रावक की तरह सम्पन्न था। उसके कांस्य सहित आठ करोड़ सुवर्ण मुद्राएं कोष में, आठ करोड़ व्यापार में और आठ करोड़ घर तथा सामान में लगी हुई थीं। पशुधन के आठ ब्रज थे।

१३ भार्याएं—

मूलम्—तस्स णं महासयगस्स रेवई-पामोक्खाओ तेरस भारियाओ होत्था, अहीण जाव सुरूवाओ ॥ २३३ ॥

छाया—तस्य खलु महाशतकस्य रेवती प्रमुखास्त्रयोदश भार्या आसन्, अहीनयावत्सुरूपाः ।

शब्दार्थ—तस्स णं महासयगस्स—उस महाशतक के, रेवई पामोक्खाओ तेरस भारियाओ होत्था—रेवती आदि प्रमुख १३ पत्नियां थीं, अहीण जाव सुरूवाओ—(वे) अहीन (अर्थात् सम्पूर्णाङ्ग) यावत् सुरूप थीं।

भावार्थ—उसकी रेवती आदि १३ पत्नियां थीं। सभी सम्पूर्णाङ्ग यावत् सुन्दर थीं।

पत्नियों की सम्पत्ति—

मूलम्—तस्स णं महासयगस्स रेवईए भारियाए कोल-घरियाओ अट्ट हिरण्ण-कोडीओ, अट्ट वया दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था । अवसेसाणं दुवालसण्हं भारियाणं कोल-घरिया एगमेगा हिरण्ण-कोडी एगमेगे य वए दस-गो-साहस्सिएणं वएणं होत्था ॥ २३४ ॥

छाया—तस्य खलु महाशतकस्य रेवत्या भार्यायाः कौलगृहिका अष्टहिरण्यकोट्योऽष्ट व्रजा दशगोसाहस्रिकेण व्रजेनाऽऽसन् । अवशेषाणां द्वादशानां भार्याणां कौलगृहिका एकैका हिरण्यकोटी, एकैकश्च व्रजो दशगोसाहस्रिकेण व्रजेनाऽऽसीत् ।

शब्दार्थ—तस्स णं महासयगस्स—उस महाशतक की, रेवईए भारियाए—रेवती भार्या के पास, कोलघरियाओ—पितृकुल से प्राप्त, अट्ट हिरण्णकोडीओ—आठ करोड़ सुवर्ण मुद्राएं थीं, अट्ट वया

दसगोसाहसिएणं वएणं होत्था—और प्रत्येक में दस हजार गायों के हिसाब से आठ व्रज थे, अवसेसाणं दुवालसण्हं भारियाणं—शेष १२ भार्याओं के पास, कोल-घरिया—पितृ-गृह से प्राप्त, एगमेगा हिरण्णकोडी—एक-२ करोड़ सुवर्ण मुद्राएं, एगमेगे य वए दसगोसाहसिएणं वएणं होत्था—तथा दस हजार गायों वाला एक-एक व्रज था ।

भावार्थ—रेवती के पास पितृ-कुल से प्राप्त आठ करोड़ सुवर्ण मुद्राएं थीं और प्रत्येक में दस हजार गायों वाले आठ गोकुल थे । शेष बारह स्त्रियों में प्रत्येक के पास पितृकुल से प्राप्त एक-एक करोड़ सुवर्ण मुद्राएं और दस हजार गायों वाला एक-एक व्रज था ।

भगवान् का आगमन तथा महाशतक का व्रत ग्रहण—

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे । परिसा निग्गया । जहा आणंदो तहा निग्गच्छइ । तहेव सावय-धम्मं पडिवज्जइ । नवरं अट्ट हिरण्ण-कोडीओ सकंसाओ निहाण-पउत्ताओ उच्चारेइ, अट्ट वया, रेवई-पामोक्खाहिं तेरसहिं भारियाहिं अवसेसं मेहुणविहिं पच्चक्खाइ । सेसं सव्वं तहेव इमं च णं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ— “कल्लाकल्लिं च णं कप्पइ मे वेदोणियाए कंस-पाईए हिरण्ण-भरियाए संववहरित्तए” ॥ २३५ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये स्वामी समवसृतः, परिषन्निर्गता । यथाऽऽनन्दस्तथा निर्गच्छति । तथैव श्रावकधर्म प्रतिपद्यते, नवरमष्टहिरण्यकोट्यः सकांस्या निधान-प्रयुक्ता उच्चारयति, अष्ट व्रजाः, रेवती प्रमुखाभिस्त्रयोदशभि भार्याभिरवशेषं मैथुनविधिं प्रत्याख्याति, शेषं सर्वं तथैव । इमं च खलु एतद्रूपमभिग्रहमभिगृह्णाति—“कल्या-कल्यि कल्पते मे द्विद्रौणिक्या कांस्यपात्र्या हिरण्यभृतया संव्यवहर्तुम् ।”

शब्दार्थ—तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय, सामी समोसढे—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी समवसृत हुए, परिसा निग्गया—परिषद् धर्म कथा सुनने को निकली, जहा आणंदो तहा निग्गच्छइ—आनन्द के समान महाशतक भी निकला, तहेव सावयधम्मं पडिवज्जइ—उसने भी उसी प्रकार श्रावक धर्म अङ्गीकार किया, नवरं—इतना विशेष है कि, अट्ट हिरण्ण कोडीओ सकंसाओ निहाणपउत्ताओ—आठ करोड़ सुवर्ण मुद्राएं कांस्य द्वारा नापी हुई कोष आदि में रखने का, उच्चारेइ—उच्चारण किया, अट्ट वया—आठ व्रज रखे, रेवई पामोक्खाहिं तेरसहिं—रेवती प्रमुख १३, भारियाहिं अवसेसं मेहुण विहिं पच्चक्खाइ—भार्याओं के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों से मैथुन सेवन का प्रत्याख्यान किया, सेसं सव्वं तहेव—शेष सब उसी प्रकार आनन्द की तरह समझना चाहिए ।, इमं च णं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ—उसने ऐसा अभिग्रह भी लिया, कल्ला-कल्लिं कप्पइ मे—प्रतिदिन मुझे कल्पता है कि, वेदोणीयाए-कंसपाईए हिरण्ण भरियाए संववहरित्तए—दो द्रोण जितनी कांस्य पात्र में भरी हुई सुवर्ण मुद्राओं से व्यापार करना ।

भावार्थ—उस काल उस समय भगवान् महावीर स्वामी पधारे। परिषद् दर्शनार्थ निकली। महाशतक भी आनन्द श्रावक की भान्ति निकला। और उसी प्रकार गृहस्थधर्म स्वीकार किया। विशेषता यही है कि उसने कांस्य सहित आठ-आठ करोड़ सुवर्ण मुद्राएं कोष आदि में रखने की मर्यादा की। रेवती आदि तेरह पत्नियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों से मैथुन सेवन का परित्याग किया। अन्य सब आनन्द के समान है। उसने यह भी अभिग्रह लिया कि “मैं प्रतिदिन दो द्रोण सुवर्ण से भरे हुए कांस्य पात्रों द्वारा व्यापार करूंगा।

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए जाए अभिगय-जीवाजीवे जाव विहरइ
॥ २३६ ॥

छाया—ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासको जातोऽभिगत-जीवाजीवो यावद्विहरति।

शब्दार्थ—तए णं से महासयए—तदनन्तर वह महाशतक, समणोवासए जाए—श्रमणोपासक हो गया। अभिगय-जीवाजीवे जाव विहरइ—यावत् जीवाजीव का जानकार होकर विचरने लगा।

भावार्थ—महाशतक श्रमणोपासक हो गया और जीवाजीव का ज्ञाता होकर विचरने लगा।

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे बहिया जणवयविहारं विहरइ ॥ २३७ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरो बहिर्जनपदविहारं विहरति।

शब्दार्थ—तए णं समणे भगवं महावीरे—एक दिन श्रमण भगवान् महावीर, बहिया जणवय-विहारं विहरइ—अन्य जनपदों में विचरने लगे।

भावार्थ—इसके बाद श्रमण भगवान् महावीर विहार कर गए और अन्य जनपदों में विचरने लगे।

रेवती का क्रूर अध्यवसाय—

मूलम्—तए णं तीसे रेवईए गाहावइणीए अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्त कालसमयंसि कुडुम्ब जाव इमेयारूवे अज्झत्थिए ४—“एवं खलु अहं इमासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं विघाएणं नो संचाएमि महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं उरालाइं माणुस्सयाइं भोगभोगाइं भुञ्जमाणी विहरित्तए। तं सेयं खलु ममं एयाओ दुवालसवि सवत्तियाओ अग्गिप्पओगेणं वा, सत्थप्पओगेणं वा विसप्पओगेणं वा जीवियाओ ववरोवित्ता एयासिं एगमेगं हिरण्ण-कोडिं, एगमेगं वयं सयमेव उवसम्पज्जित्ता णं महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं उरालाइं जाव विहरित्तए” एवं संपेहेइ, संपेहित्ता तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं अंतराणि य, छिद्दाणि य, विवराणि य पडिजागरमाणी विहरइ ॥ २३८ ॥

छाया—ततः खलु तस्या रेवत्या गाथापत्या अन्यदा कदाचित्पूर्वरात्रापरत्रकालसमये कुटुम्ब यावद् अयमेतद्रूप आध्यात्मिकः ४—“एवं खलु अहमासां द्वादशानां सपत्नीनां विघातेन नो शक्नोमि महाशतकेन श्रमणोपासकेन सार्द्धमुदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भुञ्जाना विहर्तुम्, तच्छ्रेयः खलु ममैता द्वादशापि सपत्नयोऽग्निप्रयोगेण वा, शस्त्रप्रयोगेण वा, विषप्रयोगेण वा जीविताद्वचपरोपयित्वैतासामेकैकां हिरण्यकोटीमेकैकं व्रजं स्वयमेवोपसम्पद्य महाशतकेन श्रमणोपासकेन सार्द्धमुदारान् यावद्विहर्तुम् ।” एवं सम्प्रेक्षते सम्प्रेक्ष्य तासां द्वादशानां सपत्नीनामन्तराणि च छिद्राणि च विवराणि च प्रतिजाग्रती विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं तीसे रेवईए गाहावइणीए—तदनन्तर उस रेवती गाथा-पत्नी को, अन्नया कयाइ—अन्यदा कदाचित्, पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि—अर्धरात्री में, कुडुम्ब जाव इमेयारूवे अञ्जत्थिए—कौटुम्बिक बातों के लिए जागरण करते हुए यह विचार आया, एवं खलु अहं—इस प्रकार मैं, इमासिं दुवालसण्हं—इन बारह, सवत्तीणं विघाएणं—सपत्नियों के विघ्न के कारण, नो संचाएमि—समर्थ नहीं हूं, महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं—महाशतक श्रमणोपासक के साथ, उरालाइं—इच्छानुसार, माणुस्सयाइं भोगभोगाइं भुञ्जमाणी विहरित्तए—मनुष्य-सम्बन्धी काम-भोग भोगती हुई विचरने में, तं सेयं खलु ममं—तो मेरे लिए उचित है कि, एयाओ दुवालसवि सवत्तियाओ—इन १२ सपत्नियों को, अग्गिप्पओगेणं वा सत्थप्पओगेणं वा विसप्पओगेणं वा—अग्नि प्रयोग से, शस्त्र प्रयोग से अथवा विष प्रयोग के द्वारा, जीवियाओ ववरोवित्ता—जीवन से पृथक करके, एयासिं—इनकी, एगमेगं—एक-एक, हिरण्णकोडिं—करोड़ सुवर्ण मुद्राओं, एगमेगं वयं—एक एक व्रज, सयमेव उवसंपज्जित्ता णं—स्वयं अपने अधीन कर लूं तथा, महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं—महाशतक श्रमणोपासक के साथ, उरालाइं जाव विहरित्तए—स्वेच्छानुसार यावत् भोग भोगूं, एवं संपेहेइ—इस प्रकार विचार किया, संपेहित्ता—विचार करके, तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं—उन १२ सपत्नियों के, अंतराणि य छिद्राणि य—गुप्त छिद्रों और, विवराणि य—विवरों को, पडिजागरमाणी विहरइ—दूढ़ने लगी ।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी को अर्धरात्रि के समय कुटुम्ब जागरणा करते हुए यह विचार आया कि “मैं इन १२ सपत्नियों के विघ्न के कारण महाशतक श्रमणोपासक के साथ इच्छानुसार भोग नहीं भोग सकती । अच्छा होगा कि इन सौतों को मार डालूं । प्रत्येक की एक-२ करोड़ सुवर्ण मुद्रा रूप सम्पत्ति तथा व्रजों पर अधिकार जमा लूं और महाशतक के साथ स्वेच्छानुसार काम भोगों का आनन्द लूं ।” यह सोचकर वह उनके गुप्त विवरों तथा छिद्रों को दूढ़ने लगी ।

रेवती द्वारा सपत्नियों की हत्या और सम्पत्ति का अपहरण—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी अन्नया कयाइ तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं अंतरं

जाणित्ता छ सवत्तीओ सत्थ-प्पओगेणं उद्दवेइ, उद्दवेत्ता छ सवत्तीओ विस-प्पओगेणं उद्दवेइ, उद्दवेत्ता तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं कोल-घरियं एगमेगं हिरण्ण-कोडिं, एगमेगं वयं सयमेव पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं उरालाईं भोगभोगाईं भुज्जमाणी विहरइ ॥ २३६ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापली अन्यदा कदाचित्तासां द्वादशानां सपली-नामन्तरं ज्ञात्वा षट् सपलीः शस्त्रप्रयोगेणोपद्रवति, उपद्रुत्य षट् सपलीर्विषप्रयोगेणोपद्रवति, उपद्रुत्य तासां द्वादशानां सपलीनां कौलगृहिकामेकैकां हिरण्यकोटीभेकैकं ब्रजं स्वयमेव प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य महाशतकेन श्रमणोपासकेन सार्द्धमुदारान् भोग-भोगान् भुञ्जाना विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर उस रेवती गाथापली ने, अन्नया कयाइ—एक दिन, तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं—उन १२ सपलियों के, अंतरं जाणित्ता—छिद्रों को जानकर, छ सवत्तीओ सत्थ-प्पओगेणं उद्दवेइ—छः सपलियों को शस्त्र के प्रयोग से मार डाला, उद्दवेत्ता—मारकर, छ सवत्तीओ विसप्पओगेणं उद्दवेइ—छः सपलियों को विषप्रयोग द्वारा मार डाला, उद्दवेत्ता—मारकर, तासिं दुवालसण्हं सवत्तीणं कोल-घरियं—उन १२ सपलियों की पितृ-कुल से प्राप्त, एगमेगं हिरण्ण-कोडिं एगमेगं वयं सयमेव पडिवज्जइ—एक-२ करोड़ सुवर्ण मुद्राओं तथा एक २ ब्रज को अपने अधीन कर लिया, पडिवज्जिता—ग्रहण कर के, महासयएणं समणोवासएणं सद्धिं—श्रमणोपासक महाशतक के साथ, उरालाईं—मन माने, भोग-भोगाईं भुंजमाणी विहरइ—भोगों को भोगने लगी ।

भावार्थ—रेवती गाथापली ने अपनी बारह सपलियों की गुप्त बातें जान लीं और उन में से छः को शस्त्र द्वारा और छः को विष देकर मार डाला । उनकी सुवर्ण मुद्राओं और ब्रजों को अपने अधीन कर लिया तथा महाशतक के साथ मन-माने भोग भोगने लगी ।

रेवती की मांस-मदिरा लोलुपता—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी मंस-लोलुया मंसेसु मुच्छिया, गिद्धा, गढिया, अज्झोववन्ना बहु-विहेहिं मंसेहि य, सोल्लेहि य, तलिएहि य भज्जिएहि य सुरं च महुं च मेरगं च मज्जं च सीधुं च पसन्नं च आसाएमाणी ४ विहरइ ॥ २४० ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापली मांसलोलुपा मांसेषु मूर्च्छिता, गृद्धा, ग्रथिता, अध्युपपन्ना, बहुविधैर्मांसैश्च, शूल्यकैश्च, तलितैश्च, भर्जितैश्च, सुरां च, मधुं च, भैरयं च, मद्यं च, सीधुञ्च प्रसन्नाज्वाऽऽस्वादयन्ती ४ विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी, मंस-लोलुया—मांस में लोलुप, मंसेसु मुच्छिया—मांस में मूर्च्छित, गिद्धा—मांस में गृद्ध होती हुई, गढिया—मांस में ग्रथित अर्थात् अंग-अंग में मांस भक्षण के अनुराग वाली, अज्झोववन्ना—मांस में ही अत्यन्त आसक्त होती हुई, बहुविहेहिं मंसेहि य—नाना प्रकार के मांसों में और, सोल्लेहि य—मांस के शूलकों में और, तलिएहि य—तले हुए मांस आदि में और, भज्जिएहि य—भूने हुए मांस में और, सुरं च महं च मेरगं च—सुरा (गुड आटे से बनी हुई शराब) मधुक, महुआ से बनी शराब तथा मेरग, मज्जं च—‘आसव’ नामक अपरिपक्व मद्य, सीधुं च—तथा सीधु नामक शराब, पसन्नं च—सुगंधयुक्त शराब आदि को, आसाएमाणी ४ विहरइ—आस्वादन करती हुई विचरने लगी।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी मांस तथा मदिरा में आसक्त रहने लगी। शूलक, तले हुए, भूने हुए तथा अन्य प्रकार के मांसों के साथ सुरा, सीधु, मेरक, मधु, मद्य तथा अन्य प्रकार की मदिराओं का सेवन करने लगी।

राजगृह में अमारि की घोषणा—

मूलम्—तए णं रायगिहे नयरे अन्नया कयाइ अमाघाए घुट्ठे यावि होत्था ॥ २४१ ॥

छाया—ततः खलु राजगृहे नगरे अन्यदा कदाचित् अमाघातः (अमारिः) घुष्टश्चाप्यासीत् ।

शब्दार्थ—तए णं रायगिहे नयरे—तदनन्तर राजगृह नगर में, अन्नया कयाइ—एक दिन, अमाघाए घुट्ठे यावि होत्था—अमारि अर्थात् किसी जीव को न मारने की घोषणा हुई।

भावार्थ—एक दिन राजगृह नगर में अमारि अर्थात् हिंसा न करने की घोषणा हुई।

रेवती द्वारा खाने के लिए पीहर से बछड़े मंगवाना—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी मंस-लोलुया मंसेसु मुच्छिया ४ कोलघरिए पुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—“तुब्भे, देवाणुप्पिया! मम कोल-घरिएहितो वएहितो कल्लाकल्लिं दुवे-दुवे गोणपोयए उद्दवेह, उद्दवित्ता ममं उवणेह” ॥ २४२ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी मांसलोलुपा मांसेषु मूर्च्छिता ४ कौलगृहिकान् पुरुषान् शब्दापयति शब्दापयित्वा एवमवादीत्—“यूयं देवानुप्रियाः! मम कौलगृहिकेभ्यो व्रजेभ्यः कल्याकल्यिं द्वौ-द्वौ गोपोतकानुपद्रवत, उपद्रुत्य ममोपनयत ।”

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—इस पर उस रेवती गाथापत्नी ने, मंसलोलुया—मांस लोलुप, मंसेसु मुच्छिया—तथा मांस में मूर्च्छित होकर, कोलघरिए पुरिसे सद्दावेइ—अपने पितृ-गृह के पुरुषों को बुलाया, सद्दावित्ता—बुलाकर, एवं वयासी—इस प्रकार कहा, तुब्भे देवाणुप्पिया!—हे

देवानुप्रियो! तुम, मम कोलघरिएहितो वएहितो—मेरे पीहर के ब्रजों में से, कल्लाकल्लिं दुवे-दुवे—प्रतिदिन दो-दो, गोणपोयए उद्वेह—बछड़े मारा करो, उद्वित्ता मम उवणेह—मारकर मेरे पास लाया करो।

भावार्थ—मांस लोलुप रेवती ने पितृगृह के पुरुषों को बुलाकर कहा—हे देवानुप्रियो! तुम प्रतिदिन मेरे पीहर के ब्रजों में से दो बछड़े मारकर लाया करो।

मूलम्—तए णं ते कोल-घरिया पुरिसा रेवईए गाहावइणीए 'तहत्ति' एयमट्ठं विणएणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता रेवईए गाहावइणीए कोलघरिएहितो वएहितो कल्ला-कल्लिं दुवे-दुवे गोण-पोयए वहेत्ति, वहित्ता रेवईए गाहावइणीए उवणेत्ति ॥ २४३ ॥

छाया—ततः खलु ते कौलगृहिकाः पुरुषा रेवत्या गाथापल्याः 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिश्रुण्वन्ति, प्रतिश्रुत्य रेवत्या गाथापल्याः कौलगृहिकेभ्यो ब्रजेभ्यः कल्याकल्यिं द्वौ-द्वौ गोपोतकौ घ्नन्ति, हत्वा रेवत्यै गाथापल्यै उपनयन्ति।

शब्दार्थ—तए णं ते कोलघरिया पुरिसा—इस पर पीहर के पुरुषों ने, रेवईए—रेवती, गाहावइणीए तहत्ति एयमट्ठं—गाथापली की इस बात को 'ठीक है' इस प्रकार, विणएणं पडिसुणंति—विनयपूर्वक स्वीकार किया, पडिसुणित्ता—स्वीकार कर के, रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापली के, कोलघरिएहितो वएहितो—पीहर के गो-ब्रजों में से, कल्ला-कल्लिं—प्रतिदिन, दुवे-दुवे गोणपोयए वहेत्ति—दो बछड़े मारने लगे, वहित्ता—मारकर के, रेवईए गाहावइणीए उवणेत्ति—रेवती गाथापली को पहुंचाने लगे।

भावार्थ—दास पुरुषों ने रेवती के इस कथन को विनयपूर्वक स्वीकार किया और प्रतिदिन दो बछड़ों को मारकर लाने लगे।

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी तेहिं गोण मंसेहिं सोल्लोहि य ४ सुरं च ६ आसाएमाणी ४ विहरइ ॥ २४४ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापली तैर्गोमांसैः शूल्यकैश्च ४ सुरञ्च ६ आस्वादयन्ती ४ विहरति।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापली, तेहिं गोणमंसेहिं सोल्लोहि य ४—उन गोमांसों के शूलकों में, सुरं च ६—तथा मदिरा आदि में आसक्त होकर, आसाएमाणी ४ विहरइ—उनका स्वाद लेती हुई विचरने लगी।

भावार्थ—रेवती गाथापली उन (बछड़ों के) मांस को शूलक आदि के रूप में खाने और मदिरापान में आसक्त रहने लगी।

मूलम्—तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छरा वड्ढकंता। एवं तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ, जाव पोसह-सालाए धम्म-पण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ ॥ २४५ ॥

छाया—ततः खलु तस्य महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य बहुभिः शील यावद् भावयतश्चतुर्दश संवत्सरा व्युत्क्रान्ताः। एवं तथैव ज्येष्ठं पुत्रं स्थापयति यावत्पौषधशालायां धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति

शब्दार्थ—तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक के, बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स—विविध प्रकार के व्रत-नियमों के द्वारा आत्मा का संस्कार करते हुए, चोद्दस संवच्छरा वड्ढकंता—१४ वर्ष व्यतीत हो गए, एवं तहेव—इस प्रकार आनन्द की भान्ति, जेट्ठं पुत्तं ठवेइ—उसने भी ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार दे दिया, जाव—यावत्, पोसहसालाए धम्मपण्णत्तिं—पौषधशाला में धर्मप्रज्ञप्ति को, उपसंपज्जित्ता णं विहरइ—ग्रहण करके विचरने लगा।

भावार्थ—महाशतक श्रमणोपासक को विविध प्रकार के व्रत-नियमों का पालन तथा धर्म द्वारा आत्मा का संस्कार करते हुए १४ वर्ष व्यतीत हो गए। उसने भी आनन्द की भान्ति ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप दिया और स्वयं पौषधशाला में धर्मानुष्ठान करने लगा।

रेवती का कामोन्मत्त होकर पौषधशाला में पहुंचना—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी मत्ता लुलिया विइण्णकेसी उत्तरिज्जयं विकिड्ढमाणी २ जेणेव पोसह-साला जेणेव महासयए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मोहुम्माय-जणणाइं सिंगारियाइं इत्थिभावाइं उवदंसेमाणी २ महासययं समणोवासयं एवं वयासी—“हंभो महासयया ! समणोवासया! धम्म-कामया ! पुण्ण-कामया! सग्ग-कामया! मोक्ख-कामया! धम्म-कंखिया ! ४, धम्म-पिवासिया ४, किण्णं तुब्भं, देवाणुप्पिया! धम्मेण वा, पुण्णेण वा, सग्गेण वा, मोक्खेण वा?, जण्णं तुमं मए सद्धिं उरालाइं जाव भुज्जमाणे नो विहरसि?” ॥ २४६ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी मत्ता, लुलिता, विकीर्णकेशी, उत्तरीयकं विकर्षन्ती २ येनैव पौषधशाला येनैव महाशतकः श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य मोहोन्मादजननान् शृङ्गारिकान् स्त्री-भावान् उपदर्शयन्ती २ महाशतकं श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“हंभो महाशतक! श्रमणोपासक! धर्मकामुक! पुण्यकामुक! स्वर्गकामुक! मोक्षकामुक! धर्मकांक्षिन्! ४ धर्मपिपासित! ४,

किं खलु तव देवानुप्रिय! धर्मेण वा? पुण्येन वा? स्वर्गेण वा? मोक्षेण वा? यत्खलु त्वं मया सार्द्धमुदारान् यावद् भुञ्जानो नो विहरसि?

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी, मत्ता—मांस, सुरा आदि से मत्त बनी हुई, लुलिया—लोलुप, विइण्णकेसी—बालों को बिखरे हुए, उत्तरिज्जयं विकइहमाणी २—उत्तरीय को फैकती हुई काम-वासना से पीड़ित, जेणेव पोसहसाला—जहां पौषधशाला थी, जेणेव महासयए समणोवासए—जहां श्रमणोपासक महाशतक था, तेणेव उवागच्छइ—वहां आई, उवागच्छिता—आकर, मोहुम्माय जणणाइं—मोह और उन्माद को उत्पन्न करने वाले, सिंगारियाइं—शृंगार भरे हाव-भाव कटाक्ष आदि, इत्थि-भावाइं—स्त्री सम्बन्धि चेष्टाओं को, उवदंसेमाणी २—दिखाती हुई, महासययं समणोवासयं एवं वयासी—महाशतक श्रमणोपासक को इस प्रकार कहने लगी, हं भो महासयया! समणोवासया!—हे महाशतक! श्रमणोपासक! तुम, धम्म-कामया!—धर्म की कामना करते हो, पुण्ण-कामया!—पुण्य की कामना करते हो, सग्ग-कामया!—स्वर्ग की कामना करते हो, मोक्ख-कामया!—मोक्ष की कामना करते हो, धम्मकंखिया!—धर्म की आकांक्षा करते हो, धम्म-पिवासिया!—धर्म के प्यासे हो परन्तु, किण्णं तुब्भं देवानुप्पिया! किन्तु हे देवानुप्रिय!, धम्मेण वा पुण्णेण वा सग्गेण वा मोक्खेण वा—धर्म, पुण्य, स्वर्ग तथा मोक्ष से क्या मिलेगा?, जण्णं तुमं—जो तुम, मए सद्धिं—मेरे साथ, उरालाइं जाव भुञ्जमाणे नो विहरसि—इच्छापूर्वक भोग भोगना पसन्द नहीं करते?

भावार्थ—मांस तथा मदिरा में आसक्त और कामवासना से उन्मत्त होकर रेवती पौषधशाला में महाशतक के पास पहुंची। उसके बाल बिखरे हुए थे और साड़ी नीचे गिर रही थीं। वहां पहुंचकर वह हाव-भाव तथा श्रृङ्गारिक चेष्टाएं करती हुई महाशतक से बोली—‘देवानुप्रिय! तुम मेरे साथ मन-माने भोगों का आनन्द ले रहे थे। उन्हें छोड़कर यहां चले आए और स्वर्ग तथा मोक्ष की कामना से धर्म और पुण्य का सञ्चय करने लगे। किन्तु स्वर्ग और मोक्ष में इससे बढ़कर क्या मिलेगा? धर्म और पुण्य का इससे बढ़कर और क्या फल है?’

महाशतक का उसकी ओर ध्यान न देना—

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए एयमट्ठं नो आढाइ, नो परियाणाइ, अणाढायमाणे अपरियाणमाणे तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ॥ २४७ ॥

छाया—ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासको रेवत्या गाथापत्या एतमर्थं नो आद्रियते नो परिजानाति, अनाद्रियमाणोऽपरिजानंस्तूष्णीको धर्मध्यानोपगतो विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक ने, रेवईए गाहावइणीए—रेवती गाथापत्नी की, एयमट्ठं नो आढाइ नो परियाणाइ—इस बात का न तो सत्कार

किया और न उस पर ध्यान दिया, अणाढायमाणे अपरियाणमाणे—परन्तु सत्कार तथा ध्यान के बिना, तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ—मौन रहकर धर्मानुष्ठान में लगा रहा ।

भावार्थ—महाशतक गाथापति ने रेवती की कुचेष्टाओं और बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और मौन रहकर धर्मध्यान-धर्मानुष्ठान में लगा रहा ।

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी महासययं समणोवासयं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—“हं भो” ! तं चेव भणइ, सो वि तहेव जाव अणाढायमाणे अपरियाणमाणे विहरइ ॥ २४८ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी महाशतकं श्रमणोपासकं द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्—“हंभोः” । तथैव भणति । सोऽपि तथैव यावद् अनाद्रियमाणोऽपरिजानन् विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी, महासययं समणोवासयं—महाशतक श्रमणोपासक के प्रति, दोच्चंपि तच्चंपि—द्वितीय तथा तृतीय बार भी, एवं वयासी—इस बार बोली—हं भो ! तं चेव भणइ—हे महाशतक ! पहले की भांति कहा, सो वि—वह भी, तहेव जाव—उसी प्रकार यावत्, अणाढायमाणे अपरियाण माणे विहरइ—बिना आदर-सत्कार किए ध्यान में स्थिर रहा ।

भावार्थ—तब गाथापत्नी रेवती ने महाशतक श्रावक से दूसरी तथा तीसरी बार भी वही बात कही, किन्तु महाशतक पहले की भांति ध्यान में स्थिर रहा ।

रेवती का निराश होकर लौटना—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी महासयएणं समणोवासएणं अणाढाइज्जमाणी अपरियाणिज्जमाणी जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया ॥ २४९ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी महाशतकेन श्रमणोपासकेनाऽनाद्रियमाणा अपरिज्ञायमाना यस्या एव दिशं प्रादुर्भूता तामेव दिशं प्रतिगता ।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी, महासयएणं समणोवासएणं—महाशतक श्रमणोपासक के द्वारा, अणाढाइज्जमाणी अपरियाणिज्जमाणी—अनादृत तथा तिरस्कृत होकर, जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया—जिस दिशा से वह आई थी उसी दिशा में चली गई ।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी तिरस्कृत होकर जहां से आई थी उधर ही वापिस चली गई ।

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए पढमं उवासग-पडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । पढमं अहा-सुत्तं जाव एक्कारसऽवि ॥ २५० ॥

तए णं से महासयए समणोवासए तेणं उरालेणं जाव किसे धमणिसंतए जाए ॥ २५१ ॥

छाया—ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासकः प्रथमामुपासकप्रतिमामुपसंपद्य विहरति, प्रथमं यथासूत्रं यावदेकादशपि ।

ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासकस्तेनोदारेण यावत्कृशो धमनिसन्ततो जातः ।

शब्दार्थ—तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक, पढमं उवासगपडिमं—प्रथम उपासक-प्रतिमा को ग्रहण करके, विहरइ—विचरने लगा, पढमं अहा-सुत्तं जाव एक्कारसऽवि—प्रथम से लेकर यावत् ११ श्रावक प्रतिमाओं को शास्त्रानुसार अङ्गीकार किया ।

तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक, तेणं उरालेणं—उस उग्र तपश्चरण के द्वारा, जाव—यावत्, किसे—कृश होकर, धमणि संतए जाए—उसकी नस-नस दिखाई देने लगी ।

भावार्थ—तदनन्तर श्रमणोपासक महाशतक ने क्रमशः पहली से लेकर ग्यारहवीं तक श्रावक की प्रतिमाएं स्वीकार कीं और शास्त्रोक्त रीति से आराधना की । उस उग्र तपश्चर्या के कारण उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया और उसकी नस-नस दिखाई देने लगी ।

मूलम्—तए णं तस्स महासययस्स समणोवासयस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकाले धम्म-जागरियं जागरमाणस्स अयं अज्झत्थिए ४—“एवं खलु अहं इमेणं उरालेणं” जहा आणंदो तहेव अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणाए झूसियसरीरे भत्त-पाण-पडियाइक्खिए कालं अणवकंखमाणे विहरइ ॥ २५२ ॥

छाया—ततः खलु तस्य महाशतकस्य श्रमणोपासकस्यान्यदाकदाचित्पूर्वरात्रापरत्रकाले धर्म-जागरिकां जाग्रतोऽयमाध्यात्मिकः ४—“एवं खलु अहमनेनोदारेण” यथाऽऽनन्दस्तथैवापश्चिम-मारणान्तिकसंलेखनया जोषितशरीरो भक्तपानप्रत्याख्यातः कालमनवकांक्षन् विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं तस्स महासययस्स समणोवासयस्स—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक को, अन्नया कयाइ—एक दिन, पुव्वरत्तावरत्तकाले—अर्धरात्री के समय, धम्म-जागरियं जागरमाणस्स—धर्म जागरणा करते हुए, अयं अज्झत्थिए ४—यह विचार उत्पन्न हुआ, एवं खलु अहं—इस प्रकार मैं, इमेणं उरालेणं—इस उग्रतपश्चर्या के कारण अति कृश हो गया हूँ यावत्, जहा आणंदो—जिस प्रकार

आनन्द श्रमणोपासक ने किया था, तहेव—उसी प्रकार, अपच्छिममारणंतिय-संलेहणाए झूसियसरीरे—इसने भी अन्तिम मारणान्तिक संलेखना के द्वारा शरीर का परित्याग करके, भक्तपाणपडियाइक्खिए—भक्तपात्र का प्रत्याख्यान करके, कालं अणवकंखमाणे विहरइ—मृत्यु की आकांक्षा से रहित होकर विचरने लगा ।

भावार्थ—एक दिन अर्धरात्रि के समय धर्म जागरण करते हुए महाशतक के मन में विचार आया कि इस उग्र तपश्चरण के कारण मैं कृश हो गया हूं। नसें दिखाई देने लगी हैं! अब यही उचित है कि अन्तिम मारणान्तिक संलेखना अङ्गीकार कर लूं और शुभ विचारों के साथ शरीर का परित्याग करूं। यह विचार करके महाशतक ने भी आनन्द के समान अन्तिम संलेखना व्रत ले लिया और जीवन तथा मृत्यु दोनों की आकांक्षा से रहित होकर आत्म-चिन्तन में लीन रहने लगा ।

महाशतक को अवधिज्ञान—

मूलम्—तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स सुभेणं अज्झवसाणेणं जाव खओवसमेणं ओहिणाणे समुप्पन्ने—पुरत्थिमेणं लवणसमुद्रे जोयण-साहस्सियं खेत्तं जाणइ पासइ, एवं दक्खिणेणं, पच्चत्थिमेणं, उत्तरेणं जाव चुल्ल-हिमवंतं वासहर-पव्वयं जाणइ पासइ, अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुयं नरयं चउरासीइ-वास-सहस्स-ट्टियं जाणइ पासइ ॥ २५३ ॥

छाया—ततः खलु तस्य महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य शुभेनाऽध्यवसायेन यावत् क्षयोपशमेनावधिज्ञानं समुत्पन्नम्—पौरस्त्ये खलु लवणसमुद्रे योजनसाहस्रिकं क्षेत्रं जानाति पश्यति, एवं दक्षिणात्ये खलु, पाश्चात्ये खलु, औत्तरे खलु यावत्क्षुद्रहिमवन्तं वर्षधरं पर्वतं जानाति पश्यति, अधोऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां लोलुपाच्युतं नरकं चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकं जानाति पश्यति ।

शब्दार्थ—तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक को, सुभेणं अज्झवसाणेणं—शुभ परिणामों के उत्पन्न होने पर, जाव—यावत्, खओवसमेणं—अविधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर, ओहिणाणे समुप्पन्ने—अविधिज्ञान उत्पन्न हो गया, पुरत्थिमेणं लवणसमुद्रे—पूर्व दिशा में लवण समुद्र के अन्दर, जोयणसाहस्सियं खेत्तं जाणइ पासइ—वह एक हजार योजन क्षेत्र को जानने और देखने लगा, एवं दक्खिणेणं—इसी प्रकार दक्षिण दिशा में, पच्चत्थिमेणं—तथा पश्चिम दिशा में एक हजार योजन क्षेत्र को जानने देखने लगा, उत्तरेणं जाव—उत्तर दिशा में यावत्, चुल्लहिमवंतं वासहर-पव्वयं जाणइ पासइ—चुल्लहिमवंत वर्षधर पर्वत तक जानने तथा देखने लगा, अहे—नीची दिशा में, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के, लोलुयच्चुयं नरयं—लोलुपाच्युत नरकावास को, चउरासीइवाससहस्स-ट्टियं—जहां ८४ हजार वर्ष की आयु मर्यादा है, जाणइ पासइ—जानने देखने लगा ।

भावार्थ—शुभ अध्यवसायों के कारण महाशतक की आत्मा उत्तरोत्तर शुद्ध होती गई और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। परिणाम स्वरूप वह पूर्व दिशा में लवण समुद्र के अन्दर एक-एक हजार योजन तक जानने-देखने लगा। इसी प्रकार दक्षिण तथा पश्चिम दिशा में भी एक-एक हजार योजन तक जानने और देखने लगा, तथा उत्तर दिशा में चुल्लहिमवान् पर्वत तक देखने लगा। अधोदिशा में रत्नप्रभा पृथ्वी के अन्दर लोलुपाच्युत नरक तक देखने लगा। जहां जीवों की चौरासी हजार वर्ष की आयु है।

रेवती का पुनः आगमन और उपद्रव करना—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी अन्नया कयाइ मत्ता जाव उत्तरिज्जयं विकइडेमाणी २ जेणेव महासयए समणोवासए जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता महासययं तहेव भणइ, जाव दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—“हं भो!” तहेव ॥ २५४ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी अन्यदा कदाचिन्मत्ता यावदुत्तरीयकं विकर्षयन्ती २ येनैव महाशतकः श्रमणोपासको येनैव पौषधशाला तेनैवोपागच्छति, उपागत्य महाशतकं तथैव भणति यावद् द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत् “हंभो”! तथैव।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गाहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी, अन्नया कयाइ—एक दिन, मत्ता—मत्तवाली होकर, जाव—यावत्, उत्तरिज्जयं विकइडेमाणी २—उत्तरीय वस्त्र को गिराती हुई, जेणेव महासयए समणोवासए—जहां महाशतक श्रमणोपासक था, जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ—जहां पौषधशाला थी वहां आई, उवागच्छित्ता—आकर, महासययं तहेव भणइ—महाशतक श्रमणोपासक को उसी प्रकार कहने लगी, जाव—यावत्, दोच्चंपि तच्चंपि—द्वितीय और तृतीय बार, एवं वयासी—इस प्रकार बोली, हं भो! तहेव—हे महाशतक! तथैव पहले की तरह कहा।

भावार्थ—फिर एक दिन रेवती गाथापत्नी उन्मत्त होकर ओढ़ने को नीचे गिराती हुई, महाशतक श्रावक के पास आई और दूसरी तथा तीसरी बार उसी प्रकार बोली।

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ४ ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता रेवई गाहावइणिं एवं वयासी—“हं भो रेवई! अपत्थिय-पत्थिए ४ एवं खलु तुमं अंतो सत्त-रत्तस्स अलसएणं वाहिणा अभिभूया समाणी अट्ट-दुहट्ट-वसट्ठा असमाहिपत्ता कालंमासे

कालं किच्चा अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए
चउरासीइ-वास-सहस्सड्डिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिसि” ॥ २५५ ॥

छाया—ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासको रेवत्या गाथापत्या द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तः
सन् आशुरुप्तः ४ अवधिं प्रयुंक्ते प्रयुज्यावधिना आभोगयति, आभोग्य रेवतीं
गाथापलीमेवमवादीत्—“हंभोः रेवती ! अप्रार्थित प्रार्थिके ! ४—एवं खलु त्वमन्तः सप्तरात्रस्यालसकेन
व्याधिनाऽभिभूतासती आर्तदुःखार्त्त-वशात्ता असमाधिप्राप्ता कालमासे कालं कृत्वाऽधोऽस्यां रत्न-
प्रभायां पृथिव्यां—लोलुपाच्युते नरके चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकेषु नैरयिकेषु नैरयिकतयोत्पत्स्यसे ।”

शब्दार्थ—तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक, रेवईए
गाहावइणीए—रेवती गाथापली के, दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे—द्वारा दूसरी और तीसरी बार
भी इस प्रकार कहने पर, आसुरुत्ते ४—यावत् क्रुध हो गया, ओहिं पउंजइ—तब उसने अवधिज्ञान का
प्रयोग किया, पउंजित्ता—प्रयोग करके, ओहिणा आभोएइ—अवधिज्ञान के द्वारा देखा,
आभोइत्ता—देख करके, रेवई गाहावइणिं एवं वयासी—रेवती गाथापली को इस प्रकार कहा, हं भो
रेवई!—हे रेवति! अपत्थिय-पत्थिए ४ !—अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाली, एवं खलु—इस प्रकार,
तुमं—तू, अंतो सत्तरत्तस्स—सात रात्रि के अन्दर, अलसएणं वाहिणा अभिभूया—अलसक नामक
व्याधि से पीड़ित होकर, अइ-दुहइ-वसइ—चिन्तित, दुखी तथा विवश होकर,
असमाहिपत्ता—असमाधि (कष्ट-रोग) को प्राप्त होकर, कालमासे कालं किच्चा—समय आने पर
मरकर, अहे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए—इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे, लोलुयच्चुए नरए—लोलुपाच्युत
नरक में, चउरासीइवास-सहस्सड्डिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववज्जिहिसि—चौरासी हजार वर्ष की
स्थिति वाले नारकियों में नारकी के रूप में उत्पन्न होगी ।

भावार्थ—महाशतक ने अवधिज्ञान द्वारा उपयोग लगाकर देखा और कहा “तू सात दिन के
अन्दर अलस रोग से पीड़ित होकर कष्ट भोगती हुई मर जाएगी और लोलुपाच्युत नरक में उत्पन्न
होगी!” बहां ८४ हजार वर्ष की आयु प्राप्त करेगी ।

रेवती का भयभीत होकर लौटना—

मूलम्—तए णं सा रेवई गाहावइणी महासयएणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणी एवं
वयासी—“रुट्ठे णं ममं महासयए समणोवासए, हीणे णं ममं महासयए समणोवासए,
अवज्जाया णं अहं महासयएणं समणोवासएणं, न नज्जइ णं, अहं केणवि कुमारेणं
मारिज्जिस्सामि” ति कट्टु भीया तत्था तसिया उच्चिग्गा संजायभया सणियं २
पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ओहय
जाव ज्जियाइ ॥ २५६ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी महाशतकेन श्रमणोपासकेनैवमुक्ता सत्येवमवादीत—“रुष्टः खलु मम महाशतकः श्रमणोपासकः, हीनः खलु मम महाशतकः श्रमणोपासकः, अपध्याताखल्वहं महाशतकेन श्रमणोपासकेन, न ज्ञायते खल्वहं केनापि कुमारेण मारयिष्ये” इति कृत्वा भीता, त्रस्ता, नष्टा उद्विग्ना सज्जातभया शनैः शनैः प्रत्यवष्वक्कति प्रत्यवष्वक्कव्य येनैव स्वकं गृहं तेनैवोपागच्छति, उपागत्य, अवहत यावद्-ध्यायति ।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी, महासयएणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणी—महाशतक श्रमणोपासक के द्वारा इस प्रकार कही जाने पर, एवं वयासी—बोली—रुट्ठेणं ममं महासयए समणोवासए—मुझ पर महाशतक श्रमणोपासक रुष्ट हो गया है, हीणे णं ममं महासयए समणोवास—महाशतक मेरे प्रति हीन अर्थात् दुर्भावना वाला हो गया है, अवज्झाया णं अहं महासयएणं समणोवासएणं—महाशतक मेरा बुरा चाहता है, न नज्जइ णं अहं—मैं नहीं जानती, केणवि कुमारेणं मारिज्जिस्साभि—कि मैं किस मौत से मारी जाऊंगी (ऐसा विचार करके), भीया—भयभीत हुई, तत्था—त्रसित होकर, तसिया—डर गई, उव्विग्गा—उद्विग्न हो उठी, संजाय भया—भय के कारण, सणियं २ पच्चोसक्कइ—शनैः २ वापिस लौटी, पच्चोसक्किता—लौटकर वहां से निकलकर, जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ—जहाँ अपना घर था, वहाँ पर आई, उवागच्छिता—आकर, ओहय जाव जिझयाइ—उदास होकर चिता में डूब गई ।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी महाशतक द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर सोचने लगी—“महाशतक मेरे से रुष्ट हो गया है, मेरे प्रति बुरे विचार ला रहा है । न मालूम मैं किस मौत से मारी जाऊंगी । यह विचार कर डर के कारण वहां से चली गई और अपने घर जा पहुंची ।

रेवती का मरकर नरक में उत्पन्न होना—

मूलम्—तए णं सा रेवई गहावइणी अंतो सत्त-रत्तस्स अलसएणं, वाहिणा अभिभूया अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयच्चुए नरए चउरासीइ-वास-सहस्स-ट्टिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उव्ववन्ना ॥ २५७ ॥

छाया—ततः खलु सा रेवती गाथापत्नी अन्तः सप्तरात्रस्यालसकेन व्याधिनाऽभिभूताऽऽर्त्तदुःखार्त्तवशार्त्ता कालमासे कालं कृत्वाऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां लोलुपाच्युते नरके चतुरशीतिवर्षसहस्रस्थितिकेषु नैरयिकेषु नैरयिकतयोपपन्ना ।

शब्दार्थ—तए णं सा रेवई गहावइणी—तदनन्तर वह रेवती गाथापत्नी, अंतो सत्तरत्तस्स—सात रात्री के अन्दर ही, अलसएणं वाहिणा—अलसक व्याधि से, अभिभूया—पीड़ित होकर, अट्ट-दुहट्ट-वसट्टा—चिन्तित, दुखी तथा विवश होकर, कालमासे कालं किच्चा—काल मास में काल

कर, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए—इस रत्नप्रभा पृथ्वी में, लोलुयच्चुए—लोलुपाच्युत, नरए—नरक में, चउरासीइवाससहस्रड्डिइएसु—चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले, नेरइएसु—नारकियों में, नेरइयत्ताए उववन्ना—नारकी के रूप में उत्पन्न हुई।

भावार्थ—रेवती गाथापत्नी सात दिनों के अन्दर अलस नामक रोग से पीड़ित होकर चिन्तित, दुखी तथा विवश होती हुई मर गई और लोलुपाच्युत नरक में उत्पन्न हुई जहां उसे ८४ हजार वर्षों की आयु प्राप्त हुई।

टीका—अलसएणं—महाशतक ने क्रुध होकर रेवती से कहा—तू अलसक रोग से पीड़ित होकर सात दिन में मर जाएगी। टीकाकार ने अलसक रोग का अर्थ विशूचिका (पेट का दर्द) किया है और इस विषय में एक श्लोक उद्धृत किया है—

“नोर्ध्वं व्रजति नाधस्तादाहारो न च पच्यते ।

आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकःस्मृतः ॥”

अर्थात् जब आहार न तो ऊपर की ओर जाता है, न नीचे की ओर, और न पचता है, आमाशय में गांठ की तरह जम जाता है, उसे अलसक रोग कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि अलसक मन्दाग्नि का उत्कट रूप है। हाथ-पैरों की सूजन को भी अलसक कहते हैं। इसी प्रकार हाथ-पैरों के स्तम्भन अर्थात् उनकी हलचल रुक जाने को अलसक कहा जाता है।

चुलनीपिता तथा सुरादेव के वर्णन में आया है—कि पुत्र या पति के अस्थिर होने पर माता या पत्नी ने उन्हें धर्म में स्थिर किया। महाशतक का उदाहरण इसके विपरीत है। यहां पति धर्म में स्थिर है और पत्नी उसे विचलित करना चाहती है। पत्नी या परिवार की इस अनुकूलता तथा प्रतिकूलता को प्रदर्शित करने के लिए स्थानाङ्ग सूत्र में एक रूपक दिया गया है—

१. साल का वृक्ष, साल का परिवार।

२. साल का वृक्ष, एरण्ड का परिवार।

३. एरण्ड वृक्ष, साल का परिवार।

४. एरण्ड वृक्ष, एरण्ड का परिवार।

इसी प्रकार गृहस्थ तथा उसके परिवार का सम्बन्ध भी चार प्रकार का है—

१. स्वयं श्रेष्ठ और परिवार भी श्रेष्ठ।

२. स्वयं श्रेष्ठ और परिवार निकृष्ट।

३. स्वयं निकृष्ट और परिवार श्रेष्ठ।

४. स्वयं निकृष्ट और परिवार भी निकृष्ट।

स्वयं धर्म में स्थिर होने पर भी रेवती के कारण महाशतक को क्रोध आ गया। उत्तराध्ययन सूत्र में इसी प्रकार गुरु और शिष्य को प्रकट किया गया है—

अणासवा थूलवया कुसीला मिउंपि चंडं पकरंति सीसा ।

चित्ताणुया लहु दक्खोववेया पसायए ते हु दुरासयपि ॥

अर्थात् अविनीत, कठोर बोलने वाले तथा दुराचारी शिष्य कोमल हृदय गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं, और गुरु के मन को पहचानने वाले चतुर तथा सुशील शिष्य क्रोधी गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं।

भगवान् का आगमन—

मूलम्—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरणं जाव परिसा पडिगया ॥ २५८ ॥

छाया—तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणो भगवान् महावीरः समवसरणं यावत्परिषत् प्रतिगता ।

शब्दार्थ—तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर आए, समोसरणं—समवसरण रचा गया, जाव परिसा पडिगया—यावत् परिषद् वापिस चली गई।

भावार्थ—उस काल उस समय श्रमण भगवान् महावीर समवसृत हुए! परिषद् आई और धर्मोपदेश सुनकर चली गई।

भगवान् द्वारा महाशतक के पास गौतम स्वामी को भेजकर उसका दोष बताना—

मूलम्—“गोयमा !” इ समणे भगवं महावीरे एवं वयासी—“एवं खलु गोयमा ! इहेव रायगिहे नयरे ममं अंतेवासी महासयए नामं समणो वासए पोसहसालाए अपच्छिम-मारणंति-य-संलेहणाए झूसिय-सरीरे भत्तपाणपडियाइक्खिए कालं अणवकंखमाणे विहरइ ॥ २५९ ॥

छाया—“गौतम !” इति श्रमणो भगवान् महावीर एवमवादीत्—“एवं खलु गौतम ! इहेव राजगृहे नगरे ममान्तेवासी महाशतको नाम श्रमणोपासकः पौषधशालायामपश्चिममारणान्तिक-संलेखनया जोषितशरीरो भक्तपानप्रत्याख्यातः कालमनवकाङ्क्षमाणो विहरति ।”

शब्दार्थ—गोयमा इ—हे गौतम ! इस प्रकार, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर, एवं वयासी—बोले—एवं खलु गोयमा—इस प्रकार हे गौतम !, इहेव रायगिहे नयरे—इसी राजगृह नगर में, ममं अंतेवासी—मेरा अन्तेवासी, महासयए नामं समणोवासए—महाशतक नाम का श्रमणोपासक, पोसहसालाए—पौषधशाला में, अपच्छिममारणंति-य-संलेहणाए—अपश्चिम मारणान्तिक संलेखन द्वारा,

झूसिय-सरीरे—जोषित शरीर होकर, भक्तपाणपडियाइक्खिए—भक्तपान का प्रत्याख्यान (त्याग करके), कालं अणवकंखमाणे—मृत्यु को न चाहता हुआ, विहरइ—विचरता है।

भावार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा—हे गौतम ! “इसी राजगृह नगर में मेरा शिष्य महाशतक श्रावक पौषधशाला में संलेखना द्वारा भक्तपान का परित्याग करके मृत्यु की कामना न करते हुए विचर रहा है।”

मूलम्—तए णं तस्स महासयगस्स रेवई गाहावइणी मत्ता जाव विकड्ढेमाणी २ जेणेव पोसहसाला जेणेव महासयए तेणेव उवागया, मोहुम्माय जाव एवं वयासी—तहेव जाव दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी ॥ २६० ॥

छाया—ततः खलु तस्य महाशतकस्य रेवती गाथापत्नी मत्ता यावद् विकर्षयन्ती २ येनैव पौषधशाला येनैव महाशतकस्तेनैवोपगता, मोहोन्माद—यावद् एवमवादीत्—तथैव यावद् द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमवादीत्।

शब्दार्थ—तए णं—एक दिन, तस्स महासयगस्स—उस महाशतक की, रेवई गाहावइणी—रेवती गाथापत्नी, मत्ता जाव विकड्ढेमाणी २—उन्मत्त होकर उत्तरीय को गिराती हुई, जेणेव पोसहसाला जेणेव महासयए तेणेव उवागया—जहां पौषधशाला और महाशतक श्रावक था, वहां आई, मोहुम्माय जाव एवं वयासी—यावत् मोह और उन्माद को उत्पन्न करने वाली बातें कहने लगी, तहेव—उसी प्रकार, दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी—दूसरी और तीसरी बार भी वही बात कही।

भावार्थ—एक दिन महाशतक की पत्नी उन्मत्त होकर कपड़े बिखेरती हुई महाशतक के पास पौषधशाला में आई और महाशतक के सामने श्रृंगार भरी चेष्टाएं तथा बातें करने लगी। उसके दो तीन बार ऐसा कहने पर महाशतक को क्रोध आ गया।

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए रेवईए गाहावइणीए दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते ४ ओहिं पउंजइ, पउंजित्ता ओहिणा आभोएइ, आभोइत्ता रेवई गाहावइणिं एवं वयासी—जाव उववज्जिहिसि, “नो खलु कप्पइ, गोयमा ! समणोवासगस्स अपच्छिम जाव झूसियसरीरस्स भत्त-पाणपडियाइक्खियस्स परो संतेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं अणिट्ठेहिं अकंतेहिं अप्पिएहिं अमणुण्णेहिं अमणामेहिं वागरणेहिं वागरित्तए ।” “तं गच्छ णं, देवाणुप्पिया ! तुमं महासययं समणोवासयं एवं वयाहि—“नो खलु देवाणुप्पिया ! कप्पइ समणोवासगस्स अपच्छिम जाव भत्तपाण पडियाइक्खियस्स परो संतेहिं जाव वागरित्तए । तुमे य णं देवाणुप्पिया ! रेवई गाहावइणी

संतेहिं ४ अणिट्ठेहिं ५ वागरणेहिं वागरिया । तं णं तुमं एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव जहारिहं च पायच्छित्तं पडिवज्जाहि” ॥ २६१ ॥

छाया—ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासको रेवत्या गाथापल्या द्वितीयमपि तृतीयमप्येवमुक्तः सन् आशुरुक्तः ४ अवधिं प्रयुनक्ति, प्रयुज्यावधिना आभोगयति, आभोग्य रेवतीं गाथापलीमेवमवादीत्—यावदुत्पत्त्यसे! नो खलु कल्पते गौतम! श्रमणोपासकस्याऽपश्चिमयावज्जोषितशरीरस्य भक्तपानप्रत्याख्यातस्य परः सद्भिस्तत्त्वैस्तथ्यैः सद्भूतैरनिष्टैरकान्तैरप्रियैरमनोज्ञैरमनआपैर्व्याकरणैर्व्याकर्तुम्” तद् गच्छ खलु देवानुप्रिय ! त्वं महाशतकं श्रमणोपासकमेवं वद—“नो खलु देवानुप्रिय ! कल्पते श्रमणोपासकस्यापश्चिमयावद्, भक्तपानप्रत्याख्यातस्य परः सद्भिर्यावद् व्याकर्तुम् । ” त्वया च खलु देवानुप्रिय! रेवती गाथापली सद्भिः ४ अनिष्टैः, ५ व्याकरणैर्व्याकृता, ततः खलु त्वमिदं स्थानमालोचय यावद्यथार्हं च प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यस्व ।”

शब्दार्थ—तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर वह महाशतक श्रमणोपासक, रेवईए गहावइणीए—रेवती गाथापली द्वारा, दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे—दूसरी तथा तीसरी बार ऐसा कहे जाने पर, आसुरुत्ते ओहिं पउंजइ—क्रुद्ध हो गया और अवधिज्ञान का प्रयोग किया, पउंजित्ता—प्रयोग करके, ओहिणा आभोएइ—अवधिज्ञान द्वारा देखा, आभोइत्ता—देखकर के, रेवई गहावइणिं एवं वयासी—रेवती गाथापली को ऐसा कहने लगा । जाव उववज्जिहिसि—यावत् तू (नरक में) उत्पन्न होगी, नो खलु कप्पइ गोयमा!—हे गौतम! नहीं कल्पता, समणोवासगस्स—श्रमणोपासक को, अपच्छिम जाव झूसिय सरीस्स—जिसने अन्तिम संलेखना ले रखी है और, भत्तपाणपडियाइक्खियस्स—आहार पानी का त्याग कर रखा है, परो—दूसरे व्यक्ति के प्रति, संतेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सब्भूएहिं—सत्य, तत्व तथा सद्भूत होने पर भी, अणिट्ठेहिं अकंतेहिं अप्पिएहिं अमणुण्णेहिं अमणामेहिं वागरणेहिं वागरित्तए—अनिष्ट, अकान्त (अप्रिय) अमनोज्ञ-मन को अच्छा न लगने वाले, अमनाम-विचार करने पर भी दुखदायी वचन बोलना । तं गच्छ णं देवाणुप्पिया!—इंसलिए हे देवानुप्रिय! जाओ, तुमं महासययं समणोवासयं एवं वयाहि—तुम श्रमणोपासक महाशतक से ऐसा कहो—नो खलु देवाणुप्पिया! नो कप्पइ समणोवासगस्स—हे देवानुप्रिय! श्रमणोपासक को नहीं कल्पता, अपच्छिम जाव भत्तपाण—पडियाइक्खियस्स—जिसने अन्तिम संलेखना यावत् आहार पानी का त्याग कर रखा है, परो संतेहिं जाव वागरित्तए—दूसरे व्यक्ति के प्रति सत्य होने भी अनिष्ट यावत् वचन बोलना । तुमे य णं देवाणुप्पिया!—और तुमने हे देवानुप्रिय! रेवई गहावइणी—रेवती गाथापली को, संतेहिं ४ अणिट्ठेहिं ५ वागरणेहिं वागरिया—सत्य होने पर भी अनिष्ट बातें कहीं, तं णं तुमं—इसलिए तुम, एयस्स ठाणस्स आलोएहि—इस भूल के लिए आलोचना करो, जाव—यावत्, जहारिहं च पायच्छित्तं पडिवज्जाहि—यथायोग्य प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो ।

भावार्थ—रेवती द्वारा दूसरी तथा तीसरी बार ऐसा कहने पर महाशतक क्रुध हो गया। उसने अवधिज्ञान का प्रयोग करके रेवती का भविष्य देखा और उसने नरक में उत्पन्न होने की बात कही। हे देवानुप्रिय! मारणान्तिक संलेखना द्वारा भक्तपान का परित्याग करने वाले श्रमणोपासक को सत्य, तथ्य, तथा सद्भूत होने पर भी ऐसे वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए जो अनिष्ट, अप्रिय तथा अमनोझ हों। जिनके सत्य होने पर भी दूसरे को कष्ट हो। अतः तुम जाओ और महाशतक से इस बात के लिए आलोचना एवं प्रायश्चित्त के लिए कहो।

टीका—प्रथम अध्ययन में भी भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी को श्रावक आनन्द के पास भेजा था। उस समय गौतम स्वामी की अपनी भूल थी और उन्हें आनन्द से क्षमायाचना के लिए भेजा गया था। उन्होंने आनन्द से कहा था कि श्रावक को इतना विशाल अवधिज्ञान नहीं हो सकता। अतः असत्य भाषण के लिए आलोचना करो। महावीर के पास पहुंचने पर उन्हें अपनी भूल का पता लगा और भगवान् के आदेशानुसार वे क्षमा-प्रार्थना करने के लिए गए। महाशतक सच्चा होने पर भी दोषी था क्योंकि उसने ऐसी बात कही थी जो दूसरे को कष्ट देने वाली थी। जीवन के अन्तिम अर्थात् संलेखना व्रत की आराधना करते समय श्रावक को कटु वचन नहीं बोलने चाहिए। भगवान् ने इस भूल की शुद्धि के लिए महाशतक के पास गौतम स्वामी को भेजा और कहलाया कि बात कितनी ही सत्य, तथ्य या यथार्थ हो फिर भी यदि दूसरे को कष्ट देने वाली हो, अप्रिय हो तो उसे नहीं कहना चाहिए। सूत्रकार ने यहां इस प्रकार के कथन के लिए कई विशेषण दिए हैं जो महत्वपूर्ण हैं। नीचे टीकाकार के शब्दों के साथ उनकी व्याख्या दी जाएगी।

संतेहिं—सद्भिर्विद्यमानार्थैः—सत् का अर्थ है—वे वचन जिनमें कही गई बात विद्यमान हो।

तच्चेहिं—तथ्यैस्तत्त्वरूपैर्वाऽनुपचारिकैः—तच्चेहिं का अर्थ है तत्त्व या तथ्य अर्थात् जिनका प्रयोग उपचार या गौण रूप में नहीं हुआ है। हम अपने भाषण में बहुत से शब्दों का प्रयोग गौण रूप में करते हैं। उदाहरण के रूप में पराक्रमी पुरुष को सिंह कहा है क्योंकि उसमें सिंह के समान शौर्य तथा पराक्रम आदि गुण विद्यमान हैं। इसी प्रकार क्रोधी व्यक्ति को आग कहा जाता है। तेजस्वी को सूर्य कहते हैं। इसका दूसरा प्रयोग उपचार के रूप में होता है। टांगे वाले को 'ओ टांगे' कहकर पुकारना। तत्त्व वचन उसको कहते हैं जहां गौण या औपचारिक प्रयोग नहीं है अपितु शब्द अपने असली अर्थ को लिए हुए हैं।

तहिएहिं—तमेवोक्तं प्रकारमापन्नैर्न मात्रयापि न्यूनाधिकैः—अर्थात् जैसे कहे गए हैं ठीक वैसे ही, जहां तनिक भी अतिशयोक्ति या न्यूनोक्ति नहीं है अर्थात् बात जितनी है उतनी ही कही गई है। उसमें न कुछ बढ़ाया गया है और न कुछ घटाया गया।

अनिष्टैः—अवाञ्छितैः—अनिष्ट अर्थात् अवाञ्छित जिन्हें कोई न चाहता हो।

अकान्तैः—स्वरूपेणाकमनीयैः—जो सुन्दर न लगे अर्थात् भद्दे हों। अनिष्ट का अर्थ है जिन्हें सामने वाला न सुनना चाहता हो और अकान्त का अर्थ है जो प्रत्येक सुनने वाले को बुरे या भद्दे लगे। अनिष्ट तो सुनने वाले की अपेक्षा से है और अकान्त सर्वसाधारण की दृष्टि से।

अप्रियैः—अप्रीतिकारकैः—अप्रिय अर्थात् जिन्हें सुनकर मन में अप्रसन्नता या दुख हो, यह भी सर्वसाधारण की दृष्टि से है।

अमनोज्ञैः—मनसा न ज्ञायन्ते नाभिलष्यन्ते वक्तुमपि यानि तैः—अमनोज्ञ अर्थात् जिन्हें मन बोलना नहीं चाहता।

अमन-आपैः—न मनसा आप्यन्ते प्राप्यन्ते चिन्तयाऽपि यानि तैः वचने चिन्तने च येषां मनो नोत्सहत इत्यर्थः—अर्थात् मन जिन्हें सोचना, विचारना भी नहीं चाहता।

मूल पाठ में 'अमनामेहिं' शब्द आया है। किन्तु टीकाकार ने 'अमनआपैः' दिया है, दोनों का अभिप्राय एक ही है।

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे समणस्स भगवओ महावीरस्स “तह” त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता तओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झं-मज्झेणं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता जेणेव महासयगस्स समणोवासयस्स गिहे जेणेव महासयए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ ॥ २६२ ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य 'तथेति' एतमर्थं विनयेन प्रतिश्रुणोति, प्रतिश्रुत्य ततः प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य राजगृहं नगरं मध्यमध्येनानुप्रविशति, अनुप्रविश्य येनैव महाशतकस्य श्रमणोपासकस्य गृहं येनैव महाशतकः श्रमणोपासकस्तेनैवोपागच्छति।

शब्दार्थ—तए णं से भगवं गोयमे—तदनन्तर श्री भगवान् गौतम ने, समणस्स भगवओ महावीरस्स—श्रमण भगवान् महावीर की, एयमट्ठं—इस बात को, तहत्ति—'यही ठीक है' कहकर, विणएणं पडिसुणेइ—विनय पूर्वक स्वीकार किया, पडिसुणित्ता—स्वीकार कर के, तओ पडिणिक्खमइ—वहां से निकले, पडिणिक्खमित्ता—निकलकर, रायगिहं नयरं मज्झं मज्झेणं—राजगृह नगर के बीच में, अणुप्पविसइ—प्रवेश किया, अणुप्पविसित्ता—प्रवेश करके, जेणेव महासयगस्स समणोवासयस्स गिहे—जहां महाशतक श्रमणोपासक का घर था, जेणेव महासयए समणोवासए—जहां महाशतक श्रमणोपासक था, तेणेव उवागच्छइ—वहां आए।

भावार्थ—भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर के कथन को 'ठीक है' कहकर विनयपूर्वक स्वीकार किया। वे वहां से चले और राजगृह नगर में महाशतक के घर पहुंचे।

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठ जाव हियए भगवं गोयमं वंदइ नमंसइ ॥ २६३ ॥

छाया—ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासको भगवन्तं गौतममायान्तं पश्यति, दृष्ट्वा हृष्टयावद् हृदयो भगवन्तं गौतमं वन्दते नमस्यति ।

शब्दार्थ—तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर महाशतक श्रमणोपासक ने, भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ—भगवान् गौतम को आते हुए देखा, पासित्ता—देखकर, हट्ठ जाव हियए—हृदय में हृष्ट-तुष्ट होकर, भगवं गोयमं—भगवान् गौतम को, वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया ।

भावार्थ—महाशतक भगवान् गौतम को आते देखकर प्रसन्न और सन्तुष्ट हुआ । और उन्हें वन्दना नमस्कार किया ।

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे महासययं समणोवासयं एवं वयासी—“एवं खलु देवाणुप्पिया! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ, भासइ, पण्णवेइ, परूवेइ” —“नो खलु कप्पइ, देवाणुप्पिया! समणोवासगस्स अपच्छिम जाव वागरित्तए । “तुमे णं देवाणुप्पिया! रेवई गाहावइणी संतेहिं जाव वागरिआ,” तं णं तुमं देवाणुप्पिया! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि” ॥ २६४ ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमो महाशतक श्रमणोपासकमेवमवादीत्—“एवं खलु देवानुप्रिय! श्रमणो भगवान् महावीर एवमाख्याति, भाषते, प्रज्ञापयति, प्ररूपयति—“नो खलु कल्पते देवानुप्रिय ! श्रमणोपासकस्यापश्चिम यावद् व्याकर्तुम्, त्वया खलु देवानुप्रिय ! रेवती गाथापत्नी सद्भिर्यावद् व्याकृता” तत्खलु त्वं देवानुप्रिय! एतस्य स्थानस्याऽऽलोचय यावत् प्रतिपद्यस्व ।”

शब्दार्थ—तए णं से भगवं गोयमे—तदनन्तर भगवान् गौतम, महासययं समणोवासयं एवं वयासी—महाशतक श्रमणोपासक से इस प्रकार बोले, एवं खलु देवाणुप्पिया!—हे देवानुप्रिय! इस प्रकार, समणे भगवं महावीरे—श्रमण भगवान् महावीर ने, एवमाइक्खइ—ऐसा कहा है, भासइ—भाषण किया है, पण्णवेइ—प्रतिपादन किया है, परूवेइ—प्ररूपित किया है, नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया!—कि हे देवानुप्रिय! नहीं कल्पता, समणोवासगस्स—श्रमणोपासक को, अपच्छिम जाव वागरित्तए—अंतिम संलेखनाधारी को यावत् ऐसा कहना, तुमे णं—तुमने, देवाणुप्पिया!—हे देवानुप्रिय ! रेवई गाहावइणी—रेवती गाथापत्नी को, संतेहिं जाव वागरिआ—तथ्यरूप वचन कहे, तं णं तुमं देवाणुप्पिया!—अतः हे देवानुप्रिय! तुम, एयस्स ठाणस्स आलोएहि—इस स्थान की आलोचना करो, जाव पडिवज्जाहि—यावत् प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो ।

भावार्थ—भगवान् गौतम ने महाशतक श्रमणोपासक से कहा—“देवानुप्रिय! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का यह कथन है—कि संलेखनाधारी श्रावक को ऐसा कहना नहीं कल्पता। तुमने अपनी पत्नी रेवती को ऐसा कहा है। अतः इस दोष की आलोचना करो यावत् यथा-योग्य प्रायश्चित्त अङ्गीकार करो।

महाशतक द्वारा भूल स्वीकार करना और प्रायश्चित्त लेना—

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए भगवओ गोयमस्स ‘तह’ त्ति एयमद्धं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव अहारिहं च पायच्छित्तं पडिवज्जइ ॥ २६५ ॥

छाया—ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासको भगवतो गौतमस्य ‘तथेति’ एतमर्थं विनयेन प्रतिश्रुणोति, प्रतिश्रुत्य तत् स्थानमालोचयति, यावद् यथार्हं च प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते।

शब्दार्थ—तए णं से महासयए समणोवासए—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक ने, भगवओ गोयमस्स—भगवान् गौतम की, एयमद्धं—इस बात को, तहत्ति—तथेति (ठीक है) कह कर, विणएणं पडिसुणेइ—विनय पूर्वक स्वीकार किया, पडिसुणेत्ता—स्वीकार करके, तस्स ठाणस्स आलोएइ—उस बात की आलोचना की, जाव—यावत्, अहारिहं च—यथा-योग्य, पायच्छित्तं पडिवज्जइ—प्रायश्चित्त अङ्गीकार किया।

भावार्थ—महाशतक ने भगवान् गौतम की इस बात को विनय पूर्वक ‘तथेति’ कहकर स्वीकार किया और अपने दोष के लिए आलोचना, प्रायश्चित्त किया।

गौतम स्वामी का वापिस आना—

मूलम्—तए णं से भगवं गोयमे महासयगस्स समणोवासयस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ २६६ ॥

छाया—ततः खलु स भगवान् गौतमो महाशतकस्य श्रमणोपासकस्यान्तिकारप्रतिनिष्कामति प्रतिनिष्कम्य राजगृहं नगरं मध्यं-मध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य येनैव श्रमणो भगवान् महावीरस्तेनैवोपागच्छति, उपागत्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वंदते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्कृत्य संयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन् विहरति।

शब्दार्थ—तए णं से भगवं गोयमे—उसके पश्चात् भगवान् गौतम, महासयगस्स

समणोवासयस्स—महाशतक श्रमणोपासक के, अंतियाओ—समीप से, पडिणिक्खमइ—निकले, पडिणिक्खमिक्का—निकलकर, रायगिहं नयरं मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ—राजगृह नगरी के बीच में से होते हुए, निग्गच्छिक्का—निकलकर, जेणेव—जहां पर, समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ—श्रमण भगवान् महावीर थे वहां आये, उवागच्छिक्का—आकर, समणं भगवं महावीरं—श्रमण भगवान् महावीर को, वंदइ नमंसइ—वन्दना नमस्कार किया, वंदिक्का नमंसिक्का—वन्दना नमस्कार करके, संजमेणं तवसा—संयम और तप के द्वारा, अप्पाणं भावेमाणे विहरइ—आत्मा का विकास करते हुए विचरने लगे।

भावार्थ—भगवान् गौतम महाशतक श्रावक के पास से लौटे और राजगृह नगर के बीच होते हुए भगवान् महावीर के पास आए। उन्हें वन्दना-नमस्कार किया और संयम तथा तप द्वारा आत्मविकास करते हुए विचरने लगे।

भगवान् महावीर का विहार—

मूलम्—तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइ रायगिहाओ नयराओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमिक्का बहिया जणवय-विहारं-विहरइ ॥ २६७ ॥

छाया—ततः खलु श्रमणो भगवान् महावीरोऽन्यदा कदाचित् राजगृहान्गरात्प्रतिनिष्कामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिर्जनपदविहारं विहरति।

शब्दार्थ—तए णं समणे भगवं महावीरे—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर, अन्नया कयाइ—एक दिन, रायगिहाओ नयराओ—राजगृह नगरी से, पडिणिक्खमइ—निकले, पडिणिक्खमिक्का—निकलकर, बहिया जणवय विहारं विहरइ—अन्य जनपदों में विचरने लगे।

भावार्थ—कुछ समय पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर से विहार करके अन्य जनपदों में विचरने लगे।

महाशतक के जीवन का उपसंहार—

मूलम्—तए णं से महासयए समणोवासए बहूहिं सील जाव भावेत्ता वीसं वासाइं समणोवासग-परियायं पाउणित्ता, एक्कारस उवासगपडिमाओ सम्मं काएण फासित्ता, मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता, आलोइय-पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे अरुणवडिंसए विमाणे देवत्ताए उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ। निक्खेवो ॥ २६८ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं महासययमज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु स महाशतकः श्रमणोपासको बहुभिः शील यावद् भावयित्वा विंशतिं वर्षाणि श्रमणोपासकपर्यायं पालयित्वा, एकादशोपासकप्रतिमाः सम्यक् कायेन स्पृष्ट्वा मासिक्या संलेखनयाऽऽत्मानं जोषयित्वा, षष्टिं भक्तान्यनशनेन छित्त्वा आलोचितप्रतिक्रान्तः समाधिप्राप्तः कालमासे कालं कृत्वा सौधर्मे कल्पेऽरुणावतंसके विमाने देवतयोपपन्नः । चत्वारि पल्योपमानि स्थितिः, महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति । निक्षेपः ।

॥ सप्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां महाशतकं अष्टमध्ययनं समाप्तम् ॥

शब्दार्थ—तए णं से महासयाए समणोवासए—तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक ने, बहूहिं शील जाव भावेत्ता—अनेक प्रकार से शील व्रत आदि का यावत् पालन किया, इस प्रकार, वीसं वासाई—२० वर्ष तक, समणोवासग-परियायं पाउणित्ता—श्रमणोपासक पर्याय का पालन किया, एक्कारस पडिमाओ सम्मं काएण फासित्ता—एकादश उपासक प्रतिमाएं शरीर द्वारा सम्यक् रूप से ग्रहण कीं, मासियाए संलेहणाए—एक मास की संलेखना द्वारा, अप्पाणं झूसित्ता—अपने आपको जोषित करके, सट्ठि भत्ताई—साठ भक्तों के, अणसणाए छेदेत्ता—अन्न-पानी के अनशन को पूरा करके, आलोइय पडिक्कंते समाहिपत्ते—आलोचना प्रतिक्रमण द्वारा समाधि प्राप्त करके, कालमासे कालं किच्चा—समय पूरा होने पर मृत्यु प्राप्त करके, सोहम्मे कप्पे—सौधर्म कल्प, अरुणावडिसए विमाणे—अरुणावतंसक विमान में, देवत्ताए उववन्ने—देव रूप में उत्पन्न हुआ, चत्तारि पलिओवमाई ठिई—और चार पल्योपम की स्थिति प्राप्त की, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—यावत् महाविदेह क्षेत्र में सिद्धि प्राप्त करेगा । निक्खेवो—निक्षेप पूर्ववत् है ।

भावार्थ—महाशतक श्रावक अनेक प्रकार से शील एवं व्रतों द्वारा आत्मविकास करने लगा । कुल २० वर्ष तक श्रावक पर्याय पालन की । ग्यारह प्रतिमाओं को अङ्गीकार किया । एक महीने की संलेखना द्वारा आत्मा को पवित्र करके साठ भक्तों का अनशन किया । आलोचना-प्रतिक्रमण तथा समाधि द्वारा आत्मा को शुद्ध किया । इस प्रकार धर्मानुष्ठान करते हुए समय आने पर मृत्यु प्राप्त करके सौधर्म देवलोक के अरुणावतंसक विमान में उत्पन्न हुआ और चार पल्योपम की आयु प्राप्त की । समय आने पर वहां से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और सिद्धि प्राप्त करेगा ।

टीका—उपरोक्त सूत्रों में भगवान गौतम के आदेशानुसार महाशतक द्वारा प्रायश्चित्त का वर्णन है, उसने अपनी भूल स्वीकार की । आलोचना तथा प्रतिक्रमण करके समाधि को प्राप्त हुआ । यहां समाधि का अर्थ है चित्त की प्रसन्नता । जब दोष रूपी कांटा निकल गया तो उसका चित्त प्रसन्न हो गया । अन्त में शरीर परित्याग करके वह भी देवलोक में उत्पन्न हुआ और अन्य श्रावकों के समान महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा ।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का अष्टम महाशतक अध्ययन समाप्त ॥

नवमज्झयणं

नवम अध्ययन

मूलम्—नवमस्स उक्खेवओ, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नयरी । कोट्टए चेइए । जियसत्तू राया । तत्थ णं सावत्थीए नयरीए नंदिणीपिया नामं गाहावई परिवसइ, अइडे । चत्तारि हिरण्ण-कोडिओ निहाण-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडिओ वुड्ढि-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडिओ पवित्थर-पउत्ताओ, चत्तारि वया दस-गोसाहस्सिएणं वएणं । अस्सिणी भारिया ॥ २६६ ॥

छाया—नवमस्योत्थेपकः । एवं खलु जम्बू! तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रावस्ती नगरी, कोष्ठकश्चैत्यः । जितशत्रू राजा । तत्र खलु श्रावस्त्यां नगर्यां नंदिनीपिता नाम गाथापतिः परिवसति, आढ्यः । चतस्रो हिरण्य-कोट्यो निधानप्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्य-कोट्यो वृद्धिप्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्यकोट्यः प्रविस्तरप्रयुक्ताः, चत्वारो ब्रजा दशगोसाहस्रिकेण ब्रजेन । अश्विनी भार्या ।

शब्दार्थ—नवमस्स उक्खेवओ—नवम अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् ही है । एवं खलु जम्बू!—सुधर्मास्वामी ने अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू!, तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल उस समय, सावत्थी नयरी—श्रावस्ती नामक नगरी थी, कोट्टए चेइए—कोष्ठक चैत्य था, जियसत्तू राया—और जितशत्रु राजा था, तत्थ णं सावत्थीए नयरीए—उस श्रावस्ती नगरी में, नंदिणीपिया नामं गाहावई परिवसइ—नंदिनीपिता नामक गाथापति रहता था, अइडे—वह आढ्य अर्थात् सम्पन्न था, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ निहाण पउत्ताओ—उसकी चार करोड़ सुवर्ण मुद्राएं कोष में थीं, चत्तारि हिरण्ण कोडीओ वुड्ढि पउत्ताओ—चार करोड़ सुवर्ण मुद्राएं व्यापार में लगी हुई थीं तथा, चत्तारि हिरण्णकोडीओ पवित्थरपउत्ताओ—चार करोड़ सुवर्ण मुद्राएं घर तथा सामान में लगी हुई थीं, चत्तारि वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं—प्रत्येक में दस हजार गायों वाले चार ब्रज अर्थात् गोकुल थे, अस्सिणी भारिया—अश्विनी नामक भार्या थी ।

भावार्थ—नवम अध्ययन का उपक्षेप पूर्ववत् है । सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू! उस समय श्रावस्ती नगरी तथा कोष्ठक चैत्य था । जितशत्रु राजा राज्य करता था ।

उस नगरी में नन्दिनीपिता नामक गाथापति रहता था। वह धन आदि से परिपूर्ण था। उसकी चार करोड़ सुवर्ण मुद्राएं कोष में सञ्चित थीं, चार करोड़ व्यापार में लगी हुई थीं तथा चार करोड़ घर तथा सामान में लगी हुई थीं। प्रत्येक में दस हजार गायों के हिसाब से चार ब्रज थे। अश्विनी नामक भार्या थी।

मूलम्—सामी समोसढे । जहा आणंदो तहेव गिहि-धम्मं पडिवज्जइ । सामी बहिया विहरइ ॥ २७० ॥

छाया—स्वामी समवसृतः । यथाऽऽनन्दस्तथैव गृहिधर्मं प्रतिपद्यते । स्वामी बहिर्विहरति ।

शब्दार्थ—सामी समोसढे—भगवान् महावीर स्वामी समवसृत हुए, जहा आणंदो तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ—आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार किया, सामी बहिया विहरइ—महावीर स्वामी अन्य जनपदों में विहार कर गए।

भावार्थ—भगवान् महावीर स्वामी समवसृत हुए। आनन्द के समान उस नन्दिनीपिता ने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार किया। उसके बाद भगवान् महावीर स्वामी अन्य जनपदों में विहार कर गए।

मूलम्—तए णं से नंदिणीपिया समणोवासए जाए जाव विहरइ ॥ २७१ ॥

छाया—ततः खलु स नन्दिनीपिता श्रमणोपासको जातो यावद्विहरति ।

शब्दार्थ—तए णं नंदिणीपिया समणोवासए जाए—तदनन्तरं वह नन्दिनीपिता श्रमणोपासक बनकर, जाव विहरइ—यावत् विचरने लगा।

भावार्थ—नन्दिनीपिता श्रावक बनकर विचरने लगा।

मूलम्—तए णं तस्स नंदिणीपियस्स समणोवासयस्स बहूहिं सीलव्वयगुण जाव भावेमाणस्स चोद्दस संवच्छराइं वड्ढकंताइं । तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ । धम्मपण्णत्तिं । वीसं वासाइं परियागं । नाणत्तं अरुणगवे विमाणे उववाओ । महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ । निक्खेवओ ॥ २७२ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं नवमं नन्दिणीपियाज्झयणं समत्तं ॥

छाया—ततः खलु तस्य नंदिनीपितुः श्रमणोपासकस्य बहुभिः शील-व्रत-गुण यावद् भावयतश्चतुर्दश संवत्सरा व्युत्क्रान्ताः । तथैव ज्येष्ठं पुत्रं स्थापयति । धर्मप्रज्ञप्तिम् । विंशतिं वर्षाणि पर्यायम् । नानात्वमरुणगवे विमाने उपपातः । महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति । निक्षेपः ।

॥ सप्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां नवमं नन्दिनीपिता अध्ययनं समाप्तम् ॥

शब्दार्थ—तए णं तस्स नंदिणीपियस्स समणोवासयस्स—तदनन्तर उस नन्दिनीपिता श्रमणोपासक को, बहूहिं सीलव्वयगुण जाव भावेमाणस्स—अनेक प्रकार के शील-व्रतादि से आत्मा को भावित करते हुए, चोद्वस संवच्छरा वइक्कंताइं—१४ वर्ष बीत गए, तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ—आनन्द की भांति उसने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को स्वकुटुम्ब का स्वामी बना दिया। धम्मपण्णत्तिं—और भगवान के पास से ग्रहण की हुई धर्मप्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा। वीसं वासाइं परियागं—वह बीस वर्ष तक श्रमणोपासक अवस्था में रहा, शेष पहले की भांति है, नाणत्तं—इतना अन्तर है कि, उववाओ—उसकी उत्पत्ति, अरुणगवे विमाणे—अरुणगव विमान में हुई, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा। निक्खेवो—निक्षेप पूर्ववत् है।

भावार्थ—तदनन्तर उस श्रमणोपासक नन्दिनीपिता को शील आदि व्रतों से आत्मा को भावित करते हुए १४ वर्ष बीत गए। आनन्द की भांति उसने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंपा और भगवान् से प्राप्त धर्मप्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा। २० वर्ष तक श्रमणोपासक अवस्था में रहा। शेष पूर्ववत् है। इतना विशेष है कि उसकी उत्पत्ति अरुणगव विमान में हुई तथा वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का नवम नन्दिणीपिया अध्ययन समाप्त ॥

दसमऽध्यायः

दशम अध्यायन

मूलम्—दसमस्स उक्खेवो, एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नयरी । कोट्टए चेइए । जियसत्तू राया ! तत्थ णं सावत्थीए नयरीए सालिहीपिया नामं गाहावई परिवसइ, अइडे दित्ते । चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ निहाण-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ, वुड्ढि-पउत्ताओ, चत्तारि हिरण्ण-कोडीओ पवित्थर-पउत्ताओ, चत्तारि वया दस-गोसाह-स्सिएणं वएणं । फग्गुणी भारिया ॥ २७३ ॥

छाया—दशमस्योत्क्षेपः । एवं खलु जम्बू ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रावस्ती नगरी, कोष्ठकश्चैत्यः, जितशत्रु राजा । ततः खलु श्रावस्त्यां नगर्यां सालिहीपिया नाम गाथापतिः परिवसति । आद्यो दीप्तः० । चतस्रो हिरण्यकोट्यो निधानप्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्यकोट्यो वृद्धि-प्रयुक्ताः, चतस्रो हिरण्यकोट्यः प्रविस्तरप्रयुक्ताः, चत्वारो ब्रजा दशगोसाहस्रिकेण ब्रजेन । फाल्गुनी भार्या ।

शब्दार्थ—दसमस्स उक्खेवो—दसवें अध्यायन का उपक्षेप पूर्ववत् है, एवं खलु जम्बू!—सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से इस प्रकार कहा—हे जम्बू! तेणं कालेणं तेणं समएणं—उस काल और उस समय, सावत्थी नयरी—श्रावस्ती नगरी, कोट्टए चेइए—कोष्ठक चैत्य था और, जियसत्तू राया—जितशत्रु राजा, तत्थ णं सावत्थीए नयरीए—उस श्रावस्ती नगरी में, सालिहीपिया नामं गाहावई परिवसइ—सालिहीपिता नामक गाथापति रहता था, अइडे दित्ते—वह आद्य यावत् धन, धान्यादि से युक्त था, चत्तारि हिरण्णकोडीओ निहाणपउत्ताओ—उसकी चार करोड़ सुवर्ण मुद्राएं कोष में थीं, चत्तारि हिरण्णकोडीओ वुड्ढिपउत्ताओ—चार करोड़ सुवर्ण मुद्राएं व्यापार में लगी हुई थीं, चत्तारि हिरण्णकोडीओ पवित्थरपउत्ताओ—चार करोड़ सुवर्ण मुद्राएं घर तथा सामान में लगी हुई थीं, चत्तारि वया दस गोसाहस्रिएणं वएणं—प्रत्येक में दस हजार गायों वाले चार ब्रज अर्थात् गोकुल थे, फग्गुणी भारिया—और फाल्गुनी भार्या थी ।

भावार्थ—दसवें अध्यायन का उपक्षेप पूर्ववत् ही है । श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहा—हे जम्बू ! उस काल उस समय श्रावस्ती नगरी में कोष्ठक चैत्य था और जितशत्रु

राजा था। उस श्रावस्ती नगरी में सालिहीपिया नामक गाथापति रहता था। वह धन-धान्य से समृद्ध था। उसकी चार करोड़ सुवर्ण मुद्राएं कोष में सञ्चित थीं, चार करोड़ व्यापार में लगी हुई थीं तथा चार करोड़ घर तथा सामान में लगी हुई थीं। प्रत्येक में १० हजार गायों वाले चार गोत्रज थे और फाल्गुनी नामक पत्नी थी।

मूलम्—सामी समोसढे! जहा आणंदो तहेव गिहि-धम्मं पडिवज्जइ। जहा कामदेवो तहा जेड्डं पुत्तं ठवेत्ता पोसह-सालाए समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म-पण्णत्ति उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। नवरं निरुवसग्गाओ एक्कारसवि उवासग-पडिमाओ तहेव भाणियव्वाओ, एवं कामदेव-गमेणं नेयव्वं जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकीले विमाणे देवत्ताए उववन्ने। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई। महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ। निक्खेवो ॥ २७४ ॥

॥ सत्तमस्स अङ्गस्स उवासगदसाणं दसमं सालिहीपियाज्झयणं समत्तं ॥

छाया—स्वामी समवसृतः यथाऽऽनन्दस्तथैव गृहिधर्मं प्रतिपद्यते ! यथा कामदेवस्तथा ज्येष्ठं पुत्रं स्थापयित्वा पौषधशालायां श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य धर्मप्रज्ञप्तिमुपसम्पद्य विहरति, नवरं निरुपसर्गा एकादशाप्युपासकप्रतिमास्तथैव भणितव्याः। एवं कामदेवगमेन ज्ञातव्यं यावत्सौधर्मं कल्पेऽरुणकीले विमाने देवतयोपपन्नः। चत्वारि पत्न्योपमानि स्थितिः। महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति।

॥ सप्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां दशमं सालिहीपिया अध्ययन् समाप्तम् ॥

शब्दार्थ—सामी समोसढे—स्वामी समवसृत हुए, जहा आणंदो तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ—आनन्द के समान उसने भी गृहस्थ धर्म स्वीकार किया, जहा कामदेवो तहा जेड्डं पुत्तं ठवेत्ता—कामदेव के समान उसने भी अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब भार सौंपकर, पोसहसालाए—पौषधशाला में, समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से ग्रहण की हुई धर्मप्रज्ञप्ति को स्वीकार करके विचरने लगा, नवरं निरुवसग्गाओ—इतना विशेष है कि उसे कोई उपसर्ग नहीं हुआ, एक्कारसवि उवासगपडिमाओ तहेव भाणियव्वाओ—११ उपासक प्रतिमाओं का प्रतिपादन उसी प्रकार है। एवं कामदेवगमेणं नेयव्वं—इसी प्रकार सारी घटनाएं कामदेव श्रावक के समान ही समझनी चाहिएं, जाव—यावत्, सोहम्मे कप्पे अरुणकीले विमाणे देवत्ताए उववन्ने—सौधर्मकल्प में अरुणकील विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ। चत्तारि पलिओवमाइं ठिई—चार पत्न्योपम की स्थिति है, महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ—यह महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा।

भावार्थ—भगवान महावीर स्वामी समवसृत हुए। आनन्द के समान सालिहीपिया ने भी गृहस्थ धर्म को स्वीकार किया और आनन्द के समान ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंपकर पौषधशाला में

भगवान् महावीर से ग्रहण की हुई धर्म-प्रज्ञप्ति का अनुष्ठान करने लगा। विशेष इतना है कि उसे कोई उपसर्ग नहीं हुआ। ११ उपासक प्रतिमाओं का प्रतिपादन उसी प्रकार है। इसी प्रकार सारी घटनाएं कामदेव श्रावक के समान समझनी चाहिएं। यावत् सौधर्मकल्प में अरुणकील विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ। वहां उसकी चार पत्न्योपम की स्थिति है तथा वहां से च्यव कर वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा।

॥ सप्तम अङ्ग उपासकदशा का दशम सालिहीपियाध्ययन समाप्त ॥

उपसंहार

मूलम्—दसण्हवि पणरसमे संवच्छरे वट्टमाण्णाणं चिन्ता। दसण्हवि वीसं वासाइं समणोवासय-परियाओ ॥ २७५ ॥

छाया—दशानामपि पञ्चदशे संवत्सरे वर्त्तमानानां चिन्ता। दशानामपि विंशतिं वर्षाणि श्रमणोपासकपर्यायाः।

शब्दार्थ—दसण्हवि पणरसमे संवच्छरे वट्टमाण्णाणं चिन्ता—दसों ही श्रावकों को पन्द्रहवें वर्ष में कुटुम्ब का भार परित्याग कर विशिष्ट धर्म-साधना की चिन्ता उत्पन्न हुई, दसण्हवि वीसं वासाइं समणोवासयपरियाओ—और दसों ने ही २० वर्ष पर्यन्त श्रावक पर्याय का पालन किया।

भावार्थ—दसों श्रावकों को १५वें वर्ष में कुटुम्ब भार को त्यागकर धर्म-साधना की चिन्ता हुई और दसों ने ही २० वर्ष तक श्रावक धर्म का पालन किया।

मूलम्—एवं खलु जम्बू! समणेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते ॥ २७६ ॥

छाया—एवं खलु जम्बू! श्रमणेन यावत्संप्राप्तेन सप्तमस्याङ्गस्योपासकदशानां दशमस्याऽध्ययनस्यायमर्थः प्रज्ञप्तः।

शब्दार्थ—एवं खलु जम्बू!—इस प्रकार हे जम्बू!, समणेणं जाव संपत्तेणं—श्रमण भगवान् यावत् जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, सत्तमस्स अंगस्स—सातवें अङ्ग, उवासगदसाणं—उपासक-दशाङ्ग-सूत्र के, दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते—दसवें अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है।

भावार्थ—इस प्रकार हे जम्बू! श्रमण भगवान् महावीर जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है, सातवें अङ्ग उपासकदशाङ्ग-सूत्र के दसवें अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है।

मूलम्—उवासगदसाणं सत्तमस्स अंगस्स एगो सुयखंधो। दस अज्झयणा एक्कसरंगा

दससु चैव दिवसेसु उद्दिस्सिज्जन्ति । तओ सुयखंधो समुद्दिस्सिज्जइ, अणुण्णविज्जइ दोसु दिवसेसु, अंगं तहेव ॥ २७७ ॥

॥ उवासगदसाओ समत्ताओ ॥

छाया—उपासकदशानां सप्तमस्याङ्गस्यैकः श्रुतस्कन्धः । दश अध्ययनानि एकस्वरकाणि, दशसु चैव दिवसेषु उद्दिष्यन्ते । ततः श्रुतस्कन्धः समुद्दिष्यते । अनुविज्ञायते द्वयोर्दिवसयोरङ्गस्तथैव ।

शब्दार्थ—उवासगदसाणं—उपासकदशा नामक, सत्तमस्स अंगस्स—सातवें अङ्ग का, एगो सुयखंधो—एक श्रुतस्कन्ध है । दस अज्झयणा—दस अध्ययन हैं, एक्कसरगा—प्रत्येक में एक जैसा स्वर या पाठ है, दससु चैव दिवसेसु—और दस दिनों में, उद्दिस्सिज्जन्ति—पढ़े जाते हैं, तओ सुयखंधो समुद्दिस्सिज्जइ—इस श्रुतस्कन्ध का पाठ पूरा हो जाता है । अणुण्णविज्जइ दोसु दिवसेसु अंगं तहेव—इसी प्रकार दो दिन में भी इस अंग के पाठ की अनुमति दी गई है ।

भावार्थ—उपासकदशा नामक सातवें अङ्ग में एक श्रुतस्कन्ध है । दस अध्ययन हैं । जिनमें एक ही सरीखा स्वर अर्थात् पाठ है । इसका पाठ दस दिनों में पूरा किया जाता है । ऐसा करने पर श्रुतस्कन्ध का पाठ हो जाता है । इसका पाठ दो दिन में करने की अनुमति भी है ।

टीका—उपासकदशा नामक सप्तम अङ्ग के दस अध्ययन और एक श्रुतस्कन्ध है । श्रुतस्कन्ध का अर्थ है श्रुत अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान का स्कन्ध । जैन आगमों का ग्रन्थ विभाजन अनेक प्रकार से मिलता है । किसी आगम का मूल खण्डों के रूप में जो विभाजन किया गया है, उन्हें श्रुतस्कन्ध कहा गया है । श्रुतस्कन्धों का विभाजन अध्ययनों के रूप में किया जाता है और अध्ययनों का उद्देशों के रूप में । उद्देश का अर्थ है—एक प्रकरण या पाठ जिसका स्वाध्याय प्रायः एक ही बार में किया जाता है । उपनिषदों में इसके लिए प्रपाठक शब्द आया है । प्रस्तुत सूत्र में एक श्रुतस्कन्ध है अर्थात् खण्डों में विभाजन नहीं है । इसमें दस अध्ययन हैं । प्रत्येक अध्ययन में एक श्रावक का वर्णन है । अध्ययनों का उद्देशों के रूप में विभाजन नहीं है । यहां 'एक्कसरगा' शब्द का प्रयोग है । इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि पाठ में एक ही शैली अर्थात् गद्य का प्रयोग किया गया है । गाथा या पद्य का नहीं । दूसरा अर्थ यह है कि प्रत्येक अध्ययन में एक ही प्रकरण है अर्थात् उसका उपविभाजन नहीं है । प्रस्तुत सूत्र का स्वाध्याय दस दिनों में पूरा करने की परिपाटी है । किन्तु दो दिनों में पूरा करने की अनुमति भी दी गई है ।

इति श्री जैनधर्मदिवाकर जैनाचार्य पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज द्वारा अनुवादित—

॥ श्री उपासकदशाङ्ग-सूत्र समाप्त ॥

संग्रह-गाथाएं

वाणियगामे चम्पा दुवे य वाणारसीए नयरीए ।
आलभिया य पुरवरी कंपिल्लपुरं च बोद्धव्वं ॥ १ ॥
पोलासं रायगिहं सावत्थीए पुरीए दोन्नि भवे ।
एए उवासगाणं नयरा खलु होन्ति बोद्धव्वा ॥ २ ॥
सिवनंद-भद्द-सामा धन्न-बहुल-पूस-अग्गिमित्ता य ।
रेवई-अस्सिणि तह फग्गुणी य भज्जाण नामाईं ॥ ३ ॥
ओहिण्णाण-पिसाए माया वाहि-धण-उत्तरिज्जे य ।
भज्जा य सुव्वया दुव्वया निरुवसग्गया दोन्नि ॥ ४ ॥
अरुणे अरुणाभे खलु अरुणप्पह अरुणकंत-सिट्ठे य ।
अरुणज्झए य छट्ठे भूय-वडिंसे गवे कीले ॥ ५ ॥
चाली सट्ठि असीई सट्ठी सट्ठी य सट्ठी दस सहस्सा ।
असिई चत्ता चत्ता एए वयाण य सहस्सा ॥ ६ ॥
बारस अट्टारस चउवीसं तिविहं अट्टारसाइ नेयं ।
धन्नेण ति-चोवीसं बारस य कोडीओ ॥ ७ ॥
उल्लण-दन्तवण-फले अब्भिंणुव्वट्टणे सिणाणे य ।
वत्थ-विलेवण-पुप्फे आभरणं धूव-पेज्जाइ ॥ ८ ॥
भक्खोथण-सूव-घए सागे माहुर-जेमणऽन्नपाणे य ।
तम्बोले इगवीसं आणंदाईण अभिग्गहां ॥ ९ ॥
उड्डं सोहम्मपुरे लोलूए अहे उत्तरे हिमवन्ते ।
पंचसए तह तिदिसिं, ओहिण्णाणं दसगणस्स ॥ १० ॥
दंसण-वय-सामाइय-पोसह-पडिमा-अबंभ-सच्चित्ते ।
आरम्भ-पेस-उट्ठि-वज्जए समणभूए य ॥ ११ ॥
इक्कारस पडिमाओ वीसं परियाओ अणसणं मासे ।
सोहम्मे चउपलिया, महाविदेहम्मि सिज्झिहिइ ॥ १२ ॥

॥ उवासगदसाओसमत्ताओ ॥

उपरोक्त संग्रह गाथाएं ग्रन्थ का मूल पाठ नहीं है। उनमें निर्युक्तिकार ने सारे सूत्र का संक्षिप्त परिचय दिया है, जिसका भावार्थ नीचे लिखे अनुसार है—

श्रावक और उनकी नगरियां

वाणिज्य ग्राम में एक श्रावक हुआ	—आनन्द ।
चम्पा में	—कामदेव ।
वाराणसी में	—चुलनीपिता और सुरादेव ।
आलभी में	—चुल्लशतक ।
काम्पिल्यपुर में	—कुण्डकौलिक ।
पोलासपुर में	—सद्दालपुत्र ।
राजगृह में	—महाशतक ।
श्रावस्ती में	—नन्दिनीपिता और सालिहीपिया ।

श्रावकों की भार्याएं

१. आनन्द की शिवानन्दा ।	२. कामदेव की भद्रा ।
३. चुलनीपिता की श्यामा ।	४. सुरादेव की धन्या ।
५. चुल्लशतक की बहुला ।	६. कुण्डकौलिक की पुष्या ।
७. सद्दालपुत्र की अग्निमित्रा ।	८. महाशतक की रेवती आदि तेरह भार्याएं ।
९. नन्दिनीपिता की अश्विनी ।	१०. सालिहीपिया की फाल्गुनी ।

विशेष घटनाएं

१. आनन्द—अवधिज्ञान और गौतम स्वामी का सन्देह ।
२. कामदेव—पिशाच का उपसर्ग और श्रावक का अन्त तक दृढ़ रहना ।
३. चुलनीपिता—पिशाच द्वारा माता भद्रा के वध का कथन सुनकर विचलित होना ।
४. सुरादेव—पिशाच द्वारा सोलह भयंकर रोग उत्पन्न करने की धमकी और उसका विचलित होना ।
५. चुल्लशतक—पिशाच द्वारा सम्पत्ति बिखेरने की धमकी और उसका विचलित होना ।
६. कुण्डकौलिक—देव द्वारा उत्तरीयक तथा अंगूठी का उठाना एवं गोशालक के मत की प्रशंसा करना, कुण्डकौलिक की दृढ़ता और देव का निरुत्तर होना ।
७. सद्दालपुत्र—सुव्रता अग्निमित्रा भार्या ने व्रत से स्वलित हुए को पुनः धर्म में स्थित किया । भगवान् महावीर द्वारा नियतिवाद का खण्डन । और सद्दालपुत्र का गोशालक के मत को छोड़कर उनका अनुयायी बनना ।

८. महाशतक—रेवती का उपसर्ग। महाशतक द्वारा रेवती के भावी नरक गमन का कथन और भगवान् महावीर द्वारा उसे अनुचित बताकर प्रायश्चित्त करने का आदेश।

९. नन्दिनीपिता—इनके जीवन में कोई उपसर्ग नहीं हुआ।

१०. सालिहीपिया—इनके जीवन में कोई उपसर्ग नहीं हुआ।

मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में प्राप्त विमानों के नाम—

- | | |
|-------------------------|------------------------|
| १. आनन्द—अरुण | २. कामदेव—अरुणाभ |
| ३. चुलनीपिता—अरुणप्रभ | ४. सुरादेव—अरुणकान्त |
| ५. चुल्लशतक—अरुणश्रेष्ठ | ६. कुण्डकौलिक—अरुणध्वज |
| ७. सद्दालपुत्र—अरुणभूत | ८. महाशतक—अरुणावर्तसक |
| ९. नन्दिनीपिता—अरुणगव | १०. सालिहीपिया—अरुणकील |

पशु-धन की संख्या—

१. आनन्द—चार व्रज=४० हजार गौएं।
२. कामदेव—छः व्रज=६० हजार गौएं।
३. चुलनीपिता—आठ व्रज=८० हजार गौएं।
४. सुरादेव—छः व्रज=६० हजार गौएं।
५. चुल्लशतक—छः व्रज=६० हजार गौएं।
६. कुण्डकौलिक—छः व्रज=६० हजार गौएं।
७. सद्दालपुत्र—एक व्रज=१० हजार गौएं।
८. महाशतक—आठ व्रज=८० हजार गौएं।
९. नन्दिनीपिता—चार व्रज=४० हजार गौएं।
१०. सालिहीपिया—चार व्रज=४० हजार गौएं।

सुवर्ण अर्थात् मोहरों की संख्या—

१. आनन्द—१२ करोड़, तीन क्षेत्रों में विभक्त अर्थात्—१. निधान, २. व्यापार तथा ३. घर एवं सामान के रूप में, प्रत्येक में चार करोड़।
२. कामदेव—१८ करोड़, प्रत्येक क्षेत्र में छः करोड़।
३. चुलनीपिता—२४ करोड़, प्रत्येक क्षेत्र में आठ करोड़।

४. सुरादेव—१८ करोड़, प्रत्येक क्षेत्र में छः करोड़।
५. चुल्लशतक—१८ करोड़, प्रत्येक क्षेत्र में छः करोड़।
६. कुण्डकौलिक—१८ करोड़, प्रत्येक क्षेत्र में छः करोड़।
७. सद्दालपुत्र—३ करोड़, प्रत्येक में एक करोड़।
८. महाशतक—२४ करोड़ निजी। आठ करोड़ रेवती का था।
९. नन्दिनीपिता—१२ करोड़, प्रत्येक क्षेत्र में चार करोड़।
१०. सालिहीपिया—१२ करोड़, प्रत्येक क्षेत्र में चार करोड़।

अभिग्रह अर्थात् भोग्य वस्तुओं की मर्यादा—

आनन्द आदि श्रावकों ने नीचे लिखी २१ बातों में मर्यादा कर रखी थी—

१. उल्लवण—स्नान के पश्चात् अंग पोंछने के काम में आने वाले अंगोछे या तौलिया का।
२. दन्तवण—दातुन।
३. फले—फल।
४. अब्मंगण—अभ्यंगन अर्थात् मालिश करने के तेल।
५. उव्वड्डण—उबटन अर्थात् अङ्गों पर मलने के लिए सुगन्धित आटा।
६. नहाण—स्नान के लिए पानी का परिमाण।
७. वत्थ—वस्त्र, पहनने के कपड़े।
८. विलेपण—विलेपन, चन्दन-कस्तूरी आदि लेप करने के द्रव्य।
९. पुप्फे—पुष्प-फूल माला आदि।
१०. आभरण—आभूषण-जेवर आदि।
११. धूव—धूपबत्ती आदि कमरे को सुगन्धित करने वाली वस्तुएं।
१२. पेज्ज—पेय-शरबत-ठंडाई आदि पीने की वस्तुएं।
१३. भक्ख—भक्ष्य-पकवान्न या मिठाई।
१४. ओयण—ओदन अर्थात् चावल। (यह उन दिनों बिहार का मुख्य भोजन था।)
१५. सूय—सूप-दालें।
१६. घए—घृत-घी।
१७. साग—शाक-पकाई जाने वाली सब्जियां।

१८. माहुर—माधुर-गुड़ चीनी आदि भोजन मीठा बनाने वाली वस्तुएं।
 १९. जेमण—दही, बड़े, पकोड़े, पापड़ आदि भोजनोपरान्त खाई जाने वाली वस्तुएं।
 २०. पाणे—पानीय-कुआं, नदी, सरोवर, बादलों आदि का पानी पीने के लिए।
 २१. तम्बोल—ताम्बूल अर्थात् पान और उसमें खाये जाने वाले मसाले।

अवधिज्ञान की मर्यादा

दो श्रावकों को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ और वे विभिन्न दिशाओं में नीचे लिखे अनुसार देखने जानने लगे।

पूर्वदिशा—लवणसमुद्र में पांच सौ योजन तक। इसी प्रकार दक्षिण और पश्चिम में।

उत्तरदिशा—चुल्ल हिमवान् पर्वत तक।

ऊर्ध्वदिशा—सौधर्म देवलोक में सौधर्म कल्प दिमान तक।

अधोदिशा—प्रथम रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में लोलुपाच्युत नामक स्थान तक जहां चौरासी हजार वर्ष की आयु वाले नारकीय जीव रहते हैं। महाशतक ने तीनों दिशाओं में हजार-हजार योजन तक अवधिज्ञान से जाना और देखा।

ग्यारह प्रतिमाएं

प्रत्येक श्रावक ने ग्यारह प्रतिमाएं स्वीकार की थीं। इनका निरूपण अन्यत्र किया जा चुका है। उनके नाम नीचे लिखे अनुसार हैं—

- | | |
|--|-------------------|
| १. दर्शन | २. व्रत |
| ३. सामायिक | ४. पौषध |
| ५. दिवाब्रह्मचारी | ६. ब्रह्मचर्य |
| ७. सचित्त परित्याग | ८. आरम्भ परित्याग |
| ९. प्रेष्य अर्थात् नौकर आदि भेजने का परित्याग। | |
| १०. उद्दिष्ट भोजन परित्याग। | ११. श्रमणभूत |

प्रत्येक श्रावक ने बीस वर्ष तक व्रत एवं प्रतिमाओं का पालन किया और अन्त में संलेखना द्वारा देह का परित्याग करके सौधर्म देवलोक में चार पत्योपम की आयु प्राप्त की। वहां से च्यव कर सबके सब महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होंगे और सिद्धि प्राप्त करेंगे।



परिशिष्ट

उपासकदशाङ्ग

प्रस्तुत सूत्र का नाम उवासगदसाओ है। साधारणतया इसे उपासकदशाङ्ग कहा जाता है। अङ्गसूत्रों में गणना होने के कारण इसके साथ 'अङ्ग' पद जोड़ दिया गया है। शेष दो अर्थात्, 'उपासक' और 'दश' शब्द इसके प्रतिपाद्य विषय को प्रकट करते हैं। इसमें दस उपासकों का वर्णन है। उपासक शब्द संस्कृत की आसू उपवेशने धातु से पहले उप उपसर्ग लगाने पर बना है। इसी से उपासना शब्द भी बनता है। उपासक का अर्थ है उपासना करने वाला। उपासना का अर्थ है समीप बैठना। वेद तथा उपनिषदों में अग्नि, सूर्य, प्राण, प्रणव अर्थात् ओंकार, दहर अर्थात् हृदयाकाश आदि अनेक प्रकार की उपासनाओं का वर्णन है। वहाँ इसका यही अर्थ है कि अपने लक्ष्य का बार २ चिन्तन करना और अन्य सब बातों से हटकर उसी के ध्यान में लगे रहना। किन्तु यहाँ इसका अर्थ है, अरिहन्त तथा साधुओं की उपासना करने वाला अर्थात् उनके समीप बैठकर धर्मकथा सुनने वाला। उपनिषत् शब्द भी इसी अर्थ को प्रकट करता है। नी पूर्वक शब्द धातु का अर्थ है बैठना और 'उप' का अर्थ है समीप। इसी प्रकार का दूसरा शब्द 'उपोसह' है। इसका संस्कृत रूप है उपवसत्थ, अर्थात् पास में बसना। जब श्रायक व्रत लेकर कुछ समय के लिए मुनियों के पास रहने का निश्चय करता है तो उसे 'उपवसत्थ' कहा जाता है। 'उपवास' शब्द भी इसी अर्थ को लिए हुए है किन्तु वहाँ आचार्य या गुरु के स्थान पर आत्मा अर्थ लिया जाता है। उपवास का अर्थ है, भोजन आदि बाह्य व्यापार छोड़कर निरन्तर आत्मचिन्तन में लीन रहना। 'उपस्थिति' शब्द भी इसी अर्थ को प्रकट करता है।

अङ्गटे जाव अपरिभूए—जिस प्रकार अग्निशिखा से प्रज्वलित तथा वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीप प्रकाश देता रहता है उसी प्रकार आनन्द भी प्रदीप्त अर्थात् दूसरों के लिए प्रकाश-दाता था। उसके पास जो सम्पत्ति थी उसकी तुलना तेल और बत्ती से की गई है। उदारता, गंभीरता आदि गुणों की शिखा से और दीप्ति से। और मर्यादा पालन की वायु रहित स्थान से। तेजस्वी जीवन के लिए इन सब बातों की आवश्यकता है अर्थात् उसके तीन तत्त्व हैं—वैभव, सद्गुण, और मर्यादापालन, इसी जीवन को 'आद्य' शब्द से प्रकट किया गया है। दूसरा विशेषण 'अपरिभूत' है। इसका अर्थ है परिभव या अनादर का न होना। जो व्यक्ति सम्पन्न सद्गुणी, तथा मर्यादा में स्थिर है उसका कहीं तिरस्कार नहीं होता। आद्यता और अपरिभव आदर्श गृहस्थ के मूल तत्त्व हैं।

तस्स णं आणंदस्स—प्रस्तुत सूत्र में आनन्द गाथापति की सम्पत्ति का वर्णन किया गया है, उसके पास बारह कोटि सुवर्ण था। चार कोटि कोष में संगृहीत तथा चार वृद्धि के लिए व्यापार में लगा हुआ था, और चार गृह सामग्री में। यह विभाजन तत्कालीन अर्थ व्यवस्था को सूचित करता है। इसका

अर्थ है उस समय सम्पत्ति के तीन विभाग किए जाते थे और प्रत्येक में समान रूप से अर्थ का विनियोग किया जाता था। जितना व्यापार में लगाया जाता था उतना ही कोष में भी रखा जाता था, जिसका व्यापार में क्षति या संकट के समय उपयोग हो सके। इससे तत्कालीन गृहस्थों की दूरदर्शिता प्रकट होती है।

उस समय सुवर्ण नाम का सिक्का प्रचलित था। शक काल में इसे दीनार कहा गया। यह शुद्ध सुवर्ण और ३२ रस्ती का होता था।

मुद्रा के रूप में उपरोक्त धन के अतिरिक्त आनन्द के पास गोधन भी विशाल संख्या में था। यहां गो शब्द का अर्थ केवल गाय नहीं है, बैल तथा अन्य पशु भी उसमें आ जाते हैं, फिर भी यह मानना पड़ता है कि उस समय गृहस्थ के काम में आने वाले मुख्य पशु गाय और बैल ही थे। गौओं से दूध, घी, मक्खन आदि पौष्टिक पदार्थ प्राप्त होते थे।

महाकवि कालीदास ने राजा दिलीप के व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए उसे वृषस्कन्ध कहा है, अर्थात् उसके कन्धे बैल के समान उभरे हुए थे। जैन, बौद्ध, एवं प्राचीन वैदिक साहित्य में बैल को अत्यन्त शुभ, भार ढोने में समर्थ तथा संकट काल में साहस न तोड़ने वाला बताया गया है। साथ ही वह अहिंसक भी होता है। कालान्तर में जब हिंसा एवं क्रूरता को क्षत्रियों का गुण माना जाने लगा तो उनकी उपमा सिंह से दी जाने लगी।

आस्तिकवाद—आस्तिक और नास्तिक शब्द को लेकर अनेक प्रकार की धारणाएं प्रचलित हैं। मनु-स्मृति में आया है—

यो न धीत्य द्विजो वेदान्, अन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स शूद्रवत् बहिष्कार्यः, नास्तिको वेदनिन्दकः । ।

—मनु स्मृति ।

अर्थात् जो ब्राह्मण वेदों को बिना पढ़े अन्यत्र परिश्रम करता है वह नास्तिक तथा वेदनिन्दक है! उसे शूद्र के समान बहिष्कृत कर देना चाहिए। मनु की दृष्टि में जो व्यक्ति वेदों में श्रद्धा नहीं रखता वह नास्तिक है। किन्तु इस दृष्टि से मीमांसा तथा वेदान्त को छोड़कर सभी दर्शनों को नास्तिक मानना होगा।

पाणिनीय में आस्तिक और नास्तिक शब्द की व्युत्पत्ति के लिए नीचे लिखा सूत्र दिया है—“अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः”। अर्थात् जिस व्यक्ति के मत में परलोक है, वह आस्तिक है। जिसके मत में नहीं है, वह नास्तिक है। और जो दिष्ट अर्थात् भाग्य को मानता है वह दैष्टिक है। कठोपनिषद् इन शब्दों की व्याख्या मरने के बाद आत्मा के अस्तित्व को लेकर की गई है। जो लोग मृत्यु के पश्चात् आत्मा का अस्तित्व मानते हैं वे आस्तिक हैं और जो नहीं मानते वे नास्तिक हैं।

भगवान् महावीर ने अपने आस्तिकवाद को आचाराङ्ग सूत्र के प्रारम्भ में प्रकट किया है। वहां उन्होंने चार बातें बताई हैं—

आत्मावादी—अर्थात् आत्मा के अस्तित्व को मानने वाला।

लोकवादी—विश्व के अस्तित्व को मानने वाला।

कर्मवादी—पुरुषार्थ, शुभाशुभ फल को मानने वाला।

क्रियावादी—पुरुषार्थ में विश्वास रखने वाला।



भौगोलिक स्थानों का परिचय

आलभिया (पाली-आलवी, अर्धमागधी-आलभी)—भगवान् महावीर १८वें वर्षावास के लिए आलभिया आये और चुल्लशतक को श्रावक बनाया। यह नाम जनपद और नगर दोनों के लिए मिलता है। आलभिया नगर आलभिया जनपद की राजधानी थी। इसे श्रावस्ती से ३० योजन तथा बनारस से १२ योजन बताया गया है। इससे ज्ञात होता है कि वह राजगृह तथा श्रावस्ती के बीच रही होगी। कनिङ्गम तथा होरनले ने इसकी उत्तरप्रदेश के उन्नाव जिले के नावाल अथवा नेवाल नामक स्थान के साथ एकता बताई है। परन्तु नन्द लालडे का मत है कि इटावा से २७ मील उत्तर पूर्व में स्थित अविवा नामक स्थान ही आलभिया है।

कम्पिल्लपुर—भगवान् महावीर ने अपना २१वां वर्षावास कम्पिल्लपुर (सं-कम्पिल्लपुर) में किया और कुण्डकौलिक को अपना अनुयायी बनाया। इस स्थान का निर्देश महाभारत, बौद्ध साहित्य तथा संस्कृत साहित्य में अनेक बार आया है। ज्ञात होता है कि उन दिनों यह विशाल नगर और व्यापार का केन्द्र रहा होगा। बौद्धों के कुम्भकारजातक में इसे उत्तर पञ्चाल की राजधानी और गङ्गा के उत्तरी तट पर बताया गया है। किन्तु महाभारत में इसे दक्षिण पञ्चाल की राजधानी बताया है। वर्तमान फर्रुखाबाद जिले में 'कम्पिल' नाम का गांव है, कहा जाता है यही प्राचीन कम्पिलपुर था।

चम्पा—भगवान् महावीर अपने ३०वें वर्षावास के लिए चम्पा आये और कामदेव को प्रतिबोध दिया।

बिहार के भागलपुर जिले में चम्पापुर नाम का गांव है जो गंगा के तट पर बसा हुआ है। भगवान् महावीर के समय वह चम्पा नाम की विशाल नगरी के रूप प्रसिद्ध था। यह नगरी अंगदेश की राजधानी थी, कहा जाता है कि वर्तमान भागलपुर जिला ही उस समय अंगदेश के नाम से प्रसिद्ध था।

पोलासपुर—भगवान् महावीर अपने २१वें वर्षावास के लिए पोलासपुर में आए और सद्दालपुत्र को अपना अनुयायी बनाया। पाली साहित्य में इसका नाम पलासपुर मिलता है। पोलासपुर नगर के बाहर ही 'सहस्राप्रवन' नाम का उद्यान था।

वाणियग्गाम-वाणिज्यग्राम (अ.१सू.३)—भगवान् महावीर अपने १५वें वर्षावास के लिए वाणिज्यग्राम आये और गाथापति आनन्द को श्रावक धर्म में दीक्षित किया। यह चेटक की राजधानी वैशाली का उपनगर था और उसके पास ही बसा हुआ था, मुख्यतया व्यापार का केन्द्र था। वर्तमान में इसका नाम 'बानिया गांव' है और यह बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) के पास बसा हुआ है।

वाराणसी—भगवान महावीर ने अपना १८वां वर्षावास वाराणसी में बिताया और चुलनीपिता तथा सुरादेव को श्रावक बनाया। यह नगर गङ्गा के पश्चिमी तट पर बसा हुआ है और अब भी विद्या तथा व्यापार का विशाल केन्द्र है। इसके एक ओर 'वरणा' नदी है और दूसरी ओर 'अस्सि' नाम का बरसाती नाला। इन्हीं दोनों के बीच बसी होने के कारण इसे वाराणसी कहा जाता है। मुसलमानों तथा अंग्रेजों के समय नाम को बिगाड़कर इसे बनारस कहा जाने लगा। स्वतंत्र भारत में पुनः वाराणसी प्रचलित कर दिया गया। यह २३ वें तीर्थकर भगवान् पार्श्वनाथ की जन्म भूमि है। इससे कुछ ही दूर बौद्धों का प्रसिद्ध तीर्थ सारनाथ है जहां बुद्ध ने सर्व प्रथम उपदेश दिया था। इसी के आसपास का जंगल बौद्ध साहित्य में 'मृगदाव' के नाम से प्रसिद्ध है। सारनाथ को जैन तीर्थकर भगवान् श्रेयांसनाथ की जन्मभूमि माना जाता है। उससे पांच मील दूर चन्द्रावती नाम का स्थान है जो आठवें तीर्थकर चन्द्रप्रभ की जन्मभूमि है। वैदिक साहित्य में वाराणसी का वर्णन काशी के नाम से मिलता है। और उसे दस पवित्र नगरियों में गिना गया है। इस प्रकार वाराणसी का जैन, बौद्ध और ब्राह्मण तीनों परम्पराओं में महत्वपूर्ण स्थान है। जैन तथा बौद्ध साहित्य में काशी का वर्णन जनपद के रूप में आता है और वाराणसी का उसकी राजधानी के रूप में। काशी के पूर्व में, गङ्गा के पूर्वी तट पर मगध की सीमा प्रारम्भ हो जाती है। काशी के उत्तर में विदेह जनपद है और दक्षिण में कोशल। पश्चिम में वत्स जनपद था।

रायगिह (सं. राजगृह) भगवान् महावीर ने यहां अनेक वर्षावास बिताये थे। यहीं पर २२ वें वर्षावास में महाशतक को श्रावक बनाया। जैन तथा बौद्ध साहित्य में राजगृह का महत्वपूर्ण स्थान है। यहां का राजा श्रेणिक भगवान महावीर का परम भक्त था। बौद्ध साहित्य में इसका नाम बिम्बसार के रूप में मिलता है। इसकी चेलणा आदि रानियां तथा मन्त्री अभयकुमार भी महावीर के परम भक्त थे। बुद्धि-वैभव के लिए जैन साहित्य में अभयकुमार का सर्वोच्च स्थान है। रोहिणा चोर, धन्ना सार्थवाह आदि की कहानियां बड़ी-बड़ी संख्या में राजगृह से सम्बद्ध हैं। श्रेणिक का दूसरा पुत्र कुणिक या अजातशत्रु था। उसने पिता को कैद में डाल दिया और स्वयं गद्दी पर बैठ गया। आसपास के जनपदों को जीतकर उन्हें मगध साम्राज्य में मिला लिया।

इस समय इस स्थान का नाम राजगिरि है। यह पटना से ७० मील तथा नालन्दा से ८ मील है। चारों ओर पर्वतों से घिरा हुआ है। प्राचीन काल में यह स्थान अत्यन्त महत्व का था तथा विभिन्न व्यापारिक मार्ग यहीं से होकर जाते थे।

सावत्यी—भगवान् महावीर २३वें वर्षावास के लिए श्रावस्ती आये और नन्दिनीपिता को श्रावक बनाया, दसवां श्रावक सालिहीपिता भी यहीं का निवासी था। यह नगरी राप्ती (सं. इरावती) नदी के तट पर बसी हुई थी। इसका वर्तमान नाम साहेत-महेत है। प्राचीन काल में यह कोशल की राजधानी

थी। और साकेत (वर्तमान अयोध्या) से छ योजन थी। राप्ती का प्राचीन नाम अचिरवती या अजिरवती है। जैन सूत्रों में इसे इरावती कहा है।

सहस्राग्रवन—प्रस्तुत सूत्र में सहस्राग्रवन का निर्देश दो स्थानों पर आया है। कुण्डकौलिक अध्ययन में काम्पिल्यपुर के साथ और सद्दालपुत्र अध्ययन में पोलासपुर के साथ। पाली साहित्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि सहस्राग्रवन आजीविकों का मुख्य केन्द्र था। प्रस्तुत सूत्र में भी उपरोक्त दोनों श्रावकों की मुख्य घटनाएं आजीविक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती हैं। दोनों के धर्मानुष्ठान का वर्णन भी अशोक-वनिका में ही है।

□□

ऐतिहासिक नामों का परिचय

गोशालक—उपासकदशाङ्गसूत्र में गोशालक और उसके सिद्धान्त का वर्णन दो बार आया है। भगवतीसूत्र के पन्द्रहवें शतक में उसका विस्तृत वर्णन है। गोशालक छद्मस्थ काल में भगवान महावीर का शिष्य रहा और उसके पश्चात् उनका प्रतिस्पर्धी बन गया। वह आजीविक सम्प्रदाय का तीसरा आचार्य माना जाता है। भगवतीसूत्र में आया है कि गोशालक से ११७ वर्ष पहले आजीविक सम्प्रदाय प्रारम्भ हो चुका था।

गोशालक निमित्त शास्त्र का पण्डित था। उसने यह छः दिशाचर संन्यासियों से सीखा था। आजीविक सम्प्रदाय के अन्य साधु भी इसके अभ्यासी थे। आजीविक सम्प्रदाय की दूसरी विशेषता है कठोर तपश्चरण। स्थान्द्रसूत्र में उनके द्वारा की जाने वाली चार प्रकार की तपस्याओं का उल्लेख है। उववाईसूत्र में आजीविकों की नीचे लिखी श्रेणियां बताई गई हैं—

१. प्रत्येक, द्वितीय, तृतीय चतुर्थ, षष्ठ अथवा सप्तम घर से भिक्षा लेने वाले, २. केवल कमल-नाल की भिक्षा लेने वाले, ३. प्रत्येक घर से भिक्षा लेने वाले, ४. बिजली चमकने पर भिक्षा छोड़ देने वाले, ५. बड़े मटके में बैठकर तपस्या करने वाले (उष्ट्रिक श्रमण)। आजीविक साधु अकेले रहते थे, ठंडे पानी का उपयोग करते थे। गेहूं चने आदि कच्चे अनाज को स्वीकार करते थे और अपने लिए बना हुआ भोजन अर्थात् आधाकर्मी आहार स्वीकार करते थे। स्त्रियों से सम्बन्ध रखते थे और दिगम्बर धूमते थे।

आजीविक सम्प्रदाय के गृहस्थ गोशालक को अर्हत्, जिन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा तीर्थङ्कर कहकर पूजते थे। माता-पिता में भक्ति रखते थे। पांच प्रकार के फलों का परित्याग करते थे। उदुम्बर, वट (बड़ का फल) बोर (मञ्जरी), सतर तथा पिलंखु, कन्द-मूल, गाजर, प्याज भी नहीं खाते थे। ऐसा व्यापार करते थे जिसमें जीवहिंसा न हो और खस्सी किए बिना ही बैलों को काम में लाते थे। वे भी १५ कर्मादानों द्वारा आजीविकोपार्जन नहीं करते थे। उपासकदशाङ्गसूत्र में सद्दालपुत्र का वर्णन आजीविकोपासक के रूप में आया है। श्रावस्ती और पोलासपुर आजीविकों के मुख्य केन्द्र थे। वहां एक आजीविकशाला का भी वर्णन मिलता है।

सद्दालपुत्र के कथानक से ज्ञात होता है कि गोशालक नियतिवादी था अर्थात् वह मानता था कि विश्व का परिवर्तन निश्चित है। पुरुषार्थ या पराक्रम के द्वारा उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। सूत्रकृताङ्ग में नियतिवाद की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि हमारे सुख-दुख न तो हमारे किए हुए हैं और न किसी दूसरे के। वे सब नियत हैं अर्थात् जो होने हैं होकर रहेंगे।

महावीर और गोशालक का परस्पर सम्बन्ध—भगवती सूत्र में गोशालक का वर्णन नीचे लिखें अनुसार किया गया है—वह शंखवण नाम की बस्ती में एक ब्राह्मण की गोशाला में उत्पन्न हुआ था। उसके पिता का नाम मंखलि था। मंख का अर्थ है परिव्राजक। गोशालक का पिता हाथ में एक चित्र लेकर घूमा करता था और उसे दिखाकर भिक्षा मांगता था। इसीलिए उसका नाम मंखलि पड़ गया।* घूमते हुए वह एक बार शंखवण आया और एक ब्राह्मण की गोशाला में ठहर गया। वहीं पर उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। गोशाला में उत्पन्न होने के कारण उसका नाम गोशालक पड़ गया। बड़ा होने पर गोशालक भी परिव्राजक बन गया और भिक्षा वृत्ति करने लगा। एक बार वह राजगृह में आया और जुलाहे की तन्तुशाला (खड़ी या कपड़ा बुनने का स्थान) में ठहर गया। भगवान् महावीर भी उस समय वहां ठहरे हुए थे। गोशालक ने महावीर के प्रति होने वाले पूजा-सत्कार को देखा और उनका शिष्य बन गया।

एक बार शरत् काल में जब वृष्टि नहीं हो रही थी, भगवान् महावीर गोशालक के साथ सिद्धार्थ ग्राम से कूर्म ग्राम की ओर जा रहे थे। मार्ग में एक पत्र-पुष्पयुक्त तिल का पौधा था। उसको देखकर गोशालक ने पूछा—भगवन्! यह तिल का पौधा फलवान होगा या नहीं! पौधे पर लगे सात फूलों के जीव मरकर कहां उत्पन्न होंगे? भगवान् ने उत्तर दिया—गोशालक! यह तिल का पौधा फलवान् होगा तथा ये सात तिल पुष्प के जीव मरकर इसी पौधे की एक फली में सात तिल होंगे।

वे दोनों कूर्म ग्राम में पहुंचे तो वैशम्पायन नाम के तपस्वी को देखा। वह ग्रीष्म ऋतु के प्रचण्ड सूर्य में आतापना ले रहा था। हाथ ऊंचे उठा रखे थे और सिर पीछे की ओर झुका रखा था। उसका सिर तथा शरीर जुओं से भरा था। उसे देखकर गोशालक को हंसी आ गई। उसने तापस का मजाक उड़ाना शुरू किया। वैशम्पायन को क्रोध आ गया और उसने गोशालक को भस्म करने के लिए तेजोलेश्या का प्रयोग किया। किन्तु महावीर ने शीतललेश्या द्वारा उसे शान्त कर दिया और गोशालक के प्राण बचा लिए। गोशालक के पूछने पर उन्होंने यह भी बताया तेजोलेश्या किस प्रकार प्राप्त की जाती है।

तत्पश्चात् वे सिद्धार्थग्राम लौट आए। मार्ग में सरसों के पौधे को देखा। यहीं पर मतभेद हो जाने के कारण गोशालक महावीर से पृथक् हो गया। उसने कठोर तपस्या द्वारा तेजोलब्धि प्राप्त की और अपने आप को 'जिन' कहने लगा। क्रमशः वह आजीविक सम्प्रदाय का नेता बन गया। इस सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र श्रावस्ती था। वहां हालाहला नाम की आजीविकोपासिका रहती थी जो

* टिप्पण—संस्कृत में मंखलि का रूपान्तर मसकरी मिलता है। मसकर का अर्थ है—बांस का डण्डा। उसे हाथ में लेकर घूमने वाला परिव्राजक मसकरी कहा गया। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में इसका यही अर्थ बताया है। देखो—सू० मसकर, मसकरिपौ वेणुपरिव्राजक्योः।

जाति से कुम्हार थी। परिव्राजक जीवन के २४वें वर्ष में एक बार गोशालक उसके पास आपण में ठहरा हुआ था। छः दिशाचर भी वहां आए। उस समय भगवान् महावीर भी श्रावस्ती में ठहरे हुए थे। उन्होंने गोशालक के जीवन का वर्णन किया और कहा कि वह जिन नहीं है। इस पर गोशालक क्रुद्ध हो गया और उसने महावीर के शिष्य आनन्द को बुलाकर कहा यदि महावीर मेरे विरुद्ध कुछ कहेंगे तो मैं उन्हें तेजोलेश्या द्वारा भस्म कर दूंगा। आनन्द ने महावीर के पास जाकर सारी बात कही। भगवान् ने उत्तर दिया, यह सत्य है कि गोशालक के पास तेजोलेश्या है किन्तु वह उसका प्रयोग अरिहन्त पर नहीं कर सकता, अरिहन्त की शक्ति उसकी अपेक्षा कहीं अधिक है। उन्होंने आनन्द के द्वारा अपने शिष्यों को कहलाया कि वे गोशालक के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क या वार्तालाप न करें।

एक दिन गोशालक अपने शिष्यों के साथ श्रमण भगवान् महावीर के पास पहुंचा और उनसे कहने लगा—“आपका शिष्य मंखलिपुत्र गोशालक बहुत दिन पहले मर चुका है। मैं वह नहीं हूं। मैं तो उदायी कौण्डिनेय हूं।” उसने अपने पिछले सात जन्म भी बताए। साथ ही अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया। उत्तर में महावीर ने कहा—“तुम अपने असली रूप को छिपाते हो किन्तु वह मुझसे छिपा नहीं रह सकता।” इस पर गोशालक को क्रोध आ गया और उसने तेजोलेश्या द्वारा महावीर के दो शिष्यों को भस्म कर दिया। गोशालक ने महावीर पर भी उसका प्रयोग किया किन्तु वह निष्फल गई।

महावीर पर प्रयोग की गई तेजोलेश्या निष्फल होने पर स्वयं गोशालक को जलाने लगी। अपने निवास स्थान पर लौटकर वह विक्षिप्त के समान रहने लगा। कभी नाचता, कभी गाता, कभी हालाहला के सामने कुचेष्टाएं करता और कभी अपने शरीर को कीचड़ से लीप लेता। अन्त में जब उसने देखा कि मृत्यु समीप आ गई है तो अपने स्थविरों को बुलाकर कहा—महावीर ही सच्चे जिन हैं। तुम लोग उन्हीं की उपासना करना। मैंने जो प्ररूपणा की है वह मिथ्या है। इस बात को सर्वसाधारण को घोषित कर देना।

गोशालक मरकर देवता के रूप में उत्पन्न हुआ और अन्त में मोक्ष को प्राप्त करेगा।

जैन और बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि उन दिनों आजीविकों का सम्प्रदाय अत्यन्त प्रतिष्ठित था। इसके अनुयायियों की संख्या महावीर से भी अधिक थी। सर्वसाधारण के मानस पर नियतिवाद का काफी प्रभाव था। नन्दी सूत्र में दृष्टिवाद के ८८ सूत्रों या प्रवादों का वर्णन है। उनमें से २२ का सम्बन्ध आजीविकों के साथ है और २२ का त्रैराशिकों के साथ। अभयदेवसूरि के मतानुसार त्रैराशिक गोशालक के अनुयायी थे। अशोक की धर्मलिपि में आजीविकों का तीन बार उल्लेख आया है। उसके पौत्र दशरथ ने नागार्जुनी तथा बाराबर की पहाड़ियों में उनके निवास के लिए गुफाएं प्रदान की

थीं। वररहमिहिर (५५० ई. प.) ने अपने समय के सात धार्मिक सम्प्रदायों में इसका भी उल्लेख किया है। निशीथचूर्णि में ८०० पण्डरभिक्षुओं का वर्णन आया है, जिन्हें गोशालक का अनुयायी माना जाता है। शीलाङ्काचार्य (८७६ ई. प.) ने आजीविकों और दिगम्बरों की एकता का प्रतिपादन करके दोनों को गोशालक का अनुयायी बताया है। बृहज्जातक में टीकाकार भटोटपल ने उन्हें एकदण्डी बताया है।

चेडग—अ. १ सूत्र ३. (चेटक)—महाराजा चेटक भगवान् महावीर स्वामी के मामा और वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष थे, जिसमें नौ मल्ली और नौ लिच्छवी गणराज्य सम्मिलित थे। उसकी बहन त्रिशला भगवान् महावीर की माता थी। चेटक की सात कन्याओं का वर्णन जैन-साहित्य में बहुत जगह मिलता है। उनमें से मृगावती, प्रभावती आदि का स्थान सोलह महासतियों में है। वे इस प्रकार हैं।

१. प्रभावती—(महासती) वीतभय के राजा उदयन की पत्नी।
२. पद्मावती—(महासती) चम्पा के राजा दधिवाहन की रानी।
३. मृगावती—(महासती) कौशाम्बी के राजा शतनीक की रानी।
४. शिवा—(महासती) उज्जैनी के राजा चण्डप्रद्योत की रानी।
५. ज्येष्ठा—कुण्ड ग्राम के राजा (महावीर के बड़े भाई) नन्दीवर्धन की रानी।
६. सुज्येष्ठा—इसने विवाह नहीं किया और भगवान् महावीर के पास दीक्षा ले ली।
७. चेलना—राजगृह के सम्राट् श्रेणिक की रानी।

कहा जाता है कि जब अभयकुमार ने दीक्षा ले ली, तो श्रेणिक ने नन्दा (अभयकुमार की माता) को देवदूष्य भेंट किया। उसी समय हल तथा विहल नामक छोटे पुत्रों को सेचनक नाम का हाथी और एक बहुमूल्य हार दिया। इन दोनों का मूल्य मगध साम्राज्य के बराबर था। जब कूणिक अपने पिता श्रेणिक को कैद करके सिंहासन पर बैठा तो उसने इन दोनों की मांग की। हल और विहल अपने नाना चेटक की शरण में चले गए। परिणाम स्वरूप कूणिक और चेटक का भयंकर युद्ध हुआ जिसमें एक ओर मगध साम्राज्य था और दूसरी ओर वैशाली का गणतन्त्र। भगवती सूत्र में इस लड़ाई का विस्तृत वर्णन है।

कूणिक—बौद्ध साहित्य में इसका उल्लेख अजातशत्रु के नाम से मिलता है। यह चेलना का पुत्र था। कहा जाता है जब यह गर्भ में आया तो एक दिन चेलना को अपने पति श्रेणिक का मांस खाने की इच्छा हुई। चेलना ने समझा कि उसका भावी पुत्र पति के लिए अशुभ है। पैदा होते ही उसे नगर के बाहर कचरे के ढेर पर फेंकवा दिया। जब श्रेणिक को यह बात ज्ञात हुई तो वह चेलना पर नाराज हुआ और पुत्र को वापिस मंगवा लिया। जब वह कचरे पर पड़ा था, तो उसके अंगूठे को एक कुक्कुट

ने काट डाला जिससे वह टेढ़ा हो गया। इसी कारण बालक का नाम कूणिक पड़ गया। जब वह बड़ा हो गया श्रेणिक ने अपने ग्यारह पुत्रों को बुलाया और राज्य को उनमें बांट देने के लिए कहा। कूणिक सारे राज्य पर अकेला अधिकार करना चाहता था। उसने षड्यंत्र करके पिता को कैद में डाल दिया और स्वयं गद्दी पर बैठ गया। श्रेणिक को भूखा तथा प्यासा रखा जाने लगा और प्रतिदिन १०० कोड़े लगाए जाने लगे। चेलना को भी उससे मिलने की अनुमति नहीं मिली। कुछ दिनों बाद उसने किसी प्रकार अनुमति प्राप्त की और वह अपने बालों में ऐसी वस्तुएं छिपाकर ले गई जिससे पति की प्राण रक्षा हो सके।

एक दिन कूणिक कुछ शान्त होकर माता से बातें कर रहा था। चेलना ने बताया कि किस प्रकार वह बाहर फैंक दिया गया था और किस प्रकार पिता के कहने पर उसे वापिस लाया गया। उसका अंगूठा सूज गया था और पीक भरने के कारण असह्य वेदना हो रही थी। उसी समय पिता ने अंगूठे को मुंह में ले लिया तथा पीक और गन्दे खून को चूस लिया।

कूणिक को यह सुनकर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वह तत्काल पिता को मुक्त करने के लिए कारागार में पहुंचा। श्रेणिक ने समझा कूणिक जेल से निकालकर मुझे अन्य यातनाएं देगा। अतः उसने तालपुट विष खाकर आत्महत्या कर ली।*

जियसत्तू (सं.—जितशत्रु)—प्रस्तुत सूत्र में राजगृह का राजा श्रेणिक था और शेष ७ नगरों के नाम हैं—

१. वाणिज्य ग्राम, २. चम्पा, ३. वाराणसी, ४. आलभिका, ५. कम्पिलपुर, ६. पोलासपुर, ७. श्रावस्ती।

तत्कालीन इतिहास ग्रन्थों में जितशत्रु नामक किसी राजा का नाम नहीं मिलता। श्रेणिक के पुत्र का नाम अजातशत्रु था जो पिता को कैद करके गद्दी पर बैठा था। जैन साहित्य में उसका वर्णन कूणिक के नाम से आया है। उसने आस-पास के जनपदों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था। किन्तु वह जितशत्रु नहीं हो सकता। क्योंकि भगवान् महावीर अपने २२ वें वर्षावास के लिए जब राजगृह पहुंचे तो वहां श्रेणिक राजा था और १६ वें वर्षावास में उन्होंने वाणिज्यग्राम पहुंचकर आनन्द को प्रतिबोध दिया। उस समय वहां जितशत्रु का निर्देश आया है। इसी प्रकार आलंभिका नगरी में वे १८वें वर्षावास में पहुंचे। श्रेणिक के जीवन काल में वहां अजातशत्रु नहीं हो सकता। अतः यही मानना उचित है कि जितशत्रु केवल विशेषण है, वह व्यक्तिवाचक नाम नहीं।

पुण्णभद्र चेइअ (पूर्णभद्र चैत्य)—चम्पा नगरी के बाहर पूर्णभद्र चैत्य का निर्देश आया है।

★ निरयावलिका सूत्र।

यक्ष-पूजा भारत में प्राचीन काल से चली आ रही है। अब भी प्राचीन नगरों के प्रवेश-द्वारों पर यक्षायतन या मन्दिर मिलते हैं। जैन मन्दिरों में भी प्रवेश द्वार पर रक्षक के रूप यक्ष एवं यक्षिणी की मूर्ति बनाई जाती है। भारतीय संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति तथा अन्य कलाओं का विकास यक्ष एवं यक्षिणियों को लक्ष्य बनाकर हुआ है। कालिदास के मेघदूत नामक गीतिकाव्य का नायक एक यक्ष ही है। जहाँ एक यक्ष तथा यक्षिणी के प्रेम का चित्रण किया गया है।

आजकल जो स्थान मनोरंजनगृहों (क्लबों) का है, प्राचीन समय में वही स्थान यक्षायतनों का था। वहाँ लोग इकट्ठे होकर संगीत, नृत्य, मल्लयुद्ध, जादूगरी तथा अन्य प्रकार से मनोरञ्जन करते थे।

‘यक्ष’ शब्द का अर्थ है—देदिप्यमान या चमकती हुई आकृति। केनोपनिषद् में इसका यही अर्थ आया है। यह शब्द संस्कृत यज् धातु से बना है जिसके तीन अर्थ हैं—(क) देव पूजा, (ख) संगतिकरण, (ग) और दान। यक्षायतनों के मुख्यतया दो कार्य होते थे—देव पूजा और संगति अर्थात् मेला।

जैन साहित्य में मुख्यतया दो यक्षों का वर्णन मिलता है—मणिभद्र और पूर्णभद्र। उववाइय सूत्र में पूर्णभद्र के चैत्य का निम्नलिखित वर्णन आया है—

उस पर छत्र बना हुआ था। विशाल घंटे लटक रहे थे। ध्वजाएं फहरा रही थीं और वह मयूर पंखों से सुशोभित था। उसके चारों ओर छज्जे थे। आंगन गोबर से लिपा हुआ था। दीवारों पर सफेदी की हुई थी। उस पर रक्त (गो शीर्ष) तथा श्वेत चन्दन द्वारा हाथों की छापें लगी हुई थीं। उसके द्वार पर चन्दन कलश वाले तोरण लटक रहे थे। अन्य स्थानों पर भी चन्दनघट सुशोभित थे। आंगन में सुगन्धित जल छिड़का जाता था और द्वारों पर पुष्प मालाएं लटक रही थीं। भिन्न-भिन्न प्रकार के सुगन्धित पुष्प लगे हुए थे। अभिनेता, नर्तक, नट, पहलवान, मुष्टिक, योद्धा, नकलची, सूत (वीरगाथाएं गाने वाले), कथावाचक, बांस पर नाचने वाले, चित्र प्रदर्शक, तूती बजाने वाले, मुरली बजाने वाले तथा वीणा आदि बजाने वाले वहाँ सम्मिलित होते रहते थे। बहुत से लोग मन्दिर में पूजा करने भी आते थे।

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि यक्षपूजा मनोरंजन एवं लौकिक सुख के लिए साधारण जनता में प्रचलित थी। इसी दृष्टि से यक्षायतन बनाए जाते थे। आत्म-साधना में उनका कोई स्थान नहीं था।

संख—(शङ्ख) अ. २ सू. ११६—श्रावक का वर्णन भगवती सूत्र में इस प्रकार है—श्रावस्ती नगरी में अनेक श्रमणोपासक रहते थे। वहीं शंख तथा पुष्कली नामक श्रमणोपासक भी थे। शंख की

पत्नी का नाम उत्पला था। एक बार भगवान महावीर श्रावस्ती आये और शंख आदि श्रावक धर्मोपदेश सुनने गए। धर्मकथा के अन्त में शंख ने अपने साथियों से कहा—“आओ हम लोग पौषधशाला में रहकर धर्म जागरणा करें। इसके लिए अशन-पान आदि तैयार करा लो”। शंख के साथी भोजन तैयार करने में लग गए, इधर शंख के मन में पौषधोपवास करने का विचार आया और वह ग्यारहवां प्रतिपूर्णापौषध अङ्गीकार करके पौषधशाला में धर्म जागरण करने लगा। साथी भोजन तैयार करके शंख को बुलाने गए तो उसने कहा, आप लोग इच्छापूर्वक भोजन करके पौषध कीजिए, मैंने तो उपवास कर लिया है। साथियों को शंख की यह बात अच्छी नहीं लगी। दूसरे दिन भगवान महावीर की धर्मकथा के बाद इस बात की चर्चा होने लगी तो भगवान ने कहा कि शंख की निन्दा मत करो, वह उच्चकोटि का श्रमणोपासक है और धर्मानुष्ठान में आगे बढ़ रहा है।

कल्पसूत्र में भगवान महावीर के श्रावकों की संख्या बताते समय शंख और महाशतक का प्रमुख रूप से उल्लेख है।



पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

अवसर्पिणी—विश्व के विषय में आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि इसमें प्रतिदिन विकास हो रहा है, दूसरी ओर वैदिक परम्परा के अनुसार इसमें प्रतिदिन हास हो रहा है। जैन धर्म न विकासवादी है और न हासवादी, वह परिवर्तनवादी है। इसका अर्थ है, उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान। इसी परिवर्तन को एक कालचक्र के रूप में उपस्थित किया गया है, उसके बारह आरे हैं छ ऊपर से नीचे अर्थात् पतन की ओर जा रहे हैं और छ नीचे से ऊपर अर्थात् उत्थान की ओर। पतन की ओर जाने वाले आरों को अवसर्पिणी काल तथा उत्थान की ओर जाने वाले आरों को उत्सर्पिणी काल कहा जाता है।

इस समय अवसर्पिणी काल का पञ्चम आरा चल रहा है। इसके प्रथम दो आरों तथा तृतीय के प्रारम्भिक तीन चरणों में भारतवर्ष भोगभूमि था, अर्थात् व्यक्ति प्रकृति द्वारा स्वयं प्रदत्त सामग्री पर निर्वाह करते थे। आजीविका के लिए पुरुषार्थ या कर्म करने की आवश्यकता नहीं थी। तृतीय आरे के अन्त में प्रकृति के वरदान न्यून हो गए और परस्पर संघर्ष के अवसर आने लगे। उस समय प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव हुए। उन्होंने राज्य संस्था की नींव डाली, और आजीविका के लिए आग जलाना, बर्तन बनाना, खेती करना आदि विद्याओं का आविष्कार किया। उस समय से यह देश भोगभूमि के स्थान पर कर्मभूमि बन गया। उन कर्मों को असि अर्थात् सैनिक वृत्ति, मसी अर्थात् विद्यावृत्ति तथा कसी (कृषि) अर्थात् खेती आदि वैश्यवृत्ति के रूप में विभक्त किया गया। वैदिक परम्परा में जो स्थान मनु का है वह जैन परम्परा में ऋषभ देव का है। इसके पश्चात् चौथे आरे में अन्य तेईस तीर्थङ्कर हुए। अन्त में भगवान् महावीर हुए जिनका समय ईसवी पूर्व ५६६ माना जाता है। महावीर ३० वर्ष तक गृहस्थ में रहे उसके पश्चात् साढ़े बारह वर्ष साधना में बिताए और ३० वर्ष तक धर्मोपदेश किया। प्रस्तुत घटना उस समय की है, जब उन्हें कैवल्यप्राप्ति हो चुकी थी और गौतम आदि गणधर भी दीक्षित हो चुके थे। अतः इसे स्थूल रूप में ईसवी पूर्व ५५० के लगभग रख सकते हैं।

अमत्त (अमात्य)—संस्कृत व्याकरण में इस शब्द का अर्थ बताया गया है 'अमा' अर्थात् सहभवः, अमात्यः अर्थात् वह मन्त्री जो राजा के साथ रहता हो। राजा प्रत्येक कार्य में उसकी सलाह लेता है, राजा के अनुचित कार्य की ओर प्रवृत्त होने पर वह उसे रोकता है।

'आवश्यकचूर्णि' में इस बात का उल्लेख भी आया है कि राजा के कर्तव्यभ्रष्ट होने पर अमात्यपरिषद् ने उसे सिंहासन-च्युत कर दिया। वसन्तपुर में जितशत्रु नाम का राजा था। वह अपनी

सुकुमारिका नामक रानी में अत्यन्त आसक्त रहने लगा और राज्य में अव्यवस्था फैलने लगी। परिणामस्वरूप अमात्य-परिषद् ने उसे हटाकर राजकुमार को गद्दी पर बैठा दिया। बौद्ध साहित्य के सच्चंकिर जातक में भी इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।

अहासुहं (यथा सुखं) अ. १ सू. १२—भगवान महावीर के सामने जब कोई व्यक्ति धर्मानुष्ठान में अग्रसर होने का निश्चय प्रकट करता था तो भगवान कहा करते थे (अहासुहं देवाणुष्पिया! मा पडिबन्धं करेह) अर्थात् हे देवानुप्रिय! जैसे तुम्हें सुख हो, देर मत करो। भगवान महावीर की दृष्टि में धर्माचरण ऊपर लादी गई आज्ञा या कष्ट नहीं था। व्यक्ति के मन में जब अपने आप उत्साह जागृत होता था और वह साधना में अग्रसर होने के लिए अपनी उमंग प्रकट करता तभी भगवान उपरोक्त उत्तर देते थे। उस उत्साह में तपस्या एवं अन्य कठोरताएं भी सुखद प्रतीत होती थीं। साथ में भगवान यह भी कह देते थे कि जब तक उत्साह है, आगे बढ़ते चले जाओ। देर करके उत्साह को ठण्डा मत होने दो। उपरोक्त वाक्य में भगवान महावीर का प्रेरक सन्देश मिलता है।

अमाघाए (अणाघात)—यह शब्द महाशतक के अध्ययन में आया है और कहा गया है कि राजगृह में एक बार अमाघात की घोषणा हुई। इसका अर्थ है—हिंसा या प्राणीवध का निषेध। महावीर तथा बुद्ध के समय मगध में यह प्रथा थी कि पवित्र तिथि या मंगलमय अवसर पर राजा की ओर से प्राणी हिंसा बन्द करने की आज्ञा हो जाती थी। बौद्ध साहित्य में भी ऐसी घोषणाओं के अनेक उल्लेख मिलते हैं। मध्यकाल में इसी के लिए अमारी शब्द का प्रयोग किया जाता था। राजस्थान, गुजरात आदि प्रान्तों में, जहां सर्व साधारण पर जैन संस्कृति का प्रभाव है, अब तक ऐसी घोषणाएं होती रही हैं। राष्ट्रीय जीवन में ऐसी घोषणाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। उस दिन को सारी प्रजा पवित्र मानती है और पाप कार्यों से अलग रहती है। परिणामस्वरूप हृदय में पवित्र विचार उठते हैं और सर्वसाधारण का झुकाव धर्म एवं सदाचार की ओर हो जाता है।

आजीविक—(गोशालक के अनुयायी)—मेगस्थनीज तथा तत्कालीन अन्य वर्णनों से ज्ञात होता है कि उन दिनों समाज में श्रमणों की बहुत प्रतिष्ठा थी। भगवान महावीर के लिए आया है कि जब चम्पा के नागरिकों ने उनके आगमन का समाचार सुना तो दर्शनार्थ जाने वालों की भीड़ लग गई।

इब्भ—इब्भ शब्द का अर्थ है धन सम्पन्न व्यापारी, नगर का साहूकार, यह वैश्य जाति का होता था। जिसके पास हाथी जितना धन हो, वह तीन प्रकार का होता है—जिसके पास मणि, मुक्ता, मूंगा, सोना, चांदी आदि द्रव्य हाथी शरीर के प्रमाण हों वह जघन्य इब्भ है। जिसके पास हीरा और माणिक्य की राशि हाथी के तुल्य हो वह मध्यम इब्भ है। जिसके पास केवल हीरों की राशि हाथी के समान हो वह उत्कृष्ट इब्भ होता है।

ईसर—(ईश्वर)—इसका अर्थ है युवराज या राज्य का उत्तराधिकारी। वह राजा का पुत्र, भाई या निकटतम सम्बन्धी होता था। सर्वसाधारण पर उसका प्रभाव होता था और वह राज्य संचालन में सक्रिय भाग लेता था। उसके गुणों में बताया गया है कि ७२ कलाओं, सभी शास्त्रों का जानकार होता था। राजनीति तथा धनुर्विद्या में विशेष निपुणता रखता था।

कोडुंबिय अ. १ सू. १२. (कौटुम्बिक)—इसका अर्थ है परिवार का मुखिया। आनन्द श्रावक को राजा, ईश्वर आदि जो प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मान की दृष्टि से देखते थे और उसका परामर्श लेते रहते थे। उनमें इसका उल्लेख भी आया है।

कोल्लाक सन्निवेश—सन्निवेश का अर्थ है—पड़ाव। कोल्लाक सन्निवेश का निर्देश आनन्द नामक अध्ययन में आया है। यह वाणिज्य ग्राम (आनन्द का निवास स्थान) से उत्तरपूर्व में है। कहा जाता है कि भगवान महावीर को सर्वप्रथम भिक्षा कोल्लाक में प्राप्त हुई थी। वे उस समय कम्मर (कर्मकार) अर्थात् लोहारों के गांव से आए थे और कोल्लाक सन्निवेश की ओर विहार कर गए। भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति भी कोल्लाक सन्निवेश में गए थे और आनन्द श्रावक से मिले थे। यहां आनन्द के जाति बन्धु रहते थे। यहीं पर उसने उपाश्रय में रहकर ग्यारह प्रतिमाएं अङ्गीकार कीं और संलेखना द्वारा शरीर का त्याग किया। विहार के मुजप्फरपुर जिले में बसार नाम का गांव है जो प्राचीन वैशाली के खण्डहरों पर बसा हुआ है। उससे कुछ मील उत्तर-पश्चिम की ओर कोलुआ नाम का गांव है। कहा जाता है इसी का प्राचीन नाम कोल्लाक सन्निवेश था।

गाहावई—गृहपति या गाथापति अ. १ सू. २—जैन तथा बौद्ध साहित्य में नगर या राज्य के प्रधान पुरुषों में गाथापति का भी उल्लेख मिलता है, उसे चक्रवर्ती का एक रत्न माना जाता है। सेना के लिए खाद्य सामग्री उपलब्ध करना उसका कार्य है। शान्ति के समय उसका सम्बन्ध राजकीय कोषागार के साथ रहता है अर्थात् राजा के लिए अन्न आदि की व्यवस्था करना उसका कार्य होता है। किन्तु बौद्ध तथा जैन कथा-साहित्य में उसका वर्णन अनेक चमत्कारिक घटनाओं के साथ मिलता है। यहां उनका उल्लेख आवश्यक नहीं जान पड़ता। उपासकदशाङ्ग में आनन्द आदि कई श्रावकों के साथ यह विशेषण है।

घरसमुदान—गृहसमुदान—अ. १ सू. ७७—जैन मुनि के लिए यह विधान है कि भिक्षा के लिए घूमते समय घरों में किसी प्रकार का भेद-भाव न करे। सम्पन्न घरों में अच्छी भिक्षा मिलेगी और दूसरों में न्यून कोटि की, इस विचार से घरों को चुनकर भिक्षा-वृत्ति न करे। इस बात को लक्ष्य में रखकर भिक्षा-वृत्ति के लिए कुछ चर्याएं बताई गई हैं। उदाहरण के रूप में साधु पहले से ही यह निश्चय करके चलता है कि आज मैं गली में भिक्षा के लिए घूमते समय सर्व प्रथम एक ओर के पहले घर में जाऊंगा फिर दूसरी ओर के दूसरे में, फिर पहली ओर के तीसरे में। इस प्रकार घूमते हुए आवश्यक

आहार प्राप्त ही जाने पर वापिस लौट आऊंगा। इस वृत्ति को गोमूत्रिका कहा गया है अर्थात् जहां चलते हुए बैल के भूत्र के समान एक बार इधर और एक बार उधर जाना होता है। गृह-समुदान चर्या में एक ओर के प्रत्येक घर से भिक्षा ली जाती है। बीच में किसी को नहीं छोड़ा जाता।

चुल्लहिमवंत—जैन भूगोल के अनुसार पृथ्वी के मध्य में जम्बूद्वीप है जो लवणसमुद्र से घिरा हुआ है। जम्बूद्वीप के बीच मेरु पर्वत है। उसके दक्षिण तथा उत्तर में सात-सात वर्ष या देश हैं। इनका विभाजन वर्षधर पर्वत करता है। चुल्ल हिमवान् का अर्थ है छोटा हिमालय। यह भरत क्षेत्र या भारतवर्ष के उत्तर में है।

चेइअ—इसका संस्कृत रूप चैत्य है। वैदिक काल में 'इष्टक चितम्' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ है 'ईंटों से बना हुआ चबूतरा' जो यज्ञ की वेदी के रूप में बनाया जाता था। यहाँ चित्त शब्द चिञ् चयने धातु से बना है जिसका अर्थ है चिना हुआ। चिता शब्द भी इसी धातु से बना है। चिता के ऊपर निर्मित स्तूप या छतरी आदि को चैत्य कहा गया है। प्राचीन प्रथा के अनुसार ऐसे स्थानों पर किसी यक्ष की मूर्ति भी स्थापित कर दी जाती थी और नगर के समृद्ध व्यक्ति उसके चारों ओर उद्यान बना देते थे। इन सबको प्राचीन साहित्य में चैत्य कहा गया है। संस्कृत में 'चिती संज्ञाने' धातु भी है। इससे चित्त या चित शब्द बनता है। चित का अर्थ है, शुद्ध चेतन स्वरूप आत्मा और चित्त का अर्थ है मन या बुद्धि। चित से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्व को भी चैत्य कहा जा सकता है अर्थात् आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य को भी चैत्य कहा जा सकता है।

तलवार—तल शब्द का अर्थ है खड्ग-मुष्टि अर्थात् तलवार की मूठ। तलवार का अर्थ है राजा का अङ्ग रक्षक। संभवतया तलवार शब्द इसी से बिगड़कर बना हो। प्रारम्भ में इसका अर्थ था वह चिन्ह जिसे प्रतिष्ठा के रूप में राज-दरबारी धारण किया करते थे। बाद में यही खड्ग के अर्थ में रूढ़ हो गया। अब भी प्रजाब में क्षत्रियों की 'तलवार' नामक जाति है। प्रतीत होता है उनके पूर्वजों को यह उपाधि राज-दरबार में सम्मान के रूप में प्राप्त हुई थी, किन्तु बाद में जाति वाचक बन गई। 'दीवान' आदि जातियां इसी तथ्य को सिद्ध करती हैं।

दुविहं तिविहेणं—इसका अर्थ है दो करण, तीन योग। जैन धर्म में त्याग का जितना सूक्ष्म विवेचन है उतना अन्यत्र नहीं मिलता। श्रावक तथा साधु दोनों के लिए अनेक प्रकार के व्रत, नियम एवं त्यागों का विधान है। और उनकी बहुत सी कोटियां हैं। उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति यह नियम करता है कि वह अमुक कार्य स्वयं नहीं करेगा किन्तु दूसरे से कराने की छूट रखता है। इसी प्रकार दूसरा व्यक्ति यदि उसे अपनी इच्छा से करता है तो वह उसकी निन्दा नहीं करता प्रत्युत अनुमोदन कर सकता है। इस दृष्टि से जैन शास्त्रों में त्याग के ४६ भेद बताए गए हैं। करना, कराना

और अनुमोदन करना ये तीन करण कहे जाते हैं और मन, वचन तथा काया को योग कहा जाता है। इन्हीं के परस्पर मेल से उपरोक्त भेद हो जाते हैं। हीनतम कोटि का त्याग एक करण एक योग से है अर्थात् अपने हाथ से न करना। सर्वोत्कृष्ट कोटि का त्याग तीन करण तीन योग से होता है अर्थात् मन, वचन और काया से न स्वयं करना, न दूसरे से कराना और न करने वाले का अनुमोदन करना।

धम्म-पण्णत्ती (धर्म-प्रज्ञप्ति)—भारतीय सम्प्रदायों में धार्मिक अनुष्ठान के लिए शास्त्राज्ञा, देशना, प्रज्ञप्ति आदि अनेक शब्द मिलते हैं। वे तत्-तत् सम्प्रदाय के मूल दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं। वैदिक परम्परा में आदेश या आज्ञा शब्द मिलता है। वहां वेद की आज्ञा को ही धर्म माना गया है। मनुष्य को उसके सम्बन्ध में विचार करने या ननुनच करने का अधिकार नहीं है। बौद्धों में बुद्ध देशना शब्द मिलता है। देशना का अर्थ है मार्ग-दर्शन, बुद्ध का मुख्य लक्ष्य जीवन के मार्ग का प्रतिपादन करना था। वे तत्त्व चर्चा में नहीं गए। भगवान महावीर के लिए प्रज्ञप्ति शब्द मिलता है। इसका अर्थ है अच्छी तरह सम्यक् रूप से ज्ञान कराना। भगवान महावीर का लक्ष्य यह था कि व्यक्ति को सत्य का ज्ञान करा देना चाहिए। उसे बता देना चाहिए कि हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है, यथार्थ सुख कहां है और उसे प्राप्त कराने वाला मार्ग कौन सा है? इसके पश्चात् मार्ग को चुनना और उस पर चलना व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर है। प्रज्ञप्ति शब्द का यही अर्थ है। इसी अर्थ को लक्ष्य में रखकर श्यामाचार्य ने पण्णवणा (प्रज्ञापना) सूत्र की रचना की है।

निग्गंथं पावयणं—नैर्ग्रन्थ प्रवचनं अ. १ सू. १२।

पत्तियामि (प्रत्येमि) अ. १ सू. १२।

रोएमि (रोचे) अ. १ सू. १२।

जब कोई नया व्यक्ति भगवान महावीर का उपदेश सुनकर उनका अनुयायी बनना चाहता है तो वह उपरोक्त शब्दों में अपनी इच्छा प्रकट करता है। वह कहता है—हे भगवन्! मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन रुचता है अर्थात् अच्छा लगता है। उसे सुनकर मेरे मन में प्रसन्नता होती है। पातञ्जल योग दर्शन की व्याख्या में व्यास ने इस प्रसन्नता को श्रद्धा कहा है (श्रद्धा मनसः सम्प्रसादः यो. सू. १-२०)।

इस वाक्य का दूसरा पद है पत्तियामि। इसका अर्थ है प्रत्यय अर्थात् विश्वास करता हूं। श्रद्धा दृढ़ होने पर अपने आप विश्वास के रूप में परिणित हो जाती है।

तीसरा पद है निर्ग्रन्थ। इसका अर्थ है जो ग्रन्थ (गांठ) अर्थात् परिग्रह को त्याग चुका है। यह शब्द जैन परम्परा के श्रमणों के लिए प्रयुक्त होता है। विशेषतया भगवान महावीर के लिए।

चौथा पद है प्रवचन। इसका अर्थ है उत्तम वाणी। वैदिक परम्परा में इसके स्थान पर अनुशासन शब्द मिलता है। उसका अर्थ है परम्परा प्राप्त आज्ञा। जैन धर्म उक्त परम्परा को अधिक महत्व नहीं

देता। वह अपने नए अनुभव के साथ नई परम्परा को जन्म देता है। तीर्थंकर अपने युग में इसीलिए नए तीर्थ की स्थापना करते हैं। प्रवचन का अर्थ है वह शब्द जो अपने आप में प्रमाण है। जिसके सत्य असत्य का निर्णय किसी प्राचीन परम्परा के आधार पर नहीं किया जाता। इसके लिए वक्ता में दो बातें होनी आवश्यक हैं—

१. वह वीतराग हो अर्थात् कोई बात राग-द्वेष या स्वार्थ से प्रेरित होकर न कहे।

२. वह सर्वज्ञ हो अर्थात् प्रत्येक बात को पूरी तरह जानता हो जिससे भूल या गलती की शङ्का न रहे।

भगवान महावीर में ये दोनों बातें थीं। इसीलिए उनकी वाणी को प्रवचन कहा गया है।

पल्योपम—एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे गोलाकार बाल-खंडों से भरे कूप की उपमा से जो काल गिना जाए उसे पल्योपम कहते हैं। पल्योपम के तीन भेद हैं—

१. उद्धार पल्योपम, २. अद्धा पल्योपम, ३. क्षेत्र पल्योपम।

चारों गतियों के जीवों की आयु की गणना सूक्ष्म अद्धा पल्योपम से की जाती है। इसका विशेष विचरण अनुयोगद्वार सूत्र में है।

पव्वइत्तए—प्रव्रजितुम् अ. १ सू. १२—जैन साहित्य में पवज्जा (प्रव्रज्या) का अर्थ है—घर बार तथा कुटुम्ब छोड़कर मुनिव्रत अङ्गीकार करना। यह शब्द व्रज धातु से बना है जिसका अर्थ है चले जाना। 'प्र' उपसर्ग 'सदा के लिए' अर्थ प्रकट करता है। वैदिक परम्परा का परिव्राजक शब्द भी इसी धातु से बना है किन्तु वहां परि उपसर्ग है जिसका अर्थ है चारों ओर। इधर-उधर चारों दिशाओं में घूमने वाले संन्यासी को परिव्राजक कहा जाता है। प्रव्रज्या की तुलना में वैदिक परम्परा का संन्यास शब्द है। यह शब्द असुइ-क्षेपणे (दिवादिगण) धातु से बना है। इसका अर्थ है फैंकना। जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन के समस्त उत्तरदायित्व को तथा उसके लिए आवश्यक कार्यों को छोड़कर चला जाता है वह संन्यासी कहा जाता है।

परियण—परिजन अ. १ सू. ८—परिवार के व्यक्तियों के लिए उन दिनों दो शब्दों का प्रयोग होता था, स्वजन और परिजन। पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि कुटुम्ब के व्यक्ति स्वजन कहे जाते थे और नौकर-चाकर आदि परिजन।

प्राणातिपात—जैन धर्म में प्राणों की संख्या १० है, पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास तथा आयुष्य। इनमें से किसी का नाश करना, कष्ट पहुंचाना या प्रतिबन्ध लगाना हिंसा है। उदाहरण के रूप में यदि हम किसी के स्वतन्त्र चिन्तन पर प्रतिबन्ध लगाते हैं तो यह काया रूप

प्राण की हिंसा है। इसी प्रकार सुनने, देखने, सूंघने, स्वाद लेने अथवा स्पर्श करने से रोकना तत्तत् प्राणों की हिंसा है।

पासंड (पाषण्ड) अ. १ सू. ४४—इस शब्द का आधुनिक रूप पाखण्ड है जिसका अर्थ है ढोंग। पाखण्डी-ढोंगी को कहा जाता है। परन्तु प्राचीन समय में यह अर्थ नहीं था। उस समय इसका अर्थ था धार्मिक सम्प्रदाय या पन्थ। अशोक की धर्मलिपियों में भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। इसीलिए सम्यक्त्व व्रत के अतिचारों में पासंड शब्द से पहले 'पर' शब्द लगा हुआ है। इसका अर्थ है दूसरे धर्म वाले की प्रशंसा करना या उसके साथ परिचय बढ़ाना श्रावक के लिए वर्जित है।

पोसहोववास (पौषधोपवास) अ. १ सू. १६—यह शब्द पौषध और उपवास (पौषधोपवास) दो शब्दों से बना है। पौषध शब्द संस्कृत के उपवास का रूपान्तर है। इसका अर्थ है धर्माचार्य के पास निवास करना। जब आठ पहर के लिए उपवासपूर्वक घर से अलग होकर धर्माचार्य के पास या धर्म स्थान में रहा जाता है तो उसे पौषधोपवास कहते हैं। यह श्रावक का ग्यारहवां व्रत है और व्रत शुद्धि के लिए किया जाता है। जैन परम्परा में अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों पर इसे करने की प्रथा है। पर्यूपण अर्थात् सांवत्सरिक पर्व के दिन तो प्रायः सभी वयस्क जैन इसकी आराधना करते हैं।

मांडविय (मांडविक) अ. १ सू. १२—मंडव का अर्थ है १५ हजार गांवों का समूह, इसके मुखिया या अध्यक्ष को मांडविक कहा जाता था। जो स्थान आजकल जिलाधीश या डिप्टी कमीश्नर का है वही उन दिनों मांडविक का था।

राजा—उपासकदशाङ्ग में राजा शब्द का उल्लेख दो रूपों में आया है। पहले रूप में यह जितशत्रु, श्रेणिक तथा कूणिक के साथ आया है जहां इसका अर्थ सम्राट् या राज्य का सर्वोच्च सत्ताधीश है। बुद्ध के समय मगध साम्राज्य के साथ वैशाली का गणतन्त्रीय शासन भी विद्यमान था। वहां सर्वोच्च सत्ता किसी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं थी। उसमें अनेक गण सम्मिलित थे। प्रत्येक गण से एक व्यक्ति प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होकर आता था और वह राजा कहा जाता था। भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ ऐसे ही राजा थे। आनन्द श्रावक के वर्णन में आया है कि वह अनेक राजाओं, ईश्वरों, तलवरों मांडविकों आदि में प्रतिष्ठित था। वहां राजा शब्द का अर्थ इसी प्रकार चुने हुए प्रतिनिधि से है। इनकी संख्या घटती बढ़ती रहती थी। उन्हें राजा, गणराजा या संघमुख्य कहा जाता था।

वण्णओ—सूत्रों में स्थान-स्थान पर 'वण्णओ' शब्द आया है। इसका अर्थ है अन्यत्र सूत्र में वर्णित। प्राचीन परम्परा में धर्मोपदेश करते समय इन स्थानों पर राजा, नगरी, चैत्य आदि के वर्णन

की प्रथा थी। पंचम शताब्दी में देवर्द्धिगणिकक्षमाश्रमण के समय जब आगमों को लिपिबद्ध किया गया तो एक ही सरीखे वर्णन को पुनः पुनः लिखने के स्थान पर केवल संकेत करके छोड़ दिया गया। इससे यह तथ्य प्रकट होता है, कि इस प्रकार के वर्णन केवल अर्थवाद थे और धर्मोपदेश को रोचक बनाने के लिए किये जाते थे। उन्हें ऐतिहासिक महत्व नहीं दिया जा सकता। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार के संकेतों के आधार पर आगमों के पौर्वापर्य का निर्णय नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह संकेत लिपिकाल से सम्बन्ध रखते हैं, रचना काल से नहीं।

वद्वावए-वर्धापक (अ. १ सू. ५.)।

सव्य कज्ज वद्वावए (सर्व कार्य वर्धापकः)।

यह आनन्द श्रावक के विशेषण के रूप में आया है। इसका अर्थ है सब कार्यों को बढ़ाने वाला। यह विशेषण श्रावक के महत्व को प्रकट करता है, इससे प्रकट होता है कि श्रावक प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य में प्रोत्साहन देता है, उसे आगे बढ़ाता है और इस प्रकार समाज की उन्नति में सहायक बनता है।

समोसरिए-समवसुतः अ. १ सू. २—प्राचीन साहित्य में धार्मिक तथा अन्य प्रकार की सभाओं के लिए समवसरण, सङ्गीति, सङ्गत, संस्था, समिति, परिषद्, उपनिषद् आदि अनेक शब्द आए हैं। वे सब स्थूल रूप में एकार्थक होने पर भी सूक्ष्म भेद प्रकट करते हैं जो प्रत्येक परम्परा की विभिन्न दृष्टियों के सूचक हैं। इन शब्दों में सम् उपसर्ग प्रायः सर्वत्र है। यह समूह या एकत्रित होने का बोधक है।

१. समवसरण—यह शब्द 'स' धातु से बना है जिसका अर्थ है घूमना या किसी लक्ष्य को सामने रखे बिना चलते रहना। इसके पहले लगा हुआ 'अव' उपसर्ग 'नीचे की ओर' का द्योतक है। जिस प्रकार पानी बिना किसी लक्ष्य को सामने रखे नीचे की ओर बहने लगता है उसी प्रकार भगवान् सर्वसाधारण को उपदेश देने के लिए स्थान विशेष को लक्ष्य में न रखकर घूमते रहते हैं। इस प्रकार घूमते हुए जहां वे अटक जाते हैं और उपदेश देने लगते हैं उसी का नाम समवसरण है। तीर्थकरों के समवसरण में सब जातियों के स्त्री पुरुष ही नहीं देवता और पशु भी उपदेश श्रवण के लिए उपस्थित होते हैं।

२. सङ्गीति—शब्द बौद्ध परम्परा में प्रचलित है। इसका अर्थ है इकट्ठे होकर गाना। बौद्ध भिक्षुओं ने इकट्ठे होकर त्रिपिटकों का पाठ किया उसी को सङ्गीति कहा गया।

३. सङ्गत—वैदिक परम्परा में, साधु-संन्यासियों या परिव्राजकों का इकट्ठा होना सङ्गत कहा जाता है। इसका अर्थ है एक साथ मिलकर चलना। इसी का समानार्थक सङ्गम शब्द है जिसका अर्थ है नदियों का मिलकर बहना।

४. संस्था—इसका अर्थ है मिलकर बैठना। यह शब्द उपनिषदों में मिलता है, जहां ऋषि-मुनि एक साथ बैठकर आत्म-चर्चा करते हैं।

५. समिति—यह शब्द 'इ' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'चलना', समिति का अर्थ है एक साथ मिलकर प्रगति करना।

६. परिषद्—इसका अर्थ है चारों ओर 'बैठना'। जहां गुरु या राजा के रूप में एक व्यक्ति केन्द्र में बैठता है और दूसरे सभासद के रूप में घेरे रहते हैं उसे परिषद् कहा जाता है। 'सम्' उपसर्ग से बने हुए उपरोक्त शब्दों में किसी एक की प्रधानता का द्योतक है। वहां सब मिलकर चर्चा करते हैं किन्तु परिषद् में एक बोलता है और दूसरे सुनते हैं।

७. उपनिषद्—इसका अर्थ है पास में बैठना। गुरु शिष्य को पास में बैठाकर रहस्य के रूप में जो उपदेश देता है उसी का नाम 'उपनिषद्' है।

'समणे' (अ. १ सू. २)—आगम साहित्य में जहां भगवान् महावीर का नाम आया है उसके साथ 'समणे निगंथे' विशेषण भी मिलता है। साधारणतया इसका संस्कृत रूपान्तर श्रमण तथा अर्थ मुनि या साधु किया जाता है। उत्तराध्ययन में 'समयाए समणो होइ' पाठ आया है। इसका अर्थ है 'श्रमण समता से होता है।' श्रमण शब्द भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण धारा का प्रतीक है जिसका ब्राह्मण धारा के साथ संघर्ष रहा। हेमचन्द्र ने श्रमण और ब्राह्मण के परस्पर विरोध को शाश्वत वैर के रूप में प्रकट किया है। श्रमण परम्परा के मुख्य तीन तत्त्व हैं—

१. श्रम—व्यक्ति अपने ही परिश्रम एवं तपस्या द्वारा ऊंचा उठ सकता है। इसके विपरीत ब्राह्मण परम्परा में यज्ञ का अनुष्ठान पुरोहित करता है, बलिदान पशु का होता है और फल यजमान को मिलता है।

२. सम—समस्त प्राणियों में मौलिक समानता है। प्रत्येक प्राणी साधना द्वारा उच्चतम पद को प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक प्राणी को सुख अच्छा लगता है और दुख बुरा। आचाराङ्ग सूत्र में भगवान् महावीर कहते हैं कि जब तुम किसी को मारने या कष्ट देने की इच्छा करते हो तो उसके स्थान पर अपने को रखकर सोचो। परस्पर व्यवहार में समता का ही दूसरा नाम अहिंसा है जो कि जैन आचार शास्त्र का मूल है। विचार में समता का अर्थ 'स्याद्वाद' है। इसका अर्थ है, हम अपने विचारों को जितना महत्व देते हैं उतना ही दूसरे के विचारों को भी दें। केवल दूसरे के होने के कारण उन्हें बुरा न मानें और केवल अपने होने के कारण उन्हें अच्छा न मानें।

३. शम—इसका अर्थ है क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों तथा इन्द्रिय लालसाओं का शमन। श्रमण परम्परा का यह विश्वास है कि कषायों एवं भोगलालसाओं का शमन ही कल्याण का

मार्ग है। समणे के साथ जो निग्रन्थे (निग्रन्थ) विशेषण आया है उससे यह सिद्ध करना है कि निग्रन्थ श्रमणों का एक भेद था।

‘सुहम्मा—सुधर्मन्’—भगवान महावीर के ग्यारह गणधर अर्थात् प्रधान शिष्य थे। उनमें सुधर्मा स्वामी पांचवें हैं। सभी गणधर अपने पूर्व जीवन में कर्मकाण्डी श्रोत्रीय ब्राह्मण थे। भगवान महावीर के पास शास्त्रार्थ के लिए आये और अपनी शंकाओं का उचित समाधान प्राप्त करके उनके शिष्य हो गए। सुधर्मा स्वामी को शंका थी कि प्रत्येक जीव जिस योनि में है मरकर भी उसी योनि को प्राप्त करता है। भगवान महावीर ने बताया कि ऐसा नहीं है। जीव अपने भले बुरे कर्मों के अनुसार नई-नई योनियों को प्राप्त करता रहता है।

सेट्टि—(श्रेष्ठिन्)—इस शब्द का रूप सेठ या सेट्टी है और आज भी इसका वही अर्थ है जो उन दिनों में था। उस समय विविध प्रकार के व्यापारियों एवं शिल्पियों के १८ गण माने जाते थे। सेट्टि उन सबका मुखिया होता था और प्रत्येक कार्य में उनकी सहायता करता था। आजकल वाणिज्य संघ के अध्यक्ष का जो स्थान है वही स्थान उन दिनों सेट्टी का था। ‘सेट्टि’ शब्द का निर्देश राज्य मान्य व्यक्ति के रूप में भी मिलता है जो अपने मस्तक पर सुवर्णपट धारण किया करता था। संस्कृत व्याकरण के अनुसार श्रेष्ठ शब्द का अर्थ है—प्रशस्ततम या सर्वोत्तम, तदनुसार श्रेष्ठि का अर्थ है वह व्यक्ति जो सर्वोत्तम पद पर प्रतिष्ठित है।

हिरण्यकोडीओ—वैदिक साहित्य को देखने पर पता चलता है कि उन दिनों धन-सम्पत्ति का परिमाण गाय या पशुओं की संख्या में होता था। लेन-देन तथा वाणिज्य का आधार भी वही था। छान्दोग्य उपनिषद् में राजा जनक ब्रह्म-विद्या सम्बन्धि शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने वाले ऋषियों के लिए सौ गौएं देने की घोषणा करता है। कठोपनिषद् में आता है कि वाजश्रवा नामक ऋषि ने स्वर्ग प्राप्त करने के लिए सर्वस्व-दक्षिणा यज्ञ किया। यज्ञ के अन्त में ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में जो गौएं प्राप्त हुई वे बूढ़ी तथा मरणासन्न थीं। किन्तु प्रस्तुत सूत्र से पता चलता है कि उस समय गाय के स्थान पर सिक्कों का प्रयोग होने लगा था।

हिरण्य-सुवर्ण—प्रधान सिक्का हिरण्य या सुवर्ण कहलाता था। यह ३२ रत्ती सोने का होता था। अनेक स्थानों पर सुवर्ण और हिरण्य शब्दों का एक साथ उल्लेख है और अनेक स्थानों पर वे अलग-अलग हैं। भण्डारकर का कथन है कि जहां सुवर्ण शब्द हिरण्य के साथ आता है, वहां उसका अर्थ सुवर्ण न होकर एक प्रकार का सिक्का है, जिसका वजन ७ माशे ३२ रत्ती होता था।

२. सुवर्ण-माष—(Ancient India Numismatics, P. 51) इससे छोटा सिक्का सुवर्ण-माष होता है। यह भी सोने का हुआ करता था इसका उल्लेख उत्तराध्ययन में आया है।

३. **कार्षापण**—(प्रा. काहावण)—तीसरे प्रकार का सिक्का कार्षापण या काहावण कहा जाता था। विम्बसार के समय राजगृह में इसका प्रचलन था। बुद्ध ने भी जहां रुपये पैसे की बात आई है कार्षापण उल्लेख किया है। यह तीन प्रकार का होता है—(१) सोने का बना हुआ, (२) चांदी का बना हुआ, और (३) ताम्बे का बना हुआ। यह चौकोण होता था और वजन लगभग १४६ रत्ती होता था (Rhys Davids—'Buddhist India') उत्तराध्ययन सूत्र (अ. २० गाथा ४२) में कूटकार्षापण का उल्लेख आया है। इससे ज्ञात होता है कि उन दिनों छोटा सिक्का भी प्रचलित था।

४. **माषक**—(मास)—आजकल इसे मासा कहा जाता है।

५. **अर्धमाषक**—(अधमास)—आधा मासा।

माषक का उल्लेख सूत्रकृताङ्ग (द्वितीय अध्ययन) तथा उत्तराध्ययन (अ. ८. गाथा १७) में आया है। जातकों में (I पृ. 120, III पृ. 448) माषक तथा अर्धमाषक दोनों का उल्लेख मिलता है। खुदकपाठ की टीका मरमत्तथजोतिका में (I पृ. ३७) लौहमाषक, दारुमाषक तथा जतुमाषक का भी उल्लेख है।

६. **रुवग**—(रुप्यक)—आजकल इसे रुपया कहा जाता है। आवश्यकचूर्णि में कूट रुप्यक अर्थात् छोटे रुपये का भी उल्लेख है।

७. **पन्निक**—(सं. पणिक)—संस्कृत में पण्य शब्द का अर्थ है बाजार में बिकने वाली वस्तुएं। इसी आधार पर दुकान को आपण कहा जाता है। इसका उल्लेख व्यवहार भाष्य (३ तथा ७-८) में आया है। कात्यायन के मतानुसार मासे को भी पण कहा जाता था और इसका वजन कार्षापण का २० वां भाग होता था।

८. **पायङ्क**—यह भी पण के ही समान है। इसका उल्लेख हरिभद्रीय आवश्यक में आया है। बृहत्कल्प भाष्य तथा उसकी टीकाओं में भी कई प्रकार के सिक्कों का उल्लेख है।

९. **कवडुग**—(कपर्दक)—हिन्दी में इसे कौड़ी कहा जाता है। यह समुद्री जीव का शरीर होता है। सिक्के के रूप में इसका प्रचलन अनेक स्थानों पर अब भी विद्यमान है।

१०. **काकिणि**—यह ताम्बे का सबसे छोटा सिक्का होता था और दक्षिणापथ में प्रचलित था। इसका उल्लेख उत्तराध्ययन टी. (अध्ययन ७ गाथा ११) में आया है। इसका वजन ताम्बे के कार्षापण का चतुर्थांश होता था।

११. **द्रम**—यह चांदी का सिक्का था और भिल्लमाल में प्रचलित था। निशीथचूर्णि में इसका दूसरा रूप चम्मलातो दिया हुआ है। अर्थात् यह चर्म का भी बनता था। मलधारी हेमचन्द्र कृत

भवभावना में भी चमड़े के सिक्के का उल्लेख आया है। वहां बताया गया है कि यह सिक्का नन्द-साम्राज्य में प्रचलित था। द्रुम शब्द ग्रीक भाषा के द्रुम शब्द से बना है। ई. पू. २०० से लेकर ई. पश्चात् २०० तक उत्तर पश्चिमी भारत में ग्रीस निवासियों का राज्य था।

१२. दीनार—यह सोने का होता था और पूर्व में प्रचलित था। यह सिक्का रोम निवासियों से लिया गया है। भारत में इसका प्रचार प्रथम ई. में कुशान में हुआ।

१३. केवडिग—यह भी सोने का होता था और पूर्व में प्रचलित था।

१४. सामरक—यह चान्दी का होता था और उत्तरापथ में अठन्नी के बराबर था। उत्तरापथ के दो सिक्के पाटलीपुत्र के एक सिक्के के बराबर होते थे। दक्षिणापथ के दो रूपए कांची के एक नेला के समान होते थे। कांची के दो सिक्के कुसुम नगर अर्थात् पाटलिपुत्र के एक सिक्के के समान होते थे।

सत्यवाह-सार्थवाह (अ. १ सू. ५)।

उन दिनों यात्रा इतनी सरल नहीं थी जितनी आजकल है। मार्ग उबड़-खाबड़ थे, बीच में कहीं नदियां, कहीं पर्वत और कहीं भयंकर वन आ जाते थे। जंगली पशुओं और डाकुओं का भय बना रहता था। अतः विकट मार्गों को पार करने के लिए व्यापारी इकट्ठे होकर चलते थे। उनके इस काफिले को सार्थ कहा जाता था और उसके संचालक को 'सार्थवाह'। सार्थवाह प्रायः राज्य का उच्चाधिकारी या राजमान्य सामन्त होता था। शस्त्रविद्या तथा शासन व्यवस्था का पर्याप्त अनुभव रखता था। यात्रा से पहले वह नगर में घोषणा कर देता था कि अमुक तिथि को अमुक नगर के लिए सार्थ प्रस्थान करेगा। मार्ग में भोजन, पानी, वस्त्र निवास, औषध तथा सुरक्षा की निःशुल्क व्यवस्था की जाएगी। घोषणा के उत्तर में सैकड़ों व्यापारी बैलगाड़ियों या बैलों पर अपना-अपना सौदा लादकर विदेशों में व्यापार के लिए चल पड़ते थे।

सार्थवाह का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा आदर प्राप्त था। वह पथ-प्रदर्शक, संकटों का निवारक तथा लक्ष्य-प्राप्ति में परम सहायक माना जाता था। उसी की उपमा पर भगवान महावीर को महासार्थवाह कहा गया है जो चतुर्विध-सङ्घ रूपी सार्थ को संसार रूपी भयङ्कर वन से पार ले जाते हैं और संकटों से बचाते हुए मोक्ष रूपी नगर में पहुंचाते हैं।

□□

आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म. संक्षिप्त परिचय

जैन धर्म दिवाकर गुरुदेव आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनिजी महाराज वर्तमान श्रमण संघ के शिखर पुरुष हैं। त्याग, तप, ज्ञान और ध्यान आपकी संयम-शैया के चार पाए हैं। ज्ञान और ध्यान की साधना में आप सतत साधनाशील रहते हैं। श्रमण संघ रूपी बृहद्-संघ के बृहद्-दायित्वों को आप सरलता, सहजता और कुशलता से वहन करने के साथ-साथ अपनी आत्म-साधना के उद्यान में निरन्तर आत्मविहार करते रहते हैं।

पंजाब प्रान्त के मलौट नगर में आपने एक सुसमृद्ध और सुप्रतिष्ठित ओसवाल परिवार में जन्म लिया। विद्यालय प्रवेश पर आप एक मेधावी छात्र सिद्ध हुए। प्राथमिक कक्षा से विश्वविद्यालयी कक्षा तक आप प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होते रहे।

अपने जीवन के शैशवकाल से ही आप श्री में सत्य को जानने और जीने की अदम्य अभिलाषा रही है। महाविद्यालय और विश्वविद्यालय की उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी सत्य को जानने की आपकी प्यास को समाधान का शीतल जल प्राप्त न हुआ। उसके लिए आपने अमेरिका, कनाडा आदि अनेक देशों का भ्रमण किया। धन और वैषयिक आकर्षण आपको बांध न सके। आखिर आप अपने कुल-धर्म—जैन धर्म की ओर उन्मुख हुए। भगवान महावीर के जीवन, उनकी साधना और उनकी वाणी का आपने अध्ययन किया। उससे आपके प्राण आन्दोलित बन गए और आपने संसार से संन्यास में छलांग लेने का सुदृढ़ संकल्प ले लिया।

ममत्व के असंख्य अवरोधों ने आपके संकल्प को शिथिल करना चाहा। पर श्रेष्ठ पुरुषों के संकल्प की तरह आपका संकल्प भी वज्रमय प्राचीर सिद्ध हुआ। जैन धर्म दिवाकर आगम-महोदधि आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज के सुशिष्य ज्ञान के गौरिशंकर गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी महाराज से आपने दीक्षा-मंत्र अंगीकार कर श्रमण संघ में प्रवेश किया।

आपने जैन-जैनेतर दर्शनों का तलस्पर्शी अध्ययन किया। 'भारतीय धर्मों में मुक्ति विचार' नामक आपका शोध ग्रन्थ जहां आपके अध्ययन की गहनता का एक साकार प्रमाण है वहीं सत्य की खोज में आपकी अपराभूत प्यास को भी दर्शाता है। इसी शोध-प्रबन्ध पर पंजाब विश्वविद्यालय ने आपको पी-एच.डी. की उपाधि से अलंकृत भी किया।

दीक्षा के कुछ वर्षों के पश्चात् ही श्रद्धेय गुरुदेव के आदेश पर आपने भारत भ्रमण का लक्ष्य बनाया और पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, उड़ीसा, तमिलनाडु, गुजरात आदि अनेक प्रदेशों में विचरण किया। आप जहां गए आपके सौम्य-जीवन और सरल-विमल साधुता को देख लोग गदगद बन गए। इस विहार-यात्रा के दौरान ही

संघ ने आपको पहले युवाचार्य और क्रम से आचार्य स्वीकार किया। आप बाहर में ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे और अपने भीतर सत्य के शिखर/ सोपानों पर सतत आरोहण करते रहे। ध्यान के माध्यम से आप गहरे और गहरे पैठे। इस अन्तर्यात्रा में आपको सत्य और समाधि के अद्भुत अनुभव प्राप्त हुए। आपने यह सिद्ध किया कि पंचमकाल में भी सत्य को जाना और जीया जा सकता है।

वर्तमान में आप ध्यान रूपी उस अमृत-विधा के देश-व्यापी प्रचार और प्रसार में प्राणपण से जुटे हुए हैं जिससे स्वयं आपने सत्य से साक्षात्कार को जीया है। आपके इस अभियान से हजारों लोग लाभान्वित बन चुके हैं। पूरे देश से आपके ध्यान-शिविरो की मांग आ रही है।

जैन जगत आप जैसे ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी संघशास्ता को पाकर धन्य-धन्य अनुभव करता है।

आचार्य प्रवर श्री शिवमुनिजी महाराज : शब्द चित्र

जन्म स्थान	—	मलौटमंडी, जिला (फरीदकोट (पंजाब)
जन्म	—	१८ सितम्बर १९४२ (भादवा सुदी सप्तमी)
माता	—	श्रीमती विद्यादेवी जैन
पिता	—	स्व. श्री चिरंजीलाल जी जैन
वर्ण	—	वैश्य ओसवाल
वंश	—	भाबू
दीक्षा	—	१७ मई, १९७२ समय : १२.०० बजे
दीक्षा स्थान	—	मलौटमण्डी (पंजाब)
दीक्षा गुरु	—	बहुश्रुत, जैनागम रत्नाकर राष्ट्र संत श्रमणसंघीय सलाहकार श्री ज्ञानमुनिजी महाराज
शिष्य	—	श्री शिरीष मुनि जी, श्री शुभम मुनि जी, श्री श्रीयश मुनि जी, श्री सुव्रत मुनि जी, श्री शमित मुनि जी, श्री निपुण मुनि जी, श्री निरंजन मुनि जी, श्री निशांत मुनि जी, श्री निरज मुनि जी
युवाचार्य पद	—	१३ मई, १९८७ पूना-महाराष्ट्र
श्रमणसंघीय आचार्य पदारोहण	—	६ जून, १९९६ अहमदनगर, (महाराष्ट्र)
चादर महोत्सव	—	७ मई, २००२ ऋषभ विहार, नई दिल्ली
अध्ययन	—	डबल एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्, आगमों का गहन गंभीर अध्ययन, ध्यान-योग-साधना में विशेष शोध कार्य

युवा मनीषी श्री शिरीष मुनि जी महाराज :

संक्षिप्त परिचय

श्री शिरीषमुनि जी महाराज आचार्य भगवन ध्यान योगी श्री शिवमुनि जी महाराज के प्रमुख शिष्य हैं। वर्ष १९८७ के आचार्य भगवन के मुम्बई (खार) के वर्षावास के समय आप पूज्य श्री के सम्यक् सम्पर्क में आए। आचार्य श्री की सन्निधि में बैठकर आपने आत्मसाधना के तत्त्व को जाना और हृदयंगम किया। उदयपुर से मुम्बई आप व्यापार के लिए आए थे और व्यापारिक व्यवसाय में स्थापित हो रहे थे। पर आचार्य भगवन के सान्निध्य में पहुंचकर आपने अनुभव किया कि अध्यात्म ही परम व्यापार है। भौतिक व्यापार का कोई शिखर नहीं है जबकि अध्यात्म व्यापार स्वयं एक परम शिखर है। और आपने स्वयं के स्व को पूज्य आचार्य श्री के चरणों पर अर्पित-समर्पित कर दिया।

पारिवारिक आज्ञा प्राप्त होने पर ७ मई सन् १९६० यादगिरी (कर्नाटक) में आपने आईटी दीक्षा में प्रवेश किया। तीन वर्ष की वैराग्यावस्था में आपने अपने गुरुदेव पूज्य आचार्य भगवन से ध्यान के माध्यम से अध्यात्म में प्रवेश पाया। दीक्षा के बाद ध्यान के क्षेत्र में आप गहरे और गहरे उतरते गए। साथ ही आपने हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं का भी तलस्पर्शी अध्ययन जारी रखा। आपकी प्रवचन शैली आकर्षक है। समाज में विधायक क्रांति के आप पक्षधर हैं और उसके लिए निरंतर समाज को प्रेरित करते रहते हैं।

आप एक विनय गुण सम्पन्न, सरल और सेवा समर्पित मुनिराज हैं। पूज्य आचार्य भगवन के ध्यान और स्वाध्याय के महामिशन को आगे और आगे ले जाने के लिए कृत्संकल्प हैं। अहर्निश स्व-पर कल्याण साधना रत रहने से अपने श्रमणत्व को साकार कर रहे हैं।

शब्द चित्र में आपका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

जन्म स्थान	:	नाई (उदयपुर राज.)
जन्मतिथि	:	१६/२/१९६४
माता	:	श्रीमती सोहनबाई
पिता	:	श्रीमान ख्यालीलाल जी कोठारी
वंश, गौत्र	:	ओसवाल, कोठारी
दीक्षा तिथि	:	७ मई १९६०
दीक्षा स्थल	:	यादगिरी (कर्नाटक)
गुरु	:	श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य श्री शिवमुनिजी म.
दीक्षार्थ प्रेरणा	:	दादीजी मोहन बाई कोठारी द्वारा।
शिक्षा	:	M. A. (हिन्दी साहित्य)
अध्ययन	:	आगमों का गहन गंभीर अध्ययन, जैनेतर दर्शनों में सफल प्रवेश तथा हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, प्राकृत, मराठी, गुजराती भाषाविद्।
विशेष प्रेरणादायी कार्य :	:	ध्यान योग साधना शिविरों का संचालन, बाल संस्कार शिविरों और स्वाध्याय शिविरों के कुशल संचालक। आचार्य श्री के अन्यतम सहयोगी।

साधक श्री शैलेश कुमार जी: एक परिचय

साधक श्री शैलेश कुमार जी आचार्य भगवंत पूज्य श्री शिवमुनि जी म.सा. के निर्देशन में धर्म, संस्कृति, स्वाध्याय एवं ध्यान योग साधना का अध्ययन, अध्यापन एवं प्रशिक्षण का कार्य पिछले तेरह वर्षों से करते आ रहे हैं। आचार्यश्री का दृष्टिकोण है कि जिनवाणी का प्रचार-प्रसार देश-विदेश में जन-जन तक सुंदर ढंग से प्रसारित किया जाए एवं एक साधक संघ की स्थापना की जाए जो साधु साध्वियों के निर्देशन में धर्म-ध्यान, संस्कार एवं स्वाध्याय के शुद्ध स्वरूप को जन-जन तक पहुंचा सके।

साधक श्री शैलेश कुमार जी का जीवन एक प्रयोगात्मक जीवन है। आप सत्य के साधक हैं। अनुशासनप्रिय व्यक्तित्व हैं। स्वयं अनुशासन में रहते हुए समाज, धर्म एवं साधना में किस प्रकार अनुशासन लाना चाहिए इस हेतु सदैव तत्पर रहते हैं। आपका जीवन खुली किताब की तरह है “जहा अंतो तहा बाहो” जैसे भीतर हैं वैसे ही बाहर हैं। कथनी और करनी एक है। स्पष्ट वक्ता हैं। जिस किसी भी कार्य को हाथ में लेते हैं तो 900% रुचि लेकर उसे पूर्ण करते हैं। मिलनसारिता, सहृदयता, आत्मीयता आदि गुणों से परिपूर्ण हैं। आप एक उच्च कोटि के साधक हैं। आचार्य भगवंत पूज्य श्री आत्माराम जी म.सा. एवं आचार्य भगवंत पूज्य श्री शिवमुनिजी म. का पूर्ण आशीर्वाद एवं जिन-शासन की आप पर महती कृपा है। आचार्यश्री के निर्देशन में श्रमण संघ और जैन धर्म की जो प्रभावना हो रही है उसमें आपने अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया है। आचार्यश्री के वीजन (दृष्टिकोण) को आपने अपना वीजन बना लिया है और ध्यान साधना शिविर के माध्यम से सैकड़ों युवकों को आचार्यश्री के वीजन से जोड़ रहे हैं और एक शुद्ध धर्म की सोसायटी निर्माण करने में पूरा सहयोग दे रहे हैं। आचार्यश्री के चार उद्देश्य हैं—साधना, सेवा, शिक्षण एवं शोध कार्य। इन उद्देश्यों की संपूर्ति हेतु आपने अपना पूरा जीवन समर्पित किया है।

जन्म स्थान	:	मुंबई
माता	:	श्रीमती सरला देवी मेहता
पिता	:	श्री चन्द्रकान्त जी मेहता
शिक्षण	:	आगमों का गहन अध्ययन, ध्यान एवं योग-साधना में विशेष शोध कार्य।
भाषा ज्ञान	:	गुजराती, हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का ज्ञान।

विशेषताएं

ध्यान साधक, ध्यान साधकों के प्रशिक्षक, आचार्यश्री के साहित्य का संपादन, स्वाध्याय शिविरों का संचालन, बाल संस्कार शिविरों का प्रशिक्षण कार्यक्रम, साथ ही वर्तमान में आचार्यश्री के ध्यान योग साधना शिविरों का सुंदर संचालन, रेकी साधना के ग्रैंड मास्टर तथा साथ ही विविध ध्यान केन्द्रों के व्यवस्थापन में संलग्न एवं जैन गुरुकुल, नैसर्गिक उपचार, मुमुक्षु ट्रेनिंग का प्रशिक्षण इत्यादि अनेक रचनात्मक कार्यक्रमों में रुचिशील।

आचार्य भगवंत का प्रकाशित साहित्य

साहित्य (हिन्दी) —

— श्री उपासकदशांग सूत्रम् (सम्पादन)	(आगम)
— भारतीय धर्मों में मोक्ष विचार	(शोध प्रबन्ध)
— ध्यान : एक दिव्य साधना	(ध्यान पर शोध-पूर्ण ग्रन्थ)
— ध्यान-पथ	(ध्यान सम्बन्धी चिन्तनपरक विचारविन्दु)
— ध्यान-साधना	(ध्यान-सूत्र)
— समयं गोयम मा पमायए	(चिन्तन प्रधान निबन्ध)
— अनुशीलन	(निबन्ध)
— योग मन संस्कार	(निबन्ध)
— जिनशासनम्	(जैन तत्व मीमांसा)
— पद्मं णाणं	(चिन्तन परक निबन्ध)
— अहासुहं देवाणुष्पिया	(अन्तमडसूत्र प्रवचन)
— शिव-धारा	(प्रवचन)
— अन्तर्यात्रा	(प्रवचन)
— नदी नांव संजोग	(प्रवचन)
— शिव वाणी	" "
— अनुश्रुति	" "
— अनुभूति	" "
— मा पमायए	" "
— अमृत की खोज	" "
— आ घर लौट चलें	" "
— संबुद्धह किं ण बुद्धह	" "
— प्रकाश पुञ्ज महावीर	(संक्षिप्त महावीर जीवन-वृत्त)
— पद्मं नाणं	(चिन्तन-परक निबन्ध)

साहित्य (अंग्रेजी) —

— दी जैना पाथवे टू लिब्रेशन
— दी फण्डामेन्टल प्रिंसीपल्स ऑफ जैनिज्म
— दी डॉक्ट्रीन ऑफ द सेल्फ इन जैनिज्म
— दी जैना ट्रेडिशन
— दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रेशन इन इंडियन रिलिजन
— दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रेशन इन इंडियन रिलिजन विथ रेफरेंस टू जैनिज्म
— स्परीच्युल प्रक्टिसीज ऑफ लॉर्ड महावीरा

श्री उपासकदशांग सूत्र के प्रकाशन सहयोगी



श्री शोभन लाल जैन एवं श्रीमती प्रवेश जैन

पारिवारिक परिचय :

- सुपुत्र : श्री दीपक जैन
पुत्रवधु : श्रीमती आभा जैन
पौत्र : भव्य जैन
पौत्री : कृति जैन

श्रीमान शोभन लाल जी जैन सुपुत्र श्री शादी लाल जी जैन (स्यालकोटी सतपुत्रिया परिवार) लुधियाना ने प्रस्तुत प्रकाशन में अपना सहयोग समर्पित किया है। आपका पूरा परिवार धर्मसंस्कारों से अनुप्राणित है एवं जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी म०, पूज्य प्रवर्तक उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द जी म०, एवं आचार्य सम्राट् पूज्य श्री शिव मुनि जी म० प्रभृति पूज्य मुनिभगवन्तों के प्रति विशेष आस्थाशील है। जन सेवा, श्रुत सेवा, समाजसेवा आदि के प्रसंगों पर आप सदैव अग्रणी रहकर अपनी सेवाएं समर्पित करते रहते हैं।

सम्प्राप्त सौजन्य के लिए धन्यवाद

स्त्री सभा जैन सेविका संघ

रुपा मिस्त्री गली, लुधियाना

जैन महिलाओं का यह संघ अपने सांगठनिक नाम "सेविका" संघ को समय समय पर स्वयं को सेवायज्ञ में सर्वतोभावेन समर्पित करके सार्थक करता रहा है। प्रस्तुत प्रकाशन में भी इस संघ की सेवाएं प्राप्त हुई हैं। तदर्थ धन्यवाद

- प्रकाशक

